
9 999999 025835

स्वर्गीय-श्री विनयकुमार 'रुइया' (मुम्बई) स्मारकं—

श्रीराजस्थान-संस्कृत-कालेज-ग्रन्थमालाया नवीनं कुसुमं

श्रीनारायणपण्डितविरचितः

हितोपदेशः

'अभिनवराजलक्ष्मी'-संस्कृत-टीकालङ्कृतः,

विस्तृत-भाषाटीका-विभूषितश्च ।

सम्पादकः, परिष्कर्त्ता च—

आचार्यः—श्रीसीतारामशास्त्री, एम्. ए.

'व्याकरणाचार्यः, 'साहित्यरत्नम्'

प्रिन्सिपल—श्रीराजस्थान-संस्कृत-कालेज, मीरघाट, काशी ।

संस्कृतटीकाकाराः—

श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिणः,

व्याकरणाचार्याः, न्यायाचार्याः, दर्शनाचार्याः,

[भू० प्रिन्सिपल—श्रीराजस्थान-संस्कृत-कालेज, मीरघाट, काशी] ।

प्रकाशक—भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, बनारस १,

ब्रांच—कचौड़ीगली, बनारस ।

तृतीयं संस्करणम् २०००]   १९५५   [मूल्यं

मुम्बई-नगरी-स्थित, भारत-विदित, दानवीर—'रुइया' परिवार के

सुप्रसिद्ध, विद्यानुरागी, उदारहृदय,

'दानवीर' सेठ रामनिवासजी 'रुइया'

महोदय के

होनहार सुपुत्र, स्वर्गीय—

विनयकुमार 'रुइया'

(जिनका २४ वर्ष की स्वल्प अवस्था में ही आकस्मिक निधन
२३-११-१९५३ को मुम्बई हो गया)

की

कारुणिक-स्मृति में

संस्कृत-साहित्य का यह सुप्रसिद्ध महत्त्वपूर्ण नीति ग्रन्थ

सादर समर्पित—

—टीकाकार ।

१-१-१९५५ ई०

तृतीय संस्करणकी भूमिका

महामहोपाध्याय नारायणपण्डितविरचित 'हितोपदेश' नामक जगत्प्रसिद्ध नीतिशास्त्र और बालकोपदेशशास्त्र का 'अभिनवराजलक्ष्मी' नामक सुन्दर, सरल, विस्तृत, संस्कृत टीका सहित, तथा विस्तृत, संशोधित, सरल भाषाटीका सहित यह परिवर्द्धित परिष्कृत तृतीय संस्करण संस्कृत सेवी विद्वानों तथा परीक्षार्थी छात्रों के समक्ष उपस्थित करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है।

हितोपदेश का परिचय--

हितोपदेश और पञ्चतन्त्र ये दोनों ही ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनसे छोटे २ बालकों को संस्कृत भाषा का ज्ञान बड़ी ही सरलता से कराया जा सकता है। क्योंकि–इन दोनों ग्रन्थों में छोटी २ रोचक कथाएं–जो व्यावहारिक ज्ञान, लोक व्यवहार, आर्य सभ्यता, रीति, साधारणनीति, राजनीति आदि के हितकारी उपदेशों से परिपूर्ण हैं–रोचक और सरल तथा सुबोध भाषा में दी गई हैं, अतः बालक इनको बड़े चाव और प्रेम से पढ़ते हैं, और इस प्रकार कथाओं के बहाने उत्तम उत्तम उपदेश बालकों के हृदय पट पर अनायास ही अङ्कित हो जाते हैं। और उसके साथ ही साथ संस्कृत भाषा का सुदृढ संस्कार और परिचय भी उन्हें सरलता से प्राप्त हो जाता है।

इसीलिए इस ग्रन्थ का 'हितोपदेश' (हितकारी उपदेश–शिक्षा देनेवाला) यह नाम भी ग्रन्थकार ने सार्थक ही रक्खा है।

हितोपदेश की विशेषता—

इस हितोपदेश में पुरातन नीतिशास्त्रों से तथा पुराण और इतिहास आदि ग्रन्थों से नीति और व्यवहार शास्त्र के महत्त्वपूर्ण सुभाषित श्लोकों का कथाओं के प्रसङ्ग में ही बीच-बीच में सुन्दर रूप से संनिवेश किया गया है, जिससे पढ़ने वालों को संस्कृत के सुमधुर सुभाषितों का रसास्वाद भी अनायास ही हो जाता है, तथा साथ ही साथ राजनीति और व्यवहार की सूक्ष्मतम निगूढ ग्रन्थियों के विश्लेषण करने का प्रौढ ज्ञान भी उन्हें प्राप्त हो जाता है।

किं बहुना, इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण नीतिशास्त्र का सारांश (निचोड) कूट २ कर भर दिया गया है, अत एव यह हितोपदेश बालक, युवा एवं वृद्ध सभी के

लिए समान रूप से हितकारी तथा उपदेशप्रद है। इसकी संस्कृत भी इतनी सरल और सुबोध है, कि संस्कृत भाषा का थोड़ा सा ज्ञान रखने वाले व्यक्ति भी इसे अनायास ही समझ सकते हैं। और कठिन स्थलों में हमारी संस्कृत टीका पूर्ण सहायता प्रदान करती ही है। भाषाटीका में भी मूल ग्रन्थ के भाव को समझाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। अतः यह संस्करण सर्व साधारण के लिए बहुत ही लाभ की वस्तु सिद्ध होगा। और परीक्षार्थी छात्रों को तथा छोटे २ बालकों को संस्कृत भाषा का अनुवाद सीखने में तथा संस्कृत भाषा में प्रवीणता प्राप्त करने में भी यह पूर्ण सहायक होगा।

हितोपदेश के निर्माण का समय—

हितोपदेश के निर्माता नारायण पण्डित कब हुए और उन्होंने हितोपदेश कब बनाया-इस विषय में यद्यपि कोई पुष्ट प्रमाण तो नहीं मिलते हैं, परन्तु हितोपदेश में शिशुपाल वध (माघ) आदि काव्यों से भी अनेक श्लोक उद्धृत किए गए हैं, अतः यह कहा जा सकता है, कि माघ के बाद ही यह हितोपदेश बना होगा। अतः यह ग्रन्थ विक्रम संवत् ७०० के निकट ही बना होगा—ऐसा कहा जा सकता है। कुछ विद्वान् इसको इससे भी पहिले का बना हुआ मानते हैं। अस्तु—

इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है, कि यह ग्रन्थ बहुत ही पुराना है, तथा देश और विदेशों में (इंग्लेण्ड, फ्रांस, जर्मन, रूस, जापान, चीन, वर्मा, इरान, अफगानिस्तान, लङ्का आदि में) इसका बहुत ही आदर और प्रचार है। तथा हमारी टीका-टिप्पणियों से विभूषित इस ग्रन्थ की (हमारे अन्यान्य ग्रन्थों की तरह ही) उन देशों में भी बहुत माँग है। इससे उत्साहित होकर हमने इस नवीन (तृतीय) संस्करण में टीका और टिप्पणी पूर्वापेक्षया और भी बहुत बढा दी हैं॥ इससे इसकी उपादेयता और भी बढ गई है।

आशा है—छात्रगण तथा विद्वान् लोग हितोपदेश के इस सर्वाङ्ग पूर्ण नवीन संस्करण से अधिकाधिक लाभ उठावेंगे।

श्रीराजस्थान-संस्कृत-कालेज
मीरघाट, बनारस
१-१-१९५५ ई०

निवेदक—
आचार्य-श्रीसीतारामशास्त्री।



श्रीगणेशाय नमः ।

श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिकृतया-

अभिनवराजलक्ष्मीटीकया, भाषाटीकया च विराजितो

हितोपदेशः ।

तस्य च मित्रलाभो नाम प्रथमं प्रकरणम् ।

❀ अथ मङ्गलाचरणम् ❀

सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादात्तस्य धूर्जटेः ।
जाह्नवीफेनलेखेव यन्मूर्ध्नि शशिनः कला ॥ १ ॥

॥ श्रीः ॥

❀ श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिकृता-अभिनवराजलक्ष्मीः ❀

नुमोऽनवद्यसद्ग्रन्थविद्योद्भासितदिङ्मुखान् ।
मरुमण्डलमार्तण्ड-स्नेहिरामाभिधान् गुरून् ॥ १ ॥
महागणपतिं ध्यात्वा, गुरून्नत्वा सतां मुदे ।
हितोपदेशटीकैषा[1] राजलक्ष्मीर्वितन्यते ॥ २ ॥

[अन्वयः] तस्य धूर्जटेः प्रसादात् सतां साध्ये सिद्धिरस्तु—यस्य (धूर्जटेः) मूर्ध्नि शशिनः कला—जाह्नवीफेनलेखेव—(शोभते) ।

अथ भाषाटीका ।

जिन महादेवजी के शिर पर शुक्लपक्ष की द्वितीया के चन्द्रमा की कला गङ्गा के फेन की तरह शोभायमान होती है, उन (महादेवजी) के प्रसाद से सज्जनों के सभी कार्य सिद्ध होवें ॥ १ ॥

१. हितः=हितावहः—उपदेशः-हितोपदेशः । उपचारात्तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽपि हितोपदेशः । यद्वा—हित उपदेशो यत्राऽसौ हितोपदेश इति विग्रहो बोध्यः ।

❀ अथ कथामुखम् ❀

अतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु ।
वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं, नीतिविद्यां ददाति च ॥ २ ॥
अजराऽमरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥ ३ ॥

सिद्धिः=अभीष्टलाभः । साध्ये=कर्त्तव्ये कर्मणि । सतां=सज्जनानाम् । प्रसादात्=कृपातः । धूर्जटेः=शिवस्य । जाह्नव्याः = गङ्गायाः, फेनाः=वारिकफाः, तेषां लेखा = पङ्क्तिः । शशिनः=द्वितीया चन्द्रमसः । कला = रेखा । शिवमूर्धस्थितस्य स्वच्छावदातस्य शुक्लपक्षद्वितीयाचन्द्रमसोऽत्र शिवशिरोगतगङ्गा-फेनरेखासाम्यं बोद्धयम् ॥

अत्र—हितः = हितावहः—उपदेशः-हितोपदेशः । उपचाराद्ग्रन्थोऽपि हितोपदेशः । यद्वा—हित उपदेशो यत्राऽसौ 'हितोपदेश' इति विग्रहो बोध्यः ॥१॥

अत इति । अयं—मया वक्ष्यमाणो हितोपदेशः=तन्नामा ग्रन्थः, संस्कृतोक्तिषु= संस्कृतभाषणादिषु, पाटवं कौशलं—ददाति । च=किंच=सर्वत्र = सर्वेषु विषयेषु, वाचां वैचित्र्यं=नानाविधोक्तिचातुर्यञ्च,—ददाति । किञ्च—नीतिविद्यां = राजनीतिं, व्यवहारकौशलञ्च, ददाति = शिक्षयति ॥२॥

प्राज्ञः=विद्वान्, अजराऽमरवत् = जरामरणवर्जितमात्मानं मन्यमान इव, विद्यां=धर्मशास्त्रादिकं, कलाकलापविज्ञानं, ज्ञानञ्च; अर्थं=धनञ्च, चिन्तयेत् = अभ्यस्येत्, उपार्जयेच्च । धर्मन्तु—मृत्युना केशेषु गृहीत इव=कालकवलित-

---

यह हितोपदेशनामक ग्रन्थ पढ़ने वालों को संस्कृत बोलने में कुशलता देता है, और सब विषयों में नाना भाषाओं में बोलने की नाना प्रकार की सुन्दर-सुन्दर रीतियाँ सिखाता है और नीति-विद्या भी सिखाता है ॥ २ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि अपने (आत्मा) को अजर व अमर समझ कर विद्या तथा धन को कमावे । परन्तु धर्माचरण के समय तो मृत्यु को अपने शिर पर बैठी ही समझे । अर्थात्—विद्या तथा धन कमाने

सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम्।
अहार्यत्वादनर्घत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा ॥ ४ ॥
संयोजयति विद्यैव नीचगाऽपि नरं सरित्।
समुद्रमिव दुर्धर्षं नृपं, भाग्यमतः परम् ॥ ५ ॥

मित्रात्मानं पश्यन् कालक्षेपमकुर्वन्सद्य एव—आचरेत्=सेवेत, पालयेच्च ॥३॥

सर्वदा=सर्वस्मिन्काले । अन्येन केनाऽपि–अहार्यत्वात्=हर्तुमशक्यत्वात्, अनर्घत्वात्=अमूल्यत्वात्, बहुमूल्यत्वादिति यावत् । अक्षयत्वाच्च=दानादिनाऽप्यक्षीयमाणत्वाच–सर्वद्रव्येषु=सर्वधनापेक्षया, विद्यैव–अनुत्तमं=सर्वश्रेष्ठं, द्रव्यं=धनमस्ति (–इति विद्वांसः—) आहुः=प्राहुः ॥ ४ ॥

नीचगाऽपि=निम्नगाऽपि, सरित्=नदी, समुद्रमिव=सागरमिव, विद्या एव=केवलं, नीचगाऽपि,=नीचजनस्थाऽपि सती, दुर्धर्षं=दुरासदं, दुष्प्रापं, दुर्लभदर्शनं । नृपं=राजानं, संयोजयति=तेन सह नरं सङ्गमयति । अतः परं=तेन सह समागमानन्तरं, भाग्यं=नरस्य भाग्यमेव–प्रमाणम् । भाग्यानुसारेण ततो धनरत्नादिलाभ इत्यर्थः । यथा निम्नगाऽपि कुटिलाऽपि च नदी–नौकावहित्रादिना स्वाश्रितं सांयात्रिकादिकं जनं समुद्रं प्रति नयति, ततः परं भाग्यानुसारेण व्यापारिणस्ततो महोदधे रत्नादिकं लभन्ते, एवमेव नीचवंशो-

---

में तो मनुष्यको कभी सन्तोष नहीं करना चाहिए, परन्तु धर्म के संपादन करने में कभी विलम्ब भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि न जाने कब मृत्यु शिर पर आजाए ॥३॥

संसार के सब द्रव्यों से उत्तम धन विद्या ही है, क्योंकि न यह चुराई जा सकती है, न इसका कोई मोल ही लगा सकता है और न इसका कभी क्षय (नाश, घटना) ही हो सकता है ॥ ४ ॥

जैसे नदी नीचे बहने वाली भी है तो भी स्वाश्रितों को वह समुद्र से मिला देती है, उसी प्रकार यदि विद्या नीच के पास भी होवे तो भी वह

विद्या ददाति विनयं, विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति, धनाद्धर्मं, ततः सुखम् ॥ ६ ॥
विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्य, द्वे विद्ये प्रतिपत्तये।
आद्या हास्याय वृद्धत्वे, द्वितीयाऽऽद्रियते सदा ॥ ७ ॥

द्रवमपि कलाकोविदं पुरुषं विद्या राजान्तिकं प्रापयति, ततश्च भाग्यानुसारेण ततो वित्तभूम्यादिलाभो भवतीत्यतो विद्योपासना सर्वस्यैव हितावहेति भावः ॥५॥

विनयः = सौजन्यम्। पात्रतां = योग्यताम्। धर्मम्। आप्नोतीति शेषः। विद्याऽभ्यासात्-पुमान् विनीतो भवति। विनयेन च-पात्रतां = सज्जनतां, योग्यताञ्च लभते। पात्रभूतः सज्जनो धनं लभते, धनाद्धर्मोपार्जनं शक्यं कर्तुम्। ततः = धर्मात्, सुखम् = अनुत्तमसुखलाभो भवति। अतो विद्यैव सर्वसुखसाधनमित्याशयः ॥ ६ ॥

प्रतिपत्तये = ज्ञानाय, यशोलाभाय च–शस्त्रविद्या, शास्त्रविद्या चेति लोके द्विविधा विद्या प्रसिद्धा। तत्र आद्या = धनुर्वेदादिशस्त्रविद्या, वृद्धत्वे = वृद्धावस्थायां। बलक्षये सति। हास्याय = उपहासप्रदा। द्वितीया = शास्त्रविद्या तु, सदा = सर्वास्वप्यवस्थासु। आद्रियते = लोकैः–पूज्यते इत्यर्थः ॥ ७ ॥

विद्या उस मनुष्य को दुर्धर्ष राजा तक पहुँचा देती है। इसके बाद उस मनुष्य का जैसा भाग्य होता है, वैसा ही उसे राजा से लाभ होता है ॥५॥

और विद्या नम्रता देती है, नम्रता से मनुष्य पात्र (योग्य) बनता है, पात्रता (योग्यता) से धन मिलता है, धन से धर्म प्राप्त हो सकता है, और धर्म से सुख प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

विद्या दो प्रकार की है। एक शस्त्रविद्या और दूसरी शास्त्रविद्या। दोनों विद्याओं से ही लोक में प्रतिष्ठा होती है। परन्तु पहिली विद्या (शस्त्रविद्या) वृद्धावस्था में हँसी कराती है, परन्तु दूसरी (शास्त्र) विद्या का तो सदाही आदर होता है ॥ ७ ॥

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नाऽन्यथा भवेत् ।
कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते ॥ ८ ॥
मित्रलाभः, सुहृद्भेदो, विग्रहः, सन्धिरेव च ।
पञ्चतन्त्रात्तथान्यस्माद्ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते ॥ ९ ॥

अस्ति भागीरथीतीरे पाटलीपुत्रनामधेयं नगरम् । तत्र सर्वस्वामि-

यत् = यस्मात्कारणात्, नवे = नवीने, अपक्के, बाले च । भाजने=शरावादौ पात्रे, पुंसि च । लग्नः=संसक्तः, संस्कारः = गुणाधानं, रेखादिकञ्च । न=नैव कदाचिदपि । अन्यथा भवेत् = दूरीभवति; तत्=तस्मात्कारणात्, इह = हितोपदेशे, कथाच्छलेन= काककूर्मादिकथाव्याजेन, बालानां=बालोपदेशार्थं, नीतिः = राजनीतिर्व्यवहारनीतिश्च, कथ्यते=मया निबध्यते । मयोपदिश्यते इति यावत् ॥ ८ ॥

इह ग्रन्थे—मित्रलाभादिनाम्ना प्रसिद्धानि चत्वारि प्रकरणानि पञ्चतन्त्राख्यग्रन्थात्, तथैव, अन्यस्मादपि तादृशादेव महाभारत-बृहत्कथादिनीतिग्रन्थात्, आकृष्य = आदाय, सङ्क्षिप्य च, लिख्यते = मयोपनिबध्यते ॥ ९ ॥

भागीरथीतीरे=गङ्गायास्तटे । तत्र = पाटलिपुत्रे । स्वामिनः = राज्ञः-

---

क्योंकि नवीन पात्र में तथा छोटे-छोटे बालकों में स्थापित किया हुआ (दिया हुआ) संस्कार व शिक्षण आदि कभी नष्ट नहीं होता है, इस लिये इस ग्रन्थ में कथा के बहाने से मैं बालकों के लिए नीति-शास्त्र का सार निकाल कर कहता हूँ ॥ ८ ॥

यह हितोपदेश चार प्रकरणों में विभक्त है । १ मित्रलाभ, २ सुहृद्भेद, ३ विग्रह और ४ सन्धि । इन चारों प्रकरणों को सुप्रसिद्ध 'पञ्चतन्त्र' नामक ग्रन्थ से तथा और भी नीति के ग्रन्थों के आश्रय से लिखता हूँ ॥ ९ ॥

गङ्गा के तट पर पटना नाम का एक नगर है । वहाँ पर एक सुदर्शन

गुणोपेतः सुदर्शनो नाम नरपतिरासीत् । स भूपतिरेकदा केनापि पठ्यमानं श्लोकद्वयं शुश्राव—

'अनेकसंशयोच्छेदि, परोक्षार्थस्य दर्शकम् ।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं, यस्य नाऽस्त्यन्ध एव सः ॥ १० ॥
यौवनं, धनसम्पत्तिः, प्रभुत्वमविवेकिता ।
एकैकमप्यनर्थाय, किमु यत्र चतुष्टयम् !' ॥ ११ ॥

गुणाः—प्रजापालकत्वादयः—स्वामिगुणाः । सर्वे च ते स्वामिगुणाश्च-तैरुपेत इति विग्रहः । सकलराजगुणालङ्कृत इत्यर्थः । नरपतिः=राजा । एकदा=एकस्मिन्नहनि । केनाऽपि=अज्ञातनामधेयेन । श्लोकद्वयन्तावदाह—अनेकेति । अनेकान् संशयान्—उच्छिनत्ति तच्छीलम्—अनेकसंशयोच्छेदि = नानावितर्कविनाशकम् । परोक्षार्थस्य=अतीतानागताद्यर्थस्य । दर्शकं=बोधकम् । शास्त्रं-सर्वस्यापि जनस्य, लोचनं = लोचनमिव मार्गप्रदर्शकमस्ति । यस्य–पुंसः तच्छास्त्रं नास्ति, स= लोचनविकलोऽन्ध एवेत्यर्थः ॥ १० ॥

यौवनं=युवावस्था । धनसम्पत्तिः=द्रविणसम्पत्तिः । प्रभुत्वम्=ऐश्वर्यम् । अविवेकिता = विचारवैकल्यम् । मूढता । एतदेकैकमपि पुंसाम्–अनर्थाय=विपदे अलम् । यत्र तु पुंसि तच्चतुष्टयं भवेत्, तत्र किमु = किं नु वक्तव्यम् ? । तत्र नूनमनर्थप्रसर इत्यर्थः ॥ ११ ॥

नाम का एक राजा राज्य करता था । उस राजा में अच्छे-अच्छे सभी गुण विद्यमान थे । एक दिन उस राजा ने किसी अज्ञात व्यक्ति से पढ़े जाते हुए दो श्लोकों को सुना । वे श्लोक ये हैं—

सब प्रकार के संशय को दूर करने वाला, तथा परोक्ष वस्तुओं को भी प्रत्यक्ष कराने वाला शास्त्र ही सबका सच्चा नेत्र है, और जिसके पास वह शास्त्र रूपी नेत्र नहीं है, वह मनुष्य अन्धे के समान है ॥ १० ॥

युवावस्था, धनसम्पत्ति, प्रभुत्व, अज्ञानता, इन चारों में एक भी जहाँ

—इत्याकर्ण्याऽऽत्मनः पुत्राणामनधिगतशास्त्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनां शास्त्राऽननुष्ठानेनोद्विग्नमनाः स राजा चिन्तयामास—

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन, यो न विद्वान्न धार्मिकः।
काणेन चक्षुषा किं वा, चक्षुःपीडैव केवलम्॥ १२॥

आकर्ण्य = श्रुत्वा । आत्मनः = स्वस्य । न अधिगतानि = न अधीतानि शास्त्राणि यैस्तेषाम्। अनधीतविद्यानाम् । उन्मार्गं गच्छन्ति तच्छीलास्तेषाम्-उन्मार्गगामिनाम् = अपथप्रवृत्तानाम् । शास्त्रस्य = शास्त्रविहितकर्मणः, शास्त्राध्ययनादेर्वा-अननुष्ठानम् = अनादरः, अनाचरणं वा, तेन । उद्विग्नं मनो यस्यासौ तथा—उद्विग्नमनाः=व्याकुलचित्तः ॥

कोऽर्थ इति । यः = पुत्रः, न-नैव, विद्वान्, न-नच, धार्मिकः = धर्माचरणप्रवणः, (तेन-) पुत्रेण जातेन = उत्पन्नेनापि, कोऽर्थः=किं प्रयोजनम्। काणेन=दर्शनशक्तिशून्येन, चक्षुषा=नेत्रेण, किं वा=किं नु फलं? । न किमपि फलमित्यर्थः। केवलं=विपरीतम्,-(उलटा)। चक्षुःपीडैव भवति। काणं चक्षुर्नेत्रामयेन यदा कदाचन पीडितन्तु भवति, परन्तु तेन चक्षुषा फलन्तु = चक्षुःफलं दर्शनादिकं—कदापि न भवति । एवं दुष्टपुत्रेण पीडैव भवति, न तु सुखमित्याशयः ॥ १२ ॥

वस्तु हो वहाँ अनर्थ (जिस मनुष्य में) ही प्रायः होता है। फिर जहाँ ये चारों एकत्र हों, वहाँ की तो बात ही क्या है ! ॥ ११ ॥

इन श्लोकों को सुनकर वह राजा बुरे मार्ग पर चलने वाले और मूर्ख अपने लड़कों की मूर्खता को यादकर व्याकुल हो उठा और विचारने लगा—

उस पुत्र के उत्पन्न होने से ही क्या लाभ है, जो न विद्वान् ही है और न धार्मिक ही है। क्योंकि कानी आँख से कोई लाभ नहीं होता, वह तो केवल पीड़ा ही देने के लिये होती है ॥ १२ ॥

अजात-मृत-मूर्खाणां वरमाद्यौ, न चाऽन्तिमः।
सकृद्दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे ॥ १३ ॥

किञ्च—

वरं गर्भस्रावो, वरमृतुषु नैवाऽभिगमनं,
वरं जातः प्रेतो, वरमपि च कन्यैव जनिता ॥
वरं वन्ध्या भार्या, वरमपि च गर्भेषु वसति-
र्न चाऽविद्वान् रूपद्रविणगुणयुक्तोऽपि तनयः ॥

अजातेति। अजातः=अनुत्पन्नः, मृतः=उत्पन्नोऽपि मृतः। मूर्खः= उत्पन्नोऽपि, जीवन्नपि जडः। एषां त्रिविधानां पुत्राणां मध्ये, आद्यौ=अजातमृतौ पुत्रौ तु, वरं=किञ्चिच्छ्रेष्ठौ। 'वर'मित्यव्ययमीषदर्थमभिप्रेते। अन्तिमः= मूर्खस्तु। नच=नैव वरम्। कुत एतदत आह—सकृदिति। सकृत्=एकवारमेव। अन्तिमस्तु=मूर्खस्तु। पदे—पदे=सर्वदैव, यावज्जीवं। दुःखकरः= क्लेशप्रदः ॥ १३ ॥

गर्भस्रावः=गर्भपातः। वरम्=ईषच्छ्रेष्ठः। ऋतुषु=भार्याया ऋतुकाले। अभिगमनम्=उपसर्पणम्। जातः=उत्पन्नमात्र एव, प्रेतः=मृतः। यद्वा प्रेतः= मृत एव। जातः=उत्पन्न इत्यर्थः। गर्भेषु=कुक्षावेव, वसतिः=निवासः। अप्रसव एव बालस्य गर्भस्थस्येत्यर्थः। रूपद्रविणगुणयुक्तोऽपि=रूप-धनयुतो विनयाद्यनेकगुणशीलोऽपि, अविद्वान्=मूर्खः, तनयः=पुत्रः, न वरम्=नैव युक्तः ॥

अयं श्लोको न सर्वत्रोपलभ्यतेऽतः प्रक्षिप्तोऽयमिति मन्यामहे।

जो लड़का उत्पन्न ही न हो, अथवा उत्पन्न होकर भी तत्क्षण ही मर जाय, या मूर्ख हो, इन तीनों में से पहले के दो अर्थात् जो उत्पन्न ही नहीं हुआ है अथवा उत्पन्न होकर मर गया है, ये दोनों तो कुछ अच्छे हैं, परन्तु अन्तिम (मूर्ख) पुत्र तो कभी अच्छा नहीं है, क्योंकि प्रथम दो पुत्र तो एकही बार दुःख देते हैं, परन्तु अन्तिम (मूर्ख) तो सदा दुःखदाई होता है ॥ १३ ॥

और चाहे गर्भपात हो जाए, अथवा पुत्रोत्पत्ति के लिए ऋतुकाल में स्त्री के पास गमन ही न किया जाए, या जन्मता ही पुत्र मर जाए, या

किञ्च—

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।
परिवर्त्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ? ॥ १४ ॥
गुणिगणगणनाऽऽरम्भे न पतति कठिनी [1]सुसम्भ्रमाद्यस्य ।
तेनाऽम्बा यदि सुतिनी ! वद वन्ध्या कीदृशी [2]भवति ? ॥ १५ ॥

सः = स एव पुत्रः । जातः = सुजातः । येन जातेन सता वंशः = आत्मकुलं, समुन्नतिं = ख्यातिमौन्नत्यञ्च, याति — भजते । परिवर्त्तिनि = परिवर्त्तनशीले, संसारे = अनादावस्मिन्संसारे, को न जायते, कश्च न म्रियते ? । कोटिशो जीवा अस्मिञ्जगति प्रत्यहमुत्पद्यन्ते, विलीयन्ते च, स एव तु सुजन्मा धन्यजीवितो यस्य जन्मना स्वकुलं महीयते इत्याशयः ॥ १४ ॥

गुणीति । गुणिनां = विदुषां ये गणाः = सङ्घाः, तेषां गणनायाः = सङ्कलनायाः, आरम्भे = प्रारम्भावसरे, यस्य = यस्य पुंसो नामनि, कठिनी = खटिनी, लेखनसाधनमिति यावत् । ('खड़िया' 'कलम' 'पेंसिल' इति भाषा)। सुसम्भ्रमात् = सम्भ्रमविशेषेण, सहसैवेति यावत् । न पतति = लेखाधारे काष्ठपट्टे, पत्रादौ वा तन्नामोल्लेखार्थं न झटिति प्रसरति । तस्य = पुंसः अम्बा = माता, यदि = यदा, सुतिनी = पुत्रवतीति भण्यते लोके । यद्वा सा आत्मानं पुत्रवतीं यदि मनुते । (तर्हि–), वन्ध्या = अपुत्रा, कीदृशी = का खलु, भवति = भण्यते, इति वद ! = कथय तावत् ! । एवञ्च गुणिसमवाये यस्य पुंसः शोभनं यशो वर्त्तते, स एव सुजन्मेति हृदयम् । सैव तु खलु वन्ध्या—

कन्या ही उत्पन्न हो, या सन्तान गर्भ में ही रहे, गर्भ से बाहर उत्पन्न ही न हो, यह सब ठीक है, पर मूर्ख पुत्र यदि सुन्दर भी हो तो भी वह ठीक नहीं है ।

और इस जगत् में उसी का जन्म लेना सफल है, जिसके जन्म से अपने वंश और जाति की उन्नति होती है । अन्यथा (इस तरह तो) इस परिवर्तनशील संसार में कौन नहीं जीता और मरता है ॥ १४ ॥

और गुणियों की गिनती के आरम्भ में जिसके नाम पर सबसे पहले सहसा

१. 'ससम्भ्रमा यस्य' पा० । २. 'कीदृशी नामे'ति पाठान्तरम् ।

अपिच—

दाने, तपसि, शौर्ये च यस्य न प्रथितं यशः।
विद्यायामर्थलाभे च मातुरुच्चार एव सः॥ १६॥

अपरञ्च—

वरमेको गुणी पुत्रो, न च मूर्खशतान्यपि[1]।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति, न च तारागणोऽपि[2] च॥ १७॥

यस्य पुत्रस्य सत्समवाये आदौ गणना न भवति, अथो यस्य नाम सकलजनाऽतिशायि न भवति, न तु पुत्ररहितैव केवलं वन्ध्येति भावः॥ १५॥

यस्येति। तपसि = धर्माचरणादौ। शौर्ये = वीरत्वे। अर्थलाभे = धनोपार्जने च। यस्य = पुंसः। मनः = चित्तं, न प्रथितं = न प्रसृतम्। 'यश' इति तु शोभनः पाठः। स मातुः = जनन्याः, उच्चार एव = मलमेव। नासौ पुत्रः, किन्तर्हि मातुर्विष्ठैव स इत्यर्थः। तादृशस्य पुंसो जन्म वृथैवेत्याशयः॥ १६॥

वरमिति। एकोऽपि गुणी पुत्रो, वरं = श्रेष्ठः। किन्तु मूर्खशतान्यपि = मूर्खपुत्राणां शतमपि, न च = नैव वरम्। तथा हि—एकोऽपि सूर्यः—तमः = अन्धकारम्। हन्ति = नाशयति। तारागणः = नक्षत्रकोटीरपि, न च = नैव तमो नाशयितुं प्रभवतीत्यर्थः॥ १७॥

लोगों की कलम न उठे, उस पुरुष के जन्म से भी यदि उसकी माता पुत्रवती कहलावे, तो कहो फिर वन्ध्या किसे कहेंगे?॥ १५॥

और भी—जिस मनुष्य का मन-दान, तपस्या, वीरता, विद्या तथा धनोपार्जन में न लगा, वह मनुष्य केवल माता के मल के समान है॥ १६॥

और भी—१०० सौ मूर्ख पुत्रों की अपेक्षा एक ही पुत्र गुणी हो तो भी अच्छा है, देखो बहुत से तारागणों से अन्धकार दूर नहीं होता है, पर चन्द्रमा अकेला ही उसे दूर कर देता है॥ १७॥

---

१. 'न च मूर्खशतैरपी'ति पा०। २. 'न च तारागणैरपी'ति' 'न च ताराशतान्यपि' इति च पाठान्तरम्। तत्र 'न चे'त्यस्य 'किमपि फल'मिति शेषो बोध्यः।

पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः क्वाऽप्यतिदुष्करम् ।
तस्य पुत्रो भवेद्वश्यः, [1]समृद्धो, धार्मिकः, सुधीः ॥१८॥

अर्थाऽऽगमो नित्यमरोगिता च,
प्रिया च भार्या, प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या,
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ! ॥ १९ ॥

को धन्यो बहुभिः पुत्रैः कुशूलाऽपूरणाऽऽढकैः ।
वरमेकः कुलाऽऽलम्बी, यत्र[2] विश्रूयते पिता ॥२०॥

पुण्येति । येन क्वापि पुण्यतीर्थे अति दुष्करं = कठिनं तपः कृतं, तस्य पुण्यात्मनः पुत्रः—वश्यः = वशंवदः, समृद्धः = गुणगणाऽलङ्कृतो धनी च, धार्मिकः=धर्मात्मा, सुधीः=विद्वांश्च भवति । अतिमहतस्तपसः फलमेतद्यत्पुत्रो विद्वान् विनीतश्च भवतीति भावः ॥ १८ ॥

अर्थेति । राजन् = हे युधिष्ठिर ! नित्यं = निर्बाधः, अर्थागमः=धनागमः, (नित्यम्—) अरोगिता = शरीरसौख्यं, स्वास्थ्यम्, प्रियवादिनी = मधुरभाषिणी, प्रिया = हृद्या भार्या, वश्यः = अनुकूलः । अर्थकरी = धनकरी । एतानि षट् जीवलोकस्य=मर्त्यलोकस्य । जीवानामिति वा । सुखानि = सुखावहानि ॥ १९ ॥

क इति । कुशूलाऽपूरणाढकैः = धान्यकोष्ठकपूरणाऽसमर्थैराढकपात्रैरिव स्व-

जिस मनुष्य ने किसी पुण्यतीर्थ में कठिन तपस्या की है, उसीका पुत्र—आज्ञाकारी, धनी, धार्मिक तथा विद्वान् होता है ॥ १८ ॥

हे राजन् ! संसार में केवल छः ६ ही सुख हैं । १ नित्य धनप्राप्ति, २ आरोग्यता, ३ प्रियतमा भार्या, ४ मधुर बोलने वाली स्त्री, ५ आज्ञाकारी पुत्र, तथा ६ धन देने वाली विद्या ॥ १९ ॥

जैसे किसी ने कहा भी है—अन्न की कोठी (ओवरी, कोठला) को भरने

१. 'सुशीलो धार्मिकः' इति पाठान्तरं शोभनम् । २. 'येन' पा० ।

ऋणकर्ता पिता शत्रुर्माता च व्यभिचारिणी ।
भार्या रूपवती शत्रुः, पुत्रः शत्रुरपण्डितः ॥ २१ ॥
अनभ्यासे विषं विद्या, अजीर्णे भोजनं विषम् ।
विषं सभा दरिद्रस्य, वृद्धस्य तरुणी विषम् ॥ २२ ॥

ल्पाशयैस्तुच्छैः, बहुभिः पुत्रैरपि, को धन्यः=श्रेष्ठो धनवांश्च भवति ? । न कोऽपीत्यर्थः । किन्तु—एकः कुलालम्बी=कुलालम्बभूतः पुत्रः, वरं=श्रेष्ठः, यत्र=यस्मिन् पुत्रे जाते सति (येन वा पुत्रेण), पिता विश्रूयते=लोके महीयते, 'धन्यः' इति लोके भण्यते ॥ कुशूलं=धान्यावपनम्; ('ओबरी' 'बखारी' इति प्रसिद्धम्) । आढकम्=आढकपरिमितं धान्यपात्रम् (प्रायः अढाई सेरका एक वर्त्तन) । धन्यः=धनवान्, श्रेष्ठश्च ।

परे तु—कुशूलाऽऽपूरणासमर्थैः—खारीवाहादिपरिमितैः, आढकपरिमितैश्च, पुत्रैः—पुत्रस्थानीयधान्यादिभिः, कः=कः पुमान्, धन्यः='धनी'ति गण्यते ? न कोऽपीत्यर्थः । कुशूलादिमितेनापि धान्यराशिना न कोऽपि धन्यतां लभते । परन्तु—एकेन कुलदीपकेन रत्नादिना—कौस्तुभमणिना सागर इव—पिता=जनकः, रत्नकश्च—धन्यः=धनी श्रेष्ठश्च भवतीत्यर्थमाहुः ॥ २० ॥

ऋणेति । व्यभिचारिणी=परपुरुषरता । शत्रुः—शत्रुरिव, अयशोहेतुत्वात् । रूपवती—सुन्दरी । भार्या=पत्नी, शत्रुः—शत्रुरिव, विवादेर्ष्यादिहेतुत्वात् । अपण्डितः=मूर्खः ॥ २१ ॥

अनभ्यासे सति—विद्या—विषं=विषवद्दुःखप्रदा, अपमानस्थानत्वात्, जीविता-

में असमर्थ आढकपात्रों (अढैया, पसेरी आदि नाप के पात्रों) के समान बहुत से पुत्रों से क्या लाभ है, वंश की सहायता करने वाला तो एक ही पुत्र अच्छा है, जिससे पिता की प्रसिद्धि और प्रशंसा होती हो ॥ २० ॥

ऋण करने वाला पिता शत्रुतुल्य है, व्यभिचारिणी माता शत्रु तुल्य है, रूपवती स्त्री भी शत्रु तुल्य है और मूर्ख पुत्र भी शत्रु तुल्य है ॥ २१ ॥

विना अभ्यास के विद्या भी विष है, अजीर्ण होने पर भोजन भी विष है

यस्य[1] कस्य प्रसूतोऽपि गुणवान्पूज्यते नरः ।
[2]धनुर्वंशविशुद्धोऽपि निर्गुणः किङ्करिष्यति ? ॥ २३ ॥
हा हा पुत्रक ! नाऽधीतं गतास्वेतासु[3] रात्रिषु ।
तेन त्वं विदुषां मध्ये पङ्के गौरिव सीदसि ! ॥ २४ ॥

पहारकत्वात्सन्तापजनकत्वाच्च ॥ २२ ॥

यस्येति । यस्य कस्य=अज्ञातकुलशीलस्य, अकुलीनस्यापि । प्रसूतः= तत उत्पन्नः । संबन्धसामान्यविवक्षया षष्ठी । वंशविशुद्धिरहितोऽपीति यावत् । गुणवान्=गुणी, तन्तुयुतो, मौर्वीयुतश्च । पूज्यते=सत्क्रियते, आद्रियते च । वंशविशुद्धोऽपि=श्रेष्ठवंशनिर्मितमपि, धनुः=कोदण्डं, निर्गुणः=ज्यारहितम्, गुणशून्यश्च । किं करिष्यति=किं लक्ष्यं हन्तुं समर्थो भवति ?, नैव । अतो गुणा एव आदरस्थानमित्याशयः ॥ २३ ॥

अनुकम्पितः पुत्रः-पुत्रकः, तत्सम्बुद्धौ रूपम् । एतासु=वृथाऽपयातासु । सीदसि=क्लेशमनुभवसि । शास्त्राऽनभ्यासात् ॥ २४ ॥

दरिद्र मनुष्य के लिए सभी संसार ही विष तुल्य है और वृद्ध पुरुष के लिए उसकी युवती स्त्री भी विष के समान ही है ॥ २२ ॥

गुणी मनुष्य चाहे किसी कुल में उत्पन्न हो, सर्वत्र पूजित ही होता है, परन्तु यदि अच्छे कुल में उत्पन्न होकर भी मनुष्य निर्गुण हो, तो वह क्या कर सकता है, किस काम का है ? जैसे धनुष अच्छे बाँस का बना होने पर भी यदि उसमें गुण (तांत या डोरी) न हो तो वह क्या काम कर सकता है ? कुछ भी नहीं । यहाँ वंश शब्द के दो अर्थ हैं, बांस और कुल ॥ २३ ॥

हे पुत्र ! खेद है कि तुमने बाल्यकालकी बीती हुई रात्रियों में कुछ नहीं पढ़ा, इसीलिए विद्वानों की मण्डली में आज तुम्हारी यह दशा हो रही है, जो दशा कीचड़ में फँसी हुई गाय की होती है ॥ २४ ॥

१. 'यत्र कुत्र' पा० । २. 'धनुर्वंशोऽति' । ३. 'सुगतैतासु' इति पाठः ।

तत्कथमिदानीमेते मम पुत्रा गुणवन्तः क्रियन्ताम् ? ।

आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥२५॥

यतः—

धर्माऽर्थ-काम-मोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥ २६ ॥

इदानीं = सम्प्रति । गुणवन्तः=विद्याविनयवन्तः ॥

आहारश्च, निद्रा च, भयञ्च, मैथुनं=रतिश्च-एषां समाहारः-आहार-निद्राभयमैथुनम् । एतत्—नराणां = पुंसां, पशुभिः = गवादिभिः पशुभिः, सामान्यं = तुल्यमेव । हि=यतः । तेषां = नराणाम् । धर्मः=विद्याविनय-धर्माचारादिरेव, अधिकः=असदृशः, तत्राऽवर्तमानः । विशेषः=भेदकः । धर्मेण हीनाः=रहिताः, नरास्तु-पशुभिः समानाः = पशुतुल्या एवेत्यर्थः ॥२५॥

यतः = यस्मात्कारणात् । (क्यों कि) । धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थचतुष्टयस्य मध्ये । यस्य-पुंसः एकोऽपि पुरुषार्थः-धर्मादिरूपो न विद्यते, तस्य पुंसः-अजागलस्तनस्येव = अजागलस्थितस्तनवल्लम्बमानचर्मखण्डस्येव, जन्म=जननं, निरर्थकं = निष्फलमेव । धर्मादीनसेवमानस्य पुंसो दुग्धादिरहितबर्करगलचर्म-खण्डमिव वृथैव जन्मेत्याशयः ॥ २६ ॥

अतः किस तरह मेरे ये पुत्र अब भी गुणवान् और विद्वान् बनाये जायँ ? ।

क्योंकि—भोजन, नींद, भय और मैथुन ये चार बातें तो मनुष्यों और पशुओं में समान ही हैं, मनुष्य में केवल धर्म (गुण) ही अधिक है, इस लिए धर्महीन (विद्या विनय आदि गुणों से रहित) मनुष्य पशु के ही समान है ॥ २५ ॥

क्योंकि—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों में से जिसके पास एक भी नहीं है, उस मनुष्य का जन्म वैसे ही व्यर्थ है, जैसे बकरी के गले का स्तन (चमड़े की स्तनाकार लम्बी थैली) ॥ २६ ॥

यच्चोच्यते—

'आयुः, कर्म च, वित्तं च, विद्या, निधनमेव च।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः' ॥ २७ ॥

किञ्च—

अवश्यं भाविनो भावा भवन्ति महतामपि।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य, महाऽहिशयनं हरेः' ॥ २८ ॥

अपि च—

यदभावि न तद्भावि, भावि चेन्न तदन्यथा'।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते ?–' ॥२९॥

यच्च = यत्तु। 'इत्थं कैश्चिदुच्यते' इति शेषः। अस्य च 'तत्तु कार्याऽक्षमस्य वचन' मित्यग्रिमेणान्वयः।

आयुरिति। आयुः = जीवितकालः, कर्म = जीविकासाधनं कर्म, शुभाऽशुभमाचरणं वा। वित्तं = धनम्। निधन = मृत्युः। गर्भस्थस्य = कुक्षिस्थस्यैव। देहिनः = प्राणिनः ॥ २७ ॥

किञ्च = यच्च। 'तदपि कार्याऽक्षमाणामलसानामालस्यवचन' मित्यग्रिमेणाऽन्वयः। भावाः = भवितव्यानि। नीलकण्ठस्य = शिवस्य। नग्नत्वं = दिगम्बरत्वम्। हरेः = विष्णोः, महाहिशयनं = शेषशय्या ॥ २८ ॥

यदिति। यत् = सुखादि, अभावि = न भावि, तत् – न भावि = प्रयत्न-

कुछ लोग जो कहा करते हैं कि—जब मनुष्य गर्भ में रहता है तभी उसकी आयु, कर्म (व्यवसाय), धन, विद्या और मृत्यु का समय ये निश्चित हो जाते हैं ॥२७॥

और भी—जो बात अवश्य होने वाली है, वह तो अवश्य ही होती है, उसको तो कोई भी नहीं हटा सकता है। इसमें शिवजी का नग्न रहना और विष्णु का शेषनाग की शय्या पर सोना ही प्रमाण है। अर्थात् यद्यपि ये दोनों संसार के प्रभु हैं, तथापि इनके प्रारब्ध में यही विडम्बना लिखी है ॥ २८ ॥

और भी—जो बात नहीं होने वाली है, वह कभी नहीं होगी और जो होने

—एतत् कार्याऽक्षमाणां केषाञ्चिदालस्य[1]वचनम् ।

न दैवमपि[2] सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः ।
अनुद्योगेन तैलानि तिलेभ्यो नाऽऽप्तुमर्हति ॥ ३० ॥

सहस्रेणाऽपि भवितुं न शक्यते । चेत्=यदि, भावि=सुखदुःखादिकं भावि, तत्—भाविसुखादि । न अन्यथा=न दूरीकर्तुं शक्यम् । इति=इत्ययं, चिन्ता एव विषं, तद्धन्तीति चिन्ताविषघ्नः=चिन्ताविषापहारी, अगदः=औषधं, किं न=कुतो न । पीयते=सेव्यते । यद्भावि तद्भविष्यत्येव, यच्च न भावि तन्न भविष्यत्येव, दैवाधीनमेव सर्वं, तत्र किं वृथा चिन्तयाऽऽयासेन चेत्याशयः ॥२९॥

एतत्='आयुः कर्म च' (श्लो० २७) इत्यारभ्य 'यद्भावि' (श्लो० २९) इत्यन्तैः श्लोकैर्यदुक्तं दैवस्य बलवत्त्वं तत्, कार्याऽक्षमाणां=परिश्रमोद्योगक्लेशाऽसहिष्णूनामलसानाम्, आलस्यसूचकं वचनम्–आलस्यवचनम्=आलस्यवाक्यमेव । एवञ्च नैतत्प्रमाणं भवितुमर्हति । पुरुषार्थसहेन तु यथावदुद्योग एव कर्त्तव्य इत्याशयः । 'आलस्यवचन' मिति कुत एतदित्यत आह–नेति । दैवमस्ति, तदेव सर्वकार्यसाधकमिति–सञ्चिन्त्य=विभाव्य, आत्मनः=आत्माधीनम्, उद्योगं=पुरुषार्थं, न त्यजेत् । यतः—अनुद्योगेन=उद्योगविकलेन, आलस्येन वा, गृहकोणस्थितेभ्योऽपि तैलपूर्णेभ्योऽपि तिलेभ्यः—तैलानि—आप्तुं=प्राप्तुं, न

वाली है, वह किसी प्रकार मिट नहीं सकती है इस विचाररूपी औषध को—जो कि सब चिन्ताओं को नाश करने वाली है—लोग क्यों नहीं पीते हैं ? ॥२९॥

—ये पूर्वोक्त आलस्ययुक्त वचन उन लोगों के हैं, जो कि कार्य करने में असमर्थ हैं और आलसी हैं ।

अतः बुद्धिमान् मनुष्य को अपना उद्योग कभी नहीं छोड़ना चाहिए । क्योंकि विना उद्योग के किये तो तिल से तेल भी नहीं निकल सकता है ॥३०॥

---

१. 'आलस्यनिबन्धनं वचन'मिति क्वाचित्कः पाठस्तु शोभन एव ।

२. 'दैव'मिति' पा० ।

अन्यच्च—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
'र्दैवेन देय'मिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिध्यति, कोऽत्र दोषः ? ॥२१॥

योग्यो भवति । उद्योगाऽभावे हि गृहकोणस्थतिलेभ्योऽपि तैललाभो न भवति, किं पुनरभ्युदयसम्पत्तिसुखादिलाभः । एवञ्च दैवस्य आशां विहाय, पुरुषेण उद्योगोऽवश्यं विधेय इत्यर्थः ॥ ३० ॥

अन्यच्च=किञ्च (और भी) । 'कैश्चिदुक्त' मिति शेषः ।

उद्योगिनमिति । उद्योगशीलं—(पुरुषः सिंह इव—पुरुषसिंहस्तं—) पुरुषसिंहं=सिंहवद्विक्रमशालिनं पुरुषश्रेष्ठं । लक्ष्मीः = सम्पत्तिः । सफलता । स्वयमेव = स्वत एव । उपैति = आगच्छति । 'दैवेनैव देयं सर्वं सुखं दुःखं वे'ति तु—कापुरुषाः=उद्योगशक्तिशून्याः कातरा एव, वदन्ति = कथयन्ति, न शूराः । अतो दैवम् = अदृष्टं, निहत्य=तन्मुखप्रेक्षितां विहाय, तदुपेक्ष्येति वा । पौरुषम्= उद्योगं—कुरु । अथ यत्ने=उद्योगे कृते सति, यदि=चेत्, कार्यं न सिध्यति, तर्हि, अत्र=अस्मिन् विषये, कः=को वा पुंसो दोषः, नैव कश्चिद्दोष इत्यर्थः । यद्वा—अत्र=यत्ने एव कः=कोऽपि दोषः=त्रुटिरस्तीति विभाव्यम्, अन्यथा बलवति यत्ने सति अवश्यमेव कार्यं भवत्येवेत्यवधेयमित्यन्ये व्याचक्षते ॥ २१ ॥

और भी—उद्योगशील पुरुषसिंह के पास स्वयं ही लक्ष्मी आती है । 'धन भाग्य से ही मिलता है'—यह तो कायर पुरुष ही कहा करते हैं । इसलिये मनुष्य को भाग्य का भरोसा छोड़कर अपनी शक्ति के अनुसार उद्योग करना चाहिये, यदि उद्योग करने पर भी कार्य की सिद्धि न होवे तो इस उद्योग में क्या दोष है, इसका विचार करो । अर्थात्—देखो कि तुमारे इस उद्योग में क्या त्रुटि है, न कि उद्योग को ही छोड़ दो ॥ २१ ॥

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत् ।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ॥ ३२ ॥

तथा च—

पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते ।
तस्मात्पुरुषकारेण यत्नं कुर्यादतन्द्रितः ॥ ३३ ॥
यथा मृत्पिण्डतः कर्त्ता कुरुते यद्यदिच्छति ।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ॥ ३४ ॥

यथा एकेन चक्रेण=रथाङ्गेन, रथस्य गतिर्न भवेत्=न भवति, एवं पुरुषकारेण=सहायभूतेन पौरुषेण विना, दैवम्=केवलमदृष्टं, न सिध्यति=नैव फलतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

पूर्वेति । पूर्वजन्मनि कृतं यत् कर्म—तत्=तदेव, 'दैव'पदवाच्यम्, इतोऽन्यद्दैवं नाम किञ्चिदपि नास्ति । तस्मात्=पुरुषकारेण विना दैवस्य सिद्धेरभावात्, पुरुषकारेण=पुरुषार्थमास्थाय—अतन्द्रितः=आलस्यवर्जितः, सावधानः सन्, पुमान् यत्नं कुर्यात् ॥ ३१ ॥

यथेति । यथा मृत्पिण्डतः—कर्त्ता=कुलालः—यद्यत्=शरावोदञ्चनघटादिकम्, इच्छति=कर्त्तुं वाञ्छति, तत्तत्—कुरुते=स्वप्रयत्नेन सम्पादयति, एवं=

जैसे एक चक्र से रथ नहीं चल सकता है, उसी प्रकार उद्योग के बिना केवल भाग्य से ही सिद्धि नहीं हो सकती है ॥ ३२ ॥

क्योंकि पूर्वजन्म में किया हुआ कर्म ही दूसरे जन्म में भाग्य कहा जाता है। इसलिये मनुष्य को पुरुषार्थ (उद्योग, कर्म) करना ही चाहिए ॥ ३३ ॥

जैसे कुम्हार मिट्टी के पिण्ड से जो जो वस्तु चाहता है, अपनी इच्छा के

काकतालीयवत्प्राप्तं दृष्ट्वाऽपि निधिमग्रतः ।
न स्वयं दैवमादत्ते, पुरुषार्थमपेक्षते ॥ ३५ ॥
उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि, न मनोरथैः ।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥ ३६ ॥

पूर्वोपपादितया रीत्या, आत्मकृतमेव कर्म = कर्मफलम्, षड्दिकञ्च, मानवः=कर्त्ता, प्रतिपद्यते = लभते, प्राप्नोति ॥ ३४ ॥

काकेति । काकस्याऽऽगमनमिव, तालस्य पतनमिव—काकतालं, काकतालमिव काकतालीयं=सहसोपनतम् । तद्वत्—काकतालीयवत्=काकागमनेन तालपतनवद-कस्मात्=दैववशात्—प्राप्तं=लब्धं, निधिम्=शेवधिम् = (खजाने को) । अग्रतः= पुरतः, दृष्ट्वाऽपि, दैवं = भाग्यं, स्वतः = स्वयम्, न आदत्ते=न गृह्णाति, किन्तु— आदाने—पुरुषार्थं = हस्तचालनादिकं पुरुषव्यापारम्, अपेक्षते = आश्रयते एव । सहायमपेक्षते एव ॥ ३५ ॥

उद्यमेनेति । उद्यमेन = उद्योगेन । मनोरथैः = 'ममेदं भवतु' 'सिध्यतु ममेद'-मित्यादिमनोरथमात्रेण । 'कार्याणि न सिध्यन्ती'ति शेषः । हि = यतः सुप्तस्य बुभुक्षितस्यापि सिंहस्य, मुखे = वदने स्वयमेवागत्य—मृगाः = पशवः—न प्रविशन्ति, किन्तु तदर्थं सिंहोऽपि यत्नं करोति । एवमेव सर्वैरपि यत्नो विधेयः ॥ ३६ ॥

अनुसार बनाता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने किये हुए कर्म के अनुसार ही फल पाता है ॥ ३४ ॥

काकतालीय न्याय से (अर्थात् अकस्मात्, भाग्य से) सामने प्राप्त हुए धन को भी उठाकर रखने में पुरुषार्थ की जरूरत रहती ही है ॥ ३५ ॥

क्योंकि—कार्य की सिद्धि उद्योग से ही होती है, केवल इच्छामात्र से नहीं । क्योंकि सोये हुए भूखे सिंह के मुख में मृग स्वयं नहीं चले जाते हैं, किन्तु उसको भी शिकार पकड़ने के लिए यत्न करना ही होता है ॥ ३६ ॥

मातापितृकृताऽभ्यासो गुणितामेति बालकः ।
न गर्भच्युतिमात्रेण पुत्रो भवति पण्डितः ॥ ३७ ॥
माता शत्रुः, पिता वैरी येन[1] बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥ ३८ ॥
रूपयौवनसम्पन्ना, विशालकुलसम्भवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते, निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥ ३९ ॥

मातेति । मात्रा च पित्रा च कृतः=कारितः अभ्यासो येनासौ=मातापितृकृताऽभ्यासः=मातापितृभ्यां कारिताभ्यासः । 'आनङृत' इत्यानङ् । 'मातृपित्रि'ति पाठस्तु न शोभनः । बालकः=पुत्रः—गुणितां=विद्वत्त्वं, गुणवत्त्वञ्च, एति=प्राप्नोति । लभते । केवलं गर्भच्युतिमात्रेण=जन्मग्रहणमात्रेणैव । पुत्रः=बालकः, पण्डितो न भवति ॥ ३७ ॥

मातेति । येन=पित्रा । स बालः सभामध्ये=विदुषां समवाये । हंसमध्ये बक इव । न शोभते=न प्रतिष्ठां लभते । 'याभ्या' मिति पाठान्तरम् ॥ ३८ ॥

रूपेति । रूपेण=सौन्दर्येण, शरीरकान्त्या च, यौवनेन=युवत्वकृतेन वपुःसंहननादिना च । सम्पन्नाः=शोभिता अपि, किञ्च—विशालकुलसम्भवाः=महाकुलप्रसूता अपि; विद्याहीनाः=मूर्खाः—निर्गन्धाः=सुरूपा अपि गन्धशून्याः, [किंशु]काः=पलाशकुसुमानीव, न शोभन्ते=लोके न विराजन्ते ॥ ३९ ॥

माता पिता के अभ्यास कराने से ही बालक गुणी होता है । जन्मते ही कोई पण्डित नहीं हो जाता है । अतः बालकों को उत्तम शिक्षा देनी चाहिए ॥ ३७ ॥

वे पिता माता शत्रु हैं, जिन्होंने अपने बालक पुत्र को नहीं पढ़ाया । क्योंकि हंसों के बीच में बगुले की तरह वह मूर्ख बालक भी विद्वानों के बीच में कभी शोभा नहीं देता है ॥ ३८ ॥

अच्छे कुल में उत्पन्न, सुन्दर, युवा मनुष्य भी विद्याहीन होने से निर्गन्ध पलाश (ढाक) के फूल के समान शोभा नहीं पाते हैं ॥ ३९ ॥

---

१. 'याभ्यां'पा० ।

मूर्खोऽपि शोभते तावत्सभायां वस्त्रवेष्टितः ।
तावच्च शोभते मूर्खो यावत्किञ्चिन्न भाषते ॥ ४० ॥

एतच्चिन्तयित्वा स राजा पण्डितसभां कारितवान् ।

राजोवाच—'भो भोः पण्डिताः! श्रूयताम् । अस्ति कश्चिदेवम्भूतो विद्वान् यो मम पुत्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनामनधिगतशास्त्राणामिदानीं नीतिशास्त्रोपदेशेन पुनर्जन्म कारयितुं समर्थः? । यतः—

काचः काञ्चनसंसर्गाद्धत्ते मारकतीं द्युतिम् ।
तथा सत्संनिधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम् ॥ ४१ ॥

मूर्ख इति । सभायां=विद्वद्गोष्ठ्याम् । तावत्=निश्चयेन । वस्त्रवेष्टितः= महार्हपट्टवस्त्रावृतः, (दुशाला ओढे हुए) । भाषते=वदति ॥ ४० ॥

एवंभूतः=ईदृशः । उन्मार्गगामिनाम्=मर्यादारहितानामपथप्रवृत्तानाम् ।

काच इति । काञ्चनं–सुवर्णम् । मारकतीं=मरकतमणिसम्बन्धिनीं, तत्तुल्यामिति यावत् । [मरकतः=पन्ना] । प्रवीणतां=कुशलतां, पाण्डित्यञ्च ॥४१॥

विद्वानों की सभा में अच्छा कपड़ा पहन कर कदाचित् मूर्ख भी शोभता है, परन्तु वह तभी तक शोभता है, जब तक वह कुछ बोलता नहीं है । अर्थात् उसके बोलते ही उसकी योग्यता (मूर्खता) मालूम हो जाती है ॥ ४० ॥

इस तरह विचार कर उस राजा ने पण्डितों की एक सभा की । और उसने सब पण्डितों से पूछा कि—आप लोगों में कोई ऐसा योग्य विद्वान् है, जो बुरे रास्ते पर चलने वाले मेरे इन मूर्ख पुत्रों को भी नीतिशास्त्र का उपदेश देकर इनका द्वितीय जन्म करा दे, अर्थात् इन्हें सुधार कर विद्वान् कर दे ।

क्योंकि—जैसे काच भी सुवर्ण के सम्बन्ध से मरकतमणि (पन्ना) की सी शोभा को पाता है, इसी प्रकार सज्जनों के संसर्ग से मूर्ख भी चतुर हो जाता है ॥ ४१ ॥

उक्तञ्च—

हीयते हि मतिस्तात ! हीनैः सह समागमात् ।
समैश्च समतामेति, विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ॥ ४२ ॥

अत्राऽन्तरे विष्णुशर्मनामा महापण्डितः सकलनीतिशास्त्रतत्त्वज्ञो बृहस्पतिरिवाऽब्रवीत्—'देव ! महाकुलसम्भूता एते राजपुत्राः, तन्मया नीतिं ग्राहयितुं शक्यन्ते । यतः—

नाऽद्रव्ये निहिता काचित्क्रिया फलवती भवेत् ।
न व्यापारशतेनाऽपि शुकवत्पाठ्यते बकः ॥ ४३ ॥

हीयते इति । 'तातेति सम्बोधनम् । हे वत्स ! । हीनैः = अधमैः, मूर्खैः । समैः=स्वात्मतुल्यैः, विशिष्टैः=स्वस्मादधिकैः । विशिष्टतां=वैदुष्यं, महत्त्वञ्च ॥४२॥

अत्रान्तरे=अस्मिन्नवसरे । तत्त्वज्ञः—रहस्यवित् । बृहस्पतिरिव = बृहस्पतिसमः । देव = हे राजन् । ग्राहयितुं = पाठयितुं, बोधयितुञ्च ।

नेति । अद्रव्ये = अयोग्ये, अपात्रे च । निहिता = योजिता, स्थापिता च, क्रिया = संस्कारः, शिक्षा च । फलवती = सफला । व्यापारशतेनापि = उपायशतेनापि । बकः—न खलु—पाठ्यते = पाठयितुं शक्यते ॥ ४३ ॥

किसी ने कहा भी है कि—'हे तात ! नीचों के सङ्ग–साथ से मनुष्य की बुद्धि छोटी हो जाती है, और अपने बराबर बुद्धिवालों के साथ से बुद्धि साधारण रहती है, और अपने से बड़े लोगों के सङ्ग से मनुष्य की बुद्धि उत्कृष्ट (उन्नत) होती है' ॥ ४२ ॥

राजा की बातें ये सुनकर बृहस्पति के समान सब नीतिशास्त्र के तत्त्व को जानने वाले श्रेष्ठ विद्वान् विष्णुशर्म्मा कहने लगे कि हे राजन् ! ये राजकुमार उच्च कुल में उत्पन्न हुए हैं, इसलिये मैं इन कुमारों को नीतिशास्त्र का उपदेश देकर योग्य बना सकता हूँ ।

क्योंकि—अयोग्य अपात्र में कोई भी सुधार सफल नहीं होता है। देखो—अनेक उपाय करने पर भी कोई भी बगुले को शुक (सुग्गे) की

अन्यच्च—

अस्मिंस्तु निर्गुणं गोत्रे नाऽपत्यमुपजायते ।
आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः ? ॥ ४४ ॥

अतोऽहं षण्मासाऽभ्यन्तरे तव पुत्रान्नीतिशास्त्राभिज्ञान्करिष्यामि' ।

राजा सविनयं पुनरुवाच—

'कीटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः ।
अश्माऽपि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः' ॥ ४५ ॥

अस्मिन्निति । अस्मिन्=भवतां प्रसिद्धे । गोत्रे=वंशे । राजकुले । निर्गुणं=गुणशून्यम्, अपत्यं=तोकं, पुत्र इति यावत् । न उपजायते=नोत्पद्यते । यतः पद्मरागमणीनाम् (चुन्नी) । आकरे=खनौ । काचमणेः=काचस्य, जन्म=उत्पत्तिः । कुतः=कस्माद्धेतोर्भवति, नैव संभवतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

अतः=यतः सत्कुलप्रसूता ह्येते अनायासेन शिक्षयितुं शक्या अतः ।

कीट इति । कीटः=भृङ्गादिः । पामरश्च । सुमनःसङ्गात्=पुष्पसम्बन्धात् । विद्वत्सङ्गाच्च । सतां=सज्जनानां, महताञ्च । शिरः=मस्तकमपि । आरोहति=तत्पूज्यो भवति । अश्मा=पाषाणः । महद्भिः=विद्वद्भिः, श्रेष्ठैश्च । सुप्रतिष्ठितः=स्थापितः ॥ ४५ ॥

तरह कभी नहीं पढ़ा सकता है ॥ ४३ ॥

परन्तु इस (आपके) वंश में मूर्ख सन्तति हो ही नहीं सकती है । जैसे पद्मरागमणि ('लाल' 'चुन्नी') की खान से कभी काच की उत्पत्ति नहीं होती है ॥४४॥

इसलिये हे राजन् ! छः मास के भीतर ही मैं आपके इन पुत्रों को नीतिकुशल बना दूँगा ।

तब वह राजा नम्रतापूर्वक उनसे कहने लगा कि—

पुष्पों के साथ होने से कीड़ा भी बड़े लोगों के शिर पर चढ़ जाता है । और बड़े लोगों से आदर प्रतिष्ठा पाकर पत्थर भी देवता बन जाता है ॥ ४५ ॥

अन्यच्च—

यथोदयगिरेर्द्रव्यं संनिकर्षेण दीप्यते ।
तथा सत्संनिधानेन हीनवर्णोऽपि दीप्यते ॥ ४६ ॥

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति,
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः ।
आस्वाद्यतोयाः प्रवहन्ति नद्यः,
समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ॥ ४७ ॥

तदेतेषामस्मत्पुत्राणां नीतिशास्त्रोपदेशाय भवन्तः प्रमाणम् ।'

यथेति । उदयगिरेः = उदयपर्वतस्य, द्रव्यं = पाषाणवृक्षादिकं वस्तुजातमपि । दीप्यते = सूर्यसम्पर्कात्प्रकाशते । हीनवर्णः = नीचः । दीप्तिरहितोऽपि । दीप्यते = शोभते, प्रकाशते च ॥ ४६ ॥

गुणा इति । गुणाः = दयादाक्षिण्यसत्कुलप्रसूतत्वादयः । गुणज्ञेषु = गुणिजनसमवधाने । गुणा भवन्ति = गुणत्वं वहन्ति । ते = गुणाः । निर्गुणं = गुणशून्यम् । आसाद्य = प्राप्य । दोषा भवन्ति । आस्वाद्यं तोयं यासान्ताः—आस्वाद्यतोयाः = सुपेयपानीयाः, मधुरजलाः । प्रवहन्ति = प्रचरन्ति । 'प्रभवन्ती'ति पाठेऽपि स एवाऽर्थः । अपेयाः = क्षारोदकाः । एवञ्च त्वत्संनिधानेन (भवत्सङ्गेन) कुलीना मत्पुत्रा विद्वांसो भविष्यन्तीत्याशयः ॥ ४७ ॥

और भी— जैसे उदयाचल की सभी वस्तु सूर्य के समीप होने से चमकने लगती हैं, उसी तरह सज्जनों के संसर्ग से मूर्ख भी विद्वान् हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

क्योंकि गुणी मनुष्य के सम्बन्ध से गुण-गुण ही रहते हैं, अर्थात् उनका आदर होता है । पर वे ही गुण-निर्गुण मनुष्य के सम्बन्ध से दोष हो जाते हैं । देखो, नदियों का जल स्वभाव से ही स्वादिष्ट होता है, परन्तु वही जल जब समुद्र में जाकर पड़ता है, तो वह खारा हो जाता है ॥ ४७ ॥

इसलिये इन मेरे पुत्रों को नीतिशास्त्रों के उपदेश के लिये आप स्वतन्त्र

इत्युक्त्वा तस्य विष्णुशर्मणो बहुमानपुरःसरं पुत्रान् समर्पितवान्।

❀ इति कथामुखम् ❀

अथ मित्रलाभः।

अथ प्रासादपृष्ठे सुखोपविष्टानां राजपुत्राणां पुरस्तात्प्रस्तावक्रमेण स पण्डितोऽब्रवीत्—

'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां, निद्रया, कलहेन वा' ॥ १ ॥

प्रमाणम्=स्वतन्त्राः। यथा भवद्भ्यो रोचते तथा पाठनीया इमे, नात्र मम किमपि वक्तव्यमस्तीत्याशयः। त्वदधीना इमे राजपुत्रा अद्यारभ्य मया कृता इति यावत्।

मित्रस्य लाभः—मित्रलाभः। तमधिकृत्य कृतः परिच्छेदः—उपचारान्मित्रलाभः। 'इन्द्रार्था स्थूणा—इन्द्र' इति व्यवहारवत्। यद्वा—मित्रस्य लाभो यत्रेति विग्रहः। प्रासादपृष्ठे=राजभवनोपरितले। (प्रासाद=महल, पृष्ठ=छत)। सुखेन उपविष्टाः=सुखोपविष्टास्तान्, तेषां=निराकुलं स्थितानाम्। पुरस्तात्=अग्रे। प्रस्तावक्रमेण=कथाप्रसङ्गेन। (बातों ही बातों में, 'बातचीत के प्रसङ्ग में')। सः=विष्णुशर्मा।

काव्येति। काव्यञ्च शास्त्रञ्च-काव्यशास्त्रे, ताभ्यां यो विनोदस्तेन। यद्वा—काव्यमेव शास्त्रन्तेन विनोद इति विग्रहः। काव्यशास्त्रपर्यालोचनेनेत्यर्थः। धीमतां=विदुषां। कालः=जीवितसमयः। गच्छति=सुखं याति। मूर्खाणान्तु

हैं, जैसे चाहें वैसे इन्हें शिक्षा दें। ऐसा कहकर राजा ने बड़े आदर से अपने लड़कों को विष्णुशर्म्मा को सौंप दिया।

एक दिन वे राजपुत्र महलकी छत पर बैठे थे, उस समय बातचीत प्रसङ्ग में विष्णुशर्मा उनसे कहने लगे, कि—हे राजपुत्रो! सुनो।

बुद्धिमान् मनुष्यों का समय काव्यों व शास्त्रों के विचार में ही बीतता है, परन्तु मूर्खों का समय तो व्यसन (बुरे काम) एवं निद्रा तथा झगड़ों में ही बीतता है॥१॥

तद्भवतां विनोदाय काककूर्मादीनां विचित्रां कथां कथयामि'।

राजपुत्रैरुक्तम्—'आर्य! कथ्यताम्।'

विष्णुशर्मोवाच—'शृणुत! सम्प्रति मित्रलाभः प्रस्तूयते। यस्याऽयमाद्यः श्लोकः—

'असाधना, वित्तहीना, बुद्धिमन्तः, सुहृत्तमाः।
साधयन्त्याशु कार्याणि काककूर्ममृगाऽऽखुवत्' ॥ २ ॥

राजपुत्रा उचुः—कथमेतत्?।

विष्णुशर्मा[1] कथयति—

अस्ति गोदावरीतीरे विशालः शाल्मलीतरुः। तत्र नाना-

व्यसनेन=स्त्रीद्यूतमद्यपानादिव्यसनेन। किञ्च—निद्रया=स्वापेन, कलहेन=विवादेन च। कालो गच्छति ॥ १ ॥

विनोदाय=हर्षाय, कालक्षेपाय च। आर्य=पूज्य!। (आर्य=जी, अजी)। सम्प्रति=इदानीम्। प्रस्तूयते=प्रारभ्यते। यस्य=मित्रलाभस्य। अयं=वक्ष्यमाणः।

असाधना इति। असाधनाः=उपकरणवर्जिताः। वित्तहीनाः=धनवर्जिताः, (अपि—) बुद्धिमन्तः=मनीषिणः, सुहृत्तमाः=परस्परहितैषिणः, परस्परं मित्रतां गताः सहृदयाः, आशु=शीघ्रम्। काककूर्ममृगाखुवत्=वायस-कच्छप-मूषकवत् ॥ २ ॥

एतत्=असाधनैः काककूर्मादिभिराशु कार्यसाधनम्—कथम्–संभवति?।

सः=विष्णुशर्मा।

अतः आप लोगों के मन को बहलाने के लिये मैं कौआ, कछुआ इत्यादि की विचित्र कथाओं को कहता हूँ।

राजपुत्रों ने कहा—हे आर्य! (जी), आप अवश्य कहिये।

विष्णुशर्मा बोले—सुनो, अब मैं पहले मित्रलाभ की कथाओं को प्रारम्भ करता हूँ। जिसका पहला श्लोक (उपदेश वाक्य) यह है—

उपायरहित, धनहीन पर बुद्धिमान् और दृढ मैत्री वाले पुरुष अपने कार्यों

---

१. 'सोऽब्रवी'दिति पाठान्तरम्।

दिग्देशादागत्य रात्रौ पक्षिणो निवसन्ति। अथ कदाचिदवसन्नायां रात्रावस्ताचलचूडावलम्बिनि भगवति कुमुदिनीनायके चन्द्रमसि, लघुपतनकनामा वायसः कृतान्तमिव द्वितीयमटन्तं व्याधमपश्यत्।

तमवलोक्याऽचिन्तयत्—अद्य प्रातरेवाऽनिष्टदर्शनं जातं, न जाने

विशालः = विस्तीर्णः। शाल्मलीतरुः = शाल्मलीपादपः (सेमल का वृक्ष)। तत्र = तस्मिन् तरौ। नानादिग्देशात् = नानादिगवस्थितेभ्यो देशेभ्यः। कदाचित् = कस्मिंश्चिद्दिने (किसी दिन)। अवसन्नायां–विगलितायां, विशीर्णायां। प्रभातप्रायायामिति यावत्। अस्ताचलचूडावलम्बिनि = अस्तपर्वतशिखरारूढे सति। अस्तंयाते इति यावत्। कुमुदिनीनायके = कैरविणीवल्लभे। चन्द्रमसि = इन्दौ। वायसः = काकः। प्रबुद्धः = सुप्तोत्थितः सन्। द्वितीयम् = अपरं। कृतान्तमिव = यमराजमिव। अटन्तं = जीवविनाशाय भ्रमन्तम्। पाशहस्तं = जालहस्तम्। व्याधं = लुब्धकम्। तं = व्याधम्। अद्य = अस्मिन्दिने (आज)। प्रातरेव = उषस्येव। अनिष्टदर्शनम् = अप्रियवस्तुदर्शनम्। अनभिमतम् = अनिष्टम्। दर्शं-

को उसी प्रकार शीघ्र सिद्ध कर लेते हैं, जैसे कि उन कौआ, कछुआ, मृग और चूहों ने किया था॥ २॥

राजपुत्र बोले—यह कथा कैसे है?। विष्णुशर्मा कहने लगे कि—

गोदावरी नदी के तट पर एक विशाल सेमर का पेड़ है। वहां रात्रि में चारों तरफ से आकर पक्षिगण निवास करते हैं। एक दिन रात के बीत जाने पर कुमुदिनीनायक चन्द्रमा जब अस्ताचल पर चले गये, तब लघुपतनक नाम के एक कौए ने उठते ही यमराज की तरह भयङ्कर व सामने आते हुए एक व्याध (बहेलिए) को देखा।

उसको देखकर वह सोचने लगा कि 'आज प्रातः काल ही यह अनिष्ट दर्शन हुआ है, न जाने आज क्या होगा'। ऐसा विचार कर वह कौआ उसके पीछे-घबड़ाया हुआ चलने लगा।

किमनभिमतं दर्शयिष्यति ?' । इत्युक्त्वा तदनुसरणक्रमेण व्याकुल-श्चलितः । यतः—

शोकस्थानसहस्राणि, भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति, न पण्डितम् ॥ ३ ॥

अन्यच्च विषयिणामिदमवश्यं कर्त्तव्यम्—

उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं महद्भयमुपस्थितम् ।
मरणव्याधिशोकानां किमद्य निपतिष्यति ! ॥ ४ ॥

अथ तेन व्याधेन तण्डुलकणान्विकीर्य जालं विस्तीर्णम् ।

यिष्यति = उपस्थापयिष्यति । अनिष्टदर्शनं—कर्तृ । अनुसरणक्रमेण = व्याधानु-सरणपरिपाट्या । तमनुसरन्निति यावत् । व्याकुलः = चिन्तातुरः ।

शोकेति । सहस्रशः शोककारणानि । शोकावसरा इत्यर्थः । भयस्थानशतानि= शतशो भयहेतवः । दिवसे-दिवसे = प्रतिदिनमेव । मूढं = मूर्खमेव । आविशन्ति = आश्रयन्ते, व्याकुलं कुर्वन्ति । परन्तु पण्डितं=विद्वांसन्तु, न=नैव आविशन्ति ॥३॥

विषयिणां = विषयानुरक्तानां । गृहस्थानामिति यावत् । कर्तव्यमाह-उत्था-येति । उत्थायोत्थाय = मुहुः प्रबुध्य । उपस्थितं = प्राप्तं । महद्भयं = महाभीतिः । बोद्धव्यं = ज्ञातव्यम् । किं ज्ञातव्यमत आह—मरणेति । निपतिष्यति = आप-तिष्यति ॥ ४ ॥

क्योंकि—मूर्ख मनुष्य के सामने तो प्रतिदिन हजारों शोक के स्थान एवं सैकड़ों भय के स्थान (अवसर) उपस्थित हुआ ही करते हैं । परन्तु उनसे मूर्ख लोग ही विचलित होते हैं, पण्डित नहीं ॥ ३ ॥

और भी—संसारी जीवों को प्रतिदिन उठकर विचारना चाहिये और सदा सावधान रहना चाहिए कि आज मृत्यु शोक भय आदि विपत्तियों में से कौन सी विपत्ति आनेवाली है ? । अर्थात् न जाने कब कौन विपत्ति आजाए, अतः बुद्धिमान् मनुष्य को उसके लिए सदा सावधान रहना चाहिए ॥ ४ ॥

स च प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः। तस्मिन्नेव काले चित्रग्रीवनामा कपोतराजः सपरिवारो वियति विसर्पंस्तांस्तण्डुलकणानवलोकयामास। ततः कपोतराजस्तण्डुलकणलुब्धान्कपोतान्प्रत्याह—'कुतोऽत्र निर्जने वने तण्डुलकणानां सम्भवः?, तन्निरूप्यतां तावत्, भद्रमिदं न पश्यामि। प्रायेणाऽनेन तण्डुलकणलोभेनाऽस्माभिरपि तथा भवितव्यम्—

'कङ्कणस्य तु लोभेन मग्नः पङ्के सुदुस्तरे।
वृद्धव्याघ्रेण सम्प्राप्तः पथिकः स मृतो यथा'। ५ ॥

विस्तीर्णं=विस्तारितम्। प्रच्छन्नः=सुगूढः। वियति=आकाशे। विसर्पन्=गच्छन्, उड्डीयमानः। तण्डुलकणलुब्धान्=तण्डुलखण्डभक्षणोत्सुकान्। सम्भवः=प्राप्तेः सम्भावना। निरूप्यतां=सम्यग्विलोक्यताम्। तावत्=प्रथमम्। **'तथा भवितव्य'** मित्यस्य—**'पथिकः स मृतो यथे'**त्यनेन **'कङ्कणस्ये'**ति श्लोकस्थेन सहान्वयः।

कङ्कणस्येति। हस्तभूषणविशेषस्येत्यर्थः। (हाथ कंगन)। सुदुस्तरे=अतिदुस्तरे। पङ्के=कर्दमे। ('कीचड' 'दलदल') ॥ ५ ॥ सः=कपोतराजः।

इसके बाद उस बहेलिये ने चावल के कणों (दानों) को छींट कर अपना जाल फैला दिया और पास में ही कहीं छिपकर बैठ गया। उसी समय अपने परिवार के साथ आकाश में जाते हुए चित्रग्रीव नामक कबूतरों के राजा की नजर उन चावल के कणों पर पड़ी। तब वह कपोतराज चित्रग्रीव तण्डुलकण के लोभी कबूतरों से बोला कि—इस निर्जन वन में भला चावल के कणों की सम्भावना कहाँ?। अतः इसको अच्छी तरह देखना चाहिये। मैं तो इसमें कल्याण नहीं समझता हूँ। प्रायः इन चावल के कणों के लोभ से हम लोगों की भी वैसाही दशा होगी,—

जैसे कि एक पथिक की कङ्कण के लोभ से गहरे कीचड़ में फँस जाने पर

कपोता ऊचुः—कथमेतत् ? । सोऽब्रवीत्—

(१) वृद्धव्याघ्र-लुब्धविप्र-कथा

अहमेकदा दक्षिणारण्ये चरन्नपश्यम्—एको वृद्धव्याघ्रः स्नातः, कुशहस्तः, सरस्तीरे ब्रूते—'भो भोः पान्थाः ! इदं सुवर्णकङ्कणं गृह्यताम् ।

ततो लोभाऽऽकृष्टेन केनचित्पान्थेनाऽऽलोचितं—'भाग्येनैतत्सम्भवति । किन्त्वस्मिन्नात्मसन्देहे प्रवृत्तिर्न विधेया' । यतः—

अनिष्टादिष्टलाभेऽपि न गतिर्जायते शुभा ।
यत्राऽऽस्ते विषसंसर्गोऽमृतं तदपि मृत्यवे ॥ ६ ॥

कुशहस्तः = दर्भपवित्रपाणिः । आलोचितं = मनसि विचारितम् । भाग्येन = अनुकूलेन विधिना । एतत् = रत्नाभरणलाभादिकम् । अस्मिन् = सुवर्णकङ्कण-ग्रहणे । आत्मसन्देहे = जीवितसंशयप्रदे ।

अनिष्टादिति । अशुभोपायात्, अयुक्तेन मार्गेण, दुष्टाद्वा पुंसः । गतिः = परिणतिः । शुभा = कल्याणकरी । यत्रेति । विषसंपृक्तममृतमपि मृत्युप्रदं भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

और उसे बूढ़े व्याघ्र के द्वारा पकड़ जाने पर हुई थी (वह मारा गया था)॥ ५॥

वे कबूतर बोले—महाराज ! यह कहानी कैसे है ?। कपोतराज कहने लगा—

एक समय मैं दक्षिण के जङ्गल में चर रहा था, तो मैंने देखा कि एक बूढ़ा बाघ स्नान कर, हाथ में कुशा लेकर, तालाब पर कह रहा है कि 'हे पथिकों ! इस सोने के कङ्कण को लो' । इसके बाद एक पथिक (बटोही) आया और लोभ से आकृष्ट हो सोचने लगा कि 'ऐसी बातें बड़े भाग्य से प्राप्त होती हैं' । (कुछ सोचकर-) परन्तु इसमें जीवन का भी सन्देह है, इसलिये इसमें प्रवृत्त होना नहीं चाहिए ।

क्योंकि-अपने अहितकारक-(शत्रु) से इष्ट वस्तु मिलने पर भी उसका परिणाम अच्छा नहीं होता है । जैसे अमृत में विष का संसर्ग हो तो वह अमृत

किन्तु सर्वत्राऽर्थाऽर्जने प्रवृत्तौ सन्देह एव । तथा चोक्तम्—

'न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति, पश्यति' ॥ ७ ॥

तन्निरूपयामि तावत् ।'

प्रकाशं ब्रूते—'कुत्र तव कङ्कणम् ?' । व्याघ्रो हस्तं प्रसार्य दर्शयति । पान्थोऽवदत्—'कथं मारात्मके त्वयि विश्वासः ? ।

व्याघ्र उवाच—'शृणु रे पान्थ ! प्रागेव यौवनदशायामहमतिदुर्वृत्त आसम् । अनेकगोमानुषाणां वधान्मे पुत्रा मृता, दाराश्च । वंशहीनश्चाहम् । ततः केनचिद्धार्मिकेणाऽहमादिष्टः—

इत्थं विमृश्य, पुनर्लोभाकृष्टः स पान्थः कङ्कणं जिघृक्षुर्विभावयति—किन्त्विति । अर्थार्जने = धनोपार्जने, तदुपाये च । सन्देहः = जीवितसन्देहः ।

नेति । संशयं = सङ्कटं, प्राणसन्देहम् । अनारुह्य = अननुभूय, अनवाप्य च । भद्राणि = श्रेयांसि, सुखं, धनादिसम्पत्तिश्चेति यावत् । पुनः = किन्तु । संशयं = जीवनशङ्काम् । जीवति = जीवन्नेव संशयदोलाया यदि उत्तरति तर्हि—पश्यति = अवश्यं भद्राणि पश्यतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

तस्मात् = जीवितसंशयमारुह्यैव शुभस्य, सम्पदाश्च लाभस्य सम्भवाद्धेतोः । तावत् = आदौ । निरूपयामि = विलोकयामि, तत्त्वमेतस्य जानामि । प्रकाशं = सर्वश्राव्यं । स्पष्टतरमुच्चैः स्वरेणेति यावत् । दर्शयति = कङ्कणं प्रदर्शयति । मारात्मके = मृत्युरूपे, क्रूराशये, हिंस्रस्वभावे । 'मारोऽनङ्गे मृतौ विघ्ने' इत्य-

---

भी मृत्यु का ही कारण होता है ॥ ६ ॥

(पुनः मन ही मन कुछ विचारकर—) किन्तु सब जगह धन कमाने के उपाय तो सन्दिग्ध ही होते हैं । कहा भी है—

मनुष्य बिना संशय में पड़े कभी लाभ नहीं उठा सकता है, यदि संशय में पड़ कर भी जीता बच जाता है, तो वह (लाभ का) सुख भोगता है ॥ ७ ॥

'दानधर्मादिकं चरतु भवान्' इति। तदुपदेशादिदानीमहं स्नानशीलो, दाता, वृद्धो, गलितनखदन्तः कथं न विश्वासभूमिः ?। यतः—

इज्याऽध्ययनदानानि, तपः सत्यं, धृतिः, क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याऽष्टविधः स्मृतः॥ ८॥

जयः। प्रागेव = इतः पूर्वमेव। यौवनदशायां = युवाऽवस्थायाम्। अतिदुर्वृत्तः = नितरां दुष्कर्मा। धार्मिकेण = केनापि धर्मोपदेशकेन, सदाचारेण वा। आदिष्टः = अनुशिष्टः, उपदिष्टो वा।

आदेशमेवाह—दानेति। धर्मः = तीर्थसेवनादिरूपः। आदिपदेन-दयादानादिकं ग्राह्यम्। स्नानशीलः = नित्यं तीर्थस्नायी। नखानि च-दन्ताश्च नखदन्तं। प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः। गलितं नखदन्तं यस्यासौ—गलितनखदन्तः = विशीर्णनखदन्तः। विश्वासभूमिः = विश्वासपात्रम्।

इज्या = यज्ञः। धृतिः = धैर्यम्। मार्गः = पन्थाः। धर्मोपार्जने उपायभूतः॥ ८॥

इस तरह विचार कर वह पथिक उस व्याघ्र से कहने लगा कि—अरे ! तेरा वह कङ्कण कहाँ है, देखें ?। बाघ ने हाथ पसार कर कङ्कण दिखला दिया। तब पथिक बोला—'तुम तो हिंसक जन्तु हो, तुम्हारा मैं कैसे विश्वास करूँ ?'। व्याघ्र बोला हे पथिक ! सुनो, पहले युवावस्था में तो मैं बहुत ही दुराचारी था। अनेक गौ ब्राह्मण और मनुष्यों के मारने से मेरे पुत्र और स्त्री सब मर गये और अब मेरे वंश में कोई नहीं रह गया है।

तब किसी धार्मिक ने मुझे उपदेश दिया कि तुम दान व धर्म किया करो। अतः उसी के कहने से मैं नित्य स्नान करता हूँ और दान देता हूँ। और मैं अब बुड्ढा भी हो गया हूँ, मेरे नख दाँत इत्यादि भी सब गिर गये हैं, क्या अब भी मैं विश्वास का पात्र नहीं हूँ ?।

क्योंकि—धर्म के आठ मार्ग हैं, यज्ञ करना, पढ़ना, दान देना, तपस्या करना, सत्य बोलना, धीरता, क्षमा, और निर्लोभ होना॥ ८॥

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भाऽर्थमपि सेव्यते ।
उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति ॥ ९ ॥

मम चैतावाँल्लोभविरहो—येन स्वहस्तस्थमपि सुवर्णकङ्कणं यस्मै कस्मै चिद्दातुमिच्छामि ! । तथापि—'व्याघ्रो मानुषं खादती'ति लोकप्रवादो दुर्निवारः । यतः—

गताऽनुगतिको लोकः कुट्टनीमुपदेशिनीम् ।
प्रमाणयति नो धर्मे, यथा गोघ्नमपि द्विजम् ॥ १० ॥

तत्रेति । तत्र = अष्टविधे पूर्वोक्ते धर्ममार्गे । पूर्वश्चतुर्वर्गः = इज्याध्ययनतपोदानात्मकः । दम्भार्थं = लोकसङ्ग्रह—लोकवञ्चनाद्यर्थमपि । सेव्यते = आश्रीयते । 'लोकै'रिति शेषः । उत्तरश्चतुर्वर्गस्तु = सत्य-धृति-क्षमा-ऽलोभात्मको धर्ममार्गस्तु महात्मस्वेव सम्भवति, न क्षुद्राशयेषु ॥ ९ ॥

लोभविरहः = अलोभः । लोकप्रवादः = लोके रूढं दुर्यशः । जनकोलाहलः ॥

गतेति । लोकः = जनः । जात्यभिप्रायेणैकवचनम् । गतस्य = भूतपूर्वस्य गुर्वादेः—अनुगतम् = अनुसरणम्—गतानुगतं, तेन व्यवहरति—गताऽनुगतिकः = अनादिगड्डुरिकाप्रवाहानुसारी । पूर्वाचरितानुसरणप्रवणः । उपदेशिनीम् = उपदेशपराम् । धर्मपराम् । कुट्टनीं=शम्भलीं, कुलटाम् । धर्मे = धर्मविषये । नो प्रमाणयति = तथा नाद्रियते । यथा गोघ्नमपि = यज्ञेऽतिथिसत्कारादौ च गवां हन्तारमपि, द्विजं=ब्राह्मणं, प्रमाणयति = विश्वसिति, आद्रियते । पूर्वमनाचाररतामिदानीं धर्मोपदेशपरामपि कुट्टनीं लोको धर्मे न प्रमाणयति, किन्तु यज्ञे गवादि-

---

इन आठों में से पहले के चारों को (यज्ञ, पढ़ना, दान, तप, इन चारों को) ●नताको दिखलाने के लिये पाखण्डी लोग भी कर सकते हैं, परन्तु अन्तिम चार (सत्य, धैर्य, क्षमा, अलोभ-सन्तोष) का अनुष्ठान तो महात्मा लोग ही करते हैं॥९॥

और देखो, मैं कितना निर्लोभ हूँ, कि अपने हाथ का सोने का कंकण भी जिस किसी को दे देना चाहता हूँ । तथापि 'बाघ मनुष्य को खा जाता है' यह लौकिक (लोक प्रसिद्ध) निन्दा (बदनामी) तो हमारी मिट ही नहीं सकती है ।

क्योंकि—संसार तो अन्धपरम्परा से ही चलने वाला है, देखो, लोग धर्मोपदेशिका (धर्मपरायणा) कुट्टनी को भी कभी प्रमाण नहीं मानते हैं, परन्तु ब्राह्मण यदि

मया च धर्मशास्त्राण्यधीतानि । शृणु—

'मरुस्थल्यां यथा वृष्टिः, क्षुधार्त्ते भोजनं तथा ।
दरिद्रे दीयते दानं सफलं पाण्डुनन्दन ! ॥ ११ ॥
प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः' ॥ १२ ॥

अपरञ्च—

प्रत्याख्याने च, दाने च, [1]सुखे, दुःखे प्रियेऽप्रिये ।
आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ॥ १३ ॥

नानाविधिपशुहन्तारं क्रूराशयमपि द्विजमेव प्रमाणत्वेनाश्रयतीत्यहो गतानुगतिकत्वं लोकस्येति भावः ॥ १० ॥

मरुविति । 'पाण्डुनन्दन = हे युधिष्ठिर ! मरुस्थल्यां = मरुभूमौ । यथा वृष्टिः = यथा वृष्टिः सफला, नितरामुचिता, तथा = तथैव । दरिद्रे = दरिद्राय, यद्दानं दीयते तदपि सफल'मित्यन्वयः ॥ ११ ॥

आत्मनः = स्वस्य । अभीष्टाः = प्रियाः । भूतानां = स्वातिरिक्तानां सर्वेषां जीवानामपि । ते = प्राणाः, तथा = तथैव प्रियाः । अत आत्मौपम्येन = स्वात्मानमुपमानं कृत्वा । साधवः = दयालवः ॥ १२ ॥

प्रत्याख्याने इति । प्रत्याख्याने = प्रार्थनाभङ्गे, परतिरस्कारे वा । सुखे =

गोघातक भी हो तो भी उसको प्रामाणिक समझते हैं । अर्थात् संसार वास्तविक धर्म अधर्म का विचार नहीं करता है, वह तो केवल लकीर का फकीर ही है ॥ १० ॥

और मैंने धर्मशास्त्र भी पढ़े हैं । सुनो—

हे युधिष्ठिर ! जैसे मरुस्थल (मारवाड़) में वर्षा सफल है और भूखे को भोजन देना सफल है, वैसे ही दरिद्र को दिया हुआ दान भी सफल होता है ॥ ११ ॥

और जैसे मनुष्य अपने प्राणों को प्रिय समझता है, वैसे ही दूसरे प्राणियों को भी अपने-अपने प्राण प्यारे हैं । इसलिये महात्मा लोग अपनी ही तरह दूसरों को भी समझ कर सभी जीवों पर समान रूप से ही दया करते हैं ॥ १२ ॥

और भी—प्रत्याख्यान (कोई कुछ कहे तो उसको टाल देना, नाहीं कर देना),

---

१. 'सुखदुःखे प्रियाऽप्रिये' इति पाठान्तरम् ।

अन्यच्च—

मातृवत्परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्टवत् ।
आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति, स पण्डितः ॥ १४ ॥

त्वं चाऽतीव दुर्गतस्तेन तत्तुभ्यं दातुं सयत्नोऽहम् । तथा चोक्तं—

'दरिद्रान्भर कौन्तेय, ! मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं, नीरुजस्य किमौषधैः' ? ॥ १५ ॥

सुखप्रदाने, दुःखे=क्लेशदाने, दुःखोत्पादने च । प्रिये = इष्टाचरणे, अप्रिये = अनिष्टाचरणे च । आत्मौपम्येन=आत्मानमेव निदर्शनं कृत्वा । प्रमाणं = निश्चयम् । अधिगच्छति = लभते । 'इष्टात्सुखमनिष्टाद्दुःखञ्चोत्पद्यते' इत्यादिकं स्वात्मौपम्येन ज्ञातुं शक्यते इति यावत् ॥ १३ ॥

मात्रिति । परदारेषु=परकलत्रेषु, मातृवत् = मातृभावेन यः पश्यति । लोष्टवत् = मृत्खण्डवत् । 'पश्यती'ति शेषः । पण्डितः=तत्त्वज्ञः ॥ १४ ॥

दुर्गतः = दरिद्रः । तत् = कङ्कणम् । सयत्नः = यत्नवान् । कौन्तेय = हे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ! । भर = पालय । ईश्वरे=धनिनि । धनं मा प्रयच्छ=तस्मै धनं मा देहीत्यर्थः । व्याधितस्य = रुग्णस्य । पथ्यं=हितकारकम् । नीरुजस्य = रोगशून्यस्य स्वस्थस्य तु । औषधैः = भेषजैः । किं=किं फलं ? । न किमपीत्यर्थः ॥ १५ ॥

दान, सुख और दुःख में अर्थात् किसी को सुखी या दुःखी बनाना, किसी को भला बुरा कहना, इन बातों से लोगों को कितना सुख या दुःख होता है, इसका अनुमान मनुष्य को अपने ऊपर ही करना चाहिए ॥ १३ ॥

और भी—जो मनुष्य दूसरे की स्त्रियों को अपनी माता की तरह समझे, दूसरे के द्रव्य को मिट्टी का ढेला (टुकड़ा) समझे और प्राणिमात्र को अपनी ही तरह समझे, वही सच्चा पण्डित है ॥ १४ ॥

और हे पथिक ! तुम अतिदरिद्र मालूम होते हो, इसी लिये मैं तुमको ही कङ्कण देने के लिये इतना प्रयत्न कर रहा हूँ । कहा भी है—

हे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ! दरिद्रों का ही पालन-पोषण करो, धनियों को दान मत दो, क्योंकि रोगी के लिये ही औषध लाभदायक होता है, पर जो नीरोग हैं,

अन्यच्च—

'दातव्य'मिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे, काले च, पात्रे च, तद्दानं सात्त्विकं विदुः ॥ १६ ॥

तदत्र सरसि स्नात्वा सुवर्णकङ्कणं गृहाण ।'

ततो यावदसौ तद्वचःप्रतीतो लोभात्सरः स्नातुं प्रविशति, तावन्महापङ्के निमग्नः पलायितुमक्षमः ।

(तं) पङ्के पतितं दृष्ट्वा व्याघ्रोऽवदत्—'अहह ! महापङ्के पतितोऽसि, अतस्त्वामहमुत्थापयामि ।'—इत्युक्त्वा शनैः शनैरुपगम्य तेन व्याघ्रेण धृतः स पान्थोऽचिन्तयत्—

न 'धर्मशास्त्रं पठती'ति कारणं,
न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः ।

दातव्यं = मया अवश्यमिदं कस्मै चन सत्पात्राय देयम्, इति = इति बुद्धया, देशे = तीर्थादौ, काले = सूर्येन्दुग्रहणादौ । पात्रे=सत्पात्रे, विदुषि, यद्दानं दीयते तत्-सात्त्विकमित्यन्वयः ॥ १६ ॥

तत् = तस्मात् । सरसि = सरोवरे । असौ=पान्थः । तद्वचसि=व्याघ्रवाक्ये । प्रतीतः=विश्वस्तः । 'अक्षम' इत्यस्य—'अभू'दिति शेषः । उपगम्य=समीपं गत्वा । धृतः=आक्रान्तः । हत इति यावत् ॥

नेति । दुरात्मनः=दुष्टस्वभावस्य । स्वभावपरिवर्तने, कारणं=हेतुः ।

उनको औषध (दवा) की क्या आवश्यकता है ? ॥ १५ ॥

और भी—'मुझे यह देना है' इस बुद्धि से जो दान—देश, काल, पात्र समझ कर अनुपकारी (जिससे अपना कुछ लाभ व स्वार्थ न हो) को दिया जाता है, वही सात्त्विक (सच्चा) दान है ॥ १६ ॥

इस लिये तुम इस तालाब में स्नान करके इस सुवर्ण के कंकण को ले लो। इस प्रकार बाघ की मीठी २ बातें सुनकर वह पथिक उसका विश्वास कर ज्योंही स्नान करने के लिये तालाब में उतरा त्योंही कीचड़ में फँस गया और निकल न सका । उसको कीचड़ में फँसा देखकर 'अच्छा मैं निकालता हूँ' ऐसा कहकर धीरे २ उसके पास जाकर उस व्याघ्र ने उस पथिक को पकड़ लिया ।

तब वह पथिक अपने मन में विचारने लगा, कि—

स्वभाव एवाऽत्र तथाऽतिरिच्यते,

यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ॥ १७ ॥

किञ्च—

अवशेन्द्रियचित्तानां हस्तिस्नानमिव क्रिया।

दुर्भगाऽऽभरणप्रायो ज्ञानं भारः क्रियां विना ॥ १८ ॥

धर्मशास्त्रपठनं, वेदाध्ययनं वा दुष्टानां खलानां दुरात्मनां स्वभावपरिवर्तने न शक्तं भवति, स्वभावस्य सर्वतो बलवत्त्वात्। अतएव हि कटुकषायप्रायतृणादिभक्षणेऽपि, गवां पयः = दुग्धं स्वभावेनैव मधुरं भवति, एवं—मधुरपयःपानेऽपि भुजङ्गानां स्वभावतो विषमेव भवति, नाऽमृतमिति भावः ॥ १७ ॥

अवश इति। अवशानि इन्द्रियाणि, चित्तं च येषान्ते, तेषाम्—अवशेन्द्रियचित्तानाम् = निरवग्रहेन्द्रियस्वान्तानां पुंसाम्। क्रिया=धर्माचरणादिकं कर्म। हस्तिस्नानमिव = गजस्नानमिव,—निष्फलम्। स्नानानन्तरमेव धूलिप्रक्षेपादिना पुनरात्मनो मलिनतापादनात्। दुर्भगाया आभरणानीव—दुर्भगाभरणप्रायः = दुष्ट-दुर्भाग्य-स्त्रीधारितभूषणवत्, ज्ञानं=विद्या, क्रियां विना = तद्विहिताचरणं विना, भार एव। दुर्भगाधृताभरणैः पत्यादिमनोरञ्जनाऽभावाद्भारवत्तत्सर्वं तस्याः क्लेशप्रदमेव। यथा नानाभरणभूषिताऽपि खलु वन्ध्या, दुष्टा कुरूपा वा स्त्री न शोभते, न वा सा पत्युर्मनः प्रीणाति, एवं ज्ञानवानपि तदुक्ताचारशून्यो नैव शोभते इत्याशयः। अत्र प्रायशब्दो बाहुल्येऽव्ययम्। अकारान्तो वा प्रायशब्दः पुंसि। दुर्भगाया भरणं = पालनं, तत्तुल्यं निष्फलमिति वाऽर्थः ॥ १८ ॥

धर्मशास्त्र व वेद पढ़ने से ही अथवा कथा वार्ता, उपदेश आदि सुनने से ही कोई दुष्ट सज्जन नहीं हो जाता है, किन्तु सज्जन तो स्वभाव ही से सज्जन होते हैं। देखो, गाय का दूध स्वभाव ही से मीठा होता है ॥ १७ ॥

और भी देखो—जिन मनुष्यों की इन्द्रियाँ और चित्त वश में नहीं है, उनका सब कार्य हाथी के स्नान की तरह ही निष्फल है। (हाथी स्नान करके भी अपने ऊपर धूल फेंक कर अपने को पुनः मलिन कर लेता है)। और जो लोग अपने ज्ञान का उपयोग नहीं करते, उनका ज्ञान भी दुर्भगा (पतिपरित्यक्ता अथवा विधवा) स्त्री के भूषण की तरह भारमात्र ही है।

तन्मया भद्रं न कृतं यत्–अत्र मारात्मके विश्वासः कृतः। तथा चोक्तम्—

नदीनां, शस्त्रपाणीनां, नखिनां, शृङ्गिणान्तथा।
विश्वासो नैव कर्त्तव्यः, स्त्रीषु, राजकुलेषु च ॥ १९ ॥

अपरञ्च—

सर्वस्य हि परीक्ष्यन्ते स्वभावा, नेतरे गुणाः।
अतीत्य हि गुणान्सर्वान्स्वभावो मूर्ध्नि वर्त्तते ॥ २० ॥

अन्यच्च—

स हि गगनविहारी, कल्मषध्वंसकारी,
दशशतकरधारी, ज्योतिषां मध्यचारी।

नदीनामिति। नदीनाम् = आपगानाम्। शस्त्रपाणीनां=गृहीतशस्त्राणाम्। नखिनां=नखायुधानां सिंहादीनाम्। शृङ्गिणां=शृङ्गायुधानां गोवृषभादीनाम्। स्त्रीषु = युवतिषु। राजकुलेषु च=राजगृहेषु च, विश्वासः='मद्वशगा इमे' इति विस्रम्भो, नैव कर्त्तव्यः = न विधेय इत्यर्थः ॥ १९ ॥

सर्वस्येति। सकलस्यापि=गुणिनो, निर्गुणस्य वा, स्वभावाः = प्रकृतिः, संस्कारादयः। इतरे = विद्वत्त्वौदार्यकुशलित्वादयो—गुणाः। 'न परीक्ष्यन्ते' इति शेषः। कुत एतदत आह—अतीत्येति। सर्वान् गुणान्–अतीत्य=अतिक्रम्य, स्वभावः = प्रकृतिरेव, मूर्ध्नि = सर्वेषां गुणानामुपरि, वर्त्तते = प्रभवतीत्यर्थः ॥२०॥

स इति। सः = त्रिलोकीप्रसिद्धः। गगनविहारी = आकाशसञ्चारी। कल्मष-

---

इस लिये मैंने यह अच्छा नहीं किया जो इस हिंसक जन्तु का विश्वास कर लिया। किसी ने कहा भी है—

नदियों का, शस्त्रधारी मनुष्यों का, नख और सींग वाले जन्तुओं का, स्त्रियों का और राजकुल का (राजा, रानी, राजपुत्र आदि का–) विश्वास कभी नहीं करना चाहिए ॥ १९ ॥

और भी—मनुष्यों के गुणों की ओर ध्यान न देकर उनके स्वभाव की ही परीक्षा करनी चाहिए। क्योंकि गुणों की अपेक्षा स्वभाव ही सबसे ऊपर रहता है। अर्थात् स्वभाव ही सब में प्रधान है ॥ २० ॥

और भी—आकाश मार्ग में विहार करने वाले, अन्धकार को नाश करने

विधुरपि विधियोगाद् ग्रस्यते राहुणाऽसौ,
लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः' ॥ २१ ॥

—इति चिन्तयन्नेवाऽसौ व्याघ्रेण व्यापादितः, खादितश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—'कङ्कणस्य तु लोभेन'—इत्यादि । * ।

अतः सर्वथाऽविचारितं कर्म न कर्त्तव्यम् । यतः—

सुजीर्णमन्नं, सुविचक्षणः सुतः,
सुशासिता स्त्री, नृपतिः सुसेवितः ।
सुचिन्त्य चोक्तं, सुविचार्य यत्कृतं,
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ॥ २२ ॥

ध्वंसकारी=अन्धकारविनाशकः । दशशतकरधारी=सहस्रकिरणः । ज्योतिषां= ताराणां । मध्यचारी = मध्यवर्ती । असौ विधुरपि=चन्द्रोऽपि । विधियोगात्= दैवविपर्ययात् । लिखितं = विधात्रा लिखितम् ॥ २१ ॥

असौ = पथिकः । व्यापादितः=हतः ।

अतः = लोभस्य सर्वापत्तिहेतुत्वात् । न कर्त्तव्यं = लोभात्सहसा कार्यं नाऽनुष्ठेयम् । कपोतराजवचनमेतत् । सुजीर्णमिति । सुजीर्णं = सुपक्वम् । सुविचक्षणः = नितरां शिक्षितो विद्वान् । सुतः=पुत्रः । सुशासिता=सुतरां ताडनादिना वशे स्थापिता । सुदीर्घकालेऽपि=गतेऽपि बहुतिथे काले । विक्रियां=विकारम् । न याति=विकृतं न भवति ॥ २२ ॥

वाले, हजारों किरणों वाले, तारागण के मध्य में विहार करने वाले चन्द्रमा को भी भाग्यवश राहु ग्रस लेता है । ठीक ही है, भाग्य में लिखी हुई विधि की रेखा को कोई मिटा नहीं सकता है ॥ २१ ॥

वह पथिक ऐसा सोच ही रहा था, कि वह बाघ उसको मार कर खा गया । इसी लिये मैंने (चित्रग्रीव ने) कहा है, कि—'कङ्कण के लोभ से' इत्यादि ।

इसलिये भली भाँति विचारे विना कोई काम नहीं करना चाहिए । क्योंकि—भली भाँति पका हुआ अन्न, बुद्धिमान् पुत्र, शिक्षित स्त्री, अच्छी तरह से सेवित राजा,

एतद्वचनं श्रुत्वा कश्चित्कपोतः सदर्पमाह—'आः ! किमेवमुच्यते ?।

[1]वृद्धानां वचनं ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते ।
[2]सर्वत्रैवं विचारे तु भोजनेऽप्यप्रवर्त्तनम् ॥ २३ ॥

यतः—

शङ्काभिः सर्वमाक्रान्तमन्नं, पानञ्च भूतले ।
प्रवृत्तिः कुत्र कर्त्तव्या ?, जीवितव्यं कथं नु वा ? ॥ २४ ॥
ईर्ष्यी, घृणी त्वसन्तुष्टः, क्रोधनो, नित्यशङ्कितः ।
परभाग्योपजीवी च, षडेते दुःखभागिनः ॥ २५ ॥

सदर्पं=सावष्टम्भं, सगर्वम् । आः—इति तिरस्कारे । वृद्धस्येति । ग्राह्यं = स्वीकार्यम् । आपत्काले = विपत्तिसमये । उपस्थिते=प्राप्ते सति । सर्वत्र = सर्वेषु कार्येषु । एवं विचारे = वृद्धवचनानुसारेणैव सुविचार्यैव प्रवृत्तौ तु । अप्रवर्त्तनम् = अप्रवृत्तिः स्यादित्यर्थः । 'विचारेणे'ति पाठान्तरम् ॥ २३ ॥

भोजनादावप्रवृत्त्यापत्तिमेव द्रढयति—शङ्काभिरिति । अन्नं=भक्ष्यम् । भोजनम् । शङ्काभिः = वातपित्तकफादिजन्यरोगादिशङ्काभिः । कथं नु = केन प्रकारेण? ॥२४॥

ईर्ष्यीति । ईर्ष्यी = ईर्ष्यालुः । घृणी = घृणाशीलः । क्रोधनः =क्रोधी । नित्य-

---

सोच कर कही हुई बात और विचार कर किया हुआ काम,—ये सब कभी बिगड़ते नहीं है (कभी हानि कारक नहीं होते हैं) ॥ २२ ॥

यह सुनकर उनमें से एक कबूतर बड़े घमण्ड से बोला—ओह ! यह आप क्या कहते हैं ! ।

आपत्ति के समय में ही वृद्धों का वचन मानना चाहिये । सब जगह ऐसा विचार करने से तो फिर भोजन में भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है ॥ २३ ॥

क्योंकि—संसार में सभी बातें शङ्का से भरी हुई हैं, फिर कहाँ प्रवृत्ति की जाय और कहाँ प्रवृत्ति न की जाय और किसी प्रकार जीवन निर्वाह किया जाय? ॥

कहा भी है—दूसरों से ईर्ष्या करने वाला, असन्तोषी, क्रोधी, सदा सन्देह

---

१. 'वृद्धस्ये'ति 'विचारे न भोजनेऽपि प्रवर्त्तन'मिति च पाठान्तरम् ।
२. 'सर्वत्रैव' ।

—एतच्छ्रुत्वा सर्वे कपोतास्तत्रोपविष्टाः।

यतः—

सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्तो बहुश्रुताः।
छेत्तारः संशयानां च क्लिश्यन्ते लोभमोहिताः॥ २६॥

अन्यच्च—

लोभात्क्रोधः प्रभवति, लोभात्कामः प्रजायते।
लोभान्मोहश्च नाशश्च, लोभः पापस्य कारणम्॥ २७॥

शङ्कितः=सर्वदा सर्वत्र शङ्कितः। परभाग्योपजीवी=परान्नभोजी, पराधीनः। दुःखभागिनः=एते षट् जनाः सर्वदा दुःखिता एव भवन्ति॥ २५॥

सर्वे = चित्रग्रीवप्रमुखाः सर्वेऽपि। तत्र = जालोपरि विकीर्णेषु तण्डुलकणेषु। उपविष्टाः = स्थिताः। जालोपरि स्थिता इति यावत्।

ननु नीतिशास्त्रकुशलश्चित्रग्रीवोऽपि कथं तत्रोपविष्टोऽत आह–सुमहान्तीति। सुमहान्ति = सर्वसंशयोच्छेदकानि, सुगूढतत्त्वानि। बहुश्रुताः=व्यवहारपटवो, नीतिविदश्च। संशयानां = परसंशयानां, छेत्तारः=निराकरिष्णवः। लोभमोहिताः सन्तः—क्लिश्यन्ते=दुःखमनुभवन्तीत्यर्थः॥ २६॥

लोभादिति। प्रभवति=प्रवर्त्तते, प्रवर्द्धते च। प्रजायते=उत्पद्यते, प्रवर्द्धते च। लोभात्—मोहश्च, नाशश्च। 'उपजायते' इति शेषः। अतो लोभः पापस्य कारणमित्यर्थः॥ २७॥

करने वाला, दूसरे के आश्रय से जीने वाला, ये छः प्रकार के मनुष्य सदा दुःखी ही रहते हैं॥ २५॥

यह सुनकर वे सब कबूतर अपने राजा का वचन नहीं मानकर उस जाल पर (दाना खाने) बैठ गये।

किसी ने कहा भी है—बड़े २ शास्त्रों को पढ़ने वाले, बहुत बातों को जानने वाले, सब प्रकार के भ्रमों को दूर करने वाले लोग भी लोभ में पड़ कर दुःख भोगते हैं॥ २६॥

और भी—लोभ ही से क्रोध उत्पन्न होता है, लोभ ही से काम उत्पन्न होता है और लोभही से मोह (अज्ञान) भी उत्पन्न होता है और लोभ ही से मनुष्य का नाश भी होता है, अतः लोभ ही सब पापों का मूल कारण है॥ २७॥

अन्यच्च—

असम्भवं हेममृगस्य जन्म,
तथापि रामो लुलुभे मृगाय।
प्रायः समापन्नविपत्तिकाले
धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति ॥ २८ ॥

अनन्तरं ते सर्वे जालेन बद्धा बभूवुः। ततो यस्य वचनात्तत्राऽवलम्बितास्तं सर्वे तिरस्कुर्वन्ति। यतः—

न गणस्याऽग्रतो गच्छेत्सिद्धे कार्ये समं फलम्।
यदि कार्यविपत्तिः स्यान्मुखरस्तत्र हन्यते ॥ २९ ॥

असम्भवमिति। हेममृगस्य = स्वर्णमृगस्य। जन्म = उत्पत्तिः। असम्भवम् = सम्भावनाविषयीभूतमपि न भवति। तथापि रामः = सकलज्ञाननिधिर्भगवान् दाशरथिरपि। मृगाय = स्वर्णमृगमादातुं। लुलुभे = लोभात्तं हन्तुं जगाम। प्रायः = बाहुल्येन। समापन्नाः = सन्निहताः—या विपदः, तासां कालः = समयः, तस्मिन्। पुंसां = विवेकिनामपि। धियोऽपि = मतयोऽपि। मलिनाः = मलाविलाः, कुण्ठिताः। भवन्ति = जायन्ते। 'इति तर्कयामी'ति शेषः ॥ २८ ॥

अनन्तरम् = उपवेशनाऽनन्तरम्। यस्य = कपोतविशेषस्य। तत्र = जाले। अवलम्बिताः = उपविष्टाः, बद्धाश्च। तं = कपोतम्।

नेति। गणस्य = सङ्घस्य। अग्रतः = अग्रे। कार्ये = कर्त्तव्ये कर्मणि। सिद्धे = निष्पन्ने सति। समं = तुल्यम्। कार्यविपत्तिः = कार्यहानिः। मुखरः = अग्रणीः। प्रवर्त्तकश्च। हन्यते = वध्यते। तिरस्क्रियते च ॥ २९ ॥

और भी—सोने के मृग का होना यद्यपि असम्भव है, तथापि भगवान् श्री रामचन्द्रजी महाराज भी सोने के मृग के लोभ में पड़ गए थे। ठीक ही है—प्रायः विपत्ति काल सन्निहित होने पर मनुष्यों की बुद्धि भी मलिन हो जाती है ॥ २८ ॥

इस प्रकार वे सब कबूतर जाल में फँस गये। तब जिस कबूतर के कहने से वे सब वहाँ बैठे थे, उसको ही सब भला-बुरा कहने लगे।

कहा भी है—किसी कार्य में सबके आगे कभी नहीं होना चाहिये, क्योंकि कार्य

तथा चोक्तम्—

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।
तज्जयः संपदां मार्गो, येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥ ३० ॥

तस्य तिरस्कारं श्रुत्वा चित्रग्रीव उवाच—नाऽयमस्य दोषः । यतः—

आपदामापतन्तीनां हितोऽप्यायाति हेतुताम् ।
मातृजङ्घा हि वत्सस्य स्तम्भीभवति बन्धने ॥ ३१ ॥

आपदामिति । इन्द्रियाणाम् = चक्षुरादीनाम्, असंयमः = अनिग्रहः, आपदां = विपदां, दुःखस्य च, पन्थाः = मार्गः । कथितः = नीतिविद्भिः प्रोक्तः । तज्जयः = इन्द्रियनिग्रहश्च । सम्पदां = सम्पत्तीनां, कल्याणस्य च, मार्गः = पन्थाः । येन = येन पथा, इष्टम् = अभीष्टसिद्धिः, तेन गम्यताम् । यदि विपत्तिरभीष्टा तर्हि इन्द्रियाऽसंयममार्गेण गम्यताम्, अथ सम्पदभीष्टा तर्हि इन्द्रियजयोऽनुष्ठीयतामिति भावः । यद्वा—येन इष्टं = सुखं भवेत्, तेन = इन्द्रियजयमार्गेण, गम्यतामित्यर्थो बोध्यः ॥३०॥

तस्य = तण्डुलकणभक्षणे प्रवर्तकस्य कपोतस्य । अयम् = जालबन्धनरूपः । दोषः = अपराधः ॥

आपदामिति । आपतन्तीनाम् = आगच्छन्तीनाम् । हितः = हितकारकः प्रियोऽपि, हेतुतां = कारणताम् । आयाति = प्राप्नोति । आगच्छतीति वा । हि = यतः । मातृजङ्घा = मातुर्गोर्जङ्घाकाण्डम् । वत्सस्य = स्वबालवत्सस्य, स्तम्भीभवति = गोदोहनकाले तत्र प्रायो वत्सस्य बन्धनाद्वत्सबन्धनस्तम्भतां याति । बन्ध-

---

की सिद्धि होने पर तो फल में समानता ही रहती है, परन्तु यदि दैवात् कार्य में कोई विघ्न हो गया तो पहिले अगुआ ही मारा जाता है ॥ २९ ॥

कहा भी है—इन्द्रियों को अपने वश में न रखना विपत्ति का मार्ग है । और इन्द्रियों को वश में रखना ही सम्पत्ति का मार्ग है । जिस रास्ते से इच्छा हो जाओ ॥ ३० ॥

उस कबूतर का इस प्रकार अनादर होता देख कर कपोतराज चित्रग्रीव बोले, कि—जाने दो, इसमें इस विचारे का कुछ भी दोष नहीं है ।

क्योंकि—विपत्ति जब आने वाली होती है, तब अपना मित्र भी उस आने वाली आपत्ति का कारण हो जाता है । जैसे बछड़े के बाँधने के लिये कभी २

अन्यच्च—

स बन्धुर्यो विपन्नानामापदुद्धरणक्षमः ।
न तु भीतपरित्राणे [1]यस्तूपालम्भपण्डितः ॥ ३२ ॥

विपत्काले विस्मय एव कापुरुषलक्षणम् । तदत्र धैर्यमवलम्ब्य प्रतीकारश्चिन्त्यताम् । यतः—

विपदि धैर्यमथाऽभ्युदये क्षमा,
सदसि वाक्पटुता, युधि विक्रमः ।

नोपकरणशङ्कुभावं भजतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

स इति । यो विपन्नानां = विपद्ग्रस्तानाम्, आपदुद्धरणे = विपत्तिनिरासे, क्षमः = शक्तः, स एव बन्धुः = सुबन्धुः । यस्तु—भीतपरित्राणे = विपन्नरक्षणावसरे, उपालम्भपण्डितः = नानाविधतत्तिरस्कारवाक्यप्रयोगविशारदः । न तु—नैव बन्धुः ।

वस्तूपालम्भपण्डित इति पाठे तु 'भीतपरित्राणमेव वस्तु = कार्यं, तस्य अवसरे—उपालम्भपण्डितः = 'त्वयेत्थं कुतः कृतम्, मूर्खोऽसी'त्यादितर्जनपर' इत्येवं व्याख्येयम् । यद्वा—भीतपरित्राणे—तदवसरे, वस्तूपालम्भे = स्खलनहेतूपालम्भे पण्डित इत्यर्थः । (वस्तु = कारणकलापः) ॥ ३२ ॥

विस्मयः = अधैर्यम्, व्याकुलत्वम् । किङ्कर्त्तव्यविमूढतेति यावत् । कापुरुषलक्षणं = कुत्सितपुरुषचिह्नम् । कातरलक्षणमिति यावत् । तत् = तस्मात् । अत्र = विपदि । प्रतीकारः = अपसारणोपायः । चिन्त्यतां = विभाव्यताम् ।

विपदीति । महात्मनां = महापुरुषाणाम्—इदं प्रकृतिसिद्धं = स्वभावसिद्धमेव ।

(दूध दूहते समय) उसकी माता (गाय) की जङ्घा भी खूँटे (स्तम्भ) का काम देती है ॥ ३१ ॥

और भी—मित्र वही है, जो विपत्ति में पड़े हुए प्राणियों को आपत्ति से छुड़ाने में समर्थ हो । और जो भयभीत व विपत्तिग्रस्त की रक्षा करने के समय खाली उलहना देने में अपने कर्त्तव्य की समाप्ति समझता है वह मित्र नहीं, किन्तु वह शत्रु है ॥ ३२ ॥

विपत्ति में घबड़ाना कायर पुरुषों का लक्षण है । इसलिए धीरज धारण करके इस विपत्ति से छूटने का कुछ उपाय सोचना चाहिये ।

१. 'भीतपरित्राणवस्तूपालम्भे'ति पाठः सर्वत्र दृश्यते ।

यशसि चाऽभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ,
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥ ३३ ॥
सम्पदि यस्य न हर्षो, विपदि विषादो, रणे च धीरत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥ ३४ ॥

अन्यच्च—

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा, तन्द्रा, भयं, क्रोध, आलस्यं, दीर्घसूत्रता ॥ ३५ ॥

किन्तदित्यत आह—विपदीति । धैर्यं=धैर्यमवलम्ब्य तत्प्रतीकारचिन्तनम् । अभ्युदये=सम्पत्तौ । क्षमा=परानुग्रहः । अभिमानविरहश्च । सदसि=सभायां, वाक्पटुता=वाक्पाटवं, वचनचातुरी । युधि=युद्धे, विक्रमः=पराक्रमः यशसि=कीर्त्तौ, इच्छा=अभिलाषः, यशोधनत्वमिति यावत् । श्रुतौ=शास्त्रे, व्यसनम्=निर्हेतुकोऽनुरागः ॥ ३३ ॥

सम्पदीति । हर्षः=प्रमोदः, गर्वश्च । विषादः=दुःखं, वैक्लव्यं, तम्=अनुत्सिक्तमकातरं, निर्भयञ्च । भुवनत्रयतिलकं=लोकत्रयरत्नम् । विरलं=कश्चिदेव । स्वल्पमेव ॥ ३४ ॥

हातव्याः=परित्याज्याः, भूतिम्=ऐश्वर्यम् । इच्छता=वाञ्छता । तन्द्रा=प्रमीला (ऊंघना) । दीर्घसूत्रता=चिरक्रियता (ढीलापन) । 'दीर्घसूत्रश्चिरक्रियः' इत्यमरः ॥ ३५ ॥

क्योंकि—विपत्ति में धीरता, उन्नति होने पर नम्रता, सभा में बोलने की शक्ति, युद्ध में वीरता, कीर्ति की इच्छा और शास्त्रों के अभ्यास में व्यसन, ये सब महात्माओं के स्वभावसिद्ध गुण हैं ॥ ३३ ॥

और जिसको सम्पत्ति में विशेष हर्ष न हो, विपत्ति में विषाद न हो, युद्ध में धीरता हो—ऐसे भुवनत्रय के तिलकस्वरूप पुत्र को विरली ही मातायें उत्पन्न करती हैं ॥ ३४ ॥

और भी—निद्रा (अधिक सोना), तन्द्रा (ऊँघना) डर, क्रोध, आलस्य, दीर्घसूत्रता (थोड़े समय में होने लायक काम को बहुत देर में करना), इन सब दोषों को अपनी उन्नति चाहने वाले पुरुषों को छोड़ देना चाहिये ॥ ३५ ॥

इदानीमप्येवं क्रियतां,—सर्वैरेकचित्तीभूय जालमादायोड्डीयताम्। यतः—

अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः॥ ३६॥
संहतिः श्रेयसी पुंसां स्वकुलैरल्पकैरपि।
तुषेणाऽपि परित्यक्ता न प्ररोहन्ति तण्डुलाः!॥ ३७॥

—इति विचिन्त्य पक्षिणः सर्वे जालमादायोत्पतिताः।

अनन्तरं स व्याधः सुदूराज्जालाऽपहारकांस्तानवलोक्य पश्चाद्धावन्नचिन्तयत्—

इदानीमपि=जालेन बन्धे सत्यपि। विपत्तिनिपातेऽपि। एवम्=इत्थं, वक्ष्यमाणप्रकारेण। एकचित्तीभूय=ऐकमत्येन सङ्घीभूय। अल्पानां=स्वल्पानाम्। निर्बलानामपि, संहतिः=सङ्घः। गुणत्वमापन्नैः=संहत्या रज्जुत्वं प्राप्तैः। मत्तदन्तिनः=मदोन्मत्ता गजेन्द्रा अपि॥ ३६॥

संहतिरिति। श्रेयसी=कल्याणप्रदा। अल्पकैरपि=स्वल्पबलैरपि। तुच्छैरपि। स्वकुलैः=स्ववंश्यैः, तुषादिभिः हीनाः। तण्डुलाः=धान्यकणाः। न प्ररोहन्ति=नाङ्कुरिता भवन्ति॥ ३७॥

उत्पतिताः=गगने उड्डीय गताः। जालापहारकान्=जालमादायोत्पतितान्, तान्=कपोतान्।

अतः इस समय हम लोग ऐसा करें कि हम सब लोग एक साथ इस जाल को लेकर आकाश में उड़ चलें।

क्योंकि—छोटी २ वस्तु भी एक साथ मिलने पर कार्य साधक हो जाती हैं। देखो—तृण (घास-फूस) भी जब एकत्र होकर रस्सी बन जाते हैं, तब बड़े २ हस्तियों को भी बाँध सकते हैं॥ ३६॥

और अपने कुल के छोटे २ लोगों की भी संगति अच्छी होती है। देखो, चावल भी अपने छिलके (भूसी) से अलग होने पर उग ही नहीं सकते हैं (अङ्कुरित नहीं हो सकते हैं)॥ ३७॥

ऐसा सोचकर वे सब पक्षी जाल लेकर आकाश में उड़ गए। इसके बाद वह

'संहतास्तु हरन्त्येते मम जालं विहङ्गमाः ।
यदा तु विवदिष्यन्ति वशमेष्यन्ति मे तदा' ॥ ३८ ॥

ततस्तेषु चक्षुर्विषयमतिक्रान्तेषु पक्षिषु स व्याधो निवृत्तः ।

अथ लुब्धकं निवृत्तं दृष्ट्वा कपोता ऊचुः—'स्वामिन् ! किमिदानीं कर्त्तुमुचितम् ? ।' चित्रग्रीव उवाच—

'माता, मित्रं, पिता चे'ति स्वभावात्त्रितयं हितम् ।
कार्यकारणतश्चाऽन्ये भवन्ति हितबुद्धयः ॥ ३९ ॥

संहता इति । इमे विहङ्गमाः संहताः=मिलिताः सन्तो मे जालं यद्यपि सम्प्रति हरन्ति, तथापि यदा तु विवदिष्यन्ति=परस्परं कलहं करिष्यन्ति, तदा मे वशमेष्यन्तीत्यर्थः । 'निपतिष्यन्ती'ति पाठेऽपि—कलहायमाना, अन्यथा वा निपतिष्यन्तीत्यर्थो बोध्यः ॥ ३८ ॥

ततः=तदनन्तरम् । चक्षुर्विषयं=नेत्रविषयम् । अतिक्रान्तेषु=अपगतेषु । नेत्रपथबहिर्भूतेषु इति यावत् । लुब्धकं=व्याधं, निवृत्तं=व्यपगतम् ।

स्वामिन्=प्रभो चित्रग्रीव ! । इदानीं=व्याधे निवृत्ते सति । कर्त्तुमुचितं=विधातुं योग्यम् । स्वभावात्=प्रकृत्यैव । हितं=हितकारकम् । अन्ये तु=एतत्त्रितयातिरिक्तास्तु । कार्यकारणतः=कार्यकारणप्रसङ्गेनैव । किमपि कार्यं, कारणं वा उद्दिश्यैव । हितबुद्धयः=हितकारका भवन्ति ॥ ३९ ॥

व्याध उनको जाल ले जाते देख कर उनके पीछे दौड़ा और सोचने लगा कि—

ये सब पक्षी इस समय तो मिलकर मेरे जाल को ले जाते हैं, पर जब ये लड़ते हुए गिरेंगे तो मेरे हाथ अवश्य आवेंगे ॥ ३८ ॥

इसके बाद जब वे कबूतर उस व्याध की दृष्टि के बाहर हो गये (दूर चले गए) तब वह व्याध निराश होकर लौट गया । उसको वापिस गया देख कर कबूतर बोले 'हे प्रभो ! अब हमें क्या करना चाहिए' ? । तब वह चित्रग्रीव बोला—

माता पिता और मित्र ये तीनों स्वभाव ही से हित चाहते हैं, परन्तु दूसरे लोग तो कार्यवश ही हितैषी हुआ करते हैं ॥ ३९ ॥

तदस्माकं मित्रं हिरण्यको नाम मूषिकराजो गण्डकीतीरे चित्रवने निवसति, सोऽस्माकं पाशांश्छेत्स्यति ।' इत्यालोच्य सर्वे हिरण्यकविवर-समीपं गताः ।

हिरण्यकश्च सर्वदाऽपायशङ्कया शतद्वारं विवरं कृत्वा निवसति ।

अनागतभयं दृष्ट्वा नीतिशास्त्रविशारदः ।
अवसन्मूषिकस्तत्र वृद्धः शतमुखे बिले ॥

ततो हिरण्यकः कपोताऽवपातभयाच्चकितस्तूष्णीं स्थितः । चित्रग्रीव उवाच—'सखे हिरण्यक ! किमस्मान्न संभाषसे ?' ।

ततो हिरण्यकस्तद्वचनं प्रत्यभिज्ञाय, ससम्भ्रमं बहिर्निःसृत्याऽब्रवीत्—'आः ! पुण्यवानस्मि, प्रियसुहृन्मे चित्रग्रीवः समायातः ।

तत्=तस्मात् । मित्रं = सुहृत् । पाशान्=जालपाशान् । अपायशङ्कया = विपदाशङ्कया । विवरं=बिलम् । अनागतभयम् = अप्राप्तामपि विपत्तिं, दृष्ट्वा= विभाव्य । तत्र = चित्रवने ॥ कपोतावपातभयात्=कपोतभूमिनिपतनजनितं शब्दं श्रुत्वा भयातुरः सन् । चकितः=त्रस्तः । तूष्णीं = मौनमालम्ब्य । तद्वचनं= मित्रस्य चित्रग्रीवस्य वचनम् । प्रत्यभिज्ञाय='मित्रस्यैव मे इदं वचन'-मिति विज्ञाय । ससम्भ्रमं=सत्वरम् । आः—इति हर्षे । पुण्यवान् = भाग्यशाली ।

अतः—हमारा एक मित्र हिरण्यक नाम का चूहों का राजा गण्डकी नदी के तट पर चित्रवन में रहता है । वह अपने दाँतों से हम लोगों के पाश को काट देगा । ऐसा परामर्श कर वे सब कपोत हिरण्यक चूहे के विवर (बिल) के पास गये ।

वृद्ध हिरण्यक भी विपत्ति के भय से अपने बिल में सौ द्वार बनाकर वहाँ रहता था । वह हिरण्यक कबूतरों के गिरने के शब्द को सुनकर आश्चर्य में पड़ गया और मारे डरके चुपके से दबक कर बैठ गया । तब चित्रग्रीव बोला—हे मित्र हिरण्यक ! हम लोगों से क्यों नहीं बोलते हो ? । तब हिरण्यक उसके वचन को पहचान कर शीघ्र बाहर आकर बोला—अहो ! मैं धन्य हूँ, आज मेरे पुण्य का उदय हुआ कि मेरे प्रिय मित्र चित्रग्रीव यहाँ आए हैं ।

यस्य मित्रेण सम्भाषा, यस्य मित्रेण संस्थितिः ।
यस्य मित्रेण संलापस्ततो नाऽस्तीह पुण्यवान्' ॥ ४० ॥

पाशबद्धांश्चैतान्दृष्ट्वा सविस्मयः क्षणं स्थित्वोवाच—
'सखे ! किमेतत् ?' ।
चित्रग्रीवोऽवदत्—'सखे ! अस्माकं प्राक्तनजन्मकर्मणः फलमेतत् ।

यस्माच्च, येन च, यथा च, यदा च, यच्च,
यावच्च, यत्र च शुभाऽशुभमात्मकर्म ।
तस्माच्च, तेन च, तथा च, तदा च, तच्च,
तावच्च, तत्र, च, विधातृवशादुपैति ॥ ४१ ॥

यस्येति । यस्य मित्रेण–सम्भाषा=आलापः'। संस्थितिः = सहावस्थानम् । संलापः=मुहुर्मुहुः कथा, गोष्ठीबन्धः । ततः = तदपेक्षया । इह = जगति ॥ ४० ॥

एतान्=कपोतान् । सविस्मयः=साश्चर्यः । प्राक्तनजन्मकर्मणः=पूर्वजन्मोपार्जितस्य पापकर्मणः । एतत्=जालबन्धनम् ।

यस्मादिति । यस्माद्धेतोः, येन–करणेन हस्तादिना, यथा च=येन च प्रकारेण, यदा च–यस्मिन् काले च, यत्–शुभाशुभं=शुभम् अशुभं वा, आत्मकर्म=स्वस्य पापपुण्य-सुखदुःखादिकं, यावत्=यावन्मितं, यत्र = यस्मिन्देशेच भावि, तत्=तस्मात् कारणात्, तेनैव–उपकरणेन, तथा=तेनैव प्रकारेण । तदा च=तस्मिन्नेव काले च ।

क्योंकि,—जो अपने मित्र के साथ सम्भाषण (मधुर भाषण) करता है और जो अपने मित्र के साथ रहता है और जो अपने मित्र के साथ प्रेम पूर्वक वार्तालाप करता है, उससे बढ़कर इस पुण्यवान् संसार में दूसरा कोई नहीं है ॥ ४० ॥

तब इन कबूतरों को जालपाश में पड़े हुए देख कर हिरण्यक को बड़ा ही आश्चर्य हुआ और वह बोला–कि हे मित्र ! यह क्या बात है ? ।

चित्रग्रीव बोला—हे मित्र ! यह मेरे पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है ।

क्योंकि जो प्राणी—पुण्य अथवा पाप कर्म जिस कारण से, जिस उपाय से, जिस प्रकार से, जिस समय में, जैसा, जितना, जिस स्थान पर करता है, वह प्राणी

रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि च ।
आत्माऽपराधवृक्षाणां फलान्येतानि देहिनाम्' ॥ ४२ ॥

एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकश्चित्रग्रीवस्य बन्धनं छेत्तुं सत्वरमुपसर्पति स्म । चित्रग्रीव उवाच—'मित्र ! मा मैवम् । अस्मदाश्रितानामेषां तावत्पाशांश्छिन्धि, तदा मम पाशं पश्चाच्छेत्स्यसि ।

हिरण्यकोऽप्याह—'अहमल्पशक्तिः, दन्ताश्च मे कोमलाः, तदेतेषां पाशांश्छेत्तुं कथं समर्थः ? । तद्यावन्मे दन्ता न त्रुट्यन्ति, तावत्तव पाशं छिनद्मि, तदनन्तरमेषामपि बन्धनं यावच्छक्यं छेत्स्यामि ।'

तच्च=तत्फलम् । तावच्च=तावत्प्रमाणमेव, तत्रैव देशे—विधातृवशात्=भाग्यवशात् । उपैति=शुभाऽशुभमात्मफलं स्वयमेव नरमुपयाति ॥ ४१ ॥

रोगेति । देहिनां=शरीरिणाम्—परितापः=सन्तापः । बन्धनं=कारादिप्राप्तिः । तान्येव—व्यसनानि=विपत्तयः । तानि च व्यसनं=विपत्तिश्चेति वा । एतानि=आत्मना कृता ये अपराधाः=पापानि, तान्येव वृक्षास्तेषां=स्वकर्मवृक्षाणां, फलानि=फलभूतान्येव । स्वकृतैरेव पापैर्दुःखानि जनो लभते, नान्यैरिति भावः ॥ ४२ ॥

सत्वरं=झटिति । उपसर्पति स्म । उपससर्पेत्यर्थः । एवं=मदीयपाशच्छेदनमादौ, मा मा=मा कार्षीः । मा-मेति संभ्रमे द्वित्वम् । अस्मदाश्रितानां=मदधीनानाम् ।

अल्पशक्तिः=स्वल्पबलः । कोमलाः=मृदवः । तत्=तस्मात् । यावच्छक्ति=यथाशक्ति । एवं=तव निर्बलत्वं, कोमलदन्तत्वञ्च । अस्त=भवत । एतेषां=मदाश्रितानाम् । खण्डय=छिन्धि । आत्मपरित्यागेन=स्वशरीरानवे-

---

उसी कारण से, उसी उपाय से, उसी प्रकार से, उसी समय, वैसा ही, उतना ही, उसी स्थान पर, उस पाप-पुण्य के फल को अवश्य ही (भाग्यवश) पाता है ॥४१॥

और भी—रोग, शोक, सन्ताप, बन्धन, विपत्ति, ये सब मनुष्य के अपने किए हुए अपराध (पाप) रूपी वृक्ष के ही फल हैं ॥ ४२ ॥

यह सुनकर वह हिरण्यक चूहा चित्रग्रीव के बन्धनों को काटने के लिये झपटा

चित्रग्रीव उवाच—'अस्त्वेवम् । तथापि यथाशक्त्येतेषां बन्धनं खण्डय'। हिरण्यकेनोक्तम्—'आत्मपरित्यागेन यत्—आश्रितानां परिरक्षणं, तन्न नीतिविदां संमतम् । यतः—

'आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान्रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ ४२ ॥

अन्यच्च—

'धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः ।
तन्निघ्नता किं न हतं ?, रक्षता किं न रक्षितम्' ? ॥ ४३ ॥

क्षणेन, आत्मानं संशयदोलामारोप्य च । परिरक्षणं=परिपालनं, नीतिवेदिनां= नीतिनिपुणानाम् । न संमतम्= न अनुमतम् ।

आपदर्थे=आपत्प्रतीकाराय । रक्षेत्=अर्जयेत् । निभृतं स्थापयेत् । दारान्= कलत्रम् । धनैः=धनदानादिभिः, रक्षेत्=गोपायेत् । आत्मानं=स्वशरीरन्तु । दारैरपि=दाराऽपेक्षयाऽपि, धनैरपि=धनापेक्षयाऽपि च, तद्व्ययेनापि च । रक्षेत्= पालयेत् ॥ ४६ ॥

संस्थितिहेतवः=यथावत्पालनादिहेतवः । तान्=प्राणान् । स्वशरीरमिति यावत् । निघ्नता=विनाशयता । रक्षता =पालयता । धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वारः पुरुषार्थाः ॥ ४४ ॥

तब वह चित्रग्रीव बोला—हे मित्र ! यह ठीक नहीं है । पहिले इन मेरे आश्रितों के बन्धन काटो, पीछे मेरे बन्धन काटना । तब हिरण्यक बोला—मैं कमजोर हूँ, मेरे दाँत भी कोमल है, इसलिए सबका बन्धन कैसे काट सकता हूँ ?, अतः जब तक मेरे दाँत नहीं टूटें, तब तक आप का बन्धन तो मैं काटता हूँ, पीछे यथाशक्ति इनका भी बन्धन काटूँगा । चित्रग्रीव बोला—यह ठीक है, पर यथाशक्ति इनके ही बन्धन तुम काटो । तब हिरण्यक बोला—'अपने को विपत्ति में डाल करके अपने आश्रितों की रक्षा करना' यह तो नीति जानने वालों के संमत भी नहीं है ।'

क्योंकि—आपत्तिकाल के लिये धन की रक्षा करनी चाहिए, और धन को खर्च कर के भी स्त्री की रक्षा करनी चाहिए, और स्त्री और धन दोनों से भी (उनकी चिन्ता छोड़कर, या उनको देकर भी) सदा अपनी रक्षा करनी चाहिए ॥ ४२ ॥

और भी—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों के मूल कारण प्राण ही हैं । अतः जिसने अपने प्राणों का नाश किया उसने किस चीज का नाश नहीं

चित्रग्रीव उवाच—'सखे ! नीतिस्तावदीदृश्येव, किं त्वहमस्मदाश्रितानां दुःखं सोढुं सर्वथाऽसमर्थः, तेनेदं ब्रवीमि । यतः—

'धनानि, जीवितञ्चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।
सन्निमित्ते वरं त्यागो, विनाशे नियते सति' ॥ ४५ ॥

अयमपरश्चाऽसाधारणो हेतुः—

'जातिद्रव्यबलानाञ्च साम्यमेषां मया सह ।
मत्प्रभुत्वफलं ब्रूहि कदा किं तद्भविष्यति ? ॥ ४६ ॥

ईदृशी एव = 'सर्वथा स्वात्मा रक्षणीय' इत्येवमेव । इदं='मां विहाय मदाश्रितानां पाशांश्छिन्धि' इतीदम् । ब्रवीमि=कथयामि ।

धनानीति । जीवितं=प्राणान् । परार्थे=परोपकाराय । प्राज्ञः=विद्वान् । उत्सृजेत्=दद्यात् । विनाशे=मरणे, नियते=निश्चिते सति । सन्निमित्ते= सत्कार्यसिद्धये, परोपकाराय । त्यागः=प्राणपरित्यागः । वरं=किंचिच्छ्रेष्ठः ॥४५॥

अपरः=द्वितीयः । असाधारणः=सर्वतो बलवान् । हेतुः=मदुक्तौ कारणम् । हेतुमेवाह—जातीति । एषां=मदाश्रितानां कपोतानाम् । मया सह= मया राज्ञा सह । जातिद्रव्यबलानां=पक्षित्वादिजाति-पार्थिवशरीर-सामर्थ्यानाम् । 'गुणाना'मिति पाठान्तरम् । साम्यं=तुल्यत्वम् । 'वर्त्तते' इति शेषः । मत्प्रभुत्वफलं=मत्स्वामित्वफलम्, अस्मदाश्रयणफलं, किन्तत्=किंनाम, तच्च-कदा=

किया ? । अर्थात् सबका नाश किया । और जिसने उन प्राणों की रक्षा की तो उसने किसकी रक्षा नहीं की ? । अर्थात् सबकी रक्षा की ॥ ४४ ॥

चित्रग्रीव बोला-मित्र ! ठीक है । नीति तो यही है, पर मैं अपने आश्रितों के कष्ट को नहीं देख सकता हूँ, इसीलिए ऐसा कहता हूँ ।

किसी ने ठीक ही कहा है, कि—विद्वान् लोगों को अपने धन तथा प्राणों को दूसरों के उपकार के लिए समर्पण कर देना चाहिए । क्योंकि जब उन प्राणों का और धन का नाश होना निश्चित ही है, तो उन्हें सदुपयोग में लगा देना ही अच्छा है ॥ ४५ ॥

और विशेष कारण यह है-ये सब (कबूतर) जाति, द्रव्य, गुण, (या बल)-

अन्यच्च—

'विना वर्त्तनमेवैते न त्यजन्ति ममाऽन्तिकम् ।
तन्मे प्राणव्ययेनाऽपि जीवयैतान्मदाश्रितान्'[१] ॥ ४७ ॥

किञ्च

मांसमूत्रपुरीषाऽस्थिनिर्मितेऽस्मिन्कलेवरे ।
विनश्वरे विहायाऽऽस्थां यशः पालय मित्र ! मे' ॥ ४८ ॥

अपरञ्च पश्य—

'यदि नित्यमनित्येन, निर्मलं मलवाहिना ।
यशः कायेन लभ्यते, तन्न लब्धं भवेन्नु किम् ?' ॥ ४९ ॥

कस्मिन् काले, किं=किंवा भविष्यति । इति त्वमेव ब्रूहि=वद । (तत्=तस्मात्कारणादिति वा योज्यम्) । इदमेव हि मदाश्रयणफलं यदेषां सर्वथा परिरक्षणम् । एवञ्च आदावेषामेव पाशांश्छिन्धीत्याशयः ॥ ४६ ॥

विनेति । वर्त्तनं=जीविकां, वेतनञ्च–विनैव, वेतनादिग्रहणं विनाऽपि । ममाऽन्तिकं=मत्सांनिध्यं, न त्यजन्ति=न परिहरन्ति । तत्=तस्मात् । प्राणव्ययेनाऽपि=मत्प्राणोपयोगेनापि । जीवय=पाशच्छेदेनैनान् परिपालय ॥४७॥

मांसेति । पुरीषं=विष्ठा । अस्थि=कीकसम् । निर्मिते=विरचिते, परिपूर्णे च । विनश्वरे=विनाशशीले । कलेवरे=शरीरे । आस्थां=यत्नम् । 'आस्थानीयत्नयोरास्थे'त्यमरः ॥ ४८ ॥

सभी में मेरे बराबर ही हैं, तो फिर मेरे राजा होने का इनको क्या फल होगा ? और वह कब इन्हें मिलेगा–? यह आप ही बतलाइये ॥ ४६ ॥

और भी—विना किसी प्रकार की जीविका और वेतन के भी ये मेरा साथ नहीं छोड़ते हैं, इसलिये मेरे प्राणों की पर्वाह न करके भी आप पहिले इन (मेरे आश्रितों) को ही बचाइए ।

और भी–हे मित्र ! माँस, मूत्र, विष्ठा, हड्डी आदि से बने हुए मेरे इस नाशशील शरीर के बचाने की इच्छा को छोड़कर आप मेरी कीर्ति की ही रक्षा करो ॥४८॥

१. 'ममाश्रितान्' इति पाठान्तरम् ।

अतः—

'शरीरस्य, गुणानां च दूरमत्यन्तमन्तरम् ।
शरीरं क्षणविध्वंसि, कल्पान्तस्थायिनो गुणाः' ॥ ५० ॥

—इत्याकर्ण्य हिरण्यकः प्रहृष्टमनाः, पुलकितः सन्नब्रवीत्— 'साधु मित्र ! साधु, अनेनाऽऽश्रितवात्सल्येन त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्वं त्वयि युज्यते । एवमुक्त्वा तेन सर्वेषां बन्धनानि च्छिन्नानि ।

ततो हिरण्यकः सर्वान्सादरं सम्पूज्याऽऽह—'सखे चित्रग्रीव !

नित्यं=चिरस्थायियशः । अनित्येन = नश्वरेण । निर्मलं = स्वच्छं—यशः, मलवाहिना=मलमूत्रपरिपूर्णेन । । कायेन=शरीरेण । तत्र 'नु'—इति वितर्के । किं लब्धं न भवेत् = सर्वमेव लब्धं भवेदित्यर्थः ॥ ४९ ॥

अत्यन्तं दूरं=नितरां विप्रकृष्टम् । अन्तरं=प्रभेदः । क्षणविध्वंसि = अचिरविनाशि । क्षणभङ्गुरम् । गुणाः = दयादाक्षिण्यादयः । यश इति यावत् । कल्पान्तस्थायिनः = प्रलयपर्यन्तस्थायिनः ॥ ५० ॥

प्रहृष्टमनाः = सन्तुष्टमानसः । पुलकितः = जातरोमाञ्चः । साधु = शोभनम् । युक्तं ब्रवीषि । आश्रितवात्सल्येन=स्वाश्रितसेवकादिषु प्रदर्शितया कृपया । प्रभुत्वम् = ऐश्वर्यं, स्वामित्वञ्च । युज्यते = युक्तमिति सम्भाव्यते । जालबन्धनविधौ =

और भी देखो—अनित्य और मूत्र विष्ठा आदि मलों को वहन करने वाले शरीर के बदले में यदि निर्मल और नित्य यश मिले, तो फिर कहो क्या नहीं मिला ? । अर्थात् सब कुछ मिल गया ॥ ४९ ॥

क्योंकि—शरीर में और गुणों में बहुत बड़ा भेद है, शरीर तो क्षण ही में नष्ट हो जाता है, परन्तु गुण प्रलय काल तक रहते हैं ॥ ५० ॥

यह सब सुन कर उस हिरण्यक (चूहे) को आश्चर्य से रोमाञ्च हो गया और प्रसन्न होकर वह बोला, हे मित्र ! तुम धन्य हो, धन्य हो । आश्रितों के ऊपर तुम्हारे इस प्रेम के कारण तुम तीनों लोक के स्वामी होने के योग्य हो । ऐसा कह

सर्वथाऽत्र जालबन्धनविधौ दोषमाशङ्क्याऽऽत्मन्यवज्ञा न कर्तव्या। यतः—

'योऽधिकाद्योजनशतात्पश्यतीहाऽऽमिषं खगः।
स एव प्राप्तकालस्तु पाशबन्धं न पश्यति!' ॥ ५१ ॥

अपरञ्च—

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं,
गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम्।
मतिमतांश्च विलोक्य दरिद्रतां,
'विधिरहो बलवा'निति मे मतिः ॥ ५२ ॥

जालबन्धनव्यापारे। दोषं=लोभादिकं हेतुम्। आशङ्क्य=विभाव्य। अवज्ञा=तिरस्कारः।

य इति। यः खगः=गृध्रादिः। योजनशतादप्यधिकात्=पारेशतमपि योजनानाम्, आमिषं=स्वभक्ष्यं मांसं, पश्यति। स एव=दूरदृष्टिः खगः, प्राप्तकालः=आसन्नमृत्युः सन्,—पाशबन्धं, न पश्यति=नैव-लक्षयति ॥ ५१ ॥

शशीति। शशिदिवाकरयोः=सूर्याचन्द्रमसोः। ग्रहपीडनं=राहुणा ग्रहणम्। 'ग्रहः, सूर्यादौ पूतनादौ च सैंहिकेयोपरागयो'रिति मेदिनी। गजभुजङ्गमयोः=हस्तिसर्पयोः। बन्धनं=निग्रहं च-विलोक्य। च=पुनः। मतिमतां=विदुषां, दरिद्रतां=दारिद्र्यञ्च विलोक्य। अहो—इति आश्चर्ये खेदे वा। विधिः=दैवं,

कर उसने पहिले सब कबूतरों के बन्धन काट दिए। इसके बाद सबका आदरपूर्वक उचित सत्कार कर वह हिरण्यक बोला—मित्र चित्रग्रीव! इस जाल के फँस जाने में अपना दोष समझ कर तुम्हें अपनी निन्दा कभी नहीं करनी चाहिए।

क्योंकि—जो गृध्र आदि पक्षी, सौ योजन (४०० कोश) से अधिक की दूरी से भी मांस को देख सकता है, वही पक्षी बुरा समय आने पर अपने फंसाने के लिए बिछाये गए जाल को भी नहीं देखता है और उसमें फंसकर अपने प्राण दे देता है ॥ ५१ ॥

और भी—चन्द्रमा और सूर्य को ग्रहण की पीड़ा, अर्थात् ग्रहण लगना, हाथी

अन्यच्च—

'व्योमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः सम्प्राप्नुवन्त्यापदं,
बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मत्स्याः समुद्रादपि ॥
दुर्नीतं किमिहास्ति, किं सुचरितं, कः स्थानलाभे गुणः, ?
कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि' ॥ ५३ ॥

—इति प्रबोध्याऽऽतिथ्यं कृत्वाऽऽलिङ्ग्य च चित्रग्रीवस्तेन [1]सम्प्रेषितो यथेष्टदेशान्सपरिवारो ययौ।

बलवान्=बलवदिति। मे=मम। मतिः=निश्चयः ॥ ५२ ॥

व्योमेति। व्योमैकान्तविहारिणोऽपि=दूरतरगगनाङ्गणविहारिणोऽपि। विहगाः=पक्षिणः। आपदं=जालबन्धनादिविपदम्। सम्प्राप्नुवन्ति=लभन्ते। निपुणैः=कुशलैः। अगाधसलिलात्=अतलस्पर्शिजलपूर्णात्। समुद्रादपि=सागरादपि, मीनाः=महामत्स्याः, बध्यन्ते=बद्ध्वा गृह्यन्ते। लौकैरिति शेषः। दुर्नीतं=दुश्चरितं, सुचरितं=शोभनमाचरणं वा-किम्?। स्थानलाभे=दुर्धर्षनिरापददुरासददुर्गमस्थानलाभे वा। को गुणः=किं फलम्?। कालः=मृत्युः। व्यसनप्रसारितकरः=विपदवसरे करौ प्रसार्यैव। दूरादपि=दुर्गमादपि स्थानात्। गृह्णाति=आदत्ते ॥ ५३ ॥

प्रबोध्य=सान्त्ववाक्यैर्मनः समाधाय।

और साँपों का बन्धन, पण्डितों की भी दरिद्रता, इन सब बातों को देखकर मैं तो समझता हूँ कि भाग्य ही सबसे प्रबल है ॥ ५२ ॥

और भी—आकाश के एकान्त और अत्युच्च प्रदेश में विहार करने वाले पक्षी भी आपत्ति में फँस जाते हैं। चतुर लोग अथाह जल वाले समुद्र से भी मछलियों को पकड़ लेते हैं। इसलिये इस संसार में क्या अच्छा है? और क्या बुरा है? और क्या योग्य स्थान की प्राप्ति में भी लाभ है?। अर्थात् कुछ नहीं। क्योंकि कालरूपी शत्रु व्यसन-(विपत्ति) रूपी हाथ पसारे बैठा है, और वह मौका पाते ही दूर से भी प्राणियों को पकड़ लेता है ॥ ५३ ॥

इस प्रकार हिरण्यकने कपोतराज चित्रग्रीव को समझा-बुझाकर एवं अतिथि

१. 'तेन प्रेषितश्चित्रग्रीवोऽपि सपरिवारो यथेष्टदेशान् ययौ' इति पाठान्तरम्।

हिरण्यकोऽपि स्वविवरं प्रविष्टः। अतः—

'यानि कानि च मित्त्राणि कर्त्तव्यानि शतानि च।
पश्य मूषिकमित्त्रेण कपोता मुक्तबन्धनाः' ॥ ४५ ॥

अथ लघुपतनकनामा काकः सर्वबृत्तान्तदर्शी साऽऽश्चर्यमिदमाह— 'अहो हिरण्यक! श्लाघ्योऽसि। अतोऽहमपि त्वया सह मैत्त्रीमिच्छामि, अतो मां मैत्त्र्येणाऽनुग्रहीतुमर्हसि।'

एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि विवराभ्यन्तरादाह—'कस्त्वम्?'।

स ब्रूते-'लघुपतनकनामा वायसोऽहम्।'

हिरण्यको विहस्याऽऽह—'का त्वया सह (मम) मैत्री?'।

यानीति। यानि कानि = निर्बलानि, सबलानि वा, योग्यानि, अयोग्यानि वा। शतानि = असङ्ख्यातानि। (सैकड़ों)। मुक्तबन्धना: = कृताः ॥ ५४ ॥

सर्वबृत्तान्तदर्शी = दृष्टकपोतमूषकसकलव्यापारः। श्लाघ्यः = प्रशंसाऽर्हः, धन्यः। मैत्र्येण=सौहार्देन। अनुग्रहीतुम् = अनुग्रहं कर्त्तुम्। विवराभ्यन्तरात् = बिल-मध्यादेव। सः = काकः। वायसः = काकः।

सत्कार कर बिदा किया। वह कपोतराज चित्रग्रीव भी जहाँ उसे जाना था, वहाँ अपने परिवार सहित चला गया। और हिरण्यक चूहा भी अपने बिल में चला गया।

इसलिए मनुष्य को सभी प्रकार के अपने बहुत से मित्र करने चाहिये। देखो चित्रग्रीव के मित्र चूहे ने कबूतरों को बन्धन से छुड़ा दिया था ॥ ५४ ॥

इसके बाद लघुपतनक नाम का वह कौआ यह सब वृत्तान्त देखकर आश्चर्य में पड़ गया। और हिरण्यक (चूहे) के बिल के पास जाकर बोला—हे हिरण्यक! तुम धन्य हो। इसलिए मैं भी तुम्हारे साथ मित्रता करना चाहता हूँ। अतः मुझे भी अपना मित्र बनाकर अनुगृहीत करो।

यह सुनकर वह हिरण्यक (चूहा) बिल के भीतर से ही बोला—तुम कौन हो?। वह बोला—'मैं लघुपतनक नाम का कौआ हूँ'। तब हिरण्यक हँसकर बोला—'वाह! तुम्हारे साथ हमारी मित्रता कैसी?।"

यतः—

'यद्येन युज्यते लोके बुधस्तत्तेन योजयेत् ।

अहमन्नं, भवान्भोक्ता, कथं प्रीतिर्भविष्यति' ? ॥ ५॥ ॥

अपरञ्च—

'भक्ष्य-भक्षकयोः प्रीतिर्विपत्तेरेव कारणम् ।

शृगालात्पाशबद्धोऽसौ मृगः काकेन रक्षितः' ॥ ५६ ॥

वायसोऽब्रवीत्—'कथमेतत् ?' । हिरण्यकः कथयति—

(२) मृग-शृगाल-कथा ।

अस्ति मगधदेशे चम्पकवती नामाऽरण्यानी । तस्यां चिरान्महता स्नेहेन मृगकाकौ निवसतः । स च मृगः स्वेच्छया भ्राम्यन् हृष्टपुष्टाङ्गः केनचिच्छृगालेनाऽवलोकितः ।

यदिति । यत् = सौहृदादि । येन = येन सह । युज्यते = युक्तं भवति । अन्नं = भक्ष्यभूतः । भोक्ता = भक्षकः । प्रीतिः = मैत्री, स्नेहश्च ॥ ५५ ॥

विपत्तेः = आपत्तेः । शृगालात् = भक्षकाज्जम्बुकात् । पाशबद्धः = प्राप्तजाल-बन्धनः । काकेन = स्वसुहृदा वायसेन ॥ ५६ ॥

चम्पकवती=चम्पारण्यनाम्नी । (चम्पारन) । अरण्यानी = महदरण्यम् । चिरात् = चिरकालेन । हृष्टपुष्टाङ्गः = प्रहृष्टसंपुष्टपीवरतनुः । शृगालेन = जम्बुकेन ।

क्योंकि—पण्डित को चाहिये कि जिसके साथ मेल (मित्रता) हो सकता है, उसके ही साथ मेल करे । परन्तु मैं तो आपका अन्न (भक्ष्य) हूँ, और आप मेरे भक्षक हैं । भला हमारी तुमारी मित्रता कैसे हो सकती है ? ॥ ५५ ॥

और भी—भक्ष्य और भक्षक की प्रीति तो विपत्ति का ही कारण होती है । देखो, उस सियार के कहने में आकर वह बिचारा मृग जाल में फँस गया था । परन्तु उसके मित्र कौवे ने ही उसकी रक्षा की थी ॥ ५६ ॥

कौवा बोला,—यह कथा कैसे है ? । हिरण्यक कहने लगा—

मगध देश में चम्पकवती (चम्पारन) नाम का एक बहुत बड़ा जङ्गल है, वहाँ बहुत काल से एक मृग और कौवा बड़े प्रेम से मित्रतापूर्वक रहते थे । और वह

तं दृष्ट्वा शृगालोऽचिन्तयत्—'आः! कथमेतन्मांसं सुललितं भक्षयामि। भवतु। विश्वासं तावदुत्पादयामि।'—इत्यालोच्य उपसृत्याऽब्रवीत्—'मित्र! कुशलं ते?।'

मृगेणोक्तम्—'कस्त्वम्?'।

स ब्रूते—'क्षुद्रबुद्धिनामा जम्बुकोऽहम्, अत्राऽरण्ये बन्धुहीनो मृतवन्निवसामि। इदानीं त्वां मित्त्रमासाद्य, पुनः सबन्धुर्जीवलोके प्रविष्टोऽस्मि। अधुना तवाऽनुचरेण मया सर्वथा भवितव्यम्।'

मृगेणोक्तम्—'एवमस्तु।'

ततः पश्चादस्तङ्गते सवितरि भगवति मरीचिमालिनि, तौ मृगस्य वासभूमिं गतौ। चम्पकवृक्षशाखायां सुबुद्धिनामा काको मृगस्य चिर-

---

अवलोकितः = दृष्टः। एतन्मांसं=मृगमांसं। सुललितं=सुमधुरं (चटपटा)। उपसृत्य = समीपं गत्वा। कुशलं = मङ्गलम्। अरण्ये=महावने। बन्धुहीनः = सुहृद्रहितः। सबन्धुः = मित्रसहितः। जीवलोकं=संसारम्। पुनरुज्जीवितोऽस्मीति यावत्। अनुचरेण=सहचरेण। एवमस्तु = अस्त्वेवम्। (अच्छा)। सवितरि= सूर्ये। मरीचिमालिनि=मयूखमालिनि। किरण-माला-विराजिते। सहस्रकिरणे।

मृग बहुत ही हृष्ट पुष्ट था, और जङ्गल में स्वच्छन्द इधर उधर घूमा करता था।

एकदिन एक सियार ने उसे देखा और देखकर वह सियार सोचने लगा कि—अहा! इसका मीटा सुस्वादु मांस मैं किस प्रकार खाऊँ?। (कुछ विचार कर) अच्छा पहिले इससे मेल जोल बढ़ाऊँ और विश्वास उत्पन्न करूँ। ऐसा विचार कर उस मृग के पास जाकर वह शृगाल बोला—

हे मित्र! कहिए, आप सकुशल तो हैं?। मृग ने कहा—भाई, तुम कौन हो?। वह बोला—मैं सियार हूँ, मेरा नाम क्षुद्रबुद्धि है। इस वन में मैं मित्रों से रहित होने के कारण मृतक की तरह पड़ा रहता था। इस समय आप ऐसे सज्जन मित्र को पाकर अपने बन्धु बान्धवों के साथ मानों मैं पुनः जीवलोक में प्रविष्ट हुआ हूँ। अब मैं सदा आपके साथ ही रहूँगा। मृग ने कहा—अच्छा, जैसी तुमारी इच्छा। इसके बाद मरीचिमाली भगवान् सूर्य जब अस्ताचल पर चले गये, और जब सन्ध्या हो गई, तब वे दोनों (मृग और शृगाल) मृग की निवास भूमि पर गये। वहाँ चम्पक (चम्पा) वृक्ष की शाखा पर उस मृग का पुराना

मित्त्रं निवसति। तौ दृष्ट्वा काकोऽवदत्,—सखे चित्राङ्ग! कोऽयं द्वितीयः ?'। मृगो ब्रूते—'जम्बुकोऽयम्, अस्मत्सख्यमिच्छन्नागतः।

काको ब्रूते—'मित्र! अकस्मादागन्तुना सह मैत्त्री न युक्ता। तन्न भद्रमाचरितम्। तथा चोक्तम्—

'अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्।
मार्जारस्य हि दोषेण हतो गृध्रो जरद्गवः,॥ ५७॥

तावाहतुः—'कथमेतत् ?'। काकः कथयति—

(३) जरद्गव-बिडाल कथा।

अस्ति भागीरथीतीरे गृध्रकूटनाम्नि पर्वते महान् पर्कटीवृक्षः। तस्य

तौ = मृगजम्बुकौ। चिरमित्रं=पुरातनः सुहृत्। आगन्तुना = अपरिचितेन। भद्रम्=उचितम्। आचरितम् = अनुष्ठितम्।

अज्ञातेति। अज्ञातं कुलं, शीलञ्च यस्यासौ = अज्ञातकुलशीलः, तस्य= अविदितवंशस्वभावस्य, अपरिचितस्य। दोषेण = अपराधेन। जरद्गवः=जरद्गवनामा गृध्रः॥ ५७॥

तौ = मृगजम्बुकौ। भागीरथीतीरे=गङ्गातटे। गृध्रकूटनाम्नि = 'गिद्धौर'-

---

मित्र सुबुद्धि नाम का एक कौवा रहता था। उन दोनों को देख कर वह कौवा बोला—मित्र चित्राङ्ग!, तुमारे साथ यह दूसरा कौन है ?। मृग बोला—यह सियार है, हमलोगों से मित्रता करने के लिये आया है। कौवा बोला—मित्र! बिना जाने अचानक आये हुए व्यक्ति से मित्रता नहीं करनी चाहिये।

किसी ने कहा भी है कि—जिसका कुल और स्वभाव मालूम न हो, उसे अपने पास ठहरने भी नहीं देना चाहिये। क्योंकि देखो, बिल्ली के दोष से वह विचारा जरद्गव नाम का गृद्ध मारा गया था॥ ५७॥

मृग और शृगाल कहने लगे कि—वह कथा कैसे है ?।

कौवा कहने लगा—

गङ्गा जी के किनारे पर गृध्रकूट (गिद्धौर) नाम का एक पर्वत है। उस

कोटरे दैवदुर्विपाकाद्गलितनखनयनो जरद्गवनामा गृध्रः प्रतिवसति । अथ कृपया तज्जीवनाय तद्वृक्षवासिनः पक्षिणः स्वाहारात्किञ्चिदुद्धृत्य तस्मै ददति, तेनासौ जीवति, तेषां शावकानां रक्षाञ्च करोति ।

अथ कदाचिद्दीर्घकर्णनामा मार्जारः पक्षिशावकान्भक्षयितुं तत्राऽऽगतः। ततस्तमायान्तं दृष्ट्वा पक्षिशावकैर्भयार्त्तैः कोलाहलः कृतः । तच्छ्रुत्वा जरद्गवेनोक्तम्—'कोऽयमायाति ?' ।

दीर्घकर्णो गृध्रमवलोक्य सभयमाह—'हा ! हतोऽस्मि' । यतः—

नाम्ना प्रसिद्धे । पर्वते=गिरौ । (पटना के पास के गिद्धौर नामक पर्वत व नगर में, पर्कटीवृक्षः=प्लक्षतरुः (पाकर) । कोटरे = निष्कुहे । (खोडरमें) । दैवदुर्विपाकात् = दुरदृष्टवशात् । नखानि च नयने च नखनयनम् । गलितं नखनयनं यस्यासौ-गलितनखनयनः = विशीर्णनखलोचनः । आहारोपार्जनाऽसमर्थः । कृपया=दयया । तज्जीवनाय=गृध्रजीवनाय । उद्धृत्य = निष्कास्य (निकाल कर) । असौ = स जरद्गवः । तेषां = पक्षिणां, शावकानां–रक्षां=पक्षिशिशुरक्षाम् । मार्जारः = बिडालः । (बिल्ला) । पक्षिशावकान् =पक्षिबालकान् । तत्र=पर्कटीतरुकोटरे । भयार्त्तैः = भयत्रस्तैः । व्यापादयिष्यति = हनिष्यति ।

पर्वत पर एक बड़ा पाकड़ का वृक्ष था । उसके खोखले में जरद्गव नाम का एक गिद्ध रहता था । दुर्भाग्यवश वृद्धावस्था के कारण उसके नख और दाँत इत्यादि सब गिर गये । उसको इस प्रकार असहाय देख कर उस वृक्ष पर रहने वाले पक्षीगण दया करके अपने-अपने भोजन में से कुछ निकाल कर उसे दे दिया करते थे, जिससे उसकी प्राण रक्षा होती थी । और वह गृध्र भी इसके बदले में उन पक्षियों के बच्चों की रखवाली किया करता था ।

एक दिन दीर्घकर्ण नाम का एक बिलाव पक्षियों के बच्चों को खाने के लिये वहाँ आया । उसको आते देख कर पक्षियों के बच्चों ने डर के मारे हल्ला मचाया । उनका कोलाहल सुन कर जरद्गव (गृध्र) ने डपट कर पूछा—'यह कौन आ रहा है ? ।' उस गिद्ध को देख कर डरता हुआ वह बिलाव मन ही मन कहने लगा कि—हा ! अब तो मैं बिना मौत ही मारा जाऊंगा ।

'तावद्भयस्य भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्याद्यथोचितम्'[1] ॥ ५८ ॥

अधुनाऽस्य[2] संनिधाने पलायितुमक्षमः । तद्यथा भवितव्यं तद्भवतु । तावद्विश्वासमुत्पाद्याऽस्य समीपमुपगच्छामि ।'

—इत्यालोच्योपसृत्याऽब्रवीत्–'आर्य ! त्वामभिवन्दे ।' गृध्रोऽवदत्–'कस्त्वम् ? ।' सोऽवदत्—'मार्जारोऽहम् ।' गृध्रो ब्रूते–'दूरमपसर, नो चेद्धन्तव्योऽसि मया ।' मार्जारोऽवदत्–'श्रूयतां तावदस्मद्वचनम् । ततो यद्यहं वध्यस्तदा हन्तव्यः' । यतः—

तावदिति । भयस्य=भयजनकस्य चौरव्याघ्रादेः । भेतव्य=भीतिः कार्या । भयं=भयप्रदं चौरव्याघ्रादिकम्, आगतम्=उपस्थितम् । वीक्ष्य=दृष्ट्वा तु । यथोचितं=यथायोग्यं तत्प्रतीकारोपायम् । कुर्यात्=विदधीत ॥ ५८ ॥

अधुना=सम्प्रति । अतिसंनिधानेन=गृध्रस्य नितरां संनिहिततया । पलायितुं=प्रधावितुमपि । अशक्यम्=असम्भवि । अस्य—गृध्रस्य । आलोच्य=मनसि विचार्य । उपसृत्य=तन्निकटे गत्वा । आर्य=पूज्य । साधो ! । अभिवन्दे=नमस्करोमि । अपसर=पलायस्व । वध्यः=वधार्हः ।

(फिर मन ही मन कुछ सोच कर–) जब तक विपत्ति नहीं आये तभी तक उससे डरना चाहिये । पर यदि विपत्ति आ ही पड़े, तो मनुष्य को निर्भय होकर उसका यथोचित प्रतीकार करना चाहिए ॥ ५८ ॥

और इस समय मैं इस गृध्र के पंजे में हूँ, यहाँ से मैं भाग भी नहीं सकता हूँ। इसलिये अब तो जो होना है सो हो । देखा जाएगा । अच्छा ! तब तक विश्वास दिलाकर मैं इस गृध्र के समीप चलता हूँ । ऐसा विचार कर उस गृध्र के पास जाकर वह बिलाव बोला—हे आर्य ! (अजी !) मैं आपको प्रणाम करता हूँ । गिद्ध बोला—तुम कौन हो ? । वह बोला—मैं बिलाव हूँ । तब गिद्ध बोला—भागो भागो, दूर हटो, नहीं तो मैं तुम्हें मार डालूँगा । बिलाव बोला–'पहिले मेरा कहना सुन लीजिये, फिर यदि मैं मारने योग्य होऊँ तो मुझे मारियेगा ।'

१. 'प्रतिकुर्याद्यथोचितम्' । 'प्रहर्त्तव्यमभीतव'दिति च पाठान्तरम् ।
२. 'अधुनाऽस्यातिसंनिधानेन पलायितुमशक्यम्' इति पाठान्तरम् ।

'जातिमात्रेण किं कश्चिद्धन्यन्ते, पूज्यते क्वचित् ?।
व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः, पूज्योऽथवा भवेत्' ॥ ५६ ॥

गृध्रो ब्रूते—'ब्रूहि किमर्थमागतोऽसि ?'। सोऽवदत्-'अहमत्र गङ्गातीरे नित्यस्नायी, निरामिषाशी, ब्रह्मचारी, चान्द्रायणव्रतमाचरंस्तिष्ठामि। यूयं धर्मज्ञाः प्रेमविश्वासभूमय' इति पक्षिणः सर्वे सर्वदा ममाऽग्रे प्रस्तुवन्ति। अतो भवद्भ्यो विद्यावयोवृद्धेभ्यो धर्मं श्रोतुमिहागतः। भवन्तश्चैतादृशा धर्मज्ञा यन्मामतिथिं हन्तुमुद्यताः !। गृहस्थधर्मश्चैषः—

जातीति। कश्चिदपि क्वचित्=कस्मिंश्चित्स्थलेऽपि, जातिमात्रेण='अयममुकजातीय' इत्येतावन्मात्रेणैव। कि वध्यते=किं हन्यते, किं पूज्यते=किं सत्क्रियते। नैवेत्यर्थः। व्यवहारं=तदाचारम्, परिज्ञाय = दृष्ट्वा। अनुरुध्यैव ॥ ५६ ॥

अत्र = चम्पकारण्ये। नित्यस्नायी = नित्यमभिषवपरः। निरामिषाशी = परिवर्जितमांसभोजनः। ब्रह्मचारी = निगृहीतेन्द्रियः। वेदमधीयानः। चान्द्रायणव्रतं=तन्नामकव्रतम्—'एकैकं ह्रासयेत्कृष्णे, शुक्ले च परिवर्द्धयेत्' इत्युक्तलक्षणम्।

यूयं = भवन्तः। धर्मज्ञानरताः=धार्मिकाः, ज्ञानिनश्च। प्रेमविश्वासभूमयः = प्रीतियोग्याः, विश्वासार्हाश्च। इति=इत्येवम्। प्रस्तुवन्ति = तव स्तुतिं कुर्वन्ति, प्रशंसन्ति। कथयन्ति च। विद्यावयोवृद्धेभ्यः=विद्यावृद्धेभ्यः, वयोवृद्धेभ्यश्च। वृद्धः=श्रेष्ठः। एतादृशाः=ईदृशाः। (ऐसे)। (यत्=कि)। अतिथिं =

क्योंकि—कोई भी व्यक्ति जातिमात्र ही से मारने वा पूजने लायक नहीं होता है, किन्तु उनका व्यवहार देख कर ही उसे मारना या पूजना चाहिए ॥ ५६ ॥

गिद्ध बोला—'अच्छा कहो, तुम यहाँ क्यों आये हो ?'। तब वह बिलाव बोला—'मैं यहाँ पर गङ्गाजी के किनारे ही प्रतिदिन स्नान कर, फलाहारी हो, ब्रह्मचर्य से रहता हूँ और चान्द्रायण व्रत करता हूँ। 'आप बड़े ज्ञानी तथा प्रेम-विश्वास के पात्र हैं,' ऐसा प्रतिदिन पक्षीगण मेरे से कहा करते हैं। इसलिये आपको विद्यावृद्ध तथा वयोवृद्ध जान कर ही मैं आपसे कुछ धर्मशास्त्र के उपदेश सुनने यहाँ आया था। परन्तु आश्चर्य है कि आप तो ऐसे धर्मज्ञ हैं, कि मुझ अतिथि को भी मारने लिये तैयार हैं !। गृहस्थों का तो धर्म यह है, कि—

'अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते ।
छेत्तुः पार्श्वगतां छायां नोपसंहरते द्रुमः' ॥ ६०॥

यदि वा धनं[1] नास्ति तदा प्रीतिवचसाऽतिथिः पूज्य एव ।

यतः—

'तृणानि, भूमिरुदकं, वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
[2]एताऽन्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन' ॥ ६१ ॥

गृहागतम् । अराविति । अरौ=शत्रौ–अपि । गृहमागते सति—उचितं = योग्यम्, आतिथ्यम् =अतिथिसत्कारः । द्रुमः=वृक्षः । पार्श्वगतात्=निकटस्थितात्, छेत्तुः= स्वच्छेदकात् तक्ष्णः सकाशादपि । स्वच्छायां–नोपसंहरते = न सङ्कोचयति ॥ ६० ॥

धनम् = अतिथिसत्काराय धनम् । सुप्रीतेन = मधुरेण । तावत् = केवलम् ।

तृणानीति । तृणानि = आस्तरणार्थं पलालकुशादीनि । भूमिः=निवासस्थानम् । उदकं = पानाद्यर्थं शीतलं पयः । एतत्त्रितयं, किञ्च—चतुर्थी–सूनृता= प्रिया, सत्या च । वाक् = वाणी । 'सूनृतं मङ्गलेऽपि स्यात्प्रियसत्ये वचस्यपी'ति मेदिनी । एतानि = चत्वारि, अपि = तु । सतां=साधूनां । गेहे = गृहे । नोच्छिद्यन्ते कदाचन = न कदाचन विरलीभवन्ति । सदैव सुलभान्येवेत्याशयः ॥ ६१ ॥

शत्रु भी यदि अपने घर पर आ जाए तो उसका भी उचित आतिथ्य सत्कार करना चाहिए । देखो–वृक्ष अपने काटने वाले बढई, सुतार आदि की ओर से भी अपनी सुशीतल छाया को कभी नहीं हटाता है ॥ ६० ॥

और यदि पास में देने को कुछ अन्न धन आदि न भी हो तो भी प्रेमपूर्वक मीठे वचन बोल कर ही अतिथि का सत्कार करना चाहिये ।

क्योंकि—बिछाने के लिए और बैठने के लिए पुआल आदि घास फूस, रहने को स्थान, जल–ये तीन चीज और चौथा मीठा वचन, इन ४ चीजों की कमी तो सज्जनों के घर में कभी भी नहीं होती है । अर्थात् कुछ भी घर में देने को न हो तो भी इन चार वस्तुओं से ही अतिथि का सत्कार करना चाहिये ॥ ६१ ॥

१. 'अन्नम्' इति पाठान्तरम् । २. 'एतानि तु' पा. ।

अन्यच्च—

'बालो वा, यदि वा वृद्धो, युवा वा गृहमागतः ।
तस्य पूजा विधातव्या, सर्वस्याऽभ्यागतो गुरुः' ॥ ६२ ॥

अपरञ्च—

'निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ।
न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनः[1]' ॥ ६३ ॥

अन्यच्च—

'अतिथिर्यस्य भग्नाऽऽशो गृहात्प्रतिनिवर्त्तते ।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति' ॥ ६४ ॥

गृहमागतः = स्वगृहद्वारि समुपस्थितः । अतिथिः । तस्य = अतिथेः । अभ्यागतः = अतिथिः, गुरुः = पूज्यः ॥ ६२ ॥

निर्गुणेष्वपि = अयोग्येष्वपि, नीचेष्वपि च । सत्त्वेषु = भूतेषु । साधवः=सन्तः । हि = यतः । चन्द्रः = इन्दुः । चाण्डालवेश्मनः = पतिताऽन्तावसायिगेहात् । ज्योत्स्नां = स्वचन्द्रिकां, न संहरते = न सङ्कोचयति ॥ ६३ ॥

अतिथिरिति । यस्य = पुंसः, गृहात्—अतिथिः—भग्नाशः=निराशः सन्, प्रतिनिवर्त्तते = पुराङ्मुखो गच्छति । सः = अतिथिः, तस्मै=गृहस्वामिने । दुष्कृतं= स्वपापम् । दत्त्वा । पुण्यं=गृहस्वामिनः पुण्यम् । आदाय गच्छति=अपहरति ॥६३॥

अतिथि यदि बालक हो या वृद्ध हो या जवान हो वह यदि अपने घर पर आ जाय, तो उसकी पूजा अवश्य करनी चाहिये । क्योंकि अतिथि सभी का गुरु और पूज्य होता है ॥ ६२ ॥

और भी—महात्मा लोग गुणहीन (साधारण पामर, तुच्छ) जीवों पर भी सदा दया ही करते हैं । देखो, चन्द्रमा चाण्डाल के घर से भी अपनी किरणों को नहीं हटाता है । अर्थात् चन्द्रमा की शीतल किरण गुणी व निर्गुण सभी के ऊपर समान ही पड़ती हैं ॥ ६३ ॥

और भी—जिस गृहस्थ के घर से अतिथि निराश होकर लौट जाता है, तो

1. वेश्मनि' पा० ।

अन्यच्च—

'उत्तमस्याऽपि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः ।
पूजनीयो यथायोग्यं, सर्वदेवमयोऽतिथिः' ॥ ६५ ॥

गृध्रोऽवदत्—'मार्जारो हि मांसरुचिः, पक्षिशावकाश्चाऽत्र निवसन्ति, तेनाऽहमेवं ब्रवीमि' ।

तच्छ्रुत्वा मार्जारो भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णौ स्पृशति । ब्रूते च—'मया धर्मशास्त्रं श्रुत्वा वीतरागेणेदं दुष्करं व्रतं चान्द्रायणमध्यवसितम् । परस्परं विवदमानानामपि धर्मशास्त्राणाम्–'अहिंसा परमो धर्म' इत्यत्रैकमत्यम् । यतः—

उत्तमस्याऽपि वर्णस्य = श्रेष्ठस्याऽपि ब्राह्मणादेर्वर्णस्य । गेहे=गृहे । नीचोऽपि=स्वतो निकृष्टश्चाण्डालादिरपि । यथोयोग्यं=यथोचितम् । पूजनीयः = पूज्यः । कुत एतदत आह–सर्वेति । सर्वदेवमयः=सर्वदेवस्वरूपः ॥ ६५ ॥

मांसरुचिः=मांसप्रियः । अत्र=वृक्षकोटरे । एवं = क्रूरं वाक्यम् । कर्णौ स्पृशति = नितान्तमशङ्क्यत्वमात्मनो दर्शयन्, कर्णौ स्पृशन् शपथमाचरति । (कान पकड़कर सौगन्ध खाता है) । वीतरागेण = विगतस्पृहेण । अध्यवसितं=स्वीकृतम् । विवदमानानामपि = कलहायमानानां परस्परं विरुद्धं निर्दिश-

वह अतिथि उस गृहस्थ को अपना पाप देकर और उसका पुण्य लेकर चला जाता है । अर्थात् अतिथि को निराश करने से बड़ा पाप होता है ॥ ६४ ॥

और भी—उत्तम वर्ण (ब्राह्मण आदि) के घर में यदि नीच वर्ण (चाण्डालादिक) भी अतिथि होकर आये तो उसका भी यथायोग्य सत्कार करना चाहिये, क्योंकि अतिथि सब देवताओं का रूप है ॥ ६५ ॥

तब वह गिद्ध बोला—बिल्ली को मांस खाने की बड़ी रुचि होती है, और यहां पक्षियों के बच्चे रहते हैं । इसीलिये मैंने ऐसा कहा था । (तुमको रोका था) अतः तुम इससे बुरा मत मानना । यह सुन कर वह बिलाव भूमि को छूकर कान पकड़ने लगा और बोला कि मैं तो धर्मशास्त्रों को सुनकर विरक्त होकर इस कठिन चान्द्रायण को व्रत कर रहा हूँ । यद्यपि और विषयों पर धर्मशास्त्रों में मतभेद भी है, पर 'हिंसा नहीं करना ही सबसे बड़ा धर्म है' इस बात पर तो सभी शास्त्रों की संमति है ।

'अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः ।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः' ॥ ६६ ॥
अहिंसा परमो यागस्त्वहिंसा परमं बलम् ।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं श्रुतम् ॥ ६७ ॥
सर्वहिंसानिवृत्ता ये नराः, सर्वसहाश्च ये ।
सर्वस्याऽऽश्रयभूताश्च, ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ६८ ॥
एक एव सुहृद्धर्मो, निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥ ६९ ॥

तामपि । धर्मशास्त्राणां = मन्वादिस्मृतीनाम् । ऐकमत्यं = परस्परमविरोधः ॥ परमः = सर्वोत्कृष्टः । दमः = इन्द्रियविनिग्रहः ॥ ६६ ॥

मित्रं=हितकारकम् । श्रुतं=विद्यां तत्फलमिति यावत् ॥ ६७ ॥

सर्वसहाः = तितिक्षापरायणाः । आश्रयभूताः = सर्वाऽभयप्रदाः ॥ ६८ ॥

धर्मः—एव एकः = केवलः, लोकानां–सुहृत्=मित्रं, यः-निधनेऽपि=मरणेऽपि, अनुयाति=प्राणिभिः सह गच्छति । समं = सार्द्धम्, अन्यत् = धनादिकम् । गच्छति=याति ॥ ६९ ॥

क्योंकि अहिंसा ही परम धर्म है । अहिंसा ही सबसे बड़ा दम (इन्द्रिय निग्रह) है । अहिंसा ही परम उत्कृष्ट दान है । अहिंसा ही सबसे बड़ा तप है ॥ ६६ ॥

और अहिंसा ही सबसे बड़ा यज्ञ है। अहिंसा सबसे बड़ा बल है । अहिंसा ही सच्चा मित्र है । अहिंसा ही सबसे बड़ा श्रुत=ज्ञान (उपदेश) है । अर्थात् अहिंसा ही सब वेदों का व स्मृतियों का सार है ॥ ६७ ॥

क्योंकि–जो लोग सब प्रकार की जीव हिंसा से निवृत्त हैं, और जो सब कुछ सहन करते हैं, तथा सबको यथाशक्ति आश्रय देते हैं, वे ही लोग स्वर्ग में जाते हैं ॥६८॥

और धर्म ही केवल एक ऐसा मित्र है, जो मरने पर भी साथ देता है । और सब सम्पत्ति तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाती है ॥ ६९ ॥

किञ्च—

योऽत्ति यस्य यदा मांसमुभयोः पश्यताऽन्तरम् ।
एकस्य क्षणिका प्रीतिरन्यः प्राणैर्विमुच्यते ! ॥ ७० ॥
'मर्तव्य'मिति यद्दुःखं पुरुषस्योपजायते ।
शक्यते नाऽनुमानेन परेण परिवर्णितुम् ॥ ७१ ॥

शृणु पुनः—

'स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनाऽपि प्रपूयते ।
अस्य दग्धोदरस्याऽर्थे कः कुर्यात्पातकं महत् ॥ ७२ ॥

यः = पुमान् यस्य = मृगादेः । यदा = यस्मिन् समये । अत्ति = भक्षयति । उभयोः = भक्ष्यभक्षकयोः । अन्तरं = भेदम् । पश्यत=विलोकयत । एकस्य= भक्षकस्य पुंसस्तु । क्षणिका = क्षणमात्रस्थायिन्येव । प्रीतिः = तृप्तिर्भवति । परम्-अन्यः = मृगादिर्भक्ष्यभूतः पशुस्तु ॥ ७० ॥

'मया मर्त्तव्यमिदानी'मिति ज्ञात्वा, यत् = यादृशं दुःखं = क्लेशः—पुरुषस्य, जन्तोः, उपजायते = भवति, तेन=तद्धेतुकेन, अनुमानेन=अनुमित्या, परोऽपि= मृगपक्ष्यादिरपि । परिरक्षितुं । शक्यः = योग्यः । 'मरणाद्यथा मम दुःखं, तथैव परस्यापी'ति विज्ञाय परोऽपि स्वात्मवदेव रक्षणीय इत्याशयः ॥ ७१ ॥

स्वच्छन्दवनजातेन=स्वतन्त्रवनोद्भूतेन सुलभेन । शाकेन=फलमूलशाकादिना । प्रपूर्यते=यत्परिपूर्णं भवति । तस्य दग्धोदरस्य=उदरहतकस्य, अर्थे = निमित्तं, कः=कः सचेताः पुमान् । महत्=नितरां गुरु । पातकं = प्राणिवधरूपपापम्— कुर्यात् । न कश्चिदपि सहृदयः कुर्यादित्यर्थः ॥ ७२ ॥

एक प्राणी जब दूसरे प्राणी का मांस खाता है, तो उस समय उन दोनों का भेद देखिये । एक (खाने वाले) को तो क्षणभर का आनन्द (आस्वाद) मिलता है, परन्तु दूसरा (भक्ष्य प्राणी) सर्वदा के लिये इस संसार से चला जाता है ॥७०॥

'मुझको मरना होगा' यह सोच कर मरने वाले मनुष्य को जो दुःख होता है, उसको दूसरा मनुष्य केवल अनुमान से वर्णन नहीं कर सकता है ॥ ७१ ॥

और सुनो—बिना बोये-जोते स्वयं बन में उत्पन्न हुए साक से भी जब यह पेट

—एवं विश्वास्य स मार्जारस्तरुकोटरे स्थितः।

ततो दिनेषु गच्छत्सु–असौ पक्षिशावकानाक्रम्य कोटरमानीय प्रत्यहं खादति। येषामपत्यानि खादितानि तैः शोकार्त्तैर्विलपद्भिरितस्ततो जिज्ञासा समारब्धा। तत्परिज्ञाय मार्जारः कोटरान्निःसृत्य वहिः पलायितः। पश्चात्पक्षिभिरितस्ततो निरूपयद्भिस्तत्र तरुकोटरे शावकाऽस्थीनि प्राप्तानि। अनन्तरम्—'अनेनैव जरद्गवेनाऽस्माकं शावकाः खादिताः' इति सर्वैः पक्षिभिर्निश्चित्य स गृध्रो व्यापादितः।

अतोऽहं ब्रवीमि–'अज्ञातकुलशीलस्य' इत्यादि॥ ॥

दिनेषु गच्छत्सु = कतिषु चिद्दिवसेष्वपयातेषु सत्सु (कुछ दिन बीत जाने पर)। असौ = मार्जारः। आक्रम्य = विधृत्य (पकड़कर)। प्रत्यहं = प्रतिदिनम्। अपत्यानि = शावकाः। खादितानि। तैः = पक्षिभिः। शोकार्त्तैः = शोकाकुलैः। विलपद्भिः = रुदद्भिः। जिज्ञासा=गवेषणा, समारब्धा=आरब्धा। (पता लगाना

भरा जा सकता है, तो इस पापी पेट के लिये इतना बड़ा पाप कौन समझदार मनुष्य करेगा ?। अर्थात् इस पापी पेट के लिए किसी को भी ऐसा जघन्य काम नहीं करना चाहिये॥ ७२॥

इस प्रकार विश्वास उत्पन्न कराके वह बिलाव गृध्र के साथ ही उस वृक्ष के खोखले में रहने लगा।

और कुछ दिन बीत जाने पर वह प्रतिदिन पक्षियों के बच्चों को पकड़-पकड़ कर अपने खोखले में ले जाकर खाने लगा। जिन पक्षियों के बच्चों को उस बिलाव ने खा लिया था, वे पक्षी शोकार्त होकर रोते हुए अपने बच्चों को इधर-उधर खोजने लगे। इस बात को जानकर वह बिलाव वृक्ष के खोखले से निकल कर भाग गया। इसके बाद पक्षियों ने इधर-उधर खोजते खोजते उस पेड़ के खोखले में—जिसमें गृध्र और बिलाव रहते थे—अपने-अपने बच्चों की हड्डियों को देखा। तब उन सबों ने कहा कि 'इस जरद्गव गृध्र ने ही हम लोगों के बच्चों को खाया है' ऐसा सब पक्षियों ने निश्चय कर उस बेचारे निर्दोष गीध को चोंचों से मार डाला।

इसीलिये मैं कहता हूँ कि–बिना किसी का शील आदि जाने किसी को अपने स्थान में रहने नहीं देना चाहिये।

—इत्याकर्ण्य स जम्बुकः सकोपमाह—'मृगस्य प्रथमदर्शनदिने भवानप्य-ज्ञातकुलशील एव, तत्कथं भवता सहैतस्य स्नेहाऽनुवृत्तिरुत्तरोत्तरं वर्द्धते ?।

'यत्र विद्वज्जनो नाऽस्ति श्लाघ्यस्तत्राऽल्पधीरपि ।
निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते' ॥ ७३ ॥

अन्यच्च—

'अयं निजः', 'परो वे'ति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ७४ ॥

प्रारम्भ किया) । तत् = पक्षिणः क्रुद्धान् । निरूपयद्भिः = जिज्ञासमानैः । व्यापा-दितः = हतः ।

सकोपं=सक्रोधम् । आह = काकं प्रत्याह । भवानपि = काकोऽपि । एतस्य= मृगस्य । स्नेहानुवृत्तिः = स्नेहसम्बन्धः । यत्रेति । अल्पधीः = मन्दबुद्धिः, तुच्छमति-रपि । निरस्तपादपे = वृक्षशून्ये । एरण्डः = पञ्चाङ्गुलः । द्रुम इव आचरति–द्रुमायते= वृक्षशब्दं धत्ते । एवञ्च भवान् काकोऽपीदानीमुपदेशकपदं धत्ते । किञ्च भवान् काकोऽपीदानीं मृगस्याऽस्य सुहृद्भावं धत्ते इत्याशयः ॥ ७३ ॥

अयं जनः=निजः आत्मीयः, अयं परः=अयं जनः अपरः, शत्रुर्वा । इति=इत्येवं, लघुचेतसां=सङ्कुचितचित्तानां, तुच्छानामेव । गणना = विचारो भवति । उदार-चरितानां = महानुभावानां, महतान्तु । वसुधैव = सकलं जगदपि । कुटुम्बकम् = कुटुम्बतुल्यमेव । सर्वत्रैव तेषामात्मीयभाव इत्यर्थः ॥७४ ॥

यह सुनकर वह सियार क्रुद्ध होकर बोला—'जब आपका (कौवे का) और मृग का पहिले पहल दर्शन हुआ था तब आप भी तो मृग के लिए अज्ञातकुलशील ही थे । तो फिर क्यों आप का और इन (मृग) का प्रेम उत्तर बढ़ता ही जाता है ? ।

ठीक है–जहाँ कोई योग्य विद्वान् नहीं है, वहाँ अल्प बुद्धि वाले पुरुष की भी प्रशंसा होती है। जिस जगह वृक्ष नहीं है, वहाँ रेंड भी वृक्ष कहा जाता है !॥७३॥

और भी–'यह मेरा है', 'यह दूसरा है' यह विचार तो छोटे लोगों का ही होता है । बड़े लोगों का तो संसार ही अपना कुटुम्ब है ॥ ७४ ॥

यथाऽयं मृगो मम बन्धुस्तथा भवानपि ।

मृगोऽब्रवीत्—किमनेनोत्तरोत्तरेण? । सर्वैरेकत्र विश्रम्भाऽऽलापैः सुखमनुभवद्भिः स्थीयताम् । यतः—

'न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं, न कश्चित्कस्य चिद्रिपुः ।
व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते, रिपवस्तथा' ॥ ७५ ॥

काकेनोक्तम्-'एवमस्तु' । अथ प्रातः सर्वे यथाऽभिमतदेशं गताः ।

एकदा निभृतं शृगालो ब्रूते—'सखे ! अस्मिन्वनैकदेशे सस्यपूर्णं क्षेत्रमस्ति । तदहं त्वां तत्र नीत्वा दर्शयामि ।'

तथा कृते सति मृगः प्रत्यहं तत्र गत्वा सस्यं खादति ।

भवान्=काकोऽपि । मम मित्रं = सुहृत् । उत्तरोत्तरेण = उत्तरप्रत्युत्तरेण । विश्रम्भाऽऽलापैः=प्रीतिगर्भैर्विश्वाससूचकैर्भाषणैः । नेति । मित्रं=स्वभावतो मित्रम् । रिपुः = सहजो रिपुः । व्यवहारेण=हिताऽहिताचरणेन, कार्यकारणभावेन च ॥७५॥

यथाऽभिमतदेशं = स्वस्वाभिलषितं स्थानम् । निभृतम् = एकान्ते । वनैकदेशे= वनैकभागे । वनप्रदेशे । तथाकृते सति=सस्यपूर्णे क्षेत्रे तेन प्रदर्शिते सति ।

जैसे यह मृग मेरा मित्र है, वैसे ही आप भी मेरे मित्र हैं । तब मृग बोला—रहने दो, इस उत्तर-प्रत्युत्तर से क्या लाभ है ? । सब लोग प्रेम से बातचीत करते हुए एक जगह सुखपूर्वक रहें-यही अच्छा है ।

क्योंकि—स्वभाव से तो न कोई किसी का मित्र है और न कोई किसी का शत्रु ही है । शत्रुता और मित्रता तो व्यवहार (कार्य) से ही होती है ॥ ७५ ॥

तब उस कौवे ने कहा कि—अच्छी बात है । इसके अनन्तर प्रातःकाल होने पर वे सब अपनी अपनी इच्छा से इधर-उधर वन में चरने को चले गए । इस प्रकार वे तीनों आनन्दपूर्वक उन वन में रहने लगे ।

एक दिन उस सियार ने मृग से एकान्त में कहा कि हे मित्र ! इसी वन के एक स्थान में धान का हरा भरा खेत है, चलो मैं चलकर तुमको दिखला दूँ । ऐसा कहकर उस शृगाल ने वह खेत मृग को दिखा दिया ।

तब तो वह मृग नित्य उस खेत में जाकर धान खाने लगा ।

अथ दिनकतिपयेन क्षेत्रपतिना तद्दृष्ट्वा पाशा योजिताः। अनन्तरं पुनरागतश्च चरन् मृगस्तत्र पाशैर्बद्धोऽचिन्तयत्—'को मामितः कालपाशादिव व्याधपाशात्त्रातुं मित्रादन्यः समर्थः ?'। तत्रान्तरे जम्बुकस्तत्राऽऽगत्योपस्थितोऽचिन्तयत्—'फलितस्तावदस्माकं कपटप्रबन्धः, मनोरथसिद्धिरपि प्रायो मे भविष्यति। एतस्योत्कृत्यमानस्य मांसाऽसृग्लिप्तान्यस्थीनि मयाऽवश्यं प्राप्तव्यानि, तानि बाहुल्येन (मे) भोजनानि भविष्यन्ति।'

मृगस्तं दृष्ट्वैवोल्लासितो ब्रूते—'सखे! छिन्धि तावन्मम बन्धनम्, सत्वरं त्रायस्व माम्। यतः—

आपत्सु मित्रं जानीयाद्युद्धे शूरमृणे शुचिम्।

तत्र = क्षेत्रे। सस्यं=व्रीहियवादिकम्। क्षेत्रपतिना=क्षेत्राधिपेन। (क्षेत्र=खेत)। तत्=सस्यभक्षणम्। योजिताः = बद्धाः। इतः=अस्मात्। कालपाशादिव = यमपाशतुल्यात्, व्याधपाशात्=मृगयुपाशात्। त्रातुं = रक्षितुम्। अन्तरे = अवसरे। कपटप्रबन्धः = छलप्रयोगः। बाहुल्यात् = प्रायः। मनोरथसिद्धिः = मृगमांसाऽऽस्वादनाऽभिलाषसिद्धिः। उत्कृत्यमानस्य = छिद्यमानस्य, खण्डशः क्रियमाणस्य। (चमडा उतारे जाते समय)। मांसासृग्लिप्तानि = मांसरुधिरलिप्तानि। उल्लासितः = प्रसन्नमानसः। छिन्धि = खण्डय। त्रायस्व = रक्ष।

इस प्रकार कुछ दिन बीतने पर, खेत के स्वामी ने मृग को आता जाता देखकर एक दिन खेत में जाल लगा दिया। वह मृग भी प्रतिदिन की तरह ही आकर चरने लगा और जाल में फँस गया। तब वह सोचने लगा कि इस यमफांस के तुल्य व्याधफांस से मित्र को छोड़ कर मुझे दूसरा कौन बचा सकता है। इसी बीच में वह सियार वहां आया और मन ही मन सोचने लगा कि,— मेरी चालाकी तो काम कर गई, अब मेरी कामना सिद्ध होगी, क्योंकि जब इस मृग का चमडा उतारा जायगा, तो कुछ मांस व रुधिर लगी हुई हड्डियाँ तो मुझे अवश्य ही मिलेंगी। और उनसे मेरा भरभूर भोजन होगा।

वह मृग उसे देखकर प्रसन्न होकर बोला—हे 'मित्र! मेरे बन्धन को शीघ्र काटो, और मुझे बचाओ।

भार्यां क्षीणेषु वित्तेषु, व्यसनेषु च बान्धवान्' ॥ ७६ ॥

अपरञ्च—

'उत्सवे, व्यसने चैव, दुर्भिक्षे, राष्ट्रविप्लवे ।
राजद्वारे, श्मशाने च यस्तिष्ठति, स बान्धवः' ॥ ७७ ॥

जम्बुको मुहुर्मुहुः पाशं विलोक्याऽचिन्तयत्—दृढबन्धनबद्धोऽस्ति तावदयं मृगः। ब्रूते च—'सखे! स्नायुनिर्मिता एते पाशाः। तदद्य भट्टारकरविवारे कथमेतान्दन्तैः स्पृशामि ? । मित्र! यदि चित्ते नाऽन्यथा मन्यसे तदा प्रभाते यत्त्वया वक्तव्यं तत्कर्तव्यम्।' इत्युक्त्वा तत्समीपे आत्मानमाच्छाद्य स्थितः सः। अनन्तरं स काकः प्रदोषकाले मृगमनागतमव-

आपत्स्विति। जानीयात्=परीक्षेत। शुचिं=शुद्धव्यवहारम्। क्षीणेषु=विनष्टेषु। वित्तेषु=धनेषु। व्यसनेषु=विपत्तिषु। 'जानीया'दिति शेषः ॥

उत्सवे=विवाहादावानन्दसमये। व्यसने=विपत्तौ। दुर्भिक्षे=अनावृष्ट्यान्नकष्टे, अकाले। राष्ट्रविप्लवे=राज्यभङ्गे, राजपरिवर्त्तनावसरे। राजद्वारे=बन्धनागारे, धर्माधिकरणे वा। ('कचहरी' और 'जेल' में)। श्मशाने=पितृवने। (मसान में)। प्रियमरणे। तिष्ठति=साहाय्यमाचरति ॥ ७७ ॥

मुहुर्मुहुः=वारंवारम्। स्नायुनिर्मिताः=नाडीनिर्मिताः (पशु की अंतड़ी की तांत के बने हुए हैं)। भट्टारकरविवारे=अस्मत्स्वामिनः सूर्यस्य दिने। चित्ते=मनसि। अन्यथा=दुष्टं मित्रमयमिति। प्रदोषकाले=सायङ्काले। तथाविधं=पाशबद्धम्।

क्योंकि आपत्ति में–मित्र को, युद्ध में–वीर को, ऋण में–साफ और निष्कपट को, निर्धनता में–स्त्री को, दुःख पड़ने पर–भाई बन्धुओं को पहचानना चाहिये ॥७६॥

और भी—हर्ष में, शोक में, दुर्भिक्ष पड़ने पर, राज्य क्रान्ति के समय, राजद्वार (कचहरी) में और श्मशान में जो साथ देता है, वही सच्चा मित्र है ॥७६॥

वह शृगाल बार-बार उस फाँस को देखकर मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ, और सोचने लगा कि यह मृग आज बड़े मजबूत बन्धन में फँसा है। और प्रकट में कहने लगा कि—हे मित्र! यह फाँस तो ताँत (अंतड़ी) का बना हुआ है। और

लोक्येतस्ततोऽन्विष्य तथाविधं तं दृष्ट्वोवाच—'सखे ! किमेतत् ? ।' मृगेणोक्तम्—'अवधीरितसुहृद्वाक्यस्य फलमेतत् । तथा चोक्तम्—

'सुहृदां हितकामानां यः शृणोति न भाषितम् ।
विपत्संनिहिता तस्य, स नरः शत्रुनन्दनः ॥ ७८ ॥

काको ब्रूते—'स वञ्चकः काऽऽस्ते ? । मृगेणोक्तं 'मन्मांसार्थी तिष्ठत्यत्रैव । काको ब्रूते—'मित्र ! उक्तमेव मया पूर्वम्—

तं = मृगम् । अवधीरितसुहृद्वाक्यस्य=मित्रवचनानादरस्य । एतत् = पाशैर्बन्धनम् ॥ हितकामानां = हितैषिणाम् । भाषितम्=उपदेशम् । शत्रुनन्दनः = शत्रुहर्षप्रदः । विपन्नं तं दृष्ट्वा शत्रवो नन्दन्तीत्यर्थः ॥ ७८ ॥

सः=दुष्टः, वञ्चकः = जम्बुकः । 'शृगाल-वञ्चक-क्रोष्टु-फेरु-फेरव-जम्बुकाः' इत्यमरः । वञ्चको धूर्त इति वा । मन्मांसार्थी = मदीयमांसभक्षणाभिलाषी ।

आज तो रविवार का दिन है । आज इनको मैं दाँतों से कैसे छूऊँ ? । सो मित्र ! यदि तुम मन में कुछ दूसरा न ख्याल करो, तो कल प्रातःकाल जो तुम कहोगे, वही मैं करूँगा । अर्थात् इस जाल को कल जरूर काट दूँगा । ऐसा कहकर वह दुष्ट शृगाल उसके पास ही कहीं छिपकर बैठ गया ।

इसके बाद सायंकाल में जब मृग अपने स्थान में नहीं आया तो उसका मित्र वह कौवा उसे इधर-उधर खोजता हुआ वहाँ आया और मृग की ऐसी दशा देख कर बोला—मित्र ! यह क्या बात है ? । तब उस मृग ने कहा—मित्र ! तुम्हारी बात का अनादर करने का ही यह फल है ।

किसीने कहा भी है—

जो लोग अपने हित चाहने वाले मित्रों का कहना नहीं सुनते हैं, उनके ऊपर विपत्ति अवश्य आती है और वे अपने शत्रुओं के आनन्द के कारण ही होते हैं ॥ ७८ ॥

तब वह कौवा कहने लगा—वह दुष्ट शृगाल कहाँ है ? । मृग ने कहा कि मेरे माँस को खाने की आशासे यहीं कहीं छिपा हुआ बैठा होगा । कौवा बोला—मैंने तो तुमसे पहिले ही कह दिया था, कि—

कृतम् । यतः—

'संलापितानां मधुरैर्वचोभि—
मिथ्योपचारैश्च वशीकृतानाम् ।
आशावतां, श्रद्दधतां च लोके,
किमर्थिनां वञ्चयितव्यमस्ति' ? ॥ ८२ ॥

उपकारिणि, विश्रब्धे, शुद्धमतौ यः समाचरति पापम् ।
तं जनमसत्यसन्धं भगवति वसुधे ! कथं वहसि ? ॥८३॥

दुर्जनेन समं सख्यं, प्रीतिश्चाऽपि न कारयेत् ।

वञ्चक = हे धूर्त, जम्बुक । पापकर्मणा = नीचकर्मणा, दुष्टेन । किं कृतम् = अनुचितमाचरितम् ।

लोके = जगति । मधुरैः = मिष्टैः । वचोभिः = वाक्यैः । संलापितानां = विहितालापानाम् । विश्वस्तानामिति यावत् । किञ्च मिथ्या = कपटपूर्णैः । उपचारैः= सेवा–सत्कारादिभिः, वशीकृतानां = वशे स्थापितानां वा । आशावताम् = आशा-पाशबद्धानाञ्च । च=किञ्च, श्रद्धावतां = श्रद्दधतां वा । अर्थिनां = याचकानां, प्रणयिनाञ्च । किं वञ्चयितव्यम् = किं वञ्चनीयम् ? । अस्ति=अवशिष्यते । विश्वस्त वञ्चने किं कौशलमित्यर्थः ॥ ८२ ॥

उपकारिणि = उपकारपरे । विश्रब्धे = विश्वासमुपगते । अतएव—शुद्ध-मतौ = सरलाऽऽशये, अशङ्किते । पापं = विश्वासघातेन अनिष्टम् । असत्यसन्धम्= असत्यप्रतिज्ञं, मिथ्याभाषिणम् । वसुधे = हे पृथ्वि ! । कथं वहसि = त्वं कथं धारयसि ? ॥ ८३ ॥

प्रीतिं = स्नेहं, मैत्रीञ्च । अङ्गारः = कोकिलः (कोयला) । उष्णः = प्रदीप्तः

तूने यह क्या किया ? ।

क्योंकि—मीठी-मीठी बातों से तथा कपटमय सत्कारों से वश में किए गए तथा आशा रखने वाले श्रद्धालु लोगों व याचकों को ठगना कौन बड़ी बात है ? ॥८२॥

हे भगवति पृथ्वी ! जो प्राणी-उपकारी, विश्वासी, एवं निष्कपट प्राणी के साथ भी विश्वासघात करता है, उस कपटी झूठे नीच पुरुष को तुम कैसे धारण करती हो ? ॥ ८३ ॥

और दुर्जन के साथ मित्रता और प्रीति दोनों ही नहीं करनी चाहिये । क्योंकि

उष्णो दहति चाऽङ्गारः, शीतः कृष्णयते[1] करम् ॥ ८४ ॥

अथवा स्थितिरियं दुर्जनानाम्—

'प्राक्पादयोः पतति, खादति पृष्ठमांसं,
कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम् ।
छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशङ्कः,
सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति ॥ ८५ ॥

दुर्जनः, प्रियवादी च, नैतद्विश्वासकारणम्' ।
मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे, हृदि हालाहलं विषम्' ॥ ८६ ॥

सन् । दहति = प्रदहति । शीतः=अनुष्णः (बुझा हुआ कोयला) कृष्णं करोति—कृष्णयते = मलिनीकुरुते । करं=हस्तम् ॥ ८४ ॥

स्थितिः = आचरणं, स्वभावश्च । दुर्जनानां = खलानाम् ॥

प्रागिति । प्राक्=पूर्वम् । पादयोः पतति=नीचैर्गच्छति । (खलपक्षे—) चरणयोः प्रणमति च । पृष्ठमांसं खादति = पृष्ठे दशति (खलपक्षे—पृष्ठतो निन्दां करोति च)। कलं=सुमधुरम् । विचित्रं = नानाप्रकारम् । किमपि = अनिर्वचनीयम् । रौति=कूजति, कथयति च । छिद्रं = विवरम् । अवसरञ्च । निरूप्य=दृष्ट्वा । अशङ्कः = निर्भयः सन् । खलस्य = दुष्टस्य । मशकः = दंशः (मच्छर) ॥ ८५ ॥

विश्वासकारणं = विश्वासहेतुः । दुर्जनः, प्रियवादी चेत्तथाऽपि तत्र विश्वासो

अङ्गार गरम (जलता) हो तो हाथ जलता है, और वही यदि शीतल हो तो हाथ को ही काला कर देता है ॥ ८४ ॥

मच्छर पहले पैर पर गिरता है, फिर पीठ का मांस खाता है, पुन; धीरे-धीरे कान में कुछ गुनगुनाता है, फिर धीरे-धीरे मौका देखकर सहसा निर्भय होकर भीतर प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार मच्छर दुर्जनों के सब चरित्रोंका अनुकरण करता है। दुष्ट भी—पहले पैर पर गिरता है, फिर परोक्ष में (पीछे से) काम को बिगाड़ता है, फिर कान के पास आकर दूसरों की चुगली करता है, और मौका पाते ही आक्रमण भी करता है ॥ ८५ ॥

१. 'कृष्णायते'—इति पाठान्तरम् ।

अथ प्रभाते क्षेत्रपतिर्लगुडहस्तस्तं प्रदेशमागच्छन्काकेनाऽवलोकितः। तमालोक्य काकेनोक्तं—'सखे मृग! त्वमात्मानं मृतवत्संदर्श्य, वातेनोदरं पूरयित्वा, पादान्स्तब्धीकृत्य तिष्ठ। यदाऽहं शब्दं करोमि, तदा त्वमुत्थाय सत्वरं पलायिष्यसे।'

मृगस्तथैव काकवचनेन स्थितः। ततः क्षेत्रपतिना हर्षोत्फुल्ललोचनेन तथाविधो मृग आलोकितः। 'आः स्वयं मृतोऽसि'—इत्युक्त्वा मृगं बन्धनान्मोचयित्वा, पाशान्संवरीतुं[1] सयत्नो बभूव।

ततः कियद्दूरमन्तरिते क्षेत्राधिपे काकशब्दं श्रुत्वा स मृगः सत्वर-

न विधेयः, यतस्तस्य जिह्वाग्रे एव मधु = माधुर्यं वर्त्तते, हृदये तु तस्य हालाहलं = सुतीक्ष्णं विषमेव तिष्ठतीति भाव ॥ ८६ ॥

लगुडहस्त =दण्डपाणिः। प्रदेशं = क्षेत्रप्रदेशम्। स्तब्धीकृत्य = जडीकृत्य। विलिखामि = घर्षयामि। तथैव=मृतवत्। हर्षोत्फुल्ललोचनेन=हर्षविकसितलोचनेन, प्रसन्नेन। तथाविधः=मृतवस्थितः। बन्धनात्। संवरीतुं = संहर्तुम्। 'ग्रहीतु'मिति पाठान्तरम्। सयत्नः=यत्नवान्। (इकट्ठा करने लगा)। अन्तरिते = व्यवहिते। दूरङ्गते सति। लगुडेन। व्यापादितः = हतः ॥

दुर्जन भी कभी सच्चा प्रियवादी (मीठा बोलनेवाला हितैषी) हो सकता है, यह कभी विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि दुर्जन की जिह्वा पर ही मधुरता रहती है, परन्तु हृदय में तो उसके हलाहल विष ही भरा हुआ है ॥ ८६ ॥

इसके बाद कौवे ने उस खेत के स्वामी को हाथ में दण्डा लिये उसी तरफ आते हुए देखा। उसको देखकर कौवे ने मृग से कहा कि—मित्र मृग! तुम मृतक की तरह पेट फुलाकर पैरों को निश्चेष्ट करके पड़ जावो। जब मैं बोलूँगा तो तुम झट उठ कर भाग जाना। कौवा के कहने से वह मृग वैसे ही पड़ गया।

इसके बाद खेत का स्वामी मृग को देखकर प्रसन्न होकर बोला—अरे! यह तो आप ही मर गया है। ऐसा कह कर उस जाल को खोलकर जाल को समेटने लगा। और वह जब कुछ दूर चला गया, तब उस कौवे ने शब्द किया। वह मृग

१. संग्रहीतु'मिति 'सङ्ग्रहीतु'मिति च पाठान्तरम्।

मुत्थाय पलायितः। तमुद्दिश्य तेन क्षेत्रपतिना क्षिप्तेन लगुडेन शृगालो हतः। तथा चोक्तम्—

'त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।
अत्युत्कटैः पाप-पुण्यैरिहैव फलमश्नुते' ॥ ८७ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—'भक्ष्य-भक्षकयोः प्रीतिः'—इत्यादि ॥ * ॥

काकः पुनराह—

'भक्षितेनाऽपि भवता नाऽऽहारो मम पुष्कलः।
त्वयि जीवति जीवामि चित्रग्रीव इवाऽनघ!' ॥ ८८ ॥

अन्यच्च—

तिरश्चामपि विश्वासो दृष्टः पुण्यैककर्मणाम्।
सतां हि साधुशीलत्वात्स्वभावो न निवर्तते ॥ ८९ ॥

अत्युत्कटैः = उद्भटैः। इहैव = अस्मिन्नेव जन्मनि। अश्नुते = भुङ्क्ते॥८७॥

अहं = हिरण्यको नाम मूषिकः।

हे-अनघ = हे साधो। 'अनघः' इति पाठान्तरम्। भवता = मूषकेन। पुष्कलः = प्रचुरः। आहारः = भोजनं। न-भवति। त्वयि पुनर्जीवति सति—चित्रग्रीवः = कपोतराज—इव। अहं जीवामि = जीवनं लभे ॥ ८८ ॥

तिरश्चां = पशुपक्ष्यादीनामपि। पुण्यमेकं कर्म येषां-तेषां पुण्यैककर्मणां= पुण्यात्मनाम्। साधुशीलत्वात् = शुभाऽऽचारत्वात्। स्वभावः = साधुता।

कौवे का शब्द सुन कर शीघ्र ही उठकर भागा। तब खेत के स्वामी ने उसके मारने के लिये लाठी फेंकी, परन्तु वह लाठी मृग को न लगकर पास में ही छिपे हुए उस सियार को लगी और वह शृगाल मर गया।

कहा भी है—उत्कट पापों व पुण्यों का फल इसी लोक में—तीन वर्ष में, या तीन महीने में, या तीन पक्ष में, या तीन दिन के भीतर ही मनुष्य को मिल जाता है ॥ ८७ ॥

इसी लिये मैंने कहा था कि 'भक्ष्य और भक्षक की प्रीति कैसी' इत्यादि।

तब वह कौवा बोला कि—

भाई! तुम्हें खा लेने पर भी मेरा पेट तो पूरा भरेगा नहीं। पर हे साधो! आपके जीवित रहने से तो चित्रग्रीव की तरह मैं भी कभी तुम्हारी सहायता से जी सकूँगा ॥ ८८ ॥

किञ्च—

साधोः प्रकोपितस्याऽपि मनो नाऽऽयाति विक्रियाम् ।
न हि तापयितुं शक्यं सागराऽम्भस्तृणोल्कया ॥ ९० ॥

हिरण्यको ब्रूते—'चपलस्त्वं । चपलेन सह स्नेहः सर्वथा न कर्त्तव्यः । तथा चोक्तम्—

'मार्जारो, महिषो, मेषः, काकः, कापुरुषस्तथा ।
विश्वासात्प्रभवन्त्येते, विश्वासस्तत्र नोचितः' ॥ ९१ ॥

न निवर्त्तते=जन्माऽन्तरेऽपि नापयाति ॥ ८९ ॥

साधोः=सज्जनस्य । प्रकोपितस्य=कोपं प्रापितस्यापि, परैरपकारशतेन कोपितस्याऽपि । विक्रियां=विकारम् । नाऽऽयाति=न गच्छति । साधुः कोपितोऽपि साधुतां न जहातीति भावः । हि=यतः । सागराम्भः=समुद्रजलं, तृणोल्मुकेन । तापयितुं=सन्तापयितुम् । न शक्यम्=नैव शक्यते ॥ ९० ॥

त्वं=वायसः । चपलः=चञ्चलप्रकृतिः । चपलेन=चञ्चलमतिना । स्नेहः=प्रीतिः ॥ मार्जारः=बिडालः । मेषः=उरभ्रः (मेढा) । कापुरुषः=नीचपुरुषः ।

और भी-पुण्यात्मा पशुपक्षियों का भी परस्पर में विश्वास देखा गया है, क्योंकि पुण्यवान् सज्जनों का स्वभाव साधुशील (सदाचारी) होने के कारण किसी भी योनि (जन्म) में नहीं बदलता है ॥ ८९ ॥

और भी-सज्जन का चित्त क्रोध दिलाये जाने पर भी विकार को प्राप्त नहीं होता है । जैसे समुद्र के जल को घास फूस की अग्नि (लुकाटी) से गरम नहीं किया जा सकता है । (उल्मुक=लुकाठा) ॥ ९० ॥

तब हिरण्यक बोला-भाई ! तुम चंचल स्वभाव वाले हो । और चंचल स्वभाववाले के साथ स्नेह (मित्रता) कभी नहीं करना चाहिये ।

किसी ने कहा भी है—

बिल्ली, भैंसा, मेढा, कौवा और कायर पुरुष, इनका विश्वास करने से इनका हौसला

किञ्चाऽन्यत्—शत्रुपक्ष्यो भवानस्माकम् । उक्तञ्चैतत्—

'शत्रुणा नहि सन्दध्यात्सुश्लिष्टेनाऽपि सन्धिना ।
सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥ ६२ ॥

दुर्जनः परिहर्त्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ? ॥ ६३ ॥

यदशक्यं न तच्छक्यं, यच्छक्यं शक्यमेव तत् ।
नोदके शकटं याति, न च नौर्गच्छति स्थले' ॥ ६४ ॥

एते-प्रभवन्ति = अनर्थाचरणे समर्था, धृष्टाश्च भवन्ति । तत्र = एतेषु । उचितः = योग्यः ॥ ६१ ॥

(अन्यत् = और भी) । शत्रुपक्ष्यः = शत्रुकोटिप्रविष्टः । अस्माकं=मूषकाणाम् । सन्धिः = मैत्री । सुश्लिष्टेन = सुदृढेन, स्वहिताऽऽवहेन च । पावकं=वह्निम् । शमयति= विनाशयति ॥ ६२ ॥

दुर्जनः = खलः । विद्यया = विद्याविनयादिगुणैः, अलङ्कृतोऽपि = भूषितोऽपि । असौ = सर्पः । 'किं न भयङ्कर' इति काकुः । किन्तु भयङ्कर एवेत्यर्थः ॥ ६३ ॥

यत् = यत्कार्यम् । अशक्यं=कर्तुमशक्यम् । यच्च शक्यं-तच्छक्यमेव = स्वयमेव अनायासेनैव भवति । उदके=जले । शकटं=गन्त्री । (गाडी) । स्थले = भूमौ । नौः = नौका ॥ ६४ ॥

बढ़ जाता है । इसलिये इनका कभी विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ ६१ ॥

और दूसरी बात यह है, कि—आप तो हमारे शत्रु पक्ष के हैं । अतः आप से हमारी मित्रता कैसे हो सकती है । क्योंकि किसीने कहा भी है—

उत्तम से उत्तम सन्धि के द्वारा भी शत्रु से कभी सन्धि (मेल) नहीं करना चाहिये । क्योंकि यदि पानी गरम होगा तो भी वह अग्नि को तो बुझा ही देता है ॥ ६२ ॥

यदि दुर्जन विद्या से विभूषित भी हो तो भी उससे दूरही रहना चाहिये । क्योंकि मणि से विभूषित होने पर भी क्या सर्प भयङ्कर नहीं होता है ? । अवश्य ही भयङ्कर होता है ॥ ६३ ॥

जो कार्य नहीं होने लायक है, वह नहीं हो सकता है, और जो होने लायक है, वह सर्वदा हो ही सकता है । जैसे गाड़ी जलमें नहीं चल सकती है और भूमि

अपरञ्च—

'महताऽप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु ।
भार्यासु च विरक्तासु, तदन्तं तस्य जीवनम्' ॥ ९५ ॥

लघुपतनको ब्रूते—'श्रुतं मया सर्वं. तथाऽपि मम चैतावान् सङ्कल्पः—'त्वया सह सौहृद्यमवश्यं करणीय'मिति । नो चेदनाहारेणाऽऽत्मानं व्यापादयिष्यामि । तथा हि—

मृद्घटवत्सुखभेद्यो, दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति ।
सुजनस्तु कनकघटवद् दुर्भेद्यश्चाऽऽशु सन्धेयः' ॥ ९६ ॥

महताऽपि=विपुलेनापि । अर्थसारेण = धनादिबलेन । 'समन्वितोऽपी'ति शेषः । यद्वाऽर्थसिद्धयादिकारणवशेनेत्यर्थः । यः = यो जनः । च = पुनः । विरक्तासु = अननुरक्तासु, परपुरुषरतासु च । 'विश्वसिती'तिशेषः । तदन्तं = तद्विश्वासपर्यन्तमेव । जीवितं–जीवनम् । केचित्–महताऽप्यर्थसारेण = गुरुणापि प्रयोजनेनेत्यर्थमाहुः ॥ ९५ ॥

लघुपतनकः = तन्नामा वायसः । सौहृद्यं = मैत्री । अनाहारेण = अनशनेन, भोजनपरित्यागेन । आत्मानं = शरीरम् ।

मृद्घटवत् = मृत्कुम्भवत् । सुखभेद्यः = सुकरभेदनः । दुःसन्धानः = दुःखेन सन्धेयः । कनकघटवत्=सुवर्णादिकुम्भवत् । दुर्भेद्यः = असुकरभेदनः । आशु = अनायासेन ॥ ९६ ॥

पर नाव नहीं चल सकती है । अर्थात्-जो कार्य होने लायक हो वही करना चाहिए, असम्भव कार्य के लिए प्रयत्न करना मूर्खता है ॥ ९४ ॥

और भी—जो पुरुष विशेष लाभवश भी शत्रुओं का, या विरक्त स्त्री (परपुरुषानुरागवती) का विश्वास करता है, उस पुरुष के जीवन का अन्त ही समझना चाहिये ॥ ९५ ॥

तब वह लघुपतनक कौवा बोला—मैंने सब सुन लिया । परन्तु मेरा तो यही सङ्कल्प है, कि—या तो आप के साथ मित्रता करूँगा, नहीं तो आप के द्वार पर ही बिना भोजन के (अनशन द्वारा) अपना शरीर त्याग दूँगा । जैसे—

दुर्जन प्राणी मट्टी के घड़े की तरह अनायास ही विकृत हो (फूट-टूट) जाते हैं और उनका पुनः मेल (जोड़ना) कठिनता से होता है । परन्तु सज्जन लोग सुवण के घट की तरह जल्दी बिगड़ते (टूटते) नहीं हैं, और यदि बिगड़ते

किञ्च—

'द्रवत्वात्सर्वलोहानां, निमित्तान्मृगपक्षिणाम् ।
भयाल्लोभाच्च मूर्खाणां सङ्गतं, दर्शनात्सताम्' ॥ ९७ ॥

किञ्च—

'नारिकेलसमाऽऽकारा दृश्यन्ते हि सुहृज्जनाः ।
अन्ये बदरिकाऽऽकारा बहिरेव मनोहराः ॥ ९८ ॥
स्नेहच्छेदेऽपि साधूनां गुणा नाऽऽयान्ति विक्रियाम् ।
भङ्गेऽपि हि मृणालानामनुबध्नन्ति तन्तवः' ॥ ९९ ॥

सर्वलोहानां=सकलधातूनां, द्रवत्वात्=द्रवत्वेन, सङ्गतं=मेलनं, मैत्री च भवति । मृगपक्षिणां=पशुपक्षिणां, निमित्तात्=भोजनादिदानात्, कार्यकारणभावाच्च । 'सङ्गतं भवती'ति शेषः । मूर्खाणां सङ्गतं तु भयेन, लोभेन वा भवति । सतान्तु–दर्शनादेव=प्रेक्षणमात्रादेव, सङ्गतं=मैत्री–भवति ॥ ९७ ॥

नारिकेलेति । नारिकेलफलवद्बहिः कठिनाः, अन्तर्मृदवश्च सन्तो भवन्ति । अन्ये=खलास्तु । बदरिकाकाराः=बदरीफलवद्बहिरेव मृदवोऽन्तस्तु कठिना, दुःखदा, रोगकराश्च भवन्ति ॥ ९८ ॥

अतएव=वक्ष्यमाणहेतोः । सङ्गतिः=मैत्री । इष्यते=अभिलष्यते ।

भी हैं, तो शीघ्र ही पुनः ठीक किए (जोड़े) जा सकते हैं ॥ ९६ ॥

और भी—सब धातुओं का परस्पर मेल गलाने से ही होता है, पशु पक्षियों का मेल किसी निमित्त (कारण) से ही होता है, मूर्खों का मेल भय और लोभ से ही होता है, परन्तु सज्जनों का मेल (मैत्री) तो केवल दर्शनमात्र से ही हो जाता है ॥ ९७ ॥

और भी सज्जन लोग नारियल के फल के समान ऊपर से ही रूखे व कड़े देख पड़ते हैं, परन्तु भीतर उनके मधुरता ही होती है । अर्थात् बाहर से तो वे कठोर मालूम पड़ते हैं, परन्तु भीतर से बड़े ही दयालु होते हैं । पर दूसरे लोग (अर्थात् दुर्जन लोग) बैर के फल की तरह बाहर से ही सुन्दर देख पड़ते हैं, परन्तु भीतर उनके कठोरता (कड़ी गुठली) ही रहती है ॥ ९८ ॥

और सज्जनों के साथ प्रीति टूट जाने पर भी उनका चित्त विकृत नहीं होता है,

अन्यच्च—

'शुचित्वं, त्यागिता, शौर्यं, सामान्यं सुखदुःखयोः।
दाक्षिण्यं, चाऽनुरक्तिश्च, सत्यता च सुहृद्गुणाः' ॥ १०० ॥

एतैर्गुणैरुपेतो भवदन्यो मया कः सुहृत्प्राप्तव्यः ?'।

—इत्यादि तद्वचनमाकर्ण्य हिरण्यको बहिर्निःसृत्याऽऽह—'आप्यायितोऽहं भवताऽनेन वचनाऽमृतेन।' तथा चोक्तम्—

'घर्मार्त्तं—न तथा सुशीतलजलैः स्नानं, न मुक्तावली,
न श्रीखण्डविलेपनं—सुखयति प्रत्यङ्गमप्यर्पितम्।

स्नेहेति। स्नेहच्छेदेऽपि=प्रणयभङ्गेऽपि। गुणाः=सरलत्वादयः। विक्रियां=विकारम्। भङ्गेऽपि = छेदेऽपि। मृणालानां=कमलदण्डानाम्। तन्तवः=गुणाः। बिसतन्तवः। अनुबध्नन्ति = सम्बन्धं न परिहरन्ति ॥ ९९ ॥

शुचित्वं = स्वच्छता। त्यागिता = औदार्यम्। सुखदुःखयोः=सुखे, दुःखे च। सामान्यं = समता। दाक्षिण्यं=कुशलता। अनुरक्तिः = स्नेहः ॥ १०० ॥

एतैः=शुचित्वादिभिः। उपेतः=युक्तः। बहिः=बिलाद्बहिः। भवता आप्यायितः=सन्तोषितः। 'भवत' इति पाठान्तरम्। तत्र—आप्यायितः—सन्तुष्ट इत्यर्थः। अनेन = एतावता प्रोक्तेन।

घर्मार्त्तं = निदाघसन्तप्तमपि। सुशीतलजलैः स्नानं तथा न हर्षयति, किञ्च—

किन्तु उनका साधारण सम्बन्ध बनाही रहता है। जैसे मृणालों (कमल की डण्डी) के बीच में से टूट जाने पर भी उनके तन्तु परस्पर में जुड़े ही रहते हैं। ॥ ९९ ॥

और भी—चित्त शुद्धि, त्याग, वीरता, सुख और दुःख में एकसा भाव, उदारता, प्रेम, सत्य—ये सब मित्र के गुण हैं ॥ १०० ॥

और इन सब गुणों से युक्त आपके (चूहे) सिवाय मुझको (कौवे को) दूसरा मित्र कौन मिलेगा ?। इस प्रकार उस कौवे के वचन सुनकर हिरण्यक चूहा अपने बिल से बाहर आकर बोला, मैं आप के इस वचनामृत से तृप्त हो गया। कहा भी है—

आकर्षण मन्त्र की तरह मन को खींचने वाली, अच्छी २ युक्तियों से युक्त,

प्रीत्या सज्जनभाषितं प्रभवति प्रायो यथा चेतसः,
सद्युक्त्या च पुरस्कृतं सुकृतिनामाकृष्टिमन्त्रोपमम्' ॥१०१॥

अन्यच्च—

'रहस्यभेदो, याच्ञा च, नैष्ठुर्यं, चलचित्तता।
क्रोधो, निःसत्यता, द्यूतमेतन्मित्रस्य दूषणम्' ॥ १०२ ॥

अनेन वचनक्रमेण तदेकमपि दूषणं त्वयि न लक्ष्यते। यतः—

'पटुत्वं, सत्यवादित्वं कथायोगेन बुध्यते।
अस्तब्धत्वमचापल्यं प्रत्यक्षेणाऽवगम्यते' ॥ १०३ ॥

तं मुक्तावली=मुक्तामाला तथा न हर्षयति, च=किञ्च प्रत्यङ्गं=प्रत्यवयवम्-अर्पितं=दत्तं, श्रीखण्डविलेपनं च तथा न मुखयति। यथा—सद्युक्त्या=शोभन-युक्त्या, कल्पोक्तविधिविधानेन च, परिष्कृतं=शोभितम्, आकृष्टिमन्त्रोपमम्=आकर्षणमन्त्रतुल्यं, सज्जनभाषितं—चेतसः प्रीत्यै प्रभवति=शक्तं भवति ॥१०१॥

रहस्यभेदः=मित्रमन्त्रभेदः, याच्ञा=द्रव्यादिप्रार्थना। नैष्ठुर्यं=क्रूरता। चलचित्तता=चाञ्चल्यम्। निःसत्यता=मिथ्याभाषित्वम् ॥ १०२ ॥

अनेन=एतावतोपन्यस्तेन, वचनक्रमेण=वाक्यप्रबन्धेन। तत्=रहस्य-भेदादि। लक्ष्यते=ज्ञायते ॥ पटुत्वं=कुशलत्वम्। कथायोगेन=वार्ताप्रसङ्गेन। बुध्यते=सर्वैर्ज्ञातुं शक्यते। मया च ज्ञायते। अस्तब्धत्वम्=अभीतत्वम्, अजडत्वम्। प्रत्यक्षेण=साक्षाद्दर्शनेन। साक्षात्त्वन्मुखदर्शनादेव च मया ज्ञायते इति भावः ॥ १०३ ॥

सज्जनों की वाणी चित्त को जितना आनन्द देती है, उतना सुख घाम से सन्तप्त मनुष्यों को—शीतल जल का स्नान, मोती की माला और शरीर में लगा हुआ चन्दन भी नहीं देता है ॥ १०१ ॥

और भी—गुप्त बातों को प्रगट कर देना, मांगना, निष्ठुरता, चित्त की अस्थिरता, क्रोध, झूठ बोलना, जुआ खेलना ये सब मित्र के दोष हैं, परन्तु तुमारी बातों को सुनने से इन दोषों में से एक भी दोष तुमारे में मुझे नहीं दीखते हैं ॥ १०२ ॥

क्योंकि—मनुष्य की चतुराई और सचाई तो बात चीत करने से मालूम होती है, पर मनुष्य की नम्रता और गम्भीरता तो उसे देखने से ही मालूम हो जाती है ॥ १०३ ॥

अपरञ्च—

'अन्यथैव हि सौहार्दं भवेत्स्वच्छाऽन्तरात्मनः ।
प्रवर्त्ततेऽन्यथा वाणी शाठ्योपहतचेतसः ॥ १०४ ॥
मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद्[1] दुरात्मनाम् ।
मनस्येकं, वचस्येकं, कर्मण्येकं, महात्मनाम्' ॥ १०५ ॥

तद्भवतु भवतोऽभिमतमेव ।'—इत्युक्त्वा हिरण्यको मैत्र्यं विधाय, भोजनविशेषैर्वायसं सन्तोष्य, विवरं प्रविष्टः ।वायसोऽपि स्वस्थानं गतः ।

स्वच्छान्तरात्मनः = शुद्धचेतसः । अन्यथैव=अन्यप्रकारेणैव । सौहार्दं = स्नेहः । शाठ्योपहतचेतसः = क्रौर्यनिष्ठुरचेतसः । शठस्येति यावत् । अन्यथैव= अन्यादृश्येव कपटपूर्णा । वाणी = वाक् । प्रवर्त्तते = प्रसरति ॥ १०४ ॥

दुरात्मनां = पापिनाम् । मनसि—अन्यद्भवति । ते हि अन्यथा भाषन्ते । कर्मणि=क्रियायाम्. अन्यत्=अन्यदेव । महात्मनान्तु यदेव मनसि, तदेव तेषां वचसि, तेषां क्रियायाञ्चेत्यर्थः ॥ १०५ ॥

तत् = तस्मात्, भवतः सुहृद्गुणोपेतत्वात् । अभिमतम्=अभीष्टम् । मया सह मैत्री । मैत्र्यं = मैत्रीम् । तयोः = वायसमूषकयोः, अन्योन्यं = परस्परं यत्

और भी—शुद्ध हृदय वाले सज्जन की सहृदयता तो कुछ और ही प्रकार की होती है, और कुटिल हृदय धूर्त की बोलचाल कुछ और ही तरह की होती है । अर्थात्—सज्जन और दुर्जन का भेद तो बातों से ही मालूम हो जाता है ॥ १०४ ॥

और दुर्जन लोग सोचते कुछ और हैं, कहते कुछ और हैं, करते कुछ और हैं । परन्तु सज्जन लोगों के मन में जो है वही वे कहते हैं और वही वे करते भी हैं ॥ १०५ ॥

अच्छा, जैसी आपकी इच्छा है वही ठीक है । आपकी मित्रता मुझे स्वीकार है । ऐसा कह कर हिरण्यक ने उस कौवे को अपना मित्र बनाकर उसे अच्छे २ पदार्थ भोजन कराये और उसे सन्तुष्ट कर विदा करके अपने बिल में चला गया । और वह कौवा भी अपने स्थान को चला गया ।

१ अत्र 'कायमन्य'दिति पाठान्तरम् ।

ततः प्रभृति तयोरन्योन्याऽऽहारप्रदानेन, कुशलप्रश्नैर्विश्रम्भाऽऽलापैः कालोऽतिवर्त्तते।

एकदा लघुपतनको हिरण्यकमाह—'सखे ! कष्टतरलभ्याऽऽहारमिदं स्थानं परित्यज्य, स्थानाऽन्तरं गन्तुमिच्छामि । हिरण्यकोऽवदत्—

'स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः, केशा, नखा, नराः ।'
-इति विज्ञाय मतिमान् स्वस्थानं न परित्यजेत्' ॥ १०६ ॥

काको ब्रूते—'सखे ! कापुरुषवचनमेतत् । यतः—

'स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः, सत्पुरुषा, गजाः ।
तत्रैव निधनं यान्ति काकाः, कापुरुषा, मृगाः' ॥ १०७ ॥

आहारप्रदानं=भक्ष्यभोज्यादिप्रदानं, तेन । विश्रम्भालापैः = प्रणयगर्भैरालापैश्च । कष्टेन लभ्य आहारो यत्र तत् -कष्टलभ्याहारम् । एतत् = इदं स्थानम् । वनमेतदित्यर्थः ।

स्थानभ्रष्टाः = स्वस्थानचलिताः । न शोभन्ते = शोभां, श्रियं च न लभन्ते ॥ १०६ ॥

और उस दिन से उन दोनों (कौवे और चूहे) का आपस में प्रीति पूर्वक एक साथ भोजन, आदान-प्रदान, कुशलप्रश्न और प्रेमपूर्वक बातचीत आदि के समय आनन्दपूर्वक बीतने लगा।

एक दिन उस लघुपतनक कौवे ने हिरण्यक चूहे से कहा कि—हे मित्र ! अब तो इस जङ्गल में भोजन भी कठिनाई से मिलता है । इस लिये इस स्थान को छोड़कर मैं अब किसी दूसरे स्थान में जाना चाहता हूँ ।

हिरण्यक बोला—मित्र ! कहाँ जाओगे ? । कहा भी है—

दाँत, केश, नख, मनुष्य, ये चारों स्थानभ्रष्ट होने पर शोभते नहीं हैं। ऐसा विचारकर बुद्धिमान् मनुष्य को अपना स्थान कभी नहीं छोड़ना चाहिये ॥१०६॥

कौवा बोला—मित्र ! यह तो कायर मनुष्यों का वाक्य है ।

किञ्च—

'को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः, को वा विदेशः स्मृतो,
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापाऽर्जितम् ॥
यद्दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते,
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः' ॥१०८॥

हिरण्यको ब्रूते—'मित्र ! क्व गन्तव्यम् ?'। यथा चोक्तम्—

स्थानं=निवासयोग्यं स्वस्थानमपि। उत्सृज्य=विहाय। तत्रैव=निवासाऽयोग्येऽपि स्थाने। निधनं=मृत्युम् ॥ १०७ ॥

मनस्विनः=धीरस्य, गम्भीराशयस्य। स्वविषयः=स्वदेशः। श्रयते=आश्रयते। बाह्वोः–प्रतापेन बलेन=अर्जितं=स्वाधीनम्। दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः=दंष्ट्रानखपुच्छायुधः—सिंहो—यत् वनं गाहते=प्रविशति; तस्मिन्नेव वने हतद्विपेन्द्ररुधिरैः=व्यापादितगजेन्द्ररुधिरैः, आत्मनः—तृष्णां=पिपासां। बुभुक्षाम्। छिनत्ति=अपनयति ॥ १०८ ॥

क्योंकि सिंह, सत्पुरुष, और हाथी ये तीनों तो अपना-अपना स्थान छोड़कर जहाँ चाहते हैं, वहाँ (अच्छे स्थान में) चले जाते हैं। परन्तु कौवा, कायर मनुष्य और मृग, ये तीनों तो अपने स्थान पर ही पड़े-पड़े मर जाते हैं ॥ १०७ ॥

और भी—वीर एवं मनस्वी पुरुष के लिये कौन अपना देश है और कौन विदेश है ?। वह तो जिस देश में जाता है, उसी को अपने बाहुबल से अपना कर लेता है। जैसे (दाँत, नख, और पूँछ ही आयुध जिसके हैं, ऐसा वीर) सिंह जिस बन में जाता है, उसी वन में हाथियों को मारकर, उनके रुधिर से ही अपनी प्यास बुझाता है ॥ १०८ ॥

तब वह चूहा बोला—अच्छा तो मित्र ! कहो तुम कहाँ जाना चाहते हो ?। जहाँ जाना हो उस स्थान के गुणदोषों को पहिले ही विचार लो। क्योंकि किसी ने कहा भी है कि—

'चलत्येकेन पादेन, तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान् ।
नाऽसमीक्ष्य परं स्थानं, पूर्वमायतनं त्यजेत्' ॥ १०६ ॥

वायसो ब्रूते—'अस्ति सुनिरूपितं स्थानम् । हिरण्यकोऽवदत्—'किं तत् ?'। वायसो ब्रूते—'अस्ति दण्डकाऽरण्ये कर्पूरगौराऽभिधानं सरः । तत्र चिरकालोपार्जितः प्रियसुहृन्मे मन्थराऽभिधानः कच्छपः सहज-धार्मिकः प्रतिवसति । यतः—

'परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम् ।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः' ॥ ११० ॥

स च भोजनविशेषैर्मां संवर्द्धयिष्यति । हिरण्यकोऽप्याह—'तत्किमत्राऽवस्थाय मया कर्त्तव्यम् ? । यतः—

असमीक्ष्य=सम्यक्प्रकारेण अविलोक्य । आयतनं=स्थानम् ॥ १०६ ॥

सुनिरूपितं=सम्यग्विनिश्चितम् । सरः=सरसी (झील) । चिरकालोपार्जितः=पूर्वसुहृत् । कूर्मः=कच्छपः । (कछुवा) । सहजधार्मिकः=स्वभावेनैव धर्माचरणशीलः । परोपदेशे=परशिक्षणे । सुकरं=सुलभम् । स्वीयं=स्वकीयम् । अनुष्ठानम्=आचरणम् ॥ ११० ॥

स च=कूर्मश्च । भोजनविशेषैः=नानाविधैर्मत्स्यादिमांसैः । संवर्द्धयिष्यति=

बुद्धिमान् मनुष्य वही है, जो एक पैर से चलता है, अर्थात् एक पैर वह आगे रखता है, और एक पैर पूर्व स्थान पर ही रखे (जमाए) रहता है । इसलिए दूसरे स्थान को पहिले से निर्धारित किये बिना ही पहले स्थान को नहीं छोड़ना चाहिये ॥ १०६ ॥

कौवे ने कहा—एक स्थान मेरा पहिले से ही देखा हुआ है, जो बहुत ही रमणीय है । हिरण्यक बोला—वह कौन स्थान है ? ।

कौवा बोला—दण्डकारण्य में कर्पूरगौर नाम एक तालाब (झील) है । वहाँ मेरा पुराना मित्र स्वभाव से ही धार्मिक मन्थर नाम का कछुवा रहता है ।

क्योंकि—धर्म के विषय में दूसरे को उपदेश देने के लिये पण्डिताई दिखलाना तो सभी के लिए सहज है, परन्तु धर्म का स्वयं आचरण तो बिरले ही महात्मा लोग किया करते हैं ॥ ११० ॥

यस्मिन्देशे न संमानो, न वृत्तिर्न च बान्धवः[1] ।
न च विद्याऽऽगमः कश्चित्तं देशं परिवर्जयेत् ॥१११॥

किञ्च—

'धनिकः, श्रोत्रियो, राजा, नदी, वैद्यस्तु पञ्चमः ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते, न कुर्यात्तत्र संस्थितिम्' ॥११२॥

अपरञ्च—

'लोकयात्रा, भयं, लज्जा, दाक्षिण्यं, त्यागशीलता ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते, न कुर्यात्तत्र संस्थितिम् ॥११३॥

पालयिष्यति, सत्करिष्यतीति वा ।

तत् = यदि त्वया गन्तव्यं तर्हि । अत्र = अस्मिन् स्थाने ।

समानः = सत्कारः । वृत्तिः = जीविका । विद्यागमः = विद्यालाभः ॥ १११ ॥

धनिकः = ऋणादिदाता श्रेष्ठी । (सेठ–बोहरा) । श्रोत्रियः = वेदपारगः । **पञ्च** = एते पञ्च । संस्थितिं = निवासम् ॥ ११२ ॥

लोकयात्रा=जीवनोपायः । भयं=राज-लोक-धर्म-भयम् ॥ ११३ ॥

अतः वह मन्थरक कछुवा अच्छा-अच्छा भोजन देकर मेरी (कौवे की) रक्षा अवश्य ही करेगा । तब हिरण्यक चूहा बोला–तो मैं भी यहाँ रहकर क्या करूँगा ?। मैं भी तुमारे साथ ही वहाँ चलूँगा ।

क्योंकि—जिस देश में—संमान न हो, कोई जीविका न हो, कोई मित्र न हो, और न किसी प्रकार की विद्या की प्राप्ति ही हो, उस देश को छोड़ देना चाहिये, उसमें कभी नहीं रहना चाहिये ॥ १११ ॥

और भी—धनी, श्रोत्रिय, (वेदपाठी), राजा, नदी और वैद्य, ये पाँच जहाँ नहीं हों, वहाँ मनुष्य को एक दिन भी नहीं रहना चाहिये ॥ ११२ ॥

और जिस देश में जीविका का साधन, लोकभय, लोकलज्जा, सरलता, त्याग, (उदारता) ये पाँच बातें न हों, वहाँ कभी नहीं रहना चाहिए ॥ ११३ ॥

१. 'बान्धवाः' ।

तत्र मित्र ! न वस्तव्यं यत्र नास्ति चतुष्टयम् ।
ऋणदाता च, वैद्यश्च, श्रोत्रियः, सजला नदी' ॥ ११४ ॥

'ततो मामपि तत्र नय ।' अथ वायसस्तत्र तेन मित्रेण सह विचित्राऽऽलापैः सुखेन तस्य सरसः समीपं ययौ । ततो मन्थरो दूरादवलोक्य लघुपतनकस्य यथोचितमातिथ्यं विधाय, मूषिकस्याऽतिथिसत्कारं चकार । यतः—

'बालो वा, यदि वा वृद्धो, युवा वा गृहमागतः ।
तस्य पूजा विधातव्या, सर्वस्याऽभ्यागतो गुरुः ॥ ११५ ॥

गुरुरग्निर्द्विजातीनां, वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ।
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां, सर्वस्याऽभ्यागतो गुरुः ॥ ११६ ॥

'सजला नदी' इत्यत्र 'सुजले'ति गौडाः पठन्ति ॥ ११४ ॥

तेन=हिरण्यकेन । विचित्रालापैः = मनोहरभाषणैः । नानाविधां कथां कुर्वन् । मन्थरः=तन्नामा कच्छपः । यथोचितं=यथायोग्यं, सत्कारम्=आतिथ्यम् ॥

द्विजातीनां = ब्राह्मणादीनां त्रैवर्णिकानाम् । अग्निः = वैश्वानरः । गुरुः= पूज्यः । वर्णानां = ब्राह्मणादीनां चतुर्णां वर्णानां । गुरुः = श्रेष्ठः । एकः=केवलः, नान्यः । सर्वस्य = सर्वस्यापि लोकस्य । अभ्यागतः = अतिथिः-गुरुः = पूज्यः ॥

हे मित्र ! जहाँ ऋणदाता धनी, वैद्य, श्रोत्रिय (वैदिक विद्वान्) और जल से पूर्ण नदी, ये चार चीजें नहीं हों, वहाँ कभी नहीं रहना चाहिए ॥ ११४ ॥

इस लिये मुझे भी वहीं ले चलो ।

तब कौवा बोला—अच्छा ऐसा ही सही ।

इसके बाद वह कौवा अपने मित्र (चूहे) के साथ अनेक प्रकार की बात चीत करता हुआ सुखपूर्वक उस तालाब के पास पहुँचा । इसके बाद लघुपतनक कौवे को दूर ही से देखकर मन्थर कछुआ ने उसका आतिथिसत्कार करके, हिरण्यक का भी यथोचित सत्कार किया । क्योंकि—

बालक, या वृद्ध, या जवान कोई भी हो, वह यदि अपने घर पर आजाये तो उसका भोजन आदि से सत्कार और अतिथिपूजन अवश्य करना चाहिए, क्योंकि अतिथि सबका पूज्य है ॥ ११५ ॥

अग्नि—द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों) का गुरु (पूज्य)

उत्तमस्याऽपि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः ।
पूजनीयो यथायोग्यं, सर्वदेवमयो हि सः' ॥ ११७ ॥

वायसोऽवदत्–'सखे मन्थर ! विशेषपूजामस्मै विधेहि, यतोऽयं पुण्यकर्मणां धुरीणः, कारुण्यरत्नाकरो हिरण्यकनामा मूषिकराजः । एतस्य गुणस्तुतिं जिह्वासहस्रद्वयेनाऽपि सर्पराजो न कदाचित्कथयितुं समर्थः स्यात् ।' इत्युक्त्वा चित्रग्रीवोपाख्यानं वर्णितवान् ।

मन्थरः सादरं हिरण्यकं सम्पूज्याऽऽह–'भद्र ! आत्मनो निर्जनवनाऽऽगमनकारणमाख्यातुमर्हसि ।'

हिरण्यकोऽवदत्—'कथयामि' । श्रूयताम्—

उत्तमस्य = ब्राह्मणक्षत्रियादेरपि । नीचोऽपि = शूद्रादिरपि । कुत एतदत आह—सर्वेति । सकलदेवस्वरूपः । सः = अतिथिः ॥ ११७ ॥

विशेषपूजां = विशिष्टमतिथिसत्कारम् । पुण्यकर्मणां=पुण्यात्मनां, धुरीणः =श्रेष्ठः । कारुण्यरत्नाकरः=करुणावरुणालयः । जिह्वेति । सर्पराजस्य शेषस्य सहस्रमुखतया द्विजिह्वत्वेन च द्विसहस्रजिह्वत्वम् । उपाख्यानं = वृत्तान्तम् । आख्यातुं = वक्तुम् । अर्हसि = योग्योऽसि ।

हैं । वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों) का ब्राह्मण गुरु है । स्त्री का पति ही गुरु है और अभ्यागत (अतिथि) सभी का गुरु है ॥ ११६ ॥

और उत्तम वर्ण (ब्राह्मण आदि) के घर पर यदि अपने से नीच (क्षत्रिय वैश्य या शूद्र आदि) भी कोई आवे तो भी उसकी भी यथायोग्य पूजा करनी चाहिए, क्योंकि अतिथि में सब देवताओं का निवास रहता है ॥ ११७ ॥

तब कौवा बोला–हे मित्र मन्थर ! इस हिरण्यक चूहे की तुम विशेषरूप से पूजा करो, क्योंकि यह पुण्यवानों में अग्रणी, दया का समुद्र, चूहों का राजा हिरण्यक है । इसके गुणों की प्रशंसा तो शेषनाग अपनी दो हजार जिह्वाओं से भी नहीं कर सकते हैं ।

यह कह कर उसने कपोतराज चित्रग्रीव की पूरी-पूरी कथा (जाल का काटना आदि) कही । इसके बाद मन्थर बड़े आदर के साथ हिरण्यक की पूजा करके बोला—हे महाशय ! आप इस निर्जन वन में अपने आने का कारण हम लोगों से कहिए ।

(४) मूषक-परिव्राजककथा।

अस्ति चम्पकाऽभिधानायां नगर्यां परिव्राजकाऽवसथः। तत्र चूडाकर्णो नाम परिव्राट् प्रतिवसति। स च भोजनाऽवशिष्टभिक्षाऽन्नसहितं भिक्षापात्रं नागदन्तकेऽवस्थाप्य स्वपिति। अहञ्च तदन्नमुत्प्लुत्योत्प्लुत्य प्रत्यहं भक्षयामि। अनन्तरं तस्य प्रियसुहृद्वीणाकर्णो नाम परिव्राजकः समायातः। तेन सह कथाप्रसङ्गाऽवस्थितो मम त्रासार्थं जर्जरवंशखण्डेन चूडाकर्णो भूमिमताडयत्। वीणाकर्ण उवाच-'सखे! किमिति मम कथाविरक्तोऽन्यासक्तो भवान्?।' यतः—

चम्पकाभिधानायां=चम्पानाम्न्यां। नगर्यां=पुर्याम्। परिव्राजकस्य = भिक्षोः। (भिक्षु = संन्यासी, साधु)। आवसथः = निवासः (मठ)। परिव्राट् = संन्यासी। भोजनावशिष्टं = भोजनोर्वरितम्, यत्—भिक्षान्नं, तेन सहितं = संयुतं, भिक्षापात्रं =भिक्षाभाण्डं (बर्त्तन, झोली)। नागदन्तके = भित्तिकाष्ठे (खूंटी पर)। तदन्नं= भिक्षाऽवशिष्टमन्नम्। उत्प्लुत्य = कूर्दयित्वा (उछल कर)। प्रत्यहं = प्रतिदिनमेव। अनन्तरं = यातेषु बहुषु दिनेषु एकदा। तस्य = परिव्राजकस्य। परिव्राजकः= संन्यासी। तेन = स्वप्रियसुहृदा। कथाप्रसङ्गावस्थितः = वार्ताप्रसङ्गस्थितोऽपि। त्रासार्थं = भयार्थम्। जर्जरवंशखण्डेन=जीर्णवंशेन। तथाविधं = व्यापारान्तरप्रसक्तम्। मत्कथाविरक्तः = मदीयवार्ताश्रवणपराङ्मुखः। अन्याऽऽसक्तः=कार्याऽन्तरव्यासक्तः।

हिरण्यक बोला-अच्छा, मैं अपनी कहानी आप लोगों से कहता हूँ, सुनिये।

चम्पा नामक नगरी में संन्यासियों का एक मठ है। वहाँ पर चूडाकर्ण नाम का एक संन्यासी (साधु) रहता था। वह प्रति दिन अपने भोजन से बचे हुए अन्न से पूर्ण अपने भिक्षापात्र, (बर्त्तन, झोली) को खूंटी पर टाँग कर सोता था। और मैं प्रतिदिन उछल-उछल कर उस अन्न को खा जाता था। एक दिन वहाँ उसका प्रिय मित्र वीणाकर्ण नाम का संन्यासी उससे मिलने को आया। चूडाकर्ण उसके साथ बात चीत करता जाता था और मेरे डराने के लिये बाँस के एक फटे हूए दण्डे से पृथ्वी को पीटता जाता था। यह देख कर वह वीणाकर्ण बोला,

'मुखं प्रसन्नं, विमला च दृष्टिः, कथाऽनुरागो, मधुरा च वाणी ।
स्नेहोऽधिकः, सम्भ्रमदर्शनञ्च, सदाऽनुरक्तस्य जनस्य लक्ष्म॥११८॥
अदृष्टिदानं, कृतपूर्वनाशनममाननं, दुश्चरिताऽनुकीर्त्तनम् ।
कथाप्रसङ्गेन च नामविस्मृतिर्विरक्तभावस्य जनस्य लक्षणम्' ॥११९॥

चूडाकर्णेनोक्तं-मित्र ! नाऽहं विरक्तः । किन्तु पश्याऽयं मूषिको ममाऽपकारी, सदा पात्रस्थं भिक्षाऽन्नमुत्प्लुत्य भक्षयति ।'

वीणाकर्णो नागदन्तकं विलोक्याऽऽह—'कथं मूषिकः स्वल्पबलो-

मुखमिति । विमला=स्वच्छा, रागशून्या । कथाऽनुरागः=वार्त्ताश्रवणादरः । सम्भ्रमदर्शनं=आगमने, सत्कारादिषु च—त्वरादर्शनम् । लक्ष्म=लक्षणम् ॥११८॥

अदृष्टिदानम्=अविलोकनम् । कृतपूर्वनाशनम्=पूर्वोपकाराद्यचिन्तनम् । अमाननम्=तिरस्कारः, सत्काराऽभावश्च । दुश्चरितानुकीर्त्तनं=दोषवर्णनम् । कथा-प्रसङ्गेन=कथावसरेणाऽपि । नामविस्मृतिः=नामाऽस्मरणम् । विरक्तभावस्य= विरक्तस्य ॥ ११९ ॥

अपकारी=हानिकारकः । स्वल्पबलः=स्तोकबलोऽपि । एतावद्दूरम्=इयद्दूरम् । उत्पतति=उत्प्लुत्य गच्छति ॥

कि–हे मित्र ! यह क्या बात है ? । आपका मन मेरी बातों में क्यों नहीं लगता है ? । आपका ध्यान तो मुझे दूसरी तरफ ही मालूम देता है !

क्योंकि—प्रसन्न मुख, विमल नेत्र, बातों में प्रेम, मधुर वाणी, अधिक स्नेह, आने पर संभ्रम से (हड़बड़ाकर, उत्सुकतापूर्वक) देखना—ये सब अनुरक्त मनुष्यों के लक्षण हैं ॥ ११८ ॥

और—असन्तुष्ट होकर देखना, पूर्वकृत कार्यों (उपकारों) को भूल जाना, सत्कार न करना, दोषों को प्रकट करना, अवसर (मौके) पर नाम तक भी भूल जाना, वे सब विरक्त मनुष्य के लक्षण है ॥ ११९ ॥

चूडाकर्ण ने कहा–मित्र ! मैं तुमसे विरक्त नहीं हूँ । किन्तु देखो, यह चूहा मेरा वैरी है, यह सदा मेरे भिक्षापात्र का अन्न ऊपर चढ़ कर खा जाता है । तब

ऽप्येतावद्दूरमुत्पतति ? । तदत्र केनाऽपि कारणेन भवितव्यम् । तथा चोक्तम्—

'अकस्माद्युवती वृद्धं केशेष्वाकृष्य चुम्बति ।
पतिं निर्दयमालिङ्ग्य, हेतुरत्र भविष्यति' ॥ १२० ॥

चूडाकर्णः पृच्छति–'कथमेतत् ?' । वीणाकर्णः कथयति—

(५) लीलावती-वणिक्पुत्र-कथा ।

अस्ति[1] गौडीये कौशाम्बी नाम नगरी । तस्यां चन्दनदासनामा वणिङ्महाधनो निवसति । तेन (च) पश्चिमे वयसि वर्त्तमानेन कामाऽधिष्ठितचेतसा धनदर्पाल्लीलावती नाम वणिक्पुत्री परिणीता । सा च मकरकेतोर्विजयवैजयन्तीव यौवनवती बभूव । स च वृद्धपतिस्तस्याः सन्तोषाय नाऽभवत् । यतः—

अकस्मात् = विनाऽपि हेतोः । वृद्धं = जराजीर्णमपि, पतिम् = स्वामिनम् । चुम्बति = तन्मुखं चुम्बति । हेतुः = किमपि कारणम् ॥ १२० ॥

गौडीये = गौडदेशे । (गौड-बङ्गाल में) । महाधनः = नितरां धनाढ्यः । पश्चिमे वयसि = वृद्धावस्थाम् । कामाधिष्ठितचेतसा = मदनाऽऽविष्टमानसेन कामातुरेण । धनदर्पात् = धनगर्वात् । नाम—इति प्रसिद्धौ । वणिक्पुत्री = वैश्यतनया । परिणीता = विवाहिता । सा च = लीलावती च । मकरकेतोः = कामदेवस्य । विजय-

वीणाकर्ण खूँटी की ओर देखकर बोला कि—चूहा तो एक बहुत अल्पशक्ति का जीव होता है, वह इतनी दूर ऊँचे पर कैसे उछल सकता है ? । इसमें कुछ कारण अवश्य होगा । कहा भी है—

वृद्धपति की जवान (युवती) स्त्री सहसा अपने वृद्धपति के केशों को पकड़कर उसका गाढ आलिङ्गन कर उसके मुख का चुम्बन करती है, तो इसमें जरूर कुछ कारण होगा ॥ १२० ॥

चूडाकर्ण ने पूछा कि—यह कथा कैसे है ? । वीणाकर्ण कहने लगा—

गौड़ (बंगाल) देश में कौशाम्बी नाम की एक नगरी है । वहाँपर चन्दनदास नाम का एक धनी वैश्य रहता था । उसने वृद्धावस्था में कामातुर होकर धन के घमण्ड से लीलावती नाम की एक बनिये की लड़की से विवाह किया । कुछ काल

१. इयं लीलावती–कथा (९५ पृष्ठात् १०२ पृष्ठपर्यन्तम्) अश्लीलत्वात्काशिकादिपरीक्षातो बहिष्कृता ।

'शशिनीव हिमार्त्तानां, घर्मार्त्तानां रवाविव ।
मनो न रमते स्त्रीणां जराजीर्णेन्द्रिये पतौ' ॥ १२१ ॥

अन्यच्च—

'पलितेषु हि दृष्टेषु पुंसः का नाम कामिता ! ।
भैषज्यमिव मन्यन्ते यदन्यमनसः स्त्रियः' ॥ १२२ ॥

(परन्तु)—स च वृद्धपतिस्तस्यामतीवाऽनुरागवान् । यतः—

वैजयन्तीव = विजयपताकेव शोभमाना । यौवनवती = युवतिः । तस्याः = लीलावत्याः । सन्तोषाय = कामोपतापशान्तये ।

हिमार्त्तानाम् = शीतपीडितानाम् । शशिनि = चन्द्रे इव । घर्मात्तानां = ग्रीष्मोपतापतप्तानाम् । जराजीर्णेन्द्रिये = जराविकलेन्द्रियग्रामे । पतौ = पत्यौ । छान्दसोऽयं प्रयोगः । पत्यावित्युचितम् । 'षवे' इति पाठान्तरम् ॥ १२१ ॥

पलितेषु = शुक्लेषु केशेषु । केशशौक्ल्ये । दृष्टेषु = जातेषु । का नाम = का खलु ? । कामिता = कामोपभोगपरायणता । सा नैवोचितेत्यर्थः । यत् = यस्मात् । अन्यमनसः = विरक्ताः, अन्यासक्ता वा, स्त्रियः = कामिन्यः । भैषज्यमिव = कटुकौषधमिव, मन्यन्ते = तं परिहार्यं मन्यन्ते, अनिच्छया च तं सेवन्ते ॥ १२२ ॥

तस्यां = स्वस्मिन् अननुरक्तायामपि ।

अनुरागवान् = आसक्तः ।

के बाद वह सुन्दरी कामदेव की विजय पताका के समान यौवनवती (जवान) हो गई । और उसे उस वृद्ध पति से पूर्ण सन्तोष नहीं होता था । क्योंकि—

जैसे—हिम (बर्फ जाड़ा) से पीड़ित प्राणी को चन्द्रमा अच्छा नहीं लगता है, धूप से पीड़ित मनुष्य को सूर्य अच्छा नहीं लगता है, वैसे ही जिस की सभी इन्द्रियाँ जीर्ण हो गयी हों ऐसा वृद्धपति युवति स्त्रियों को कभी अच्छा नहीं लगता है ॥ १२१ ॥

और जब पुरुष के सब बाल पक गये हों तो फिर कहो उसकी कामुकता कैसी ? । अर्थात् वृद्धावस्था में कामोपभोग की इच्छा व्यर्थ है । क्योंकि–वृद्ध पुरुष की स्त्री दूसरे से आसक्त हो जाती है और वह अपने उस वृद्ध पति को औषध (दवा) की तरह ही कड़ुआ समझती है ॥ १२२ ॥

परन्तु वह वृद्ध वैश्य तो उस लीलावती पर अत्यन्त आसक्त हो रहा था ।

'धनाऽऽशा, जीविताऽऽशा च गुर्वी प्राणभृतां सदा ।
वृद्धस्य तरुणी भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ १२३ ॥
नोपभोक्तुं, न च त्यक्तुं, शक्नोति विषयाञ्जरी ।
अस्थि निर्दशनः श्वेव जिह्वया लेढि केवलम्' ॥ १२४ ॥

अथ सा लीलावती यौवनदर्पादतिक्रान्तकुलशीलमर्यादा केनाऽपि वणिक्पुत्रेण सहाऽनुरागवती बभूव । यतः—

'स्वातन्त्र्यं, पितृमन्दिरे निवसतिर्यात्रोत्सवे सङ्गति-
र्गोष्ठी पूरुषसंनिधावनियमो, वासो विदेशे तथा ।

धनाशेति । यद्यपि—प्राणभृतां=प्राणिनां, धनाऽऽशा, जीविताऽऽशा च सदा गुर्वी=महती, अधिका भवति । तथापि—वृद्धस्य तरुणी भार्या तु तस्य प्राणेभ्योऽपि गरीयसी=प्राणाऽपेक्षयाऽपि नितरां गुर्वी भवति । प्राणेभ्योऽप्यधिकान्तां वृद्धो मनुते इत्यर्थः ॥१२३॥

जरी=जराजीर्णो वृद्धः । विषयान्=कामिन्यादीन् । उपभोक्तुं=यथावदुपभोक्तुम् । निर्दशनः=दन्तविकलः । अस्थि=कीकशम्, केवलं लेढि=आस्वादयत्येव जिह्वया केवलम् ॥ १२४ ॥

यौवनदर्पात्=तारुण्यमदात् । अतिक्रान्तकुलमर्यादा=उल्लङ्घितकुलमर्यादा । अनुरागवती=अनुरक्ता । मैथुनपरा । आसक्ता च ।

स्वातन्त्र्यमिति । स्वातन्त्र्यं=स्वतन्त्रता । पितृमन्दिरे=पितृगृहे । निवसतिः=निवासः । उत्सवे=विवाहादौ । यात्रा=गमनम् । यात्रायां=देवयात्रायां, (मेला फूला आदि) । उत्सवे=विवाहादौ च, सङ्गतिः, गमनमित्यन्वयो वा । सङ्गतिः=

क्योंकि—सभी प्राणियों को धन की आशा और जीवन की आशा (लालसा) स्वभावतः अधिक होती है । परन्तु वृद्ध पुरुष को तो अपनी युवती स्त्री अपने प्राणों से भी अधिक प्यारी होती है ॥ १२३ ॥

और वृद्ध मनुष्य न तो विषयों (स्त्री आदि) को भोग ही सकता है, और न उन्हें छोड़ ही सकता है किन्तु जिस प्रकार दन्तहीन कुत्ता हड्डी को केवल जीभसे चाटता रहता है, किन्तु उसे चबा नहीं सकता है, वही दशा उस वृद्ध मनुष्य की भी होती है ॥ १२४ ॥

कुछ काल के बाद वह लीलावती जवानी के मद से अपने कुल की मर्यादा का उल्लङ्घन कर एक बनिये के लड़के से फँस गई ।

क्योंकि—स्वतन्त्रता, पिता के घर (पीहर में) रहना, यात्रा (देवता आदि के दर्शनों के मेले एवं विवाह-उत्सव इत्यादि में लोगों से मिलना, पुरुषों के साथ

संसर्गः सह पुंश्चलीभिरसकृद्वृत्तेर्निजायाः क्षतिः,
पत्युर्वार्द्धकमीर्षितं, प्रवसनं[1], नाशस्य हेतुः स्त्रियाः' ॥१२५॥

अपरञ्च—

'पानं, दुर्जनसंसर्गः, पत्या च विरहोऽटनम् ।
स्वप्नश्चाऽन्यगृहे वासो, नारीणां दूषणानि षट्' ॥ १२६॥
'स्थानं नास्ति, क्षणो नास्ति, नास्ति प्रार्थयिता नरः ।
तेन नारद ! नारीणां सतीत्वमुपजायते' ॥ १२७ ॥

दुष्टजनसंसर्गः । यद्वा = यात्रोत्सवे = जनमेलापके, देवयात्रादौ, विवाहादौ च, सङ्गतिः = मुहुर्यानमित्यर्थः । पुरुषसंनिधौ = पुरुषाणां सविधे । गोष्ठी = आसनबन्धः । (बैठना व गप- शप करना) । अनियमः = निरोधाऽभावः । विदेशे वासः = परदेशनिवासः । पत्युरात्मनश्चेति शेषः । पुंश्चलीभिः=कुलटाभिः । असकृत्= मुहुर्मुहुः । संसर्गः = सम्पर्कः । निजायाः = आत्मनः । वृत्तेः = जीविकायाः । क्षतिः= अभावः, विनाशश्च । वार्धक्यं = पत्युर्वृद्धावस्था । ईर्षितं = पत्युरीर्ष्यालुत्वम् । स्वस्य वा । प्रवसनं = पत्युर्विदेशे प्रवासः । अकारणं हसणं च नाशस्य = पतनस्य । शीलखण्डनस्य । हेतुः=हेतवः ॥ १२५ ॥

पानं = मद्यपानम् । अटनं=भ्रमणम् । अन्यगृहे—स्वप्नः = शयनम् । अन्यगृहे वासश्चेति सम्बन्धः ॥ १२६ ॥

स्थानमिति । व्यभिचाराय एकान्तस्थानमित्यर्थः । क्षणः = अवसरः ।

बिना रोक-टोक बैठना और उनसे गप लड़ाना, किसीकी रोक-टोकका न रहना, विदेश में रहना, व्यभिचारिणी स्त्रियों का साथ होना, जीविका (खाने-पीने) का अभाव, पति का वृद्ध होना, पति का ईर्षालु होना, और पति का परदेश में रहना,—ये सब स्त्रियों के बिगड़ने के कारण हैं ॥ १२५ ॥

और भी—शराब पीना, दुष्टों का साथ, पति का विरह, इधर उधर घूमना, दूसरे के घर में रहना या सोना, अकारण हँसना, हँसी-ठठ्ठा ये छः कारण स्त्रियोंके दूषित होने (बिगड़ने)के होते हैं ॥ १२६ ॥

१. 'प्रहसनं' पा० ।

'न स्त्रीणामप्रियः कश्चित्प्रियो वाऽपि न विद्यते ।
गावस्तृणमिवाऽरण्ये प्रार्थयन्ति नवं नवम्' ॥ १२८ ॥

अपरञ्च—

'घृतकुम्भसमा नारी, तप्ताङ्गारसमः पुमान् ।
तस्माद् घृतञ्च, वह्निश्च, नैकत्र स्थापयेद् बुधः ॥ १२९ ॥
'मात्रा, स्वस्रा, दुहित्रा वा न विविक्ताऽऽसनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो महान्तमपि कर्षति ॥ १३० ॥

प्रार्थयिता = शीलखण्डनाय लोभादिप्रदर्शनेनोत्तेजकः । कामयिता-कामी । हे नारदेति सम्बोधनपदम् । तेन = तेनैव । नान्यथेत्यर्थः ॥ १२७ ॥

तासां स्त्रीणां प्रियः, अप्रियो वा कश्चिन्नास्ति । अरण्ये=वने । गावो-नवं नवं= प्रत्यग्रं तृणमिव, नवं-नवं = नूतनं नूतनं पुरुषं । प्रार्थयन्ति = इच्छन्ति ॥ १२८ ॥

घृतकुम्भसमा = घृतपूर्णघटतुल्या । तप्ताङ्गारसमः = ज्वलदङ्गारतुल्यः । बुधः= बुद्धिमान् ॥ १२९ ॥

मात्रेति । स्वस्रा=भगिन्या । विविक्तासनः = निर्जनप्रदेशस्थितः । एकान्त-स्थितः । कर्षति=पापे नियोजयति ॥ १३० ॥

हे नारद ! स्त्रियाँ पतिव्रता तभी तक रह सकती हैं, जब तक या तो उनके लिये व्यभिचारका कोई स्थान ही ।नहीं हो, या समय (व्यभिचार के लिये मौका) ही न मिले, या उनके चाहने वाला कोई पुरुष ही न हो ॥ १२७ ॥

और भी-स्त्रियों का न तो कोई प्रिय है और न उनका कोई अप्रिय ही है । किन्तु जैसे गाय वन में नया-नया तृण (घास) ढूँढती रहती हैं, वैसे ही स्त्रियाँ भी नये-नये पुरुषों को खोजा करती हैं ॥ १२८ ॥

और स्त्री—घी से भरे घड़े के समान है, पुरुष—जलते हुए अङ्गार (अग्नि) के समान है, इस लिए बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि घृत और अग्नि को एक साथ कभी न रखे ॥ १२९ ॥

बुद्धिमान् पुरुष को-अपनी माता, बहिन तथा अपनी लड़की के साथ भी कभी

'न लज्जा, न विनीतत्वं, न दाक्षिण्यं, न भीरुता ।
प्रार्थनाऽभाव एवैकं सतीत्वे कारणं स्त्रियाः ॥ १३१ ॥
पिता रक्षति कौमारे, भर्त्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रश्च स्थाविरे भावे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ १३२ ॥
स्त्रियो हि चपला नित्यं देवानामपि-विश्रुतम् ।
ताश्चाऽपि रक्षिता येषां ते नराः सुखभागिनः' ॥ १३३ ॥

नेति । लज्जा = गुर्वादिलज्जा । विनीतत्वं = विनयः । शिक्षेति यावत् । दाक्षिण्यं = मनोऽनुकूलता, अनुरोधः, (मुलाहिजा), चातुर्यं वा । भीरुता = ताडनादिभयाऽऽतुरता । मुग्धता वा । प्रार्थनाऽभावः = कामुकपुरुषकृतप्रार्थनाऽभाव एव । 'प्रार्थकाऽभाव' इति पाठान्तरम् ॥ १३१ ॥

पितेति । स्थाविरे भावे=वृद्धाऽवस्थायाम् । अतः—स्त्री कदाऽपि स्वातन्त्र्यं—नाऽऽर्हति = नैवार्हति ॥ १३२ ॥

स्त्रिय इति । न केवलं मानुषाणामेव, किन्तर्हि देवानामपि, स्त्रियः = लक्ष्मी-प्रभृतयः स्त्रियः । 'चपला'—इति विश्रुतं = पुराणादौ प्रसिद्धमेव । ताः = प्रकृति-चपलाः स्त्रियः । येषां = येषां पुंसां, यैर्वा पुरुषैः, रक्षिताः = सुरक्षिताः, शीले स्थापिताः, ते एव नराः सुखभागिनः=लोके सुखिनः ॥ १३३ ॥

एकान्त में नहीं बैठना चाहिये, क्योंकि इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं, ये (इन्द्रियाँ) विद्वान् को भी अपने वश में कर ले सकती हैं ॥ १३० ॥

और स्त्री के सती होने का कारण-न तो लज्जा है, न नम्रता है, न दान-शीलता है, और न डर ही है, किन्तु इसमें यदि कोई कारण है, तो वह केवल प्रार्थना करने वाले पुरुष का पास में नहीं होना ही है ॥ १३१ ॥

और बाल्यावस्था में स्त्री की रक्षा पिता को करनी चाहिए, जवानी में पति को रक्षा करनी चाहिये और वृद्धावस्था में पुत्र को उनकी रक्षा करना चाहिये । इस प्रकार स्त्री को कभी स्वतन्त्र नहीं छोड़ना चाहिये ॥ १३२ ॥

क्योंकि—स्त्रियाँ सदा चञ्चल हैं,—यह बात लक्ष्मी आदिके विषयमें देवताओं में भी प्रसिद्ध है । अतः जिन पुरुषों की स्त्रियाँ सुशील व सुरक्षित हैं, वे ही मनुष्य संसार में सुखी हैं ॥ १३३ ॥

एकदा सा लीलावती रत्नावलीकिरणकर्बुरे पर्यङ्के तेन वणिक्पुत्रेण सह विश्रम्भाऽऽलापैः सुखाऽऽसीना तमलक्षितोपस्थितं पतिमवलोक्य, सहसोत्थाय, केशेष्वाकृष्य, गाढमालिङ्ग्य चुम्बितवती। तेनाऽवसरेण जारश्च पलायितः। उक्तञ्च—

'उशना वेद यच्छास्त्रं, यच्च वेद बृहस्पतिः।
स्वभावेनैव तच्छास्त्रं स्त्रीबुद्धौ सुप्रतिष्ठितम्' ॥ १३४ ॥

तदालिङ्गनमवलोक्य समीपवर्तिनी कुट्टन्यचिन्तयत्-

[1]'अकस्मादियमेनमुपगूढवती [नूनं कोऽपि हेतुरत्र भविष्यति']- इति।

'ततस्तया कुट्टन्या तत्कारणं जारं परिज्ञाय, सा लीलावती गुप्तेन

रत्नावलीकिरणकर्बुरे = नानारत्नपङ्क्तिरश्मिचित्रिते। नानारत्नौघघटिते इत्यर्थः। पर्यङ्के=मञ्चके। तेन = उपपतिना सह। विश्रम्भाऽऽलापैः = प्रणयगर्भैर्मधुरवचनैः—उपलक्षिता। सुखाऽऽसीना = सुखमुपविष्टा। अलक्षितोपस्थितम् = अकस्मादुपागतम्। सहसा = झटिति। जारः = उपपतिर्वणिक्पुत्रः। पलायितः = अपसृतः।

उशनेति। उशनाः=शुक्राचार्यः। यच्छास्त्रं = यन्नीतिशास्त्रादिकम्। वेद = अध्ययनादिना वेत्ति। तत्-शास्त्रसारं, स्वभावेनैव=प्रकृत्यैव। ननु शिक्षणादेस्तत्रावश्यकतेति भावः॥ १३४ ॥

समीपवर्त्तिनी = निकटस्थिता। कुट्टनी = शम्भली काचित्। (कुटनी)।

एक समय वह लीलावती नाना प्रकार के रंग विरंगे रत्नों की किरणों से सुशोभित पलंग पर सुखपूर्वक बैठी हुई उस बनिये के लड़के से प्रेमपूर्वक बातचीत कर रही थी, कि—एकाएक अपने वृद्ध पति को आते हुए देखकर झट उठकर उससे चिपट कर उसका चुम्बन करने लगी। इसी समय मौका पाकर वह बनिये का लड़का भी भाग गया।

कहा भी है—शुक्राचार्य और बृहस्पति भी जिन शास्त्रों को अपने गुरुसे पढकर ही जानसके हैं, वे सब शास्त्र स्त्रियों की बुद्धि में स्वभाव से ही रहते हैं॥ १३४॥

इस प्रकार वृद्ध पति को अपनी युवती पत्नी द्वारा आलिङ्गन किया जाता हुआ देखकर दैवात् उसी जगह खड़ी हुई एक कुट्टनी विचारने लगी कि सहसा यह इस वृद्ध पति से क्यों लिपट गई?। जरूर इसमें कुछ कारण है। इसके बाद उस कुट्टनी ने इसके कारण (उसके यार का उसके पासमें उपस्थित रहना)

१. 'नाकस्मादिति। ततस्तया' पा०।

दण्डिता[1]। अतोऽहं ब्रवीमि–'अकस्माद्युवती वृद्धम्' इत्यादि[2]। ॐ।

(एवं) मूषिकबलोपष्टम्भेन केनाऽपि कारणेनाऽत्र भवितव्यम्। क्षणं विचिन्त्य परिव्राजकेनोक्तम्–'कारणं चाऽत्र धनबाहुल्यमेव भविष्यति। यतः—

'धनवान्बलवाँल्लोके सर्वः सर्वत्र सर्वदा।
प्रभुत्वं धनमूलं हि राज्ञामप्युपजायते' ॥ १२५ ॥

ततः खनित्रमादाय तेन परिव्राजकेन विवरं खनित्वा, चिरसञ्चितं मे धनं गृहीतम्। ततः प्रभृत्यहं निजशक्तिहीनः, सत्त्वोत्साहरहितः,

इयं=युवतिर्वणिक्पत्नी। एनं=वृद्धं पतिम्। उपगूढवती= आलिङ्गितवती। ततः= किञ्चिद्विचारानन्तरम्। गुप्तेन दण्डितेति। 'मह्यमियत्प्रमाणं धनं देहि, नोचेत्तव रहस्यं तव पत्युः पुरतो वक्ष्यामी'त्यभिधाय सा लीलावती गूढंदण्डिता। अर्थात् सा कुट्टिनी गूढमेव ततो विपुलं धनं लेभे इत्यर्थः।

मूषिकबलोपष्टम्भेन=मूषकबलाधारभूतेन। (अवष्टम्भः=आधारः)। कारणेन= हेतुना। अत्र = बलशालित्वे।

धनवानिति। राज्ञामपि प्रभुत्वं=राजत्वं, धनमूलमेव=धनेनैव, धन-हेतुकमेव ॥ १२५ ॥

खनित्रं = भूमिखननसाधनं–(खनती-फावडा)। विवरं=मद्बिलम्। निजशक्ति-

को जान कर, उस लीलावती को डरा धमका कर उससे बहुत सा धन (रुपया) उस कुट्टिनी ने एँठ लिया (वसूल किया)।

इसी लिये मैं कहता हूँ कि 'एकाएक युवती स्त्री वृद्धपति का यदि आलिङ्गन करती है, तो इसमें अवश्य कुछ कारण है' इत्यादि।

इसीप्रकार इस चूहे के असाधारण बल का भी कोई कारण अवश्य ही होगा।

ऐसा कुछ देर सोचकर उस संन्यासी ने पुनः कहा,–इसका कारण मुझे इसके पास अधिक धन का होना ही मालूम पड़ता है।

क्योंकि—संसार में सभी जगह, सदा ही, धनी लोग ही बलवान् गिने जाते हैं। राजा लोग भी धन ही के कारण सबके स्वामी बने रहते हैं ॥ १२५ ॥

१. 'ततस्तया कुट्टन्या धर्माधिकारिणं विज्ञाप्य, सा लीलावती दण्डिता'। पा०
२. एतावत्पर्यन्तमियं कथाऽश्लीलेति काशिकपरीक्षातोऽपसारिता।

स्वाहारमप्युत्पादयितुमक्षमः । सत्रासं मन्दं मन्दमुपसर्पंश्चूडाकर्णेनाऽवलोकितः । ततस्तेनोक्तम्—

'धनेन बलवाँल्लोके, धनाद्भवति पण्डितः ।
पश्यैनं मूषिकं पापं स्वजातिसमतां गतम्' ॥ १३६ ॥

किञ्च—

'अर्थेन हि विहीनस्य पुरुषस्याऽल्पमेधसः ॥
क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति, ग्रीष्मे कुसरितो यथा' ॥१३७॥

हीनः=स्वशरीरबलेनापि हीनः । सत्त्वोत्साहरहितः=पराक्रमोत्साहशक्तिशून्यः । सत्रासं=सभयम्, उपसर्पन्=इतस्ततो भ्रमन्, प्रचलन्वा । चूडाकर्णेन=तन्नाम्ना परिव्राजकेन ।

धनेनेति । लोके पुमान् धनेन बलवान् भवति, धनाच्च पण्डितो भवति, एनं=धनरहितं । पापं=दुष्टम्, मूषिकं । स्वजातिसमतां=मूषिकजातितुल्यतां । गतं=प्राप्तं—पश्येत्यर्थः ॥ १३६ ॥

अर्थेन=धनेन । विहीनस्य=रहितस्य । अतएव—अल्पमेधसः=स्वल्पमतेः । सर्वाः क्रियाः=सर्वाणि कर्माणि, विनश्यन्ति=हीयन्ते । कुसरितः=स्वल्पजला नद्यः ॥ १३७ ॥

इसके बाद उस संन्यासी ने खन्ती ('कस्सी'-फावडा) लेकर मेरे (चूहे) बिल को खोद डाला और मेरा बहुत दिन का एकत्र किया हुआ सब धन ले लिया ।

उसी दिन से मैं अपनी शक्ति से हीन हो गया और बल उत्साह से रहित होकर अपना भोजन उपार्जन करने में भी मैं असमर्थ हो गया। और एक दिन मैं मारे डर के धीरे धीरे जा रहा था, कि मुझे उस चूड़ाकर्ण संन्यासी ने देखा और कहा कि—

धन के प्रभाव से सब कोई बली होते हैं, धन से ही पण्डित होते हैं, देखो धन के चले जाने से यह पापी चूहा फिर अपनी जाति वालों के बराबर हो गया । अर्थात् इसका वह असाधारण बल जाता रहा ॥ १३६ ॥

और भी—धनहीन (दरिद्र) हो जाने से अल्पबुद्धि वाले भाग्यहीन मनुष्य के सभी काम उसी प्रकार बिगड़ जाते हैं, जैसे गरमी में सब छोटी छोटी नदियाँ सूख जाती हैं ॥ १३७ ॥

अपरञ्च—

'यस्याऽर्थास्तस्य मित्राणि, यस्याऽर्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्याऽर्थाः स पुमाँल्लोके, यस्याऽर्थाः स च पण्डितः' ॥ १३८ ॥

अन्यच्च—

'अपुत्रस्य गृहं शून्यं, सन्मित्ररहितस्य च ।
मूर्खस्य च दिशः शून्याः, सर्वशून्या दरिद्रता ॥ १३९ ॥
दारिद्र्यान्मरणाद्वापि दारिद्र्यमवरं स्मृतम् ।
अल्पक्लेशेन मरणं, दारिद्र्यमतिदुःसहम्' ॥ १४० ॥

यस्येति । यस्य=पुंसः । अर्थाः—धनानि सन्ति । तस्य = तस्यैव । मित्राणि= सुहृदो भवन्ति । पुमान् = पुरुषश्रेष्ठः । स च = स एव । 'स ही'ति पाठान्तरम् ॥ १३८ ॥

अपुत्रस्य = पुत्ररहितस्य—पुंसः-गृहं = गेहं , शून्यं = शून्यमिव भवति । सन्मित्ररहितस्य च=श्रेष्ठमित्रविरहितस्यापि च, गृहं शून्यमित्यन्वयः । मूर्खस्य च, दिशः=दिक्प्रदेशाः शून्याः । क्वचिदपि स गन्तुमशक्तः, मूर्खत्वात् । दरिद्रता तु— सर्वशून्या । दरिद्रस्य सर्वमेव शून्यमित्यर्थः ॥ १३९ ॥

अवरं = न्यूनम् । कुत एतदत आह—अल्पेति । मरणे तु स्वल्पः = क्षणमात्र-स्थायी । दारिद्र्यं = दारिद्र्योत्थितं दुखन्तु—अतिदुःसहम्=नितरां सोढुमशक्यम्, तस्य सार्वदिकत्वेन अतिदुस्तरत्वात् ॥ १४० ॥

और भी—जिसके पास धन है, उसीके सब लोग मित्र हैं, उसी के भाई बन्धु हैं, वही श्रेष्ठ पुरुष है और वही सच्चा पण्डित है ॥ १३८ ॥

और भी-जिसको लड़का नहीं है उसका, तथा जिसके सच्चा मित्र नहीं है उसका तो घर ही सूना है । और मूर्ख के लिये सब दिशायें ही सूनी हैं । (सभी देश शून्यवत् है), परन्तु दरिद्र के लिये तो सभी कुछ सूना है, अर्थात् दरिद्र के लिये सब कुछ सूने की तरह ही है ॥ १३९ ॥

और भी—दरिद्रता और मरना इन दोनो में से मरना ही अच्छा है, क्योंकि मरने में तो थोड़ी देर ही क्लेश है, पर दरिद्रता में तो सदा कष्ट ही कष्ट है ॥ १४० ॥

अपरञ्च—

'तानीन्द्रियाण्यविकलानि, तदेव नाम,
सा बुद्धिरप्रतिहता, वचनं तदेव ।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव,
'अन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्' ॥ १४१ ॥

एतत्सर्वमाकर्ण्य मयाऽऽलोचितं—'ममाऽत्रावस्थानमयुक्तमिदानीम् । यच्चाऽन्यस्मै एतद्वृत्तान्तकथनं तदप्यनुचितम्' । यतः—

'अर्थनाशं, मनस्तापं, गृहे दुश्चरितानि च ।
वञ्चनं, चाऽपमानं च, मतिमान्न प्रकाशयेत्' ॥१४२॥

तानीति । यानि पूर्वमासन् तान्येव अविकलानि = दोषानुपहतानि, अकुण्ठितानि च, इन्द्रियाणि = चक्षुरादीनि, पुंसो धनविगमेऽपि सन्ति । तदेव = यद्धनसत्त्वसमये आसीत्, तदेव च—नाम = नामधेयम् । अप्रतिहता = अकुण्ठिता सा निर्मला एव—बुद्धिः । तदेव वचनं = वाक्यम् । अर्थोष्मणा = वित्तोष्मणा (धन की गर्मी से) । स एव = यो धनसत्त्वसमये आसीत्स एवास्ति । अन्यः=अन्य इव, धनापगमेन प्रभावशून्यः । इत्येतत्=इदं, विचित्रम् = आश्चर्यजनकम् ॥ १४१ ॥

आकर्ण्य = श्रुत्वा । आलोचितं = मनसि विचारितम् । अत्र = मठे । अवस्थानं=निवासः । एतद्वृत्तान्तकथनं = स्वधनापहारवार्त्ताकथनम् ।

अर्थेति । अर्थनाशं = धननाशम् । मनस्तापं = मानसं क्लेशम् । गृहे = गृहे

और भी—यद्यपि दरिद्र होने पर भी पुरुष की वे ही अविकृत इन्द्रियां रहती हैं, वही नाम है, वही पहिले की तरह ही तीक्ष्ण बुद्धि है, वही वाणी है, परन्तु जब उसमें धन की गर्मी नहीं रहती है, तो क्षण भर में ही उसकी दशा बदल जाती है, यह कैसी विचित्र और आश्चर्य की बात है ॥ १४१ ॥

यह सब सुन कर मैंने सोचा कि, अब यहाँ मेरा रहना ठीक नहीं है । और दूसरे से अपनी दुर्दशा का यह हाल कहना भी उचित नहीं हैं ।

---

१. 'बाह्यः' पा० ।

अपि च—

'आयुर्वित्तं, गृहच्छिद्रं, मन्त्र-मैथुन-भेषजम् ।
तपो, दानाऽपमानञ्च नव गोप्यानि यत्नतः' ॥ १४३ ॥

तथा चोक्तम्—

'अत्यन्तविमुखे दैवे, व्यर्थे यत्ने च, पौरुषे ।
मनस्विनो दरिद्रस्य वनादन्यत्कुतः सुखम्'? ॥ १४४ ॥

अन्यच्च—

'मनस्वी म्रियते कामं, कार्पण्यं न तु गच्छति ।
अपि निर्वाणमायाति, नाऽनलो याति शीतताम्' ॥ १४५ ॥

भवानि, दुश्चरितानि = दुराचरणानि व्यभिचारादीनि । वञ्चनं = दुष्टैर्वञ्चनम् । (ठगा जाना) । अपमानं = तिरस्कारञ्च । मतिमान् = बुद्धिमान् । न प्रकाशयेत् = कस्याप्यग्रे न प्रकटीकुर्यात् ॥ १४२ ॥

आयुरिति । आयुः = जीवितकालः । वित्तं = धनम् । गृहच्छिद्रं = गृहे भवानि दुश्चरितानि । मन्त्रमैथुनभेषजम् = मन्त्र-सुरत-भेषजानि । तपो, दानमपमानञ्चेति—नव गोप्यानि = सुगूढं स्थाप्यानि, न प्रकाशनीयानि ॥ १४३ ॥

अत्यन्तेति । दैवे = अदृष्टे, अत्यन्तं विमुखे = नितरां प्रतिकूले सति । यत्ने = प्रयत्ने च । पौरुषे = बले च, व्यर्थे = व्यर्थताङ्गते सति । मनस्विनः = मानधनस्य, उन्नतचित्तस्य । वनं विना = स्वदेशं विहाय वनगमनं विना, कुतः सुखं = क्व सुखं स्यात् । नैव कुत्रापि सुखमित्यर्थः ॥ १४४ ॥

क्योंकि—बुद्धिमान् मनुष्य,-अपने धन का नाश, अपने मन का संताप, घर की बुराई, ठगा जाना और अपने अपमान को किसी के सामने प्रकाशित न करे ॥१४२

और भी—आयु, धन, गृह का कलंक, मन्त्र, मैथुन, औषध, तप, दान और अपमान, इन नौ बातों को सदा बहुत सावधानी से छिपाना चाहिए ॥ १४३ ॥

और भी कहा है—जब विधाता प्रतिकूल हो और जब सब यत्न भी निष्फल हो जाएं, तो निर्धन मनस्वी मनुष्य के लिये वन को छोड़ कर और कहाँ सुख हो सकता है ?। अर्थात् उसे देश छोड़ कर अन्यत्र कहीं वन में चला जाना चाहिए ॥ १४४ ॥

किञ्च—

'कुसुमस्तबकस्येव द्वे वृत्ती तु[1] मनस्विनः ।
[2]सर्वेषां मूर्ध्नि वा तिष्ठेद्विशीर्येत वनेऽथवा' ॥ १४६ ॥

यच्चाऽत्रैव याच्ञया जीवनं, तदतीव गर्हितम् । यतः—

'वरं विभवहीनेन प्राणैः सन्तर्पितोऽनलः ।
नोपचारपरिभ्रष्टः कृपणः प्रार्थितो जनः' ॥ १४७ ॥

मनस्वीति । मनस्वी=उन्नतचेताः, कामं=यथेच्छं, म्रियते=स्वप्राणान् जहाति । किन्तु—कार्पण्यं=दैन्यम् । निर्वाणं=शान्तिम् । (बुझ जाता है) । शीततां=शैत्यम् । अनलः=वह्निः ॥ १४५ ॥

कुसुमस्तबकस्येव=पुष्पगुच्छकस्येव । वृत्ती=व्यवस्थिती, विशीर्येत=विशीर्णताङ्गच्छति । (बिखर जाता है । नष्ट हो जाता है) ॥ १४६ ॥

अत्रैव=अस्मिन्नेव मठे । याच्ञया = भैक्ष्येण, गर्हितं = निन्दितम् ।

वरमिति । विभवहीनेन=धनरहितेन पुंसा । अनलः=वह्निः, प्राणैः सन्तर्पितः=वह्नौ शरीरं हुतञ्चेत्, वरं=किञ्चित् श्रेष्ठम् । उपचारपरिभ्रष्टः=सत्कारवर्जितः । कृपणो जनः = कदर्यः (कंजूस) । प्रार्थितः=याचितः—न वरम् ॥ १४७ ॥

और भी—मनस्वी मनुष्य मर भले ही जाता है, परन्तु वह किसी के सामने दीनता कभी नहीं प्रगट करता है । देखो, अग्नि बुझ तो जरूर जाता है, परन्तु वह कभी शीतल नहीं होता है ॥ १४५ ॥

और भी—फूल के गुच्छे की तरह मनस्वी मनुष्य की भी दो ही वृत्तियाँ होती हैं, या तो वह सब के (शिर के) ऊपर ही रहता है, अथवा वह वन में ही पड़ा-पड़ा नष्ट हो जाता है ॥ १४६ ॥

और यहीं पर (मठ में) रह कर मेरा भिक्षा मांग कर जीवन बिताना—यह तो अत्यन्त ही निन्दित है । क्योंकि—दरिद्र मनुष्य अपने प्राण को अग्नि में समर्पण कर दे, तो वह बहुत अच्छा है, परन्तु विचारशून्य कृपण मनुष्यों से प्रार्थना करना (उनसे भिक्षा माँगना) यह तो अच्छा नहीं है ॥ १४७ ॥

१. 'द्वे वृत्तीस्तो' इति, 'वृत्ती च' इति च पा० । २ 'सर्वलोकस्य वा मूर्ध्नि' पा० ।

'दारिद्र्याद्ध्रियमेति, ह्रीपरिगतः सत्त्वात्परिभ्रश्यते,
निःसत्त्वः परिभूयते, परिभवान्निर्वेदमापद्यते[1]।
निर्विण्णः शुचमेति, शोकनिहतो बुद्ध्या परित्यज्यते,
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो! निधनता सर्वापदामास्पदम्' ॥१४८॥

किञ्च—

'वरं मौनं कार्यं, न च वचनमुक्तं यदनृतं,
वरं क्लैब्यं पुंसां, न च परकलत्राऽभिगमनम्।
वरं प्राणत्यागो, न च पिशुनवाक्येष्वभिरुचि[2]-
र्वरं भिक्षाऽशित्वं, न च परधनाऽऽस्वादनसुखम्[3]' ॥१४९॥

दारिद्र्यादिति। ह्रियं = लज्जाम्। ह्रीपरिगतः = लज्जितः, सत्त्वात् = शक्त्याः, बलात्, ओजसः, पौरुषात्, धैर्याच्च। परिभूयते = तिरस्क्रियते। निर्वेदं = ग्लानिम्, मनस्तापञ्च। निर्विण्णः = खिन्नः। शुचं = शोकम्। एति = गच्छति। शोकनिहतः = शोकाकुलः, क्षयं = विनाशम्। निधनता = निर्धनता, दरिद्रता। सर्वापदां = सकलविपत्तीनाम्। आस्पदं = स्थानम्, कारणञ्च ॥ १४८ ॥

वरमिति। अनृतं = मिथ्या। क्लैब्यं = नपुंसकता। परकलत्राभिगमनं = परदाराऽवमर्शः। पिशुनवाक्येषु = दुर्जनखलवचनेषु। (पिशुन = चुगलखोर)। अभिरुचिः = आदरः। भिक्षाशित्वं = भिक्षाभोजनादरः। परधनास्वादनसुखं = परधनोपभोगलम्पटता ॥ १४९ ॥

क्योंकि-दरिद्रता से मनुष्य लज्जित-सा हो जाता है। लज्जित मनुष्य तेज से हीन हो जाता है! तेजहीन मनुष्य का सर्वत्र निरादर होता है। अनादर से खेद (उदासी) होता है। खिन्न मनुष्य शोक से व्याप्त हो जाता है। शोकग्रस्त मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है। और बुद्धिहीन मनुष्य का नाश निश्चित है। अतः दरिद्रता ही सब आपत्तियों का आधार स्थान (मूल कारण) है ॥ १४८ ॥

और भी—चुप रहना कहीं अच्छा है, परन्तु झूठ बोलना अच्छा नहीं।

१ 'मागच्छति'। २ 'ष्वभिरतिः'। ३ 'रतिः'। 'बलम्'।

'वरं शून्या शाला, न च खलु वरो दुष्टवृषभो,
वरं वेश्या पत्नी, न पुनरविनीता कुलवधूः।
वरं वासोऽरण्ये, न पुनरविवेकाधिपपुरे,
वरं प्राणत्यागो, न पुनरधमानामुपगमः' ॥ १५० ॥

अपि च—

'सेवेव मानमखिलं, ज्योत्स्नेव तमो, जरेव लावण्यम्।
हरिहरकथेव दुरितं, गुणशतमप्यर्थिता हरति' ॥ १५१ ॥

वरमिति। श्रेष्ठेत्यर्थः। शाला=गोशाला, गृहं च। अविनीता=अशिक्षिता। अविवेकाऽधिपपुरे=विवेकशून्यनरपतिनगर्याम्। उपगमः=याञ्चा। अधमानां=नीचानाम् ॥ १५० ॥

सेवेवेति। सेवा यथा अखिलं मानं हरति, जोत्स्ना च यथा तमो हरति, जरा च यथा पुंस्त्वं लावण्यं च हरति, हरिहरकथा च यथा दुरितं=पापं हरति, तथा अर्थिता=याञ्चा, गुणशतमपि=अनन्तानपि गुणान्, हरति=विलोपयति। नाशयति ॥१५१॥

नपुंसकता अच्छी है, परन्तु परस्त्रीगमन अच्छा नहीं। मर जाना अच्छा है, परन्तु दुष्ट व निन्दक के वचन में विश्वास करना अच्छा नहीं। भिक्षा माँगकर खाना अच्छा है, परन्तु दूसरे के धन पर आनन्द (मौज) करना कभी अच्छा नहीं है ॥ १४६ ॥

और भी—गोशाला का सूना रहना अच्छा है, परन्तु उनमें दुष्ट बैल रखना अच्छा नहीं है। वेश्या को पत्नी रूप से रख लेना अच्छा है, परन्तु कुलीन स्त्री यदि दुश्चरित्रा हो, तो वह अच्छी नहीं। वन में रहना अच्छा है, परन्तु अविवेकी राजा के राज्य में रहना अच्छा नहीं। प्राण का त्याग कर देना कहीं अच्छा है, परन्तु नीचों की सेवा और उनका संग-साथ कभी अच्छा नहीं है ॥ १५० ॥

और भी—जैसे दूसरे की सेवा—मान को, प्रकाश—अन्धकार को, वृद्धता—सौन्दर्य को और भगवत्कथा—पाप को—हरण करती है, वैसे ही याचना (मांगना) भी मनुष्यों के सभी गुणों को हर लेती है, (वह सभी गुणों का नाश कर देती है) ॥ १५१ ॥

—इति विमृश्य 'तत्—किमहं परपिण्डेनाऽऽत्मानं पोषयामि[1] ? । कष्टं भोः ! तदपि द्वितीयं मृत्युद्वारम् । यतः—

'पल्लवग्राहि पाण्डित्यं, क्रयक्रीतश्च मैथुनम् ।
भोजनञ्च पराऽधीनं, तिस्रः पुंसां विडम्बनाः ॥ १५२ ॥
रोगी, चिरप्रवासी, पराऽन्नभोजी, पराऽवसथशायी ।
यज्जीवति तन्मरणं, यन्मरणं सोऽस्य विश्रामः' ॥ १५३ ॥

—इत्यालोच्याऽपि लोभात्पुनरप्यर्थं ग्रहीतुं ग्रहमकरवम् ।

इति विमृश्य = इत्थं विचार्य । पुनरपि प्रकारान्तरेण विचारयति-**तत्किमह-मिति** । परपिण्डेन=परदत्तेन भोजनकवलेन । सेवयेत्यर्थः । पोषयामि = पालयामि । नैतदुचितमित्याह-**कष्टमिति** । तदपि = परपिण्डोपजीवनम् । द्वितीयम्= अपरमिव । मृत्युद्वारं = मृत्युतुल्यकष्टप्रदम् ।

पल्लवेति । पल्लवग्राहि = नानाशास्त्रेभ्यः कियतोऽप्यंशस्य विशकलितस्य ग्रहणेन समुद्भूतम् । (इधर उधर का थोड़ा-बहुत सीख लेना) । क्रयक्रीतं=वेश्यादितो भाटकेन लब्धम् । मैथुनं = सुरतम् । विडम्बनाः = कदर्थनानि, उपहासायैव ॥१५२॥

परावसथशायी = परगृहशायी । तस्य जीवनं-मरणतुल्यम् । मरणञ्च-तस्य विश्रामः = क्लेशनिर्मोक्षः ॥ १५३ ॥

इस प्रकार विचार करके फिर मैंने इस प्रकार पुनः विचार किया, कि-क्या मैं किसी राजा, सेठ-साहूकार आदि की सेवा (नौकरी) करके दूसरे के अन्न से अपना पालन पोषण करूँ ? । परन्तु हाय तो बड़े ही कष्ट की बात है, दूसरे की नौकरी करना तो मरण के ही तुल्य है ।

क्योंकि-पल्लवग्राही पाण्डित्य-(थोड़ा थोड़ा सब कुछ पढ़ना, परन्तु किसी विषय को पूरा पूरा न जानना), द्रव्य देकर मैथुन करना, दूसरे के अधीन होकर पेट पालना (भोजन करना) ये तीनों बातें तो अत्यन्त कष्ट देने वाली और उपहासास्पद ही हैं, अर्थात् निस्सार (व्यर्थ) ही हैं ॥ १५२ ॥

और रोगी, सदा परदेश रहने वाले, दूसरे का अन्न खाने वाले, और दूसरे के घर में रहने वाले-पुरुष का जीवन तो मरने के तुल्य है, और उसका मरना उसके लिए विश्राम के ही समान है । अर्थात् जीने से उसका मरना ही अच्छा है ।।१५३॥

---

१. 'योजयामि' ।

धनलुब्धो ह्यसन्तुष्टो नूनमात्मद्रोही भवति ।

तथा चोक्तम्—

'लोभेन बुद्धिश्चलति, लोभो जनयते तृषाम् ।
तृषाऽऽर्त्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः' ॥ १५४ ॥

ततोऽहं मन्दं-मन्दमुपसर्पंस्तेन वीणाकर्णेन जर्जरवंशखण्डेन ताडित-श्चाऽचिन्तयम्—

'धनलुब्धो, ह्यसन्तुष्टोऽनियतात्माऽजितेन्द्रियः ।
सर्वा एवाऽऽपदस्तस्य, यस्य तुष्टं न मानसम्' ॥१५५॥

तथा च—

'सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम् ।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्माऽऽवृतेव भूः' ॥१५६॥

अर्थं=भिक्षान्नादिकं द्रविणम् । ग्रहम्=आग्रहम् ॥ लोभेनेति । चलति=नश्यति । तृषाम्=तृष्णाम् । तृषार्त्तः=तृष्णार्दितः । धनादि तृष्णाकुलः । परत्र=परलोके । इह=अस्मिन् लोके ॥ १५४ ॥ उपसर्पन्=इतस्ततो भ्रमन् ।

धनेति । लोभाक्रान्ताः—अनियतात्मा=चञ्चलमानसः, अजितेन्द्रियः= अनिर्जितेन्द्रियः ॥ १५५ ॥

ऐसा विचार कर भी, मैंने मारे लोभ के फिर भी उस संन्यासी के अन्न को खाने का प्रयत्न किया । क्योंकि धन का लोभी और असन्तोषी मनुष्य अपनी आत्मा के साथ भी द्रोह (विरोध) करने वाला ही होता है । किसी ने कहा भी है—

लोभ से मनुष्य की बुद्धि चञ्चल हो जाती है, और लोभ से मनुष्य को तृष्णा उत्पन्न होती है और तृष्णा से ही मनुष्य इस लोक में तथा परलोक में भी दुःख पाता है ॥ १५४ ॥

इसके अनन्तर उस संन्यासी का अन्न खाने को मैं धीरे-धीरे जा ही रहा था कि उस वीणाकर्ण संन्यासी ने मुझे एक फटे हुए बाँस के टुकड़े से मारा । तब मैं सोचने लगा—

जो मनुष्य धन का लोभी, असंतोषी, चञ्चल चित्तवाला, इन्द्रियों के वश में रहने वाला है, तथा जिसका मन सन्तुष्ट नहीं है, ऐसे मनुष्य को सब प्रकार की आपत्तियाँ आकर घेर लेती हैं ॥ १५५ ॥

अपरञ्च—

'सन्तोषाऽमृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्' ॥ १५७ ॥

किञ्च—

'तेनाऽधीतं, श्रुतं तेन, तेन सर्वमनुष्ठितम् ।
येनाऽऽशाः पृष्ठतः कृत्वा नैराश्यमवलम्बितम्' ॥ १५८ ॥

अपि च—

'असेवितेश्वरद्वारमदृष्टविरहव्यथम् ।
अनुक्तक्लीबवचनं, धन्यं कस्याऽपि जीवनम्' ॥ १५९ ॥

सर्वा इति । उपानद्गूढपादस्य=पादुकाबद्धपादस्य । चर्मावृतेव=चर्माऽऽस्तृतेव । भूः=कण्टकादियुताऽपि–धरित्री–निष्कण्टकैव ॥ १५६ ॥

सन्तोषेति । सन्तोष एव अमृतं, तेन तृप्तानामित्यर्थः । अत एव–शान्तचेतसां=शान्तचित्तानाम् ॥ १५७ ॥

अधीतं=शास्त्रं पठितम् । श्रुतम्=आकर्णितम् । सर्वं=यज्ञादिकं शुभं कर्म । अनुष्ठितं=कृतम् । नैराश्यं=सन्तोषः ॥ १५८ ॥

असेवितेश्वरद्वारम्=असेवितराजादिधनिगृहद्वारम् । अदृष्टा विरहव्यथा यस्मिन् तत्–अदृष्टविरहव्यथम्=अननुभूतप्रियविरहम् । अनुक्तक्लीबवचनम्=अकथितदीन-

---

और भी–जिसका मन सन्तुष्ट है, उसके पास सब सम्पत्ति है । जैसे जिस मनुष्य के पैर में जूता है, उसके लिये मानो सब पृथ्वी ही चर्म से अच्छादित है ॥ १५६ ॥

और भी–सन्तोषरूपी अमृत से तृप्त एवं शान्त चित्तवालों को जो सुख है, वह सुख धन के लोभ से इधर-उधर दौड़ने वालों को कहाँ से हो सकता है ? ॥ १५७ ॥

और भी—जिसने आशा को लात मार कर नैराश्य (निराशा) का ही अवलम्बन किया है, उसीने सब शास्त्रों को ठीक २ पढा है, और उसी ने शास्त्रों को ठीक २ सुना है और उसीने सब कुछ कर्त्तव्यकार्य किया है ॥ १५८ ॥

और भी—जिसने धनिकों के द्वार की सेवा नहीं की, जिसने विरह की

यतः—

'न योजनशतं दूरं बाह्यमानस्य[1] तृष्णया ।
सन्तुष्टस्य करप्राप्तेऽप्यर्थे भवति नाऽऽदरः' ॥ १६० ॥

तदत्राऽवस्थोचितकार्यपरिच्छेदः श्रेयान् ।

'को धर्मो, भूतदया, किं सौख्यमरोगिता जगति जन्तोः ।
कः स्नेहः, सद्भावः, किं पाण्डित्यं, परिच्छेदः' ॥१६१॥

वाक्यम् । जीवनम्=जीवितम् । कस्यापि=सन्तुष्टस्य, विरक्तस्य च ॥

नेति । तृष्णया=आशया, बाह्यमानस्य=प्रेर्यमाणस्य । योजनशतमपि न दूरम् । तृष्णार्त्तो योजनशतमपि गच्छतीत्यर्थः । सन्तुष्टस्य तु करप्राप्ते=हस्तगतेऽपि । अर्थे=वस्तुनि-आदरो न भवतीत्यर्थः ॥ १६० ॥

तत्=तस्मात् । अवस्थोचितकार्यपरिच्छेदः=दरिद्राऽवस्थायोग्यः सुखोपभोगसङ्कोचः, उपभोगपरित्यागश्च । केचित्तु-परिच्छेदः=निश्चय इत्यर्थ इत्याहुः । श्रेयान्=श्रेष्ठः ।

क इति । भूतदया=जीवदया । सौख्यम्=सुखम् । अरोगिता=आरोग्यं । परिच्छेदः=सङ्कोचः, स्वल्पो व्ययः, निश्चयो वा ॥ १६१ ॥

व्यथा नहीं सही, और जिसने कहीं अपनी दीनता प्रगट नहीं की, उसी मनुष्य का जीवन धन्य है ॥ १५९ ॥

क्योंकि—जो मनुष्य तृष्णा के वश में हो रहा है, उसके लिये तो १००सौ योजन (चार सौ कोश) भी दूर नहीं है, पर जो प्राणी सन्तुष्ट है, उसको तो हाथ में आए हुए धन पर भी आदर नहीं होता है, किन्तु उसमें भी उसे उपेक्षा ही होती है ॥ १६० ॥

इसलिये यहाँ अब अपनी अवस्था (दरिद्रता) के अनुसार ही कर्त्तव्यकार्य का निर्णय कर लेना ही अच्छा है । क्योंकि—

धर्म क्या है ?, प्राणियों पर दया । संसार में सुख क्या है ?, नीरोग रहना । स्नेह क्या है ?, सद्भाव=अनुराग, प्रेम । पाण्डित्य क्या है ?, सत् असत् का विवेक । अर्थात्–उचित अनुचित का ठीक ठीक समझना ॥ १६१ ॥

---

१. 'बाध्यमानस्ये'ति पाठान्तरम् ।

तथा च—

'परिच्छेदो हि पाण्डित्यं यदाऽऽपन्ना विपत्तयः।
अपरिच्छेदकर्तॄणां विपदः स्युः पदे पदे' ॥ १६२ ॥

'त्यजेदेकं कुलस्याऽर्थे, ग्रामस्याऽर्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्याऽर्थे, स्वात्माऽर्थे पृथिवीं त्यजेत्' ॥१६३॥

अपरञ्च—

'पानीयं वा निरायासं, स्वाद्वन्नं वा भयोत्तरम्।
विचार्य खलु पश्यामि, तत्सुखं यत्र निर्वृतिः' ॥ १६४॥

परिच्छेदः = विचारः, निश्चयः, सन्तोषो वा। पाण्डित्यं = चातुर्यं, कौशलम्। आपन्नाः=प्राप्ताः। अपरिच्छेदकर्तॄणाम्=अविचार्य कार्यमाचरताम् अविवेकिनाम्। असन्तुष्टानां वा ॥ १६२ ॥

एकम् = एकं जनम्। ग्रामस्यार्थे = ग्रामवासिसकलजनोपकाराय। कुलं = बन्धुबान्धवकुलमपि। जनपदस्य=विषयस्य (जिला), ग्रामसमूहस्य, अर्थे = लाभाय। स्वात्मार्थे=स्वात्मलाभाय तु। पृथिवीं = सकलं-राज्यधनपुत्रादिकमपि। यत्रात्मनः सुखं स्यात्तत्रैव गच्छेदिति भावः ॥ १६३ ॥

एकत्र वने तु—निरायासं = प्रयत्नं विनाऽपि, पानीयं = निर्झरादिजलम्, **इह मठे तु**—भयोत्तरं = भयसङ्कुलं, स्वादु = मधुरम्, अन्नं = भक्ष्यभोज्यादिकमस्ति, तत् = उभयोर्मध्ये कतरत् श्रेयः ?। अत्राऽऽत्मनः प्रश्ने स्वयमेवोत्तरमाह—

और भी—विपत्ति आने पर, विचार कर कार्य करना ही पाण्डित्य (बुद्धिमत्ता) है। विना विचारे काम करनेवाले प्राणियों पर तो पद-पद में विपत्तियाँ आती हैं ॥१६२॥

और कुल के लिए एक को, गाँव भर के लिए कुल को, देश के लिये गाँव को, और अपने लाभ के लिये संपूर्ण पृथ्वी को भी छोड़ देना चाहिये ॥ १६३ ॥

और भी—यदि अनायास जल भी मिल जाय, और यदि नाना क्लेशों से स्वादु मिष्ट अन्न भी मिले, जिसमें अनेक कष्ट होने की सम्भावना हो तो, इन दोनों में से मैं तो पहिले में ही सुख समझता हूँ। क्योंकि सुख वही है, जिसमें चित्त को शान्ति हो,

—इत्यालोच्याऽहं निर्जनवनमागतः। यतः—

'वरं वनं [1]व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं,
द्रुमाऽऽलयं पक्वफलाऽम्बुभोजनम्।
तृणानि शय्याः, परिधानवल्कलं,
न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम्' ॥ १६५ ॥

ततोऽस्मत्पुण्योदयादनेन मित्रेणाऽहं स्नेहानुवृत्त्याऽनुगृहीतः। अधुना च पुण्यपरम्परया भवदाश्रयः स्वर्ग एव मया प्राप्तः।

विचार्येति। पश्यामि=अवधारयामि। यत्र निर्वृतिः = मनसः शान्तिः, सन्तोषश्च, तदेव सुखं, नान्यदिति भावः॥ १६४॥

व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं=सिंहादिश्वापद—गजादिवन्यजन्तु-सङ्कुलं। द्रुमा एव आलया यत्र तत्—द्रुमालयं=वृक्षादिनिर्मिताऽऽवासम्। पक्वानि फलानि,अम्बु च भोजनं यत्र तत्—पक्वफलाम्बुभोजनं=पक्ववन्यफलजलभोजनं, वनं=वनवासः, वरं=श्रेष्ठम्। यत्र हि वने तृणान्येव शय्यास्थानीयानि, वल्कलमेव च परिधानं=वस्त्राणि, तत्र यानं श्रेष्ठं, परन्तु बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम्=निर्धनजनजीवनं, नोचितमित्यर्थः॥ १६५॥

अनेन=वायसेन। स्नेहानुवृत्त्या = स्नेहदानेन। पुण्यपरम्परया=पुण्यपरिपाट्या,

---

अर्थात् स्वाधीन जल का मिलना—कष्टलभ्य स्वादु अन्न से-अधिक अच्छा है॥ १६४॥

ऐसा सोच कर मैं (चूहा) मठ को छोड़ कर निर्जन वन में चला आया। क्योंकि—

व्याघ्र और हाथियों से भरे हुए वन में वृक्षों के नीचे ठहरना कहीं अच्छा है, तथा पके हुए फलों से तथा जल से भी निर्वाह करना अच्छा है, तृण की शय्या और पहनने को वल्कल हों तो भी अच्छा है, परन्तु अपने बन्धुओं के बीच में दरिद्र हो कर रहना कभी अच्छा नहीं है॥ १६५॥

इसके अनन्तर मेरे पुण्यों के उदय से मुझे इस मित्र (कौवे) ने अपनी

---

१ 'गजादि' पा०।

यतः—

'संसारविषवृक्षस्य द्वे एव रसवत्फले'[1] ।
काव्याऽमृतरसाऽस्वादः, सङ्गमः '[2]सज्जनैः सह' ॥१६६॥

मन्थर उवाच—

['सत्सङ्गः, केशवे भक्तिर्गङ्गाम्भसि निमज्जनम् ।
असारे खलु संसारे त्रीणि साराणि भावयेत्'] ॥

'अर्थाः पादरजोपमा, [3]गिरिनदीवेगोपमं यौवन-
मायुष्यं जललोलबिन्दुचपलं, फेनोपमं जीवितम् ।
धर्मं यो न करोति निन्दितमतिः स्वर्गाऽर्गलोद्घाटनं,
[4]पश्चात्तापयुतो जरापरिगतः शोकाऽग्निना दह्यते' ॥१६७॥

महता सौभाग्येन । भवदाश्रयः = भवतः कच्छपस्याश्रयः, स्वर्गः=स्वर्गतुल्यः ॥

संसारेति । संसाररूपविषयवृक्षस्य । रसवत्फले=रसवती—रसयुक्ते—फले । काव्यामृतरसास्वादः = काव्यरूपामृतरसास्वाद इत्येकम् । सुजनैः सह-सङ्गमः = समागम इत्यपरम्फलम् ॥ १६६ ॥

अर्था इति । अर्थाः=धनानि, पादरजोपमाः=चरणधूलितुल्याः । अकारान्तोऽपि रजशब्दोऽस्ति, 'रजसा च रजं विदु'रिति द्विरूपकोशप्रामाण्यात् ।

स्नेहपूर्ण कृपा दृष्टि से अनुगृहीत किया । और अब तो मेरे पुण्य की परम्परा से (बड़े भाग से) स्वर्ग के समान सुखप्रद आपका आश्रय मुझे मिल गया है ।

क्योंकि—संसाररूपी विष वृक्ष के दो ही रसयुक्त (मीठे) फल हैं, एक तो अमृततुल्य काव्यों का रसास्वाद, और दूसरा सज्जनों की संगति ॥ १६६ ॥

तब मन्थर कछुवा यों कहने लगा—

[इस असार ससार में तीन ही वस्तु सार समझनी चाहिए । एक तो सज्जनों का संग, दूसरी भगवान् की भक्ति और तीसरा गङ्गाजी का स्नान] ॥

मन्थर बोला—धन तो पैर की धूलि के समान है, और यौवन भी पर्वतीय नदी

१. 'मधुरे फले' इति पा० । २. 'सुजनैः' इति पाठान्तरम् ।
३. 'गिरिणदी' पा० । ४. 'पश्चात्तापहतो जरापरिणतः' इति पाठान्तरम् ।

युष्माभिरतिसञ्चयः कृतस्तस्याऽयं दोषः । शृणु—

'उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम् ।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाऽम्भसाम्' ॥ १६८ ॥

अन्यच्च—

'यदधोऽधः क्षितौ वित्तं निचखान मितम्पचः ।
तदधोनिलयं गन्तुं चक्रे पन्थानमग्रतः' ॥ १६९ ॥

आयुष्यं = जीवितकालः । जललोलबिन्दुचपलम्=चञ्चलजलबिन्दुवदचिरविनाशि । फेनोपमं = जलबुद्बुदोपमम् । स्वर्गस्य या—अर्गला=कपाटविष्कम्भः, तस्या उद्घाटनम्=निराकरणक्षमम्, धर्मं—यो न करोति=नाऽऽचरति । स जराजीर्णः= वृद्धः सन्, पश्चात्तापयुतः = पश्चात्तापसन्तप्तः । द्वाप—श्चात्=अन्ते, तापयुतः=सन्तप्तमानस' इत्यर्थः । शोकाग्निना = शोकवह्निना । दह्यते=अनिशं ज्वलति ॥१६७ ॥

युष्माभिः=भवता मूषकेण । अतिसञ्चयः=नितरां सञ्चयः । अर्थः=तदपहाररूपो दोषः । उपार्जितानां=सङ्गृहीतानाम् । त्यागः=दानम् । तडागोदरसंस्थानां= तडागमध्यस्थितानाम् । अम्भसां = जलानाम् । परीवाहः = ततो निष्कासनमेव । क्षेत्रादौ योजनमेव च । रक्षणमित्यर्थः ॥ १६८ ॥

क्षितौ=पृथिव्याम् । मितम्पचः = कदर्यः । वित्तं = धनम् । निचखान=

के वेग के समान ही क्षणभङ्गुर है, और आयु–जल के चञ्चल बिन्दुओं के समान है, जीवन भी फेन-बुद्बुद के ही तुल्य है । इसलिये जो निन्दित बुद्धिवाला मनुष्य स्वर्ग के कपाट की अर्गला (आगल) का उद्घाटन करने वाले धर्म का सेवन नहीं करता है, वह पीछे वृद्धावस्था में सन्तापरूपी अग्नि से जलता रहता है ॥१६७॥

और आप (चूहे) ने धन का अधिक संचय किया था, उसीका यह दोष है, कि वह नष्ट हो गया और आपको भी यह कष्ट हुआ । क्योंकि सुनो—

अर्जन (पैदा) किये हुए धन को सत्पात्र में देना ही उसकी रक्षा है । जैसे तालाब के भीतर के बढ़े हुए जल को निकाल देने से ही उसके जल की शुद्धि होती है ॥ १६८ ॥

और भी—जिस कृपण ने अपने धन को पृथ्वी के भीतर गाड़ दिया है, उसने

अन्यच्च—

'निजसौख्यं निरुन्धानो यो धनाऽर्जनमिच्छति ।
पराऽर्थं भारवाहीव क्लेशस्यैव हि भाजनम्' ॥ १७० ॥

अपरञ्च—

'दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनो यदि ।
भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ?' ॥ १७१ ॥

अन्यच्च—

'दानोपभोगहीनाश्च दिवसा यान्ति यस्य वै ।
स कर्मकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति' ॥ १७२ ॥

निखातवान् (गाड़ता हुआ) तत् = निखननम् । अधः=नीचैः । निलयं= स्थानं, नरकमिति यावत् । अधोनिलयं=पातालमिति वा ॥ १६६ ॥

निजेति । स्वसुखं परित्यज्यापि यः केवलं धनमेव अर्जयितुमिच्छति, सः- परार्थम्=अन्यार्थं, भारवाहीव=भारवाहक इव, केवलं क्लेशमेव लभते, न सुखम् । भाजनं=पात्रम् ॥ १७० ॥

दानोपेति । दानोपभोगशून्येन भूमौ स्थापितेन धनेन यदि कदर्या धनिनो भवन्ति, तर्हि तेनैव भूमिस्थितेन तेषां धनेन वयम् उदासीना अपि धनिनः कुतो न भवामः ? । दानोपभोगशून्यत्वस्योभयत्र तुल्यत्वादित्याशयः ॥ १७१ ॥

पहले से ही मानो अपने लिये नीचे (नरक में) जाने के लिये मार्ग (सीढ़ी) ही बनाया है ॥ १६६ ॥

और भी—जो प्राणी अपने को कष्ट में डाल कर धन का उपार्जन करता है, वह दूसरे के बोझ को ढोने वाले कुली की तरह केवल दुःख ही का पात्र है, अर्थात् वह केवल दुःखही पाता है-सुख नहीं ॥ १७० ॥

और भी—जिस धन का उपभोग नहीं किया गया और जो न दिया गया, उस धन से यदि प्राणी अपने को धनी समझता है, तो पृथ्वी के भीतर गड़े हुए उस धन से क्या हम लोग भी धनी नहीं कहा सकते हैं, अर्थात् अवश्य कहा सकते हैं ॥ १७१ ॥

'धनेन किं, यो न ददाति, [1]नाऽश्नुते,
बलेन किं, यो न रिपून्न बाधते।
श्रुतेन किं, यो न च धर्ममाचरेत्,
किमात्मना, यो न जितेन्द्रियो भवेत्' ॥ १७३ ॥
'असम्भोगेन सामान्यं कृपणस्य धनं परैः।
'अस्येद'मिति सम्बन्धो हानौ दुःखेन गम्यते' ॥ १७४ ॥

दानोपेति। यस्य=यस्य पुंसः। यान्ति=गच्छन्ति। कर्मकारभस्त्रेव=लोहकारभस्त्रेव। (लोहार की भाथी की तरह)। श्वसन्नपि=श्वासं मुञ्चन्नपि, न जीवति=किन्तु मृतक एव। मृतकतुल्य एव ॥ १७२ ॥

धनेनेति। तस्य धनेन किं=किं फलम्। यो नाऽश्नुते=नोपभुङ्क्ते। बलेन=तस्य पुंसो बलेन। किं=किं फलं,—यः पुमान् बलवानपि, रिपून्=शत्रून्, न बाधते=नोन्मूलयति। श्रुतेन=शास्त्रेण। आत्मना=शरीरेण, जीवनेन ॥ १७१ ॥

कृपणस्य धनम्—असम्भोगेन=अनुपभोगेन। तावत्—परैः सामान्यं=परधनतुल्यमेव। परन्तु अस्य=कदर्यस्य, इदं=धनम्,—इति सम्बन्धाऽनुभवस्तु,—हान्या=तस्य धनस्य नाशे सति। दुःखेन=कदर्यदुःखेनैव, गम्यते=अनुमीयते ॥ १७४ ॥

और जिस मनुष्य के दिन दान और उपभोग के बिना निष्फल ही बीतते जाते हैं,वह मनुष्य लोहार की भाथी की तरह साँस लेता हुआ भी मरे हुए के समान ही है ॥ १७२ ॥

और उस धन से क्या लाभ है, जिस धन से दान न दिया जाय। और उस बल से भी क्या लाभ है, जिससे शत्रुओं को न दबा सके। और शास्त्र को सुनने से भी क्या लाभ है, यदि तदनुसार धर्म का आचरण न किया जाय। और उसके आत्मा (शरीर) से भी क्या लाभ है, जो जितेन्द्रिय न हो ॥ १७३ ॥

और भी—कृपण का धन उसके काम में नहीं आने से दूसरे के धन के बराबर ही है। 'परन्तु वह धन इस कृपण का है', यह बात तो केवल इतनेसे ही मालूम होती है, कि उस धन के नष्ट होने पर वह दुःखी होकर रोता है ॥ १७४ ॥

१. 'चाश्नुते' पा०।

'न देवाय, न विप्राय, न बन्धुभ्यो, न चाऽऽत्मने ।
कृपणस्य धनं याति वह्नि-तस्कर-पार्थिवैः ॥ १७५ ॥
दानं, भोगो, नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति, न भुङ्क्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ १७६ ॥
दानं प्रियवाक्सहितं, ज्ञानमगर्वं, क्षमाऽन्वितं शौर्यम् ।
वित्तं त्यागनियुक्तं, दुर्लभमेतच्चतुष्टयं लोके' ॥ १७७ ॥

उक्तञ्च—
'कर्त्तव्यः सञ्चयो नित्यं, कर्त्तव्यो नाऽतिसञ्चयः ।
पश्य सञ्चयशीलोऽसौ धनुषा जम्बुको हतः' ॥ १७८ ॥

नेति । कृपणस्य धनं न-देवाय=न देवपूजादावुपयुज्यते, न विप्राय=न तेन ब्राह्मणाय दीयते । याति=नश्यति । तस्कराः=चौराः । पार्थिवः=राजा ॥१७५॥

वित्तस्य=धनस्य, तृतीया गतिः = नाशः ॥ १७६ ॥

दानमिति । प्रियवाक्सहितं = प्रियवचनान्वितम् । अगर्वं=गर्वरहितम्, अभिमानशून्यम् । त्यागनियुक्तं = दानप्रयुक्तम्, दानाऽन्वितं वा ॥ १७७ ॥

अतिसञ्चयः = केवलं सञ्चय एव । सञ्चयशीलः = सञ्चयपरायणः ॥ १७८ ॥

और—कृपण का धन न देवता के काम (यज्ञ आदि) में आता है, और न ब्राह्मणों के काम में आता है, और न वह बन्धुओं के ही काम में आता है, न अपने ही काम में आता है, किन्तु वह धन या तो अग्नि में जल जाता है, या उसे चोर ही चुरा लेते हैं, या उसे राजा ही हर (छीन) लेता है ॥ १७५ ॥

और भी—धन की तीन तरह की गति होती हैं, १ दान, २ भोग और ३ नाश । परन्तु जो कंजूस मनुष्य न देता है, न खाता है और उसके धन की तीसरी ही गति (नाश) होती है, अर्थात् उसका वह धन नष्ट ही हो जाता है ॥ १७६ ॥

और—प्रियवचन पूर्वक दान, विना गर्व का ज्ञान, क्षमा युक्त शूर-वीरता, धन होने पर दान देना, ये चारों बातें संसार में बड़ी दुर्लभ हैं ॥ १७७ ॥

कहा भी है—प्रतिदिन मनुष्य को कुछ न कुछ सञ्चय अवश्य करना चाहिये,

तावाहतुः—'कथमेतत् ?'। मन्थरः कथयति—

(६) सञ्चयशीलजम्बुककथा ।

आसीत्कल्याणकटकवास्तव्यो भैरवो नाम व्याधः। स चैकदा मांसलुब्धो धनुरादाय मृगमन्विष्यमाणो विन्ध्याऽटवीं गतवान् । ततस्तेन व्यापादितं मृगमादाय गच्छता घोराऽऽकृतिः शूकरो दृष्टः ।

तेन व्याधेन मृगं भूमौ निधाय, शूकरः शरेणाऽऽहतः। शूकरेणाऽपि घनघोरगर्जनं कृत्वा, स व्याधो मुष्कदेशे हतः सन्, छिन्नद्रुम[1] इव भूमौ निपपात। यतः—

'जलमग्निर्विषं, शस्त्रं, क्षुद्व्याधिः, पतनं गिरेः ।
निमित्तं किञ्चिदासाद्य देही [2]प्राणैर्विमुच्यते' ॥ ७६ ॥

तौ=वायसमूषकौ । मन्थरः=कच्छपः ।

कल्याणकटकवास्तव्यः=कल्याणकटकनामकपर्वतनितम्बनिवासी । 'कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रे'रित्यमरः। व्याधः=लुब्धकः । विन्ध्याटवीं=विन्ध्यारण्यम् । व्यापादितं =हतम् । घोराकृतिः=भयङ्करस्वरूपः । आहतः=ताडितः । घनघोरगर्जनं= मेघगम्भीरं भीषणं गर्जनम् । मुष्कदेशे=अण्डकोशे । हतः=दन्तेन ताडितः ।

परन्तु अधिक सञ्चय भी नहीं करना चाहिये। क्योंकि देखो, ज्यादा संचय करने वाला वह सियार उस धनुष से मारा गया था ॥ १७८ ॥

तब वे दोनों (कौवा और चूहा) बोले–यह कथा कैसे है ? । तब मन्थर कछुआ इस प्रकार कहने लगा—

कल्याणकटक नामक किसी स्थान में भैरव नाम का एक व्याध रहता था। एक दिन वह मांस (शिकार) की इच्छा से धनुष लेकर मृग (शिकार) को खोजता हुआ विन्ध्याचल के जङ्गल को गया। इसके बाद उसने एक मृग को मारा और उसे लेकर चला। चलते २ उसने एक भयङ्कर सूअर को मार्ग में देखा। तब उसने मृग को भूमि पर रखकर सूअर को बाण से मारा। सूअर ने भी जोर से गर्ज कर उस व्याध के अण्डकोश में अपने दन्त से आघात किया, तब यह व्याध कटे हुये वृक्ष की तरह ही भूमि (जमीन) पर गिर पड़ा और मर गया।

१. 'हतः संछिन्न' इति पा० । २. 'र्वियुज्यते' पा० ।

अथ तयोः पादाऽऽस्फालनेन सर्पोऽपि मृतः। अथाऽनन्तरं दीर्घरावो नाम जम्बुकः परिभ्रमन्नाहारार्थी तान्मृतान्मृग-व्याध-सर्प-शूकरानपश्यत्। अचिन्तयच्च—'अहो ! अद्य महद्भोज्यं मे समुपस्थितम्'। अथवा—

'अचिन्तितानि दुःखानि यथैवाऽऽयान्ति देहिनाम्।
सुखान्यपि तथा, मन्ये दैवमत्राऽतिरिच्यते' ॥ १८० ॥

तद्भवतु। एषां मांसैर्मासत्रयं मे सुखेन गमिष्यति।

'मासमेकं नरो याति, द्वौ मासौ मृग-शूकरौ।
अहिरेकं दिनं याति, अद्य भक्ष्यो धनुर्गुणः' ॥१८१॥

संछिन्नद्रुम इव = छिन्नवृक्ष इव।

जलमिति। क्षुत्=क्षुधा। गिरेः=पर्वतादेः। आसाद्य=लब्ध्वा। देही=शरीरी। प्राणैर्वियुज्यते=म्रियते ॥ १७९ ॥

तयोः = व्याधशूकरयोः। पादास्फालनेन=पादताडनेन। (पैर पटकने से)। आहारार्थी = भोजनार्थी, परिभ्रमन् = पर्यटन्।

अचिन्तितानि = अविचारितानि। तथा=अचिन्तितान्येव-आयान्ति। दैवं= भाग्यम। अतिरिच्यते=पृथग्भवति। तद्विनाऽत्र हेतुः। विशिष्यते इति वा ॥१८०॥

नरः=व्याधः। द्वौ = द्वौ मासौ। मासद्वयं यावत्। याति = चलिष्यति।

क्योंकि—जल, अग्नि, विष, शस्त्र, भूख, रोग, पर्वत आदि से गिरना आदि, इनमें से किसी भी निमित्त से प्राणी अपने प्राणों को छोड़ता (अर्थात् मरता) है ॥ १७९ ॥

इसी प्रसङ्गमें उसी जगह एक सर्प भी उन दोनों के पैर पटकने से मर गया। इसी बीच में दीर्घराव नाम का एक सियार अपने भोजन की खोज में वहाँ आ निकला और उन मरे हुए व्याध, सर्प, मृग और सूअर को देख वह बड़ा ही प्रसन्न हुआ और सोचने लगा,-अहा ! मेरा धन्य भाग्य है, आज तो मुझे खूब भोजन मिला।

अथवा—जैसे प्राणियों के ऊपर दुःख बिना सूचना के ही एकाएक आया करते हैं, उसी प्रकार सुख भी अनायास ही आते हैं। इसमें केवल भाग्य ही प्रधान है ॥ १८० ॥

अच्छा ठीक है। इतने मांस से तीन ३ महिने मेरा काम चल जायगा। क्योंकि एक महीने तो मेरा भोजन इस मनुष्य से (व्याध) से चलेगा, दो

ततः प्रथमबुभुक्षायामिदं निःस्वादु कोदण्डाऽटनीलग्नं स्नायुबन्धनं खादामि'—इत्युक्त्वा तथा कृते सति, छिन्ने स्नायुबन्धने, द्रुतमुत्पतितेन धनुषा हृदि निर्भिन्नः स दीर्घरावः पञ्चत्वं गतः ।

अतोऽहं ब्रवीमि—'कर्तव्यः सञ्चयो नित्यम्' इत्यादि ।*।

तथा च—

'यद्ददाति, यदश्नाति, तदेव धनिनो धनम् ।
अन्ये मृतस्य क्रीडन्ति, दारैरपि, धनैरपि' ॥१८२॥

अद्य=अस्मिन् दिवसे तु ॥ १८१

कोदण्डलग्नं=धनुषि प्रतिरोपितम्, स्नायुबन्धनम्=अन्त्रनिर्मितं गुणम् । तथाकृते=स्नायुबन्धनं भोक्तुं प्रवृत्ते सति । उत्पतितेन = ऊर्ध्वमुच्छलितेन (उछले हुए) । निर्भिन्नः = विद्धः । पञ्चत्वं गतः = मृतः ।

यत् = यद्धनम् । अश्नाति = उपभुङ्क्ते । अन्ये = जामातृभ्रात्रादयः । क्रीडन्ति= तस्य दारधनादिकमुपभुञ्जते इति भावः ॥ १८२ ॥

महीने यह सूअर चलेगा, और एक दिन यह साँप चलेगा, और आज के दिन के लिए तो यह धनुष की ताँत ही मुझे बहुत है ॥ १८१ ॥

अतः आज पहिले कलेवा में भूख शान्त करने के लिए धनुष के अग्रभाग में लगी हुई स्वादरहित इस ताँत को ही खाता हूँ । ऐसा कहकर जब उसने धनुष में चढ़ी हुई ताँत को दाँतों काटा तो उसके टूटने पर धनुष उछला और उस सियार के हृदय में जाकर लगा और इस प्रकार दीर्घराव नाम का वह सियार मर गया ।

इसी से मैं कहता हूँ, कि—'नित्य कुछ सञ्चय करना अवश्य चाहिये, पर अधिक सञ्चय भी नहीं करना चाहिये' इत्यादि । क्योंकि कहा भी है—

जो धनी अपने धन को किसी को देता है और उसका उपभोग करता है, वही उसका धन है । मरने पर तो उसके धन और स्त्री आदि से दूसरे ही लोग आनन्द करेंगे ॥ १८२ ॥

किञ्च—

'यद्ददासि विशिष्टेभ्यो, यच्चाऽश्नासि दिने दिने।
तत्ते वित्तमहं मन्ये, शेषं कस्याऽपि रक्षसि' ॥ १८३ ॥

यातु, किमिदानीमतिक्रान्तोपवर्णनेन। यतः—

'नाऽप्राप्यमभिवाञ्छन्ति, नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम्।
आपत्स्वपि न मुह्यन्ति, नराः पण्डितबुद्धयः' ॥ १८४ ॥

तत्सखे! सर्वदा त्वया सोत्साहेन भवितव्यम्। यतः—

'शास्त्राण्यधीत्याऽपि भवन्ति मूर्खा, यस्तु क्रियावान्पुरुषः स विद्वान्।
सुचिन्तितं चौषधमातुराणां, न नाममात्रेण करोत्यरोगम्' ॥१८५॥

विशिष्टेभ्यः = महद्भ्यः सत्पात्रेभ्यः। शेषम् = अवशिष्टं धनम्, कस्यापि = कस्यापि उत्तराधिकारिणः कृते ॥ १८३ ॥

यातु = भवतु (जाने भी दो)। अतिक्रान्तोपवर्णनेन = पूर्ववृत्तकथया।

नाप्राप्यमिति। अलभ्यं नेच्छन्ति, नष्टं = गतं च—न शोचन्ति, विपत्तिष्वपि न मुह्यन्ति=मोहं न प्राप्नुवन्ति। पण्डितबुद्धयः=निश्चितबुद्धयः ॥१८४॥

सोत्साहेन = उत्साहवता। मूर्खाः = कुण्ठितबुद्धयः। क्रियावान् = कर्मसु

और भी—जो धन सत्पात्र में दिया जाता है, या जिसका नित्य उपभोग किया जाता है, वही धन तुमारा है, बाकी धन तो किसी दूसरे का है, तुम तो उसके केवल रखवाले मात्र ही हो ॥ १८३ ॥

अच्छा, जाने दो, पीछे की बातों को याद करके दुःखी होना भी ठीक नहीं है। क्योंकि—विद्वान् लोग अप्राप्य वस्तु को नहीं चाहते हैं और नष्ट वस्तु के लिये शोक भी नहीं करते हैं, तथा आपत्ति में घबड़ाते भी नहीं हैं ॥ १८४ ॥

अतः हे मित्र! अब आपको प्रसन्नता पूर्वक और उत्साह से यहाँ रहना चाहिये। क्योंकि बहुत से लोग शास्त्रों को पढ़कर भी मूर्ख ही रह जाते हैं, किन्तु जो कार्यों को करने में कुशल हैं, वेही सच्चे विद्वान् हैं। क्योंकि—अच्छी तरह विचार

अन्यच्च—

'न स्वल्पमप्यध्यवसायभीरोः करोति विज्ञानविधिर्गुणं हि।
अन्धस्य किं हस्ततलस्थितोऽपि, प्रकाशयत्यर्थमिह प्रदीपः' ॥१८६॥

तदत्र सखे! दशाविशेषे शान्तिः करणीया। एतदप्यतिकष्टं त्वया न मन्तव्यम्। यतः—

'राजा, कुलवधूर्विप्रा, मन्त्रिणश्च, पयोधराः।
स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः, केशा, नखा, नराः' ॥१८७॥

कुशलः। सुचिन्तितं=सुविचार्य रोगानुसारेण कल्पितमपि। नाममात्रेण=केवलनामकीर्तनमात्रेण। अरोगं=नीरोगं, स्वास्थ्यं वा ॥ १८५ ॥

अध्यवसायभीरोः=पराक्रमविकलस्य, अलसस्य च। विज्ञानविधिः=शास्त्रकलाकौशलम्, विधिः=क्रमः, गुणं=लाभम्। अर्थं=वस्तुजातं घटादिकम्। 'विज्ञाननिधि'रिति क्वचित्पाठः ॥ १८६ ॥

अत्र=अस्मिन्। दशाविशेषे=विपत्तिविशेषदशायाम्। एतत्=स्वस्थानपरित्यागेन वनगमनम्। 'दशाऽतिशेषेणे'ति पाठे=दशातिक्रमेण। दशायाः परिवर्त्तनशीलतां विभाव्येत्यर्थो बोध्यः ॥ कुलवधूः=कुलस्त्री। पयोधराः=स्त्रीस्तनाः ॥ १८७ ॥

कर निश्चित की हुई ओषधि भी केवल नाम लेने मात्र से ही मनुष्य को नीरोग नहीं कर देती है किन्तु उसका सेवन करने से ही लाभ होता है ॥ १८५ ॥

और भी—उत्साहहीन व परिश्रम न करने वाले मनुष्य को शास्त्रविधि (शास्त्रीय ज्ञान) भी कुछ लाभ नहीं पहुँचाता है। जैसे अन्धे मनुष्य के हाथ पर रक्खा हुआ दीपक भी उसे घट पट आदि पदार्थों को नहीं दिखला सकता है ॥ १८६ ॥

इसलिए हे मित्र! इसको समयविशेष का परिणाम समझ कर चित्त को शान्त करना चाहिये। और इस कष्ट (विपत्ति) को भी विशेष दुःखप्रद नहीं समझना चाहिये।

क्योंकि—'राजा, कुलीन स्त्री, ब्राह्मण, मन्त्री, स्त्रियों के स्तन, दाँत, केश, नख और मनुष्य—ये सब अपने स्थान से गिर जाने पर शोभा नहीं देते हैं॥ १८७॥

'स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते, दन्ताः, केशा, नखा, नराः'।
–इति विज्ञाय मतिमान् स्वस्थानं न परित्यजेत्' ॥१८८॥

—किन्तु कापुरुषवचनमेतत्।

यतः—

'स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति, सिंहाः, सत्पुरुषा, गजाः।
तत्रैव निधनं यान्ति, काकाः, कापुरुषा, मृगाः' ॥१८९॥

'को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः, को वा विदेशस्तथा,
यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम्।
यद्दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते,
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः' ॥१९०॥

अपरञ्च—

'निपानमिव मण्डूकाः, सरः पूर्णमिवाऽण्डजाः।
सोद्योगं नरमायान्ति विवशाः सर्वसम्पदः' ॥१९१॥

तत्रैव=दुर्भिक्षे, दुःखप्रदेऽपि देशे। निधनं=विनाशं यान्ति ॥ १८९ ॥

मनस्विनः=समुन्नतचित्तस्य। स्वविषयः=स्वदेशः। तस्मिन्=वने। तृष्णां=पिपासाम्।

अपने स्थान से भ्रष्ट हुए—दाँत, केश, नख और पुरुष ये सुशोभित नहीं होते हैं। इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह अपने स्थान को कभी न छोड़े ॥ १८८ ॥

—परन्तु ये दोनों ही कायरों के वाक्य हैं। क्योंकि—

सिंह, गुणी पुरुष, हाथी—ये अपने स्थानों को छोड़कर भी अन्यत्र जाकर प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। परन्तु कौवा, कापुरुष, हरिण—ये एक जगह रहकर ही जन्म बिता देते हैं और वहीं मर भी जाते हैं।

और उत्साही वीर पुरुषके लिए स्वदेश और परदेश क्या है। वह तो जहाँ भी जाताहै, उसी जगह को अपने बाहुबल से अपने अधीन कर लेता है। क्योंकि दाँत, नख, पोंछ ही जिसके साधन (शस्त्र) हैं, ऐसा सिंह—जिस वन में जाता है, उसी में हाथियों का शिकार कर के ही अपनी क्षुधा शान्त करता है ॥ १९० ॥

अन्यच्च—

'सुखमापतितं सेव्यं, दुःखमापतितं तथा ।
चक्रवत्परिवर्त्तन्ते दुःखानि च, सुखानि च' ॥ १६२ ॥

अन्यच्च—

'उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं, क्रियाविधिज्ञं, व्यसनेष्वसक्तम् ।
शूरं, कृतज्ञं, दृढसौहृदं च, लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः' ॥१६३॥

निपानम्=उपकूपजलाशयम् । 'आहावस्तु निपानं स्यादुपकूपजलाशये' इत्यमरः । अण्डजाः=हंसकारण्डवादयः पक्षिणः । सोद्योगम्=उद्योगिनम् । विवशाः =आकृष्टा इव, स्वयमेव ॥ १६१ ॥

आपतितम्=आगतम् । तथा=सेव्यम् । यतः-चक्रवत्—परिवर्त्तन्ते=आगच्छन्ति, यान्ति च ॥ १६२ ॥

उत्साहेति । उत्साहपरिपूर्णमित्यर्थः । अदीर्घसूत्रम्=अचिरक्रियम् । क्रियाविधिज्ञं=क्रियाविधानकुशलम् । दृढसौहृदं=स्थिरानुरागं, स्थिरसङ्कल्पं वा । याति= गच्छति ॥ १६३ ॥

और—जिस प्रकार कुए के पास के छोटे-छोटे जलाशयों (खेल, कोठों) में मेढ़क स्वयं चले आते हैं, और पूर्ण सरोवरों में पक्षी भी स्वयं चले आते हैं, उसी प्रकार उद्योगी पुरुष के पास भी सब प्रकार की सम्पत्तियाँ स्वयं ही चली आती हैं ॥ १६१ ॥

और भी—जब सुख आवे तो उसको भी भोगना चाहिये, और वैसे ही दुःख भीजब आ पड़े तो उसको भी सहना चाहिये । क्योंकि सुख और दुःख तो चक्र (पहिए) की तरह घूमा करते हैं । अर्थात् स्वयं ही आते-जाते रहते हैं ॥१६२॥

और भी—उत्साही, आलस्यरहित, कार्य करने के उपायों को जानने वाला, विषयों में अनासक्त, वीर और कृतज्ञ, तथा जिसकी मित्रता दृढ़ है—ऐसे मनुष्य के पास रहने की इच्छा से लक्ष्मी स्वयं ही आती है ॥ १६३ ॥

विशेषतश्च—

'विनाऽप्यर्थैर्वीरः[1] स्पृशति बहुमानोन्नतिपदं,
समायुक्तोऽप्यर्थैः परिभवपदं याति कृपणः ।
स्वभावादुद्भूतां गुणसमुदयाऽवाप्तिविषयां,
द्युतिं सैंहीं किं श्वा धृतकनकमालोऽपि लभते' ? ॥१६४॥

'धनवा'निति हि मदस्ते[2], किं गतविभवो विषादमुपयासि[3] ।
करनिहतकन्दुकसमाः पातोत्पाता मनुष्याणाम्' ॥ १६५ ॥

विनेति । अर्थैर्विनाऽपि धीरो वीरः, बहुमानोन्नतिपदं=समुन्नतं स्थानं, स्पृशति= आरोहति । अर्थैः समायुक्तोऽपि=अर्थैः समन्वितोऽपि । परिभवपदं=पराभवस्थानम् । उद्भूतां = प्राप्तां, प्रकटिताञ्च । गुणसमुदयावाप्तिविषयां=अनेकगुणगणप्राप्यां, सैंहीं= सिंहसम्बन्धिनीम्, द्युतिं = छविं, प्रभाञ्च । धृता कनकस्य माला येनासौ-धृतकनक- मालः=परिहितस्वर्णकण्ठाभरणोऽपि । श्वा = कुक्कुरः । किं लभते ?=किं प्राप्नोति, नैव लभते इत्यर्थः ॥ १६४ ॥

धनवानिति । 'अहं धनी'ति मदः=दर्पः, पूर्वं तव आसीत्, इदानीन्तु गतविभवः= विगलितसम्पत्तिर्दरिद्रोऽहमिति, विषादं = खेदं । किं = किमिति । उपयासि = गच्छसि । अत्र तव विषादो नोचित इत्यर्थः । कुत एतदत आह—करेति । हस्त- ताडितकन्दुकतुल्याः, क्षणिकाः । पातोत्पाताः=पतनोन्नतयः ॥ १६५ ॥

विशेष कर—वीर लोग बिना धन के भी मान और उन्नति को पाते हैं, और कृपण मनुष्य धन होने पर भी अनादृत ही होते हैं । क्या कुत्ता सोने की माला पहिनने से ही सिंह की स्वाभाविक और शूरता आदि गुणसमुदायों से प्राप्त हुई शोभा को पा सकता है ? । अर्थात् नहीं पा सकता है ॥ १६४ ॥

'मैं धनी हूँ' ऐसा गर्व पहिले तुझे था, अब धन के नाश होने पर खेद करना तेरा व्यर्थ है । क्योंकि मनुष्यों का अवनति (गिरना) और उन्नति (चढ़ना) दोनों ही-हाथ से मारे हुए गेंद के समान ही क्षणिक हैं, और दैवात् ये स्वयं हो हुआ करते हैं ॥ १६५ ॥

१ 'धीर' इति पाठान्तरम् ।
२ 'मदो मे' पा० । ३ 'उपयामी'ति पाठा० ।

अपरञ्च—

'अभ्रच्छाया, खलप्रीतिर्नवसस्यानि, योषितः।
किञ्चित्कालोपभोग्यानि, यौवनानि, धनानि च ॥ १६६ ॥
वृत्त्यर्थं नाऽतिचेष्टेत, सा हि धात्रैव निर्मिता।
गर्भादुत्पतिते जन्तौ मातुः प्रस्रवतः स्तनौ' ॥ १६७ ॥

अपि च—सखे !

'येन शुक्लीकृता हंसाः, शुकाश्च हरितीकृताः।
मयूराश्चित्रिता येन, स ते वृत्तिं विधास्यति' ॥ १६८ ॥

अपरञ्च सतां रहस्यं शृणु—मित्र !

'जनयन्त्यर्जने दुःखं, तापयन्ति विपत्तिषु।
मोहयन्ति च सम्पत्तौ, कथमर्थाः सुखावहाः ?' ॥१६९॥

अभ्रच्छाया=मेघच्छाया। एतानि पञ्च किञ्चित्कालमेव उपभोग्यानि, एषामचिरस्थायित्वात् ॥ १६६ ॥

वृत्त्यर्थं=जीविकार्थम्। अति=अत्यन्तम्। न चेष्टेत = न प्रयतेत। हि = यतः, सा=वृत्तिः, धात्रैव=ब्रह्मणैव। तथाहि—गर्भादुत्पतिते=प्रसूते। जन्तौ=प्राणिनि। प्रस्रवतः=स्वयमेव क्षरतः ॥ १६७ ॥

येन=विधात्रा। सः = विधाता। वृत्तिं=जीविकाम् ॥ १६८ ॥

और भी—मेघों की छाया, दुर्जनों की प्रीति, नया अन्न, कामिनी युवती स्त्री, यौवन और धन,—ये सब थोड़े ही काल तक भोगने लायक रहते हैं, क्योंकि-वे सदा एक से नहीं रहते हैं ॥ १६६ ॥

और मनुष्य को अपनी जीविका के लिये अधिक चेष्टा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि जीविका तो ब्रह्मा ने पहिले ही से बना दी है। देखो इसी लिये प्राणी के गर्भ से निकलते ही माता के स्तनों से स्वयमेव दूध निकलने लगता है ॥ १६७ ॥

और हे मित्र ! जिसने हंसों को सफेद किया, सुग्गों को हरा किया, मयूरों को चित्र-विचित्र रङ्ग का बनाया, वही ईश्वर तुम्हारी जीविका (भोजन आच्छा नद) की चिन्ता भी स्वयं करेगा ॥ १६८ ॥

और भी सज्जनों का गूढ़ तात्त्विक उपदेश सुनो—

अपरञ्च—

'धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' ॥ २०० ॥

यतः—

'यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः, श्वापदैर्भुवि ।
भक्ष्यते सलिले नक्रैस्तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ २०१ ॥
राजतः, सलिलादग्नेश्चोरतः, स्वजनादपि ।
भयमर्थवतां नित्यं, मृत्योः प्राणभृतामिव' ॥ २०२ ॥

रहस्यं=सुगूढं हितावहमुपदेशम् ॥ अर्जने = उपार्जने । तापयन्ति = खेदयन्ति । मोहयन्ति=बुद्धिं च नाशयन्ति ॥ १९९ ॥

धर्मार्थं=धर्मकरणार्थं, वित्तेहा = धनेच्छा । निरीहता=निरभिलाषता । पङ्कं स्पृष्ट्वा पादप्रक्षालनापेक्षया पङ्के पादनिक्षेपाऽभाव एव श्रेष्ठ इत्याशयः ॥२००॥

आमिषं = मांसम् । श्वापदैः=सिंहादिभिर्हिंस्रैः । नक्रैः=मकरादिभिर्जलचरैः । वित्तवान्=धनी ॥ २०१ ॥

राजतः=भूपात् । स्वजनात्=बान्धवेभ्यः । अर्थवतां=धनिनाम् । प्राणभृतां=प्राणिनाम् ॥ २०२ ॥

धन—अर्जन (पैदा) करने में दुःख होता है, विपत्ति में (धन चला जाय तो) सन्ताप देता है, और सम्पत्ति (धन की वृद्धि) में वह मोह को उत्पन्न करना है, अतः धन-सुख का देने वाला कैसे हो सकता है ? । (अर्थात् धन से तो सदा दुःख ही होता है) ॥ १९९ ॥

और भी—जो मनुष्य धर्म करने के लिये धन चाहता है, उसका तो धन को नहीं चाहना ही अच्छा है । क्योंकि पैर में कीचड़ लगा कर उसे धोने की अपेक्षा से पैर को कीचड़ में नहीं डालना ही अच्छा है ॥ २०० ॥

और जैसे माँस को आकाश में पक्षी खाजाते हैं, पृथिवी में सिंह व्याघ्र आदि खाजाते हैं, जल में मगर आदि खा जाते हैं, उसी प्रकार धनी के धन की भी दशा है । अर्थात् जो पाता है, वही धनी के धन को खा जाता है ॥ २०१ ॥

और जैसे प्राणियों को यम से भय है, वैसे ही धनी मनुष्यों को भी राजा से,

तथा हि—

'जन्मनि क्लेशबहुले किं नु दुःखमतः परम् ।
इच्छासम्पद्यतो नास्ति, यच्चेच्छा न निवर्त्तते' ॥ २०३ ॥

अन्यच्च—भ्रातः! शृणु—

'धनं तावदसुलभं, लब्धं कृच्छ्रेण रक्ष्यते ।
लब्धनाशो यथा मृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत् ॥ २०४ ॥
तृष्णां चेह परित्यज्य को दरिद्रः, क ईश्वरः ।
तस्याश्चेत्प्रसरो दत्तो, दास्यं च शिरसि स्थितम्' ॥२०५॥

क्लेशबहुले = दुःखप्राये । नु इति वितर्के । अतः परम्=इतोऽधिकं । किन्तदित्यत आह—इच्छेति । इच्छासम्पत्=मनोऽनुकूला सम्पत्तिः । तथापि इच्छा न निवर्तते, किन्तु अधिकं वर्द्धते—इत्यहो कष्टम् ॥ २०३ ॥

तावत्=प्रथमम् । असुलभं=दुर्लभम् । लब्धं चेत्—कृच्छ्रेण=दुःखेन । लब्धस्य नाशस्तु—मृत्युरेव । अतः—एतत्=धनम् । न चिन्तयेत्=नेच्छेत् ॥ २०४ ॥

तृष्णामिति । तृष्णात्यागे को दरिद्रः ?। क ईश्वरः=को धनी ? । 'इभ्य आढ्यो धनीश्वरः' इत्यमरः । न कोऽपीत्यर्थः । तस्याः=तृष्णायाः । प्रसरः=स्थानम्, आश्रयः । शिरसि = मस्तके ॥ २०५ ॥

जल से, अग्नि से और चोरों से तथा अपने बन्धु-बान्धवों, (दायाद, पट्टीदार आदि) से भी सदा भय रहता है ॥ २०२ ॥

और भी-दुःखों से भरे हुए इस मनुष्य जन्म में इससे अधिक दुःख और क्या हो सकता है, कि—अपनी इच्छा के अनुकूल धन मिलता भी नहीं है, फिर भी मनुष्य की इच्छा की निवृत्ति नहीं होती है ॥ १०३ ॥

और भी भाई ! सुनो, पहले—तो धन सुलभ नहीं है, दूसरे—मिलने पर भी उसकी रक्षा कठिनाई से होती है, फिर मिले हुए धन का नाश तो मरण के बराबर ही कष्ट देने वाला होता है इसलिये धन के उपार्जन आदि की चिन्ता कभी करनी ही नहीं चाहिये ॥ २०४ ॥

केवल एक तृष्णा को छोड़ देने पर कौन दरिद्र है, और कौन धनी है ? ।

अपरञ्च—

'यद्यदेव हि वाञ्छेत ततो वाञ्छा [1]प्रवर्त्तते ।
प्राप्त एवाऽर्थतः सोऽर्थो, यतो वाञ्छा निवर्त्तते ॥२०६॥

किं बहुना, मम पक्षपातेन मयैव सहाऽत्र कालो नीयताम् ।

यतः—

'आमरणान्ताः प्रणयाः, कोपास्तु क्षणभङ्गुराः ।
परित्यागाश्च निःसङ्गा भवन्ति हि महात्मनाम्' ॥२०७॥

—इति श्रुत्वा लघुपतनको ब्रूते—'धन्योऽसि मन्थर ! सर्वथा श्लाघ्यगुणोऽसि ।

यद्यदिति । यथा यथा इच्छति तथा तथा इच्छा प्रवर्तते = प्रवर्द्धते । प्राप्तेऽपि धने इच्छा न शाम्यति । यतः=सन्तोषाच्च वाञ्छा निवर्त्तते । एवञ्च सन्तोष एव वास्तविकी अर्थप्राप्तिः, न अर्थप्राप्तिर्वास्तविकी अर्थसिद्धिरिति भावः । अर्थतः= अर्थादेव वस्तुतः । सोऽर्थः=अभीष्टोऽर्थः ॥ २०६ ॥

आमरणान्ताः=मरणपर्यवसायिनः । क्षणभङ्गुराः=क्षणविनाशिनः । परित्यागाः=दानानि, विच्छेदाश्च । निःसङ्गाः=नितरां सङ्गवर्जिताः, फलानुसन्धानरहिताश्च ॥ २०७ ॥

अर्थात् तृष्णा से ही दरिद्रता होती है । और यदि तृष्णा को अवसर दिया (धन आदि की तृष्णा की,) तो फिर दूसरों की अधीनता अवश्यं भावी है । अर्थात् केवल तृष्णा को छोडने से ही मनुष्य सुखी हो सकता है, अन्यथा नहीं ॥ २०५ ॥

और भी—धन आदि किसी वस्तु को मनुष्य ज्यों २ चाहता है, त्यों २ उसकी इच्छा बढ़ती है । अतः वह सच्चा अर्थ (धन) नहीं है । वस्तुतः जिस (सन्तोष रूप अर्थ) से इच्छा की निवृत्त होती है, वही सच्चा 'अर्थ' है । वही वस्तु यदि मिले तो मिलना ठीक समझना चाहिये ॥ २०६ ॥

और अधिक क्या कहूँ । मेरे ऊपर कृपा करके अब आप मेरे साथ यहीं रहकर अपना कालक्षेप करिये । क्योंकि—

महात्मा लोगों का प्रेम तो मरण पर्यन्त (जीवन पर्यन्त) स्थायी रहता है, और महात्माओं का क्रोध तो क्षण मात्र में ही नष्ट हो जाता है, और उनका परित्याग (दान) भी आसक्ति (स्वार्थ) से रहित ही होता है ॥ २०७ ॥

१. प्रवर्द्धते' पा० ।

यतः—

'सन्त एव सतां नित्यमापदुद्धरणक्षमाः ।
गजानां पङ्कमग्नानां गजा एव धुरन्धराः ॥ २०८ ॥
गुणिनि गुणज्ञो रमते, नाऽगुणशीलस्य गुणिनि परितोषः ।
अलिरेति वनात्कमलं, नहि भेकस्त्वेकवासोऽपि ॥ २०९ ॥
श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां,
स उत्तमः सत्पुरुषः, स धन्यः ।
यस्याऽर्थिनो वा, शरणागता वा,
नाऽऽशाभिभङ्गाद्विमुखाः प्रयान्ति' ॥ २१० ॥

श्लाघ्याः=प्रशंसनीया गुणाः=दाक्षिण्यादयो यस्यासौ–श्लाघ्यगुणः ।
धुरन्धराः=भारधारणक्षमाः, उद्धरणोचिताः ॥ २०८ ॥
अलिः = भ्रमरः । एकवासः=समानसरोवरस्थोऽपि ॥ २०९ ॥
स एकः श्लाघ्यः, स एक उत्तमः पुरुषः, स एव धन्यः–यस्य गृहात् अर्थिनः =याचकाः, शरणागताः=शरणार्थिनश्च । आशाऽभिभङ्गात्,=आशातन्तुभङ्गात्, विमुखाः—निराशाः सन्तो, न प्रयान्ति=न गच्छन्ति ॥ २१० ॥

कछुवे की ऐसी बातें सुनकर लघुपतनक (कौवा) बोला—मन्थर ! तुम धन्य हो । सब प्रकार से तुम्हारी प्रशंसा ही करनी चाहिये । क्योंकि—

बड़े लोग ही बड़ों को आपत्ति से बचा सकते हैं । जैसे कीचड़ में फँसे हुए हाथी को हाथी ही निकाल सकता है, दूसरा कोई क्षुद्र जन्तु नहीं ॥ २०८ ॥

और गुणी के सङ्ग से गुणी को ही आनन्द होता है, निर्गुण को गुणी से सन्तोष कभी नहीं होता है । देखो, भ्रमर तो वन से चल कर भी कमल के पास आता है, परन्तु पास में ही रह कर भी मेढक कभी कमल के पास नहीं जाता ॥ २०९ ॥

और भी—जिसके पास से याचक गण अथवा शरणागत लोग कभी निराश होकर नहीं लौटते हैं, पृथ्वी पर मनुष्यों में वही धन्य है, और वही प्रशंसनीय है और वही श्रेष्ठ है, और वही सत्पुरुष भी है ॥ २१० ॥

—तदेवं ते स्वेच्छाऽऽहारविहारं कुर्वाणाः सन्तुष्टाः सुखं निवसन्ति ।

अथ कदाचिच्चित्राङ्गनामा मृगः केनाऽपि त्रासितस्तत्राऽऽगत्य मिलितः । ततः पश्चादायान्तं मृगमवलोक्य, भयं सञ्चिन्त्य, मन्थरो जलं प्रविष्टः, मूषकश्च विवरं गतः, काकोऽप्युड्डीय वृक्षमारूढः । ततो लघुपतनकेन सुदूरं निरूप्य भयहेतुर्न कोऽप्यायातोत्यालोचितम् । पश्चात्तद्वचनादागत्य पुनः सर्वे मिलित्वा तत्रैवोपविष्टाः । मन्थरेणोक्तं—'भद्र मृग ! स्वागतं ते, स्वेच्छयोदकाद्याहारोऽनुभूयताम् । अत्राऽवस्थानेन वनमिदं सनाथीक्रियताम् ।'

चित्राङ्गो ब्रूते—'लुब्धकत्रासितोऽहं भवतां शरणमागतो भवद्भिः सह सख्यमिच्छामि । भवन्तश्च मामनुकम्पयन्तु मैत्रेण' ।

ते = काककूर्ममृगाः । स्वेच्छया = स्वातन्त्र्येण, आहारं=भोजनं, विहारं=क्रीडां, परिभ्रमणादिकञ्च । सन्तुष्टाः=प्रसन्नाः ॥ ततः पश्चात् = तदनन्तरम् । आयान्तम् = आगच्छन्तम् । निरूप्य = विलोक्य । आलोचितं = निश्चितम् । तद्वचनात्= काकशब्दात् । भद्र != साधो (भाई !) । स्वागतं=शोभनन्ते आगमनम् । आहारः=भोजनम् । अवस्थानेन = स्थित्या । सनाथीक्रियताम्=अलंक्रियताम् ।

इस प्रकार वे (मन्थर आदि) सब अपनी इच्छापूर्वक आहार-विहार और आनन्द करते हुए प्रसन्नचित्त होकर एक साथ उस वन में रहने लगे ।

इसके बाद एक दिन चित्राङ्ग नाम का एक मृग भयभीत-सा होकर वहाँ आया । भाग कर आते हुए उस मृग को देखकर, विपत्ति की आशङ्का से मन्थर (कछुआ) तो जल में घुस गया, चूहा भी अपने बिल में चला गया, और कौवा उड़ कर वृक्ष पर चला गया ।

इसके बाद लघुपतनक कौवे ने बहुत दूर तक देख कर कहा कि—'कोई भय का कारण तो नहीं है' । उसके कहने से मन्थर आदि सब आकर मिल कर पुनः वहाँ बैठ गये । मन्थर ने कहा—भाई मृग ! तुम्हारा हम स्वागत करते हैं । यहाँ रह कर आप आनन्दपूर्वक अपनी इच्छा के अनुसार जलपान व भोजन आदि कीजिये । और अब यहीं रह कर इस वन की शोभा को बढ़ाइये ।

चित्राङ्ग ने कहा—मैं व्याध (बहेलिया, शिकारी) के डर से ही आप लोगों

हिरण्यकोऽवदत्–'मित्रत्वं तावदस्माभिः सह भवतोऽयत्नेन निष्पन्नम्। यतः—

'लोभाद्वाऽथ भयाद्वाऽपि, यस्त्यजेच्छरणाऽऽगतम् ।
ब्रह्महत्यासमं तस्य पापमाहुर्मनीषिणः ॥ २११ ॥
औरसं कृतसम्बन्धं, तथा वंशक्रमाऽऽगतम् ।
रक्षितं व्यसनेभ्यश्च, मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम्' ॥ २१२ ॥

तदत्र भवता स्वगृहनिर्विशेषं स्थीयताम् । तच्छ्रुत्वा मृगः साऽऽनन्दो भूत्वा, स्वेच्छाहारं कृत्वा, पानीयं पीत्वा, जलाऽऽसन्नवटतरुच्छायाया-मुपविष्टः ।

अत्रैव भवान् सुखं तिष्ठतु । लुब्धकत्रासितः = व्याधार्दितः । सख्यं = मैत्रीम् । अयत्नेन = अनायासेनैव ।

लोभादिति । मनीषिणः = धर्मतत्त्वज्ञा विद्वांसः ॥ २११ ॥

औरसमिति । औरसं = योनिसम्बन्धेन सम्बन्धि पुत्रभ्रात्रादिकम् । कृतसम्बन्धं = पुत्रादीनां विवाहादिसम्बन्धेन कृतं पुत्रश्वशुर-श्यालादिकम् । वंशक्रमागतं = वंशपरम्पराप्राप्तम् । व्यसनेभ्यः = विपत्तिभ्यः ॥ २१२ ॥

तत् = व्यसनरक्षिततया त्वमस्मन्मित्रतां गत इतिहेतोः । स्वगृहनिर्विशेषं = स्वभवनतुल्यमस्मद्भवनं मत्वा । जलासन्नतरुच्छायायां = सरोवरसन्निकटस्थित-

---

की शरण में आया हूँ । और मैं आप लोगों के साथ मित्रता चाहता हूँ ।

तब हरण्यक चूहा बोला—मित्रता तो हम लोगों के साथ आपकी बिना उद्योग के ही हो गई । क्योंकि—

जो कोई लोभ से, अथवा भय से शरणागत को छोड़ देता है, उसको ब्रह्म-हत्या का पाप होता है–ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥ २११ ॥

और मित्र चार प्रकार के होते हैं–(१) औरस (मामा-भानजा आदि) । (२) जिनके साथ विवाह आदि का सम्बन्ध हो गया है वह, (३) जो वंश परम्परा से मित्र है, वह । और (४) जो आपत्ति से बचाया गया हो, वह ॥२१२॥

इस लिये आप इस वन को अपने घर की तरह ही समझ कर यहाँ रहिए । ऐसा सुन कर वह मृग बड़ा प्रसन्न हुआ और अपनी इच्छा के अनुकूल भोजन करके, पानी पीकर, जल के पास वाले वृक्ष की शीतल छाया में बैठ गया ।

यत:—

'कूपोदकं, वटच्छाया, श्यामा स्त्री चेष्टकागृहम् ।
शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले च शीतलम्' ॥ २१३ ॥

अथ मन्थरेणोक्तम्—'सखे मृग ! एतस्मिन्निर्जने वने केन त्रासितोऽसि ? । कदाचित्किं व्याधाः सञ्चरन्ति ?' ।

मृगेणोक्तम्—'अस्ति कलिङ्गविषये रुक्माङ्गदो नाम नरपतिः । स च दिग्विजयव्यापारक्रमेणाऽऽगत्य चन्द्रभागानदीतीरे समावासितकटको वर्त्तते । प्रातश्च तेनाऽत्राऽऽगत्य कर्पूरसरःसमीपे भवितव्य'मिति व्याधानां मुखात्किंवदन्ती श्रूयते । तदत्राऽपि प्रातरवस्थानं भयहेतुकमित्यालोच्य यथावसरं कार्यमारभ्यताम् ।'

वटच्छाया=वटवृक्षच्छायायाम् ॥ श्यामा स्त्री='शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी, ग्रीष्मे तु सुखशीतला । तप्तकाञ्चनगौराङ्गी, बाला श्यामेति भण्यते ।' इतिलक्षणलक्षिता सुन्दरी कामिनी ॥ २१३ ॥

कलिङ्गविषये=कलिङ्गदेशे । (जिला राजमहेन्द्री आदि) । दिग्विजयव्यापारक्रमेण=दिग्विजययात्राप्रसङ्गेन । समावासितकटकः=निवेशितसैन्यशिविरः । (कटक=छावनी) । भवितव्यम्=स्थातव्यम् । किंवदन्ती=जनश्रुतिः । अत्रापि=अस्मिन् सरसि । प्रातः=प्रभाते । अवस्थानं=स्थितिः । भयहेतुकं=भयजनकम् । यथा-

---

क्योंकि—कुएँ का जल, वट की छाया, श्यामा (सोलह वर्ष की सुन्दरी युवती) स्त्री और ईंटों का घर, ये चारों वस्तुएँ शीतकाल में गर्म रहते हैं, और गर्मी में ये ठण्डे रहते हैं ॥ २१३ ॥

इसके बाद मन्थर ने कहा ! हे मित्र मृग ! इस निर्जन वन में तुम किससे डर गये थे ? । क्या इस वन में कहीं व्याध घूमते हैं ? । मृग बोला—कलिङ्ग देश में रुक्माङ्गद नाम का एक राजा है । वह दिग्विजय के लिये चला है और इस चन्द्रभागा नदी के तट पर अपनी सेना को लिए हुए ठहरा है । और कल सवेरे वह यहाँ आकर कर्पूर नामक सरोवर के पास ठहरेगा, ऐसी किंवदन्ती (बात) व्याधों के मुख से मैंने सुनी है । अतः यहाँ पर भी (इस वन में, इस सरोवर में) कल रहने में भय ही है । यह जानकर जैसा उचित हो वैसा कीजिए ।

तच्छ्रुत्वा कूर्मः सभयमाह—'जलाऽऽशयान्तरं गच्छामि।' काक-मृगावप्युक्तवन्तौ—'एवमस्तु'। ततो हिरण्यको विहस्याऽऽह—'जलाशयान्तरं प्राप्ते मन्थरस्य कुशलम्, स्थले गच्छतोऽस्य कः प्रतीकारः ?। यतः—

'अम्भांसि जलजन्तूनां, दुर्गं दुर्गनिवासिनाम्।
स्वभूमिः श्वापदादीनां, राज्ञां मन्त्री परं बलम्' ॥ २१४ ॥

सखे लघुपतनक ! अनेनोपदेशेन तथा भवितव्यम्—

'स्वयं वीक्ष्य यथा वध्वा पीडितं कुचकुड्मलम्।
वणिक्पुत्रोऽभवद् दुःखी, त्वं तथैव भविष्यसि' ॥ २१५ ॥

वसरं = यथोचितम्। समयानुसारेण। जलाशयान्तरम् = अपरं सरोवरादिकम् प्रति। प्राप्ते = प्राप्ते सति तु। स्थले = भूमौ चलतः कच्छपस्य तु। कः प्रतीकारः = क उपायः। 'का विधे ति' पाठेऽपि—क उपाय इत्यर्थः। मार्गे चलन्तं कच्छपं व्याधा यदि गृह्णीयुस्तर्हि किं स्यात्?। अतो जलाशयान्तरगमनविचारोऽस्य नोचित इत्याशयः। अम्भांसि = जलानि। जलजन्तूनां = मीनकच्छपादीनां। 'परं बल'-मिति शेषः। दुर्गनिवासिनां = कोट्टनिवासिनां, दुर्गं = कोट्टम्। दुर्गम—पर्वतादि-भूमिर्वा। 'परं बल'मिति सम्बन्धः। श्वापदादीनां = व्याघ्रादीनाम्। स्वभूमिः = स्वनिवासभूता पर्वतवनस्थली। 'परं बलम्' इत्यनुषङ्गः॥ २१४॥

अनेनोपदेशेन = जलाशयान्तरगमनरूपेण उपदेशेन। 'तथा भवितव्य'-मित्यस्य अग्रिमश्लोकेन (२१५ श्लो०) सहान्वयः।

यह सुनकर कछुआ डरकर बोला, हे मित्र! मैं तो चाहता हूं कि मैं किसी दूसरे तालाब में चला जाऊँ। तब कौवा और मृग बोले—यही ठीक है। तब हिरण्यक (चूहा) हँस कर बोला—दूसरे तालाब में पहुँच जाने पर तो मन्थर की भलाई ही होगी। परन्तु चलते समय स्थल (भूमि पर) में इसकी रक्षा का क्या उपाय है?। क्योंकि—जलजन्तुओं का जल ही बल है, किले में रहने वालों के लिये किला ही बल है, व्याघ्र इत्यादि के लिये अपना स्थान (वन, गुहा) ही बल है, और राजा लोगों के लिए अपने मन्त्री ही परम बल हैं॥ २१४॥

अतः हे मित्र लघुपतनक! यहाँ से 'दूसरे सरोवर में जाना ठीक है' इस उपदेश से तो वैसा ही होगा, जैसे—

ते ऊचुः—'कथमेतत्' ? हिरण्यकः । कथयति—

(७) राजपुत्रवणिग्वधूकथा ।

[1]अस्ति कान्यकुब्जविषये वीरसेनो नाम राजा । तेन वीरपुरनाम्नि नगरे तुङ्गबलो नाम राजपुत्रो भोगपतिः कृतः । स च महाधनस्तरुण एकदा स्वनगरे भ्राम्यन्नतिप्रौढयौवनां लावण्यवतीं नाम वणिक्पुत्रवधूमालोकयामास । ततः स्वहर्म्यं गत्वा स्मराऽऽकुलमतिस्तस्याः कृते दूतीं प्रेषितवान् । यतः—

'सन्मार्गे तावदास्ते, प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां,
लज्जां तावद्विधत्ते, विनयमपि समालम्बते तावदेव ।
भ्रूचापाऽऽकृष्टमुक्ताः, श्रवणपथगता, नीलपक्ष्माण एते
यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति' ॥२१६॥

स्वयमिति । स्वयं=साक्षादात्मना । वध्वाः=स्वपत्न्याः । पीडितं=मर्दितम् । कुचकुड्मलं=स्तनकोरकम् । (कुड्मल=कली) । त्वं=लघुपतनकः । तथैव=दुःखी ॥ २१५ ॥

विषये=देशे । भोगपपतिः=नगरपतिः, करग्रहाधिकारी च । (छोटा राजा, ठाकुर, जिलेदार, कलक्टर आदि) । महाधनः=नितरां धनी । अतिप्रौढयौवनां=परिपूर्णयौवनाम् । स्वहर्म्यं=स्वनिवासस्थानम् । (हवेली, महल) । स्मराकुलमतिः=कामाऽऽकुलितचित्तः । तस्याः=वणिक्पुत्रवध्वाः । सन्मार्गे इति । तावदेव इन्द्रियाणां

एक बनिये का लड़का-अपनी स्त्री के स्तनों को, दूसरे को दबाते हुए अपने आँखों से देख कर जैसे दुःखी हुआ था, वैसे ही तुम लोग भी दुःखी होगे ॥२१५॥

तब वे सब बोले—यह कथा कैसे है ? । हिरण्यक बोला—

कान्यकुब्ज (कन्नौज) देश में वीरसेन नाम का राजा था । उसने वीरपुर नामक नगर में तुङ्गबल नामक एकराजपुत्र को रक्षक अधिकारी (करग्रहणाधिकारी या ठाकुर) बनाया । वह तुङ्गबल बहुत धनी तथा युवा था । एक दिन अपने नगर में घूमते हुए उसने एक अत्यन्त सुन्दरी पूर्ण-यौवना लावण्यवती नाम की किसी बनिये की पुत्रवधू को देखा । इसके बाद अपने महल को गया और कामार्त होकर उस

१. इयं कथाऽश्लीलत्वात्परीक्षातः क्वचिदपसारिता

साऽपि लावण्यवती तदवलोकनक्षणात्प्रभृति स्मरशरप्रहारजर्जरित-हृदया तदेकचित्ताऽभवत् । तथा ह्युक्तम्—

'असत्यं, साहसं, माया, मात्सर्यं चाऽतिलुब्धता ।
निर्गुणत्वमशौचत्वं, स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः' ॥ २१७ ॥

अथ दूतीवचनं श्रुत्वा लावण्यवत्युवाच—'अहं पतिव्रता कथमेतस्मिन्नधर्मे पतिलङ्घने प्रवर्त्ते ? । यतः—

प्रभवति = इन्द्रियनिरोधे समर्थो भवति । भ्रुवावेव चापौ ताभ्यामाकृष्टाभ्यां—कर्णान्तमाकृष्टाभ्यां, मुक्ताः = प्रहिताः, अत एव श्रवणपथगताः = लोचनान्तदीर्घाः । धृतिमुषः = धैर्यविलोपिनः, दृष्टिबाणाः = नेत्रशराः । यावद् धृदि न पतन्तीत्यर्थः ॥ २१६ ॥

तदवलोकनक्षणात् प्रभृति = राजपुत्रदर्शनक्षणादारभ्य । स्मरशरप्रहारजर्जरितहृदया = मदनबाणप्रहारव्याकुलितचित्ता । तदेकचित्ता=राजपुत्रविनिविष्टमानसा, तदासक्ता ॥ माया = कपटम् । मात्सर्यम् = ईर्ष्यालुत्वम् ॥ २१७ ॥

पतिलङ्घने = व्यभिचारात्मके, अधर्मे=पापे । प्रवर्ते=प्रवृत्ता भवामि ? ।

लावण्यवती के पास उसने एक दूती (कुटनी) को भेजा । क्योंकि—

पुरुष तभी तक सन्मार्ग पर रहता है, और वह तभी तक अपनी इन्द्रियों को भी वश में रख सकता है, और तभी तक वह लज्जा भी रख सकता है, और तभी तक शील भी रखता है, जब तक सुन्दरी स्त्रियों के भौंहरूपी धनुष से कान तक खींच कर छोड़े गये व धैर्य को चुराने वाले, काले २ पलक वाले नेत्ररूपी धनुष से छूटे हुए बाण (कटाक्ष) उसके हृदय में नहीं लगते हैं ॥ २१६ ॥

और वह लावण्यवती भी उस युवा राजपुत्र को देखने के बाद से ही काम-पीड़ित होकर तन्मयचित्त हो गई । कहा भी है—

असत्य, साहस, माया, डाह, लोभ, निर्गुणता, अपवित्रता, ये स्त्रियों के स्वाभाविक ७ दोष हैं ॥ २१७ ॥

और वह दूती लावण्यवती के पास जाकर उसे समझाने लगी । दूती की बात सुन कर लावण्यवती बोली—मैं पतिव्रता हूँ, अतः मैं इस पापकार्य (व्यभिचार)

'सा भार्या या गृहे दक्षा, सा भार्या या प्रजावती ।
सा भार्या या पतिप्राणा, सा भार्या या पतिव्रता ॥ २१८ ॥
कोकिलानां स्वरो रूपं, नारीरूपं पतिव्रतम् ।
विद्या रूपं कुरूपाणां, क्षमा रूपं तपस्विनाम् ॥ २१९ ॥
न सा 'भार्ये'ति वक्तव्या यस्या भर्ता न तुष्यति ।
तुष्टे भर्तरि नारीणां, सन्तुष्टाः सर्वदेवताः' ॥ २२० ॥

ततो यद्यदादिशति मे प्राणेश्वरस्तदेवाऽहमविचारितं करोमि'। दूत्योक्तम्—'किं सत्यमेतत्?।

लावण्यवत्युवाच—'भ्रवं सत्यमेतत्।'

ततो दूतिकया गत्वा तत्तत्सर्वं तुङ्गबलस्याऽग्रे निवेदितम्। तच्छ्रुत्वा तुङ्गबलोऽब्रवीत्-'विषमेषुणा व्रणितहृदयस्तां विना कथमहं जीविष्यामि?।

सेति। गृहे=गृहव्यापारे, दक्षा=कुशला। प्रजावती=सन्तानवती। पतिप्राणा =पतिगतमानसा, पतिव्रता ॥ २१८ ॥

कोकिलानां स्वरः=मधुरस्वर एव। रूपं=शोभाधायकम् ॥ २१९ ॥

न तुष्यति=न सन्तुष्टो भवति ॥ २२० ॥

आदिशति=आज्ञापयति। प्राणेश्वरः=भर्ता। सत्यमेतत्=किमिदं सत्यं

में कैसे प्रवृत्त हो सकती हूँ?। क्योंकि—

वही सच्ची पत्नी है, जो गृहकार्य में कुशल हो, सन्तान वाली हो, और अपने पति को ही अपना प्राण समझे, और पतिव्रता हो ॥ २१८ ॥

क्योंकि कोयल का स्वर ही रूप है, स्त्रियों का पातिव्रत्य ही रूप है, कुरूपों का विद्या ही रूप है, और तपस्वियों का क्षमा ही रूप है ॥ २१९ ॥

और भी—वह भार्या भार्या नहीं कही जा सकती है, जिससे उसका पति प्रसन्न नहीं हो। पति के प्रसन्न होने पर स्त्रियों पर सभी देवता प्रसन्न होते हैं ॥ २२० ॥

इसलिये मेरे प्राणपति जो मुझे आज्ञा देते हैं, उसे मैं विना विचारे करने को तैयार रहती हूँ। अर्थात्-मेरा पति यदि मुझे उस राजा के पास भेजेगा, तो मैं जा सकती हूँ, ऐसे नहीं। दूती ने कहा—क्या यह बात सच है?। लावण्यवती

कुट्टन्याह–'स्वामिनाऽऽनीय समर्पयितव्ये'ति । स प्राह–'कथमेतच्छक्यम्' ? । कुट्टन्याह–'उपायः क्रियताम्' ।
तथा चोक्तम्—

'उपायेन हि यच्छक्यं, न तच्छक्यं पराक्रमैः ।
शृगालेन हतो हस्ती गच्छता पङ्कवर्त्मना' ॥ २२१ ॥

राजपुत्रः पृच्छति–'कथमेतत् ? । सा कथयति—

(८) हस्तिधूर्तशृगालकथा ।

अस्ति ब्रह्माऽरण्ये कर्पूरतिलको नाम हस्ती । तमवलोक्य सर्वे शृगालाश्चिन्तयन्ति स्म–'यद्ययं केनाऽप्युपायेन म्रियते, तदाऽस्माकमेतद्देहेन मासचतुष्टयस्य भोजनं भवति' इति ।

तत्रैकेन वृद्धशृगालेन प्रतिज्ञातम्—'मया बुद्धिप्रभावादस्य मरणं

कथयसि ? । स्वामिना = भर्त्रा । समर्पयितव्या = जाराय तुभ्यं स्वत एव देया । इति=इत्येतदाह । कथं शक्यमिति । नैव शक्यमित्यर्थः ॥

पराक्रमैः = बलादिभिः । पङ्कवर्त्मना = कर्दमबहुलेन मार्गेण ॥ २२१ ॥

एतद्देहेन = अस्य हस्तिनः शरीरेण । साधयितव्यं = निष्पादयितव्यम् ।

ने कहा–यह बिलकुल सच है। इसके बाद दूती ने जाकर तुङ्गबल से उसके पतिव्रता होने की बात कही । दूती की बातों को सुन कर वह तुङ्गबल बोला—मैं तो अत्यन्त कामपीडित हो रहा हूँ । उसके बिना मैं कैसे जीता रहूँगा ? । तब कुट्टनी बोली—स्वयं उसका स्वामी ही उसे लाकर आपको समर्पण करेगा (देदेगा) । तुङ्गबल बोला—भला यह कैसे हो सकता है ? । कुट्टनी बोली–उपाय करने से सब कुछ हो सकता है । अतः आप भी उपाय कीजिये । कहा भी है—

जो कार्य बल व पराक्रम से नहीं हो सकता है, वही कार्य उपायों द्वारा सरलता से हो जाता है । देखो कीचड़ के मार्ग से चलकर एक सियार ने एक जबर-दस्त हाथी को मार डाला था ॥ २२१ ॥

राजपुत्र ने पूछा–यह कथा कैसे है ? । कुट्टनी कहने लगी—

ब्रह्मारण्य में कर्पूरतिलक नाम का हाथी रहता था। उसको देखकर वन के सब सियार सोचने लगे कि-यदि यह हाथी किसी उपाय से मर जाय तो इसके शरीर से

साधयितव्यम् ।' अनन्तरं स वञ्चकः कर्पूरतिलकसमीपं गत्वा, साष्टाङ्गपातं प्रणम्योवाच–'देव ! दृष्टिप्रसादं कुरु ।'

हस्ती ब्रूते—'कस्त्वम् ? । कुतः समायातः ?' ।

सोऽवदत्—'जम्बुकोऽहम् । सर्वैर्वनवासिभिः पशुभिर्मिलित्वा भवत्सकाशं प्रस्थापितः । यत्—विना राज्ञाऽवस्थातुं न युक्तम्, तदत्राऽटवीराज्येऽभिषेक्तुं भवान् सर्वस्वामिगुणोपेतो निरूपितः' । यतः—

'यः कुलाऽभिजनाऽऽचारैरतिशुद्धः, प्रतापवान् ।
धार्मिको, नीतिकुशलः, स स्वामी युज्यते भुवि' ॥ २२२ ॥

वञ्चकः=शृगालः । साष्टाङ्गपातं = भूमौ दण्डवत् । देव=प्रभो ! दृष्टिप्रसादं = दयादृष्टिं । प्रस्थापितः = प्रहितः । यत् = यस्मात् (क्योंकि, चूंकि) । विना राज्ञा=राजानं विना । अटविराज्ये = वनराज्ये । अभिषेक्तुं =स्थापयितुम् । निरूपितः=निश्चितः ।

य इति । कुलाभिजनाचारैः=वंश-देशा-ऽऽचारव्यवहारैः । कुलं = वंशः । अभिजनः=ख्यातिः, जन्मभूमिः, पूर्वपुरुषाश्च । 'भवेदभिजनः ख्यातौ, जन्मभूम्यां, कुलध्वजे । कुलेऽपि च पुमा'निति मेदिनी । 'कुलाचारजनाचारै'रिति

हम लोगों का चार महीने (चौमासा, बर्सात) अच्छा तरह भोजन हो सकता है ।

इसके बाद एक वृद्ध सियार ने प्रतिज्ञा की कि मैं अपनी बुद्धि के प्रभाव से इस हाथी को मारूँगा । इसके बाद वह धूर्त्त सियार कर्पूरतिलक हस्ती के पास जाकर साष्टाङ्ग प्रणाम करके बोला—महाराज ! कृपा कर मेरी ओर देखिए और मेरी बातें सुनिये । हाथी बोला–तुम कौन हो ? । कहाँ से आये हो ? ।

तब वह सियार बोला—मैं सियार हूँ, और सब जङ्गली पशुओं ने मिल कर मुझे आपके पास भेजा है । क्योंकि बिना राजा के रहना ठीक नहीं है, अतएव उन लोगों ने इस वन के राज्य में राजा बनाने के लिये सकल राजगुणों से युक्त आपको ही निश्चित किया है ।

क्योंकि-जो कुल (वंश, खान्दान) और अभिजन (वंशपरम्परा, या ठिकाना, स्थान) और आचार-विचार आदि में परम शुद्ध हो, प्रतापी हो,

अपरञ्च पश्य—

'राजानं प्रथमं विन्देत्ततो भार्यां, ततो धनम् ।
राजन्यसति लोकेऽस्मिन्कुतो भार्या, कुतो धनम्' ॥२२३॥

अन्यच्च—

'पर्जन्य इव भूतानामाधारः पृथिवीपतिः ।
विकलेऽपि हि पर्जन्ये जीव्यते, न तु भूपतौ' ॥२२४॥

'नियतविषयवर्त्ती प्रायशो दण्डयोगा-
ज्जगति परवशेऽस्मिन्दुर्लभः साधुवृत्तः ।
कृशमपि, विकलं वा, व्याधितं वाऽधनं वा,
पतिमपि कुलनारी दण्डभीत्याऽभ्युपैति' ॥ २२५ ॥

केचित्पठन्ति । अतिशुद्धः=नितरां शुचिः । प्रतापवान्=प्रतापी । स्वामी=राजा । विन्देत्=लभेत । ततो भार्या, ततो धनञ्च विन्देदित्यन्वयः ॥ २२३ ॥

पर्जन्यः=मेघः । भूतानां=जीवानाम् । आधारः=आश्रयः । पृथिवीपतिः=राजा । विकले=गतेऽपि । नतु भूपतौ—विकले=विनष्टे सति, जीव्यते=प्राणधारणं कर्त्तुं शक्यमित्यर्थः ॥ २२४ ॥

नियतेति । प्रायशः=बाहुल्येन, परवशे=इन्द्रियादिपरवशे, अस्मिन् जगति

धार्मिक हो और नीतिकुशल हो वही संसार में राजा होने के योग्य है ॥ २२२ ॥

और भी देखो—सबसे प्रथम राजा को ही निश्चित करना चाहिये। अर्थात् किसी योग्य को अपना राजा बना लेना चाहिये, उसके बाद ही स्त्री (विवाह) आदि की चिन्ता करनी चाहिये। और तदनन्तर ही धन के उपार्जन की भी चिन्ता करनी चाहिये। क्योंकि राजा के न रहने पर स्त्री और धन की रक्षा ही नहीं हो सकती है, अतः पहिले राजा का होना परम आवश्यक है ॥ २२३ ॥

और भी—राजा मेघों के सदृश ही प्राणीमात्र का अवलम्बन है। पर वर्षा न होने पर भी कुछ समय तक जीवित रहना सम्भव है, परन्तु राजा के बिना तो क्षण भर भी कोई जी नहीं सकता है ॥ २२४ ॥

क्योंकि जगत् में लोग प्रायः राजदण्ड के भय से ही अपने २ नियत मार्गों पर

तद्यथा लग्नवेला न विचलति तथा कृत्वा सत्वरमागम्यतां देवेन ।'—इत्युक्त्वोत्थाय चलितः ।

ततोऽसौ राज्यलोभाऽऽकृष्टः कर्पूरतिलकः शृगालवर्त्मना धावन्महापङ्के निमग्नः । ततस्तेन हस्तिनोक्तम्—'सखे शृगाल ! किमधुना विधेयम् ? । पङ्के निपतितोऽहं म्रिये, परावृत्त्य पश्य ।'

शृगालेन विहस्योक्तम्—'देव ! मम पुच्छका[1]ऽवलम्बनं

=अस्मिन् लोके, दण्डयोगात्=राजदण्ड-जातिदण्डादि-भयादेव, नियतविषयवर्त्ती=स्वे स्वे धर्मे निरतो लोको धर्मशास्त्रलोकमर्यादां यथावत्पालयति, नतु स्वभावादेव ।

ननु कुत एतदत आह—दुर्लभ इति । यतः—साधुवृत्तः=प्रकृत्या शुभाचारस्तु । दुर्लभः = लोके दुर्लभ एव । तदेवोपपादयति—कृशमिति । कृशं = धनादिदुर्बलं, विकलम् = अङ्गविकलं, काणमन्धं, बधिरं वा । व्याधितं = रोगिणम् । अधनं = दरिद्रम्—भर्त्तारमपि । कुलनारी = कुलवधूरपि—दण्डभीत्या = राजदण्डभयेनैव । अभ्युपैति = उपगच्छति, सेवते च ॥ २२५ ॥

तत्=तस्मात् । यथा = येन प्रकारेण (जैसे बने) । लग्नवेला = शुभ-मुहूर्तः । विचलति = अपयाति । देवेन=श्रीमता । शृगालवर्त्मना=जम्बुक-मार्गेण । धावन्=जम्बुकमनुसरम् । महापङ्के = दुस्तरे कर्दमे, (दलदल में) । अधुना=इदानीं । विधेयं = कर्त्तव्यम् । परावृत्य = व्याघुट्य । (घूम कर) ।

चलते हैं, क्योंकि इस संसार में स्वभावतः अच्छे आचरण के मनुष्य तो दुर्लभ ही हैं । देखो कुलीन स्त्री भी केवल राजदण्ड के भय से ही अपने दुबले, अङ्ग-हीन, रोगी, बूढे, एवं दरिद्र पति की यथावत् सेवा करती है ॥ २२५ ॥

अतः कृपया आप शीघ्र ही चलिए, जिससे राज्याभिषेक का मुहूर्त्त न टल जाय । ऐसा कह कर वह सियार उठ कर आगे-आगे चल पड़ा । वह कर्पूरतिलक भी राज्य के लोभ में पड़ कर उस सियार के पीछे २ दौड़ता हुआ जाने लगा और कीचड़ में फँस गया । तब वह हाथी बोला—भाई सियार ! अब मैं क्या करूँ ? । मैं तो कीचड़ में फँस गया हूँ और मर रहा हूँ, पीछे घूमकर देखो । मेरी ओर तुम जरा

१. 'पुच्छाग्रावलम्बनं इति पाठान्तरम् ।

कृत्वोत्तिष्ठ ! । यन्मद्विधस्य वचसि त्वया प्रत्ययः कृतस्तदनुभूयतामशरणं दुःखम् । तथा चोक्तम्—

[1]'यदाऽसत्सङ्गरहितो भविष्यसि, भविष्यसि ।
[2]'तदाऽसज्जनगोष्ठीषु पतिष्यसि, पतिष्यसि' ॥२२६॥

—ततो महापङ्के निमग्नो हस्ती शृगालैर्भक्षितः ॥

अतोऽहं ब्रवीमि-'उपायेन हि यच्छक्यम्' इत्यादि ॥ ॐ ॥

ततः कुट्टन्युपदेशेन तं चारुदत्तनामानं वणिक्पुत्रं स राजपुत्रः सेवकं चकार । ततोऽसौ तेन सर्वविश्वासकार्येषु नियोजितः ।

एकदा कुट्टिन्युपदेशेन तेन राजपुत्रेण स्नाताऽनुलिप्तेन,

पुच्छकावलम्बनं कृत्वा = मदीयं लघुलांगूलमेवालम्ब्य । मद्विधस्य = क्षुद्रस्य, वञ्चकशिरोमणेर्जम्बुकस्य । प्रत्ययः = विश्वासः । अशरणम् = अरक्षकम् । अनन्तम् । 'शरणं गृहरक्षित्रो'रिति कोशः ॥

यदा सत्सङ्गरहितो भविष्यसि, तदा—सज्जनगोष्ठीषु = सज्जनसभासु, पतिष्यसि= असत्कृतो भविष्यसि ॥ निश्चयं द्योतयितुमुभयत्र द्विरुक्तिः । केचित्तु—यदा असत्सङ्गरहितो भविष्यसि तदा–भविष्यसि = सुखं स्थास्यसि । किञ्च यदा असज्जनगोष्ठीषु पतिष्यसि, तदा नूनं पतिष्यसि=संमानभ्रंशस्तव भविष्यतीत्यर्थमाहुः ॥ २२६ ॥

तं = लीलावतीभर्त्तारम् । स्नातानुलिप्तेन = पूर्वं स्नातेन, पश्चादनुलिप्तेन ।

तब वह सियार हँस कर बोला—हे देव ! मेरी इस छोटी सी पूँछ के अग्रभाग को ही पकड़ कर आप निकल आइये । अरे ! मेरे जैसे क्षुद्र के कहने का आपने विश्वास किया, इस लिये अब इस अनन्त दुःख को भोगिये । किसी ने कहा भी है, कि—

जब कुसंग से रहित होओगे तभी संसार में सुखपूर्वक रहोगे, और जीओगे । और यदि दुर्जनों के संग में फँसोगे, तो तुम जरूर गिर जाओगे ॥ २२६ ॥

इसके बाद भीषण कीचड़ (दलदल) में फँसा हुआ वह हाथी मर गया, और उसे सियारों ने खा डाला । इसी लिये मैं कहता हूँ कि—जो कार्य बल से नहीं हो सकता है, वह उपाय से अनायास हो जाता है' इत्यादि ।

इसके बाद कुट्टनी के कहने से उस राजपुत्र ने चारुदत्त नामक उस बनिये को (लीलावती के पति को) अपना नौकर बना लिया । और धीरे २ उसने अपने सभी विश्वस्त कार्यों में उसको लगा लिया ॥

---

१. 'सत्सङ्ग' । २. 'यदा' पा० ।

कनक-रत्नाऽलङ्कार-धारिणा प्रोक्तम्–'चारुदत्त ! अद्याऽऽरभ्य मया मासमेकं यावद् गौरीव्रतं कर्त्तव्यम्, तदद्याऽऽरभ्य प्रतिरात्रमेकां कुलीनां युवतीमानीय समर्पय, सा मया यथोचितेन विधिना पूजयितव्या।'

ततः स चारुदत्तस्तथाविधां नवयुवतिमानीय समर्पयति। पश्चात्प्रच्छन्नः सन्–'किमयं करोती'ति निरूपयति। स च तुङ्गबलस्तां युवतिमस्पृशन्नेव दूराद्वस्त्राऽलङ्कारगन्धचन्दनैः सम्पूज्य, रक्षकं दत्त्वा प्रस्थापयति।

अथ वणिक्पुत्रेण तद्दृष्ट्वोपजातविश्वासेन, लोभाऽऽकृष्टमनसा, स्ववधूर्लावण्यवती समानीय समर्पिता। स च तुङ्गबलस्तां हृदयप्रियां लावण्यवतीं विज्ञाय, ससम्भ्रममुत्थाय, निर्भरमालिङ्ग्य, निमीलिताक्षः, पर्यङ्के तया सह विललास।

कृतचन्दनाद्युपलेपेन। स्वलङ्कृतेन। कनकरत्नालङ्कारधारिणा = सुवर्णमणि-मुक्तारत्नघटितभूषणधारिणा, तेन राजपुत्रेण। मासं = मासपर्यन्तम्। तथाविधां = कुलीनाम्। प्रच्छन्नः=निगूढः सन्। निरूपयति=पश्यति। रक्षकं=राजकीयं रक्षा-पुरुषम्। प्रस्थापयति=प्रहिणोति। तद्दृष्ट्वा=राजपुत्रव्यवहारादिकं दृष्ट्वा। उपजातविश्वा-सेन=सञ्जातविस्रम्भेण। हृदयप्रियां = मनोरमाम्। ससम्भ्रमं=सत्वरम्। निर्भरं =

एक दिन उस कुट्टनी के उपदेश से उस राजपुत्रने स्नान करके, चन्दन लगा करके और सुवर्ण के रत्नजडित आभूषण पहन कर, उस चारुदत्त से कहा कि–हे चारुदत्त, आजसे मैं एक मास तक श्रीगौरीजीका व्रत करूंगा। इस लिये आज से तुम रात्रि में एक कुलीन सुन्दर युवती स्त्री को लाकर मुझे दिया करो, मैं विधिपूर्वक यथोचित सत्कार से उसकी पूजा किया करूंगा।

इसके बाद चारुदत्त प्रतिदिन वैसी ही एक सुन्दरी युवति ला २ कर उसे देता था, और छिप कर देखता था, कि–वह क्या करता है। और वह तुङ्गबल भी उस युवती को बिना छुए हुये, अलग से ही, वस्त्र-अलङ्कार, गन्ध, चन्दन आदि से पूजाकर के, उसी क्षण सिपाहियों के साथ उसे वापिस उसके घर भेज देता था।

यह देखकर उस बनिये को विश्वास हो गया और वह लोभ से आकृष्ट होकर एक दिन अपनी स्त्री लावण्यवती को ही लाकर उसे दे दिया। तब उस तुङ्गबलने उसको अपनी प्राणप्रिया लावण्यवती जान करके, शीघ्र उठ कर, उसको छाती से लगा कर, उसका गाढ़ आलिंगन किया और उसके साथ आनन्द से आँखे

तदालोक्य वणिक्पुत्रश्चित्रलिखित इवेतिकर्तव्यतामूढः परं विषादमुपगतः। अतोऽहं ब्रवीमि–'स्वयं वीक्ष्ये' त्यादि ॥ * ॥

तथा त्वयाऽपि भवितव्यम्' इति।

तद्धितवचनमवधीर्य महता भयेन विमुग्ध इव तं जलाशयमुत्सृज्य मन्थरश्चलितः। तेऽपि हिरण्यकादयः स्नेहादनिष्टं शङ्कमाना मन्थर-मनुगच्छन्ति। ततः स्थले गच्छन्केनाऽपि व्याधेन काननं पर्यटता मन्थरः प्राप्तः। प्राप्य तं गृहीत्वोत्थाप्य, धनुषि बद्ध्वा, भ्रमन्क्लेशात्क्षुत्पिपासा-कुलः, स्वगृहाभिमुखं चलितः।

अथ मृग-वायस-मूषकाः परं विषादं गच्छन्तस्तमनुजग्मुः। ततो हिरण्यको विलपति—

निमिलिताक्षः=हर्षमीलितलोचनः। विललास=रतिश्चक्रे। चित्रलिखित इव=चित्रार्पित इव। इतिकर्त्तव्यतामूढः=किङ्कर्त्तव्यताविमूढः।

त्वयाऽपि=कच्छपेन, वायसेनाऽपि च। तद्धितवचनं=हिरण्यकोक्तं हितवाक्यम्। अवधीर्य=अनादृत्य। विमुग्ध इव=मूढताङ्गत इव। अनिष्टं=विपत्तिम्। काननं पर्यटता=वनं भ्राम्यता। क्लेशात्=आयासात्। परं=नितराम्।

बन्द करके, उसके स्तनों का मर्दनकर, अनेक प्रकार की कामक्रीड़ा करने लगा और उसको छाती से चिपटा कर पलँग पर लेजा कर, सुरतक्रीड़ा भी करने लगा।

यह सब देखकर वह बनिये का लड़का किंकर्त्तव्यमूढ होकर, चित्र लिखी हुई मूर्ति की तरह स्तब्ध (ठक) हो गया और बहुत ही खिन्न हुआ।

इसीलिये मैं कहता हूँ कि—'अपनी स्त्री के स्तनों को दूसरे को मर्दन करते हुए देखकर भी वह कुछ नहीं कर सका, केवल पछताता ही रहा' इत्यादि।

वैसे ही आप लोगों (कछुवा, कौवा आदि) को भी पीछे से दुःख ही होगा। परन्तु हिरण्यक चूहे के इन हितवचनों का अनादर करके, भय से विमूढ़ वह मन्थर उस जलाशय को छोड़ कर चल पड़ा। हिरण्यक आदि भी स्नेह से, उसके अनिष्ट की शङ्का करके, उसके पीछे २ जाने लगे। और रास्ते पर जाते हुए, उस मन्थर को जङ्गल में घूमने वाले किसी व्याध ने देखा और उसे उठा धनुष में बाँध लिया, और अपने को धन्य समझकर, थका हुआ वह व्याध भूख प्यास से व्याकुल हो कर, अपने घर की तरफ चल पड़ा। इसके बाद वे मृग, चूहा और कौवा भी बहुत खिन्न होकर उस व्याध के पीछे-पीछे जाने लगे। और उनमें से हिरण्यक

'एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवाऽर्णवस्य ।
तावद्द्वितीयं समुपस्थितं मे, छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥२२७॥
स्वाभाविकं तु यन्मित्रं भाग्येनैवाऽभिजायते ।
तदकृत्रिमसौहार्दमापत्स्वपि न मुञ्चति ॥ २२८ ॥
न मातरि, न दारेषु, न सोदर्ये, न चाऽऽत्मजे ।
विश्वासस्तादृशः पुंसां, यादृङ् मित्रे स्वभावजे' ॥ २२९ ॥

तं=कच्छपग्राहिण्याधम् । अनुजग्मुः = तत्पृष्ठतो ययुः । तमनुसस्रुः । विलपति = रुदन् पठति । रोदिति वा ।

एकस्येति । अर्णवस्य = समुद्रस्य पारमिव, एकस्य दुःखस्य यावदन्तं = पारं अहं न गच्छामि, तावत् मे द्वितीयं दुःखं समुपस्थितम् । छिद्रेषु = विपत्तिषु, त्रुटिषु, स्खलितेषु च। (थोड़ी सी भूल होने से ही, एक विपत्ति के आने पर) । अनर्थाः= विपदः । बहुलीभवन्ति = वर्द्धन्ते ॥ २२७ ॥

स्वाभाविकं—साहजिकमकृत्रिमम् । अभिजायते=सम्भवति । तत्=स्वाभाविकं मित्रम् । अकृत्रिमसौहार्दं = सहजस्नेहम् । न मुञ्चति = न परित्यजति ॥ २२८ ॥

सोदर्ये=सहजे भ्रातरि। आत्मजे = पुत्रे। स्वभावजे—सहजसुहृदि ॥ २२९ ॥

चूहा इस प्रकार विलाप करने लगा कि—

जबतक मेरे समुद्र की तरह असीम एक दुःख का अन्त ही नहीं होने पाता है, उसी बीच में मेरे ऊपर दूसरा दुःख भी आजाता है । क्योंकि प्रायः एक आपत्ति के आने पर, उसके साथ ही साथ, बहुत सी अन्य विपत्तियाँ भी आ जाती हैं । ठीक भी है—छिद्रों में (विपत्तियों में) अनर्थ बढ़ते ही जाते हैं । अर्थात् एक विपत्ति के आने के साथ ही साथ अनेक प्रकार की अन्यान्य विपत्तियाँ भी कहीं से आही जाती हैं ॥ २२७ ॥

और स्वाभाविक मित्र बड़े भाग्य से मिलते हैं । और वह (स्वाभाविक) मित्र अपनी अकृत्रिम मित्रता को आपत्ति काल में भी नहीं छोड़ता है ॥ २२८ ॥

और मनुष्य को जैसा विश्वास अपने स्वाभाविक मित्र में होता है, वैसा विश्वास न माता में, न स्त्री में, न सहोदर भाई में और न पुत्र में ही होता है ॥२२९॥

—इति मुहुर्विचिन्त्य, अहो दुर्दैवम् ! यतः—

'स्वकर्मसन्तानविचेष्टितानि, कालान्तराऽऽवर्त्तिशुभाऽशुभानि ।
इहैव दृष्टानि मयैव तानि जन्मान्तराणीव दशान्तराणि' ॥२३०॥

अथवेत्थमेवैतत्—

'कायः सन्निहिताऽपायः, सम्पदः पदमापदाम् ।
समागमाः साऽपगमाः, सर्वमुत्पादि भङ्गुरम्' ॥ २३१ ॥

पुनर्विमृश्याह—

'शोका-ऽराति-भय-त्राणं, प्रीति-विश्रम्भ-भाजनम् ।
केन रत्नमिदं सृष्टं 'मित्र'मित्यक्षरद्वयम्' ? ॥२३२ ॥

स्वस्य कर्मणां=शुभाऽशुभानां, यः सन्तानः=परम्परा, तस्य—विचेष्टितानि=विलासभूतानि, तेन वा विचेष्टितानि=समापन्नानि । स्वकर्मफलभूतानीति यावत् । किञ्च कालान्तरेण आवर्त्तन्ते तच्छीलानि—कालान्तरावर्त्तीनि, तानि च तानि शुभाशुभानि च—कालान्तरावर्त्तिशुभाशुभानि=तेषु तेषु समयेषु आवर्त्तमानानि, शुभाऽशुभफलोदर्काणि—जन्मान्तराणीव—मया इहैव=अस्मिन्नेव जन्मनि, तानि दशान्तराणि=नानादशाः । दृष्टानि=अनुभूतानि । दशान्तराण्यपि कर्मसन्तानविलसितानि, कालान्तरावर्त्तीनि, शुभाशुभफलप्रदानि च भवन्तीति तयोः साम्यमित्यवधेयम् ॥ २३० ॥

सन्निहिताऽपायः=सन्निहितविनाशः । आपदां पदं=विपत्तीनां, स्थानम्=आश्रयः । समागमाः=संयोगाः । सापगमाः=वियोगपर्यवसानाः । उत्पादि=जन्यम् । भङ्गुरं=विनाशि ॥ २३१ ॥ विमृश्य=विचार्य ।

इस तरह बार २ सोचकर वह चूहा फिर बोला—अहो ! मेरा बड़ा दुर्भाग्य है । मैंने अपने कर्मसमूह (पाप पुण्य) के नाना प्रकार के अशुभ या शुभ फलों को, जन्मान्तरों की तरह, इसी जन्म में ही, देख लिया (अनुभव कर लिया) ॥२३०॥

अथवा यह संसार ही ऐसा (निःसार) है । क्योंकि—

यह शरीर नश्वर है, सम्पत्ति भी आपत्ति का घर है, और समागम (मिलन) भी सदा स्थिर नहीं रहते हैं, और उत्पन्न सभी पदार्थ क्षणभङ्गुर ही हैं ॥२३१॥

किञ्च—

'मित्रं प्रीतिरसायनं, नयनयोरानन्दनं चेतसः,
पात्रं यत्सुखदुःखयोः सह भवेन्मित्रेण, तद्दुर्लभम् ।
ये चाऽन्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याऽभिलाषाऽऽकुला—
स्ते सर्वत्र मिलन्ति, तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विपत्'॥२३२॥

—इति मुहुर्विलप्य हिरण्यकश्चित्राङ्ग-लघुपतनकावाह-'यावदयं व्याधो वनान्न निःसरति, तावन्मन्थरं मोचयितुं यत्नः क्रियताम् ।'

शोकेति । शोकत्राणम्, अरातित्राणमिति च योजना । त्राणं = रक्षकम् । अरातिः = शत्रुः । प्रीतेः=स्नेहस्य, विश्रम्भस्य=विश्वासस्य च,-भाजनम्=आस्पदम् । आश्रयः । केन = ब्रह्मणा । सृष्टम्=उत्पादितम् । केनेति प्रश्ने वा ॥२३२॥

मित्रमिति । नयनयोः—प्रीतिरसायनं = प्रीतिमहौषधं, स्नेहास्पदं वा । चेतस आनन्दनम्=आह्लादकम् । मित्रेण सहैव सुखस्य दुःखस्य च पात्रम्=आस्पदं, यद्भवेत्—तन्मित्रं लोके दुर्लभमित्यन्वयः । ये च = ये तु । द्रव्यसमृद्धिसमये—द्रव्याभिलाषाकुलाः = धनैषिणः सुहृदस्ते तु सर्वत्र सुलभा एव । परन्तु तेषां तत्त्वस्य= सौहार्दस्य,-निकषग्रावा=निकषोपलः (कसौटी) । विपत् = विपत्तिरेव । विपत्समये ये पलायन्ते, समृद्धिसमये च ये सन्निहिता भवन्तीदृशाः स्वार्थपरायणाः सुहृदो बाहुल्येन भवन्ति, परं सुखे, दुःखे च सहायभूताः सुहृदस्तु विरला एवेत्याशयः ॥२३३॥

कार्यं=करणीयम् । तत्र=सरस्तीरे । लुब्धके = व्याधे । तथानुष्ठिते =

फिर वह चूहा मन ही मन विचार कर बोला—अहो ! शोक और शत्रुओं से रक्षा करने वाले, प्रेम तथा विश्वास के पात्र 'मित्र' इन दो अक्षररत्नों को किसने बनाया है ? ॥ २३२ ॥

और भी—ऐसा मित्र इस संसार में दुर्लभ है,—जो नेत्रों के लिये आनन्द का पात्र हो, मन को आनन्द देनेवाला हो, और सुख दुःख में जिसकी पूरी सहानुभूति हो। परन्तु ऐसे मित्र—जो सम्पत्ति में द्रव्य के लोभी हैं, वे तो सब जगह मिलते हैं, परन्तु उन (सच्चे और बनावटी मित्रों) की कसौटी (परीक्षा) तो विपत्ति ही है । अर्थात्–विपत्तिकाल में भी जो साथ दे, वही सच्चा मित्र है । और सब तो बनावटी हैं । ॥ २३३ ॥

तावूचतुः—'सत्वरं कार्यमुच्यताम्।' हिरण्यको ब्रूते—'चित्राङ्गो जलसमीपं गत्वा मृतमिवात्मानं दर्शयतु। काकश्च तस्योपरि स्थित्वा चञ्च्वा किमपि विलिखतु। नूनमनेन लुब्धकेन तत्र कच्छपं परित्यज्य, मृगमांसाऽर्थिना सत्वरं गन्तव्यम्। ततोऽहं मन्थरस्य बन्धनं छेत्स्यामि। सन्निहिते लुब्धके भवद्भ्यां पलायितव्यम्।'

चित्राङ्ग-लघुपतनकाभ्यां शीघ्रं गत्वा तथानुष्ठिते सति, स व्याधः श्रान्तः, पानीयं पीत्वा, तरोरधस्तादुपविष्टस्तथाविधं मृगमपश्यत्। ततः कर्त्तरिकामादाय,प्रहृष्टमना,मृगाऽन्तिकं चलितः। [1]तऽत्रान्तरे हिरण्यकेनाऽऽगत्य मन्थरस्य बन्धनं छिन्नम्। स कूर्मः सत्वरं जलाशयं प्रविवेश। स मृग आसन्नं तं व्याधं विलोक्योत्थाय पलायितः। प्रत्यावृत्त्य लुब्धको

पूर्वोक्तप्रकारेण मृगे सरसस्तीरे मृतवत्स्थिते सति। श्रान्तः = खिन्नः। तथाविधं = मृतम्। कर्त्तरिकां = छुरिकाम्। (छुरी, कैंची)। आसन्नं = समीपवर्त्तिनम्।

इस प्रकार बहुत विलाप कर, वह हिरण्यक चूहा लघुपतनक कौवे और चित्राङ्ग मृग से कहने लगा—जब तक यह व्याध वन से बाहर न चला जाय, तभी तक हमलोगों को इस मन्थर (कछुआ) को छुड़ाने का यत्न करना चाहिये।

तब वे दोनों (कौवा और मृग) बोले—इस समय हमारा जो कर्त्तव्य हो, उसे आप हमको शीघ्र बताइए। हिरण्यक बोला—चित्राङ्ग तो जलाशय के पास जाकर अपने को मरे हुए की तरह दिखलावे, और कौवा उसके ऊपर बैठकर चोंच से उसे खोदे। तब मृग के मांस की इच्छा से यह व्याध अवश्य ही कछुवे को वहाँ रखकर मृग के पास जायगा। उसी समय मैं मन्थर का बन्धन काट डालूँगा। और जब व्याध पास आ जाए तो तुम लोग भी सब भाग जाना।

तब हिरण्यक के कहने से चित्राङ्ग मृग और लघुपतनक कौवे ने वैसा ही किया। उसके बाद वह व्याध थका हुआ पानी पीकर वृक्ष के नीचे बैठा, तो मृग को उस दशा में (मरे हुए तथा कौवे से खाए जाते हुए) देखा। इसके बाद वह उस कछुवे को तालाब के पास रखकर, अपनी छुरी लेकर, प्रसन्नचित्त होकर मृग की ओर चला। इसी बीचमें हिरण्यक चूहे ने आकर मन्थर के बन्धनों को काट दिया। तब वह कछुवा झट जल में घुस गया, और वह मृग भी भाग गया। लौटकर जब

१. 'अत्रान्तरे' पा०।

यावत्तरुतलमायाति, तावत्कूर्ममपश्यन्नचिन्तयत्—'उचितमेवैतन्ममाऽसमीक्ष्यकारिणः' । यतः—

'यो ध्रुवाणि परित्यज्य, अध्रुवाणि निषेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति, अध्रुवं नष्टमेव हि' ॥२३४ ॥

ततोऽसौ स्वकर्मवशान्निराशः कटकं प्रविष्टः । मन्थरादयः सर्वे त्यक्ताऽऽपदः, स्वस्थानं गत्वा, यथासुखमास्थिताः ॥ ❀ ॥

अथ राजपुत्रैः साऽऽनन्दमुक्तम्—'सर्वे (मित्रलाभं) श्रुतवन्तः सुखिनो वयम् । सिद्धं नः समीहितम् ।'

विष्णुशर्मोवाच–एतावता भवतामभिलषितं सम्पन्नम् । अपरमपीदमस्तु –

असमीक्ष्यकारिणः = अविचार्य कार्यं कुर्वतः । एतत् = हस्तगतवस्तुविनाशादिकम् ।

य इति । ध्रुवाणि = स्थिराणि । अध्रुवाणि = अस्थिराणि । निषेवते = लब्धुमिच्छति ॥ २३४ ॥

स्वकर्मवशात् = स्वदोषादेव । निराशः=हतमनोरथः । कटकं = ग्रामं, स्वनिवासप्रदेशं, पर्वतनितम्बप्रदेशं वा । असौ = लुब्धकः । त्यक्तापदः=विपत्तिमुक्ताः । समीहितं = मनोरथः । सम्पन्नं = सिद्धम् । अभिलषितं = मनोरथः ॥

वह व्याध वृक्ष के नीचे आया तो कछुए को भी न देखकर, वह विचारने लगा कि–बिना विचारे ही काम करने वाले मेरे ऐसे मूर्ख को ऐसा ही (हाथ में आयी हुई शिकार का भी हाथ से निकल जाना) फल मिलना उचित ही है ।

क्योंकि—जो निश्चित वस्तु को छोड़कर अनिश्चित के पीछे दौड़ता है, उसकी निश्चित वस्तु भी नष्ट हो जाती है । और अनिश्चित तो अनिश्चित (नष्ट) है ही ॥ २३४ ॥

इसके बाद वह व्याध अपने भाग्य को धिक्कारता हुआ, निराश होकर, अपने स्थान पर चला गया । और वे सब मन्थरक आदि भी आपत्ति से छूटकर अपने २ स्थानों में आकर सुखपूर्वक रहने लगे ।

इसके बाद वे राजपुत्र बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे—हम लोगों ने मित्रलाभ तो आप से सुन लिया और इसे सुनकर हम लोग बहुत ही प्रसन्न हुए हैं । और इससे हम लोगों का अभीष्ट मनोरथ (नीतिज्ञान) भी सिद्ध हो गया ।

'मित्रं प्राप्नुत सज्जना, ! जनपदैर्लक्ष्मीः समालम्ब्यतां,
भूपालाः परिपालयन्तु वसुधां शश्वत्स्वधर्मे स्थिताः ।
आस्तां मानसन्तुष्टये सुकृतिनां नीतिर्नवोढेव वः,
कल्याणं कुरुतां जनस्य भगवाँश्चन्द्रार्धचूडामणिः' ॥२३५॥

इति श्रीविष्णुशर्मसङ्कलिते हितोपदेशे मित्रलाभो नाम—
प्रथमः कथासंग्रहः ॥१॥

मित्रमिति । जनपदैः = विषयैः । देशैः । समालम्ब्यतां = लभ्यताम् । वसुधां = पृथिवीम् । शश्वत् = निरन्तरम् । स्वधर्मे = राजधर्मे । सुकृतिनां=विदुषाम् । मानसतुष्टये = मनसो हर्षाय । नवोढेव = मुग्धवधूरिव । वः = युष्माकम् । चन्द्रार्धचूडामणिः=खण्डेन्दुभूषणो भगवान् शिवः । कल्याणं = शुभम् ॥२३५॥

इति श्रीमरुमण्डलमार्त्तण्ड—षट्शास्त्रवाचस्पति—श्रीस्नेहिरामजिशास्त्रिणां पौत्रेण,
तर्कवागीश—पण्डितप्रकाण्ड—न्यायाचार्य—श्रीशिवनारायणशास्त्रिणां
पुत्रेण, न्यायव्याकरणाद्याचार्य-श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिणा विरचितायां,
हितोपदेशाभिनवराजलक्ष्म्यां मित्रलाभो नाम प्रथमः कथासङ्ग्रहः ।

तब विष्णुशर्मा बोले—इतने से ही आप लोगों का मनोरथ तो सिद्ध हो ही गया । पर यह और भी होवे—

आपलोग सच्चे मित्रों को पाएँ । देश के सभी लोग सुखी होवें । राजा लोग भी अपने धर्म के अनुसार पृथिवी का पालन करें । और यह नीतिशास्त्र (मित्रलाभ) नवोढा (नवीन) स्त्री के सदृश ही विद्वानों के मन को सन्तुष्ट करे । और चन्द्रार्द्धचूड़ामणि (चन्द्रशेखर) भगवान् शिवजी सदा आप लोगों का कल्याण करें ॥ २३५ ॥

अथ सुहृद्भेदः ।

अथ राजपुत्रा ऊचुः—'आर्य ! मित्रलाभः श्रुतस्तावदस्माभिः । इदानीं सुहृद्भेदं श्रोतुमिच्छामः । विष्णुशर्मोवाच—'सुहृद्भेदं तावच्छृणुत, [1]तस्याऽयमाद्यः श्लोकः—

'वर्द्धमानो महान् स्नेहो मृगेन्द्र-वृषयोर्वने ।
पिशुनेनाऽतिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः' ॥ १ ॥

राजपुत्रैरुक्तम्—कथमेतत् ?' । विष्णुशर्मा कथयति—

'अस्ति दक्षिणापथे सुवर्णवती नाम नगरी । तत्र वर्द्धमानो नाम वणिक् निवसति । यस्य प्रचुरेऽपि वित्तेऽपरान्बन्धूनतिसमृद्धान्समीक्ष्य 'पुनरर्थवृद्धिः करणीये'ति मतिर्बभूव । यतः—

अथ = तदनन्तरम् । आर्य = पूज्य ! । मित्रलाभः = तन्नामा प्रथमः परिच्छेदः । सुहृद्भेदं = तन्नामकं प्रकरणम् । वर्द्धमानः = उपचीयमानः । मृगेन्द्रः = सिंहः । पिशुनेन = सूचकेन । (चुगलखोर) । अतिलुब्धेन = नितरां लोभाऽऽविष्टेन ॥१॥

दक्षिणापथे = दक्षिणदिशि । तस्य = वर्द्धमानस्य । प्रचुरे = विपुले । पुनः = इतोऽप्याधिका ॥

इसके अनन्तर उन राजपुत्रों ने कहा—हे आर्य ! हम लोगों ने 'मित्र-लाभ' तो आपसे सुन लिया । अब हम 'सुहृद्भेद' सुनना चाहते हैं । 'विष्णुशर्म्मा बोले—अच्छा, आपलोग अब 'सुहृद्भेद' सुनिये । जिसका पहला श्लोक यह है—

किसी वन में बैल और सिंह के बढ़ते हुए महान् स्नेह को एक लोभी चुगुलखोर सियार ने नष्ट कर दिया था ॥ १ ॥

राजपुत्रों ने कहा—यह कथा कैसे है ? । विष्णुशर्मा बोले—

दक्षिण दिशा में सुवर्णवती नाम की एक नगरी है । वहाँ पर वर्धमान नाम का एक धनी सेठ रहता था । उसके पास बहुत धन रहने पर भी, अपने अन्यान्य बन्धुओं को अधिक धनी देखकर, उसको भी अपने धन को बढ़ाने की इच्छा हुई ।

---

१. 'यस्यायम्' पा० ।

'अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते ।
उपर्युपरि पश्यन्तः 'सर्व एव दरिद्रति' ॥ २ ॥

अपरञ्च—

'ब्रह्महाऽपि नरः पूज्यो यस्याऽस्ति विपुलं धनम् ।
शशिनस्तुल्यवंशोऽपि निर्धनः परिभूयते' ॥३ ॥

अन्यच्च—

'अव्यवसायिनमलसं, दैवपरं, साहसाच्च परिहीणम् ।
प्रमदेव हि वृद्धपतिं, नेच्छत्युपगूहितुं लक्ष्मीः' ॥ ४ ॥

अध इति । अधोऽधः पश्यतः = आत्मनो दोषान् विमृश्य, दूरीकुर्वत; समीक्ष्यकारिणः, विनीतस्य च । उपचीयते=वर्द्धते । उपर्युपरि पश्यन्तः=उत्तानदशः, दर्पोद्धुराः, धनगर्विताश्च । दरिद्रति=दरिद्रा भवन्ति ॥ २ ॥

ब्रह्महा = ब्राह्मणघातकोऽपि, लोके पूज्यः = पूजनीयो भवति । शशिन इति । चन्द्रवद्विशदे वंशे प्रसूतोऽपीत्यर्थः । निर्धनः = दरिद्रश्चेत् । परिभूयते = लोके सर्वैरेव तिरस्क्रियते ॥ ३ ॥

अव्यवसायिनं = व्यवसायशून्यम् । अलसम्=आलस्योपहतम् । दैवपरम् = अदृष्टवादिनम् । परिहीणं = रहितम् । प्रमदेव = युवतिर्वृद्धंपतिमिव । उपगूहितुं= समाश्रयितुम्, आलिङ्गितुञ्च ॥ ४ ॥

और ऊपर की ओर ही देखने वाले (अभिमानी, बडप्पन के घमण्ड में रहने वाले) किन मनुष्यों की महिमा नहीं घटती है ?। अर्थात् जो घमण्डी होते हैं,उनकी अप्रतिष्ठा ही सर्वत्र होती है। वे सदा दरिद्र बने रहते है। और नीचे की ओर देखने वाले (विनयावनत,सुशील) मनुष्यों की महिमा (प्रतिष्ठा) सदा बढ़ती ही रहती है ॥२॥

और भी—ब्रह्महत्या करने वाला भी मनुष्य यदि धनी हो तो वह भी जगत् में पूज्य ही होता है। परन्तु चन्द्रमा की तरह उज्ज्वलवंश में उत्पन्न होने वाला भी मनुष्य यदि दरिद्र हो तो उसका भी लोक में अनादर ही होता है ॥ ३ ॥

और भी—उद्योग(व्यवसाय)से रहित, आलसी, भाग्य को प्रधान मानने वाले, साहस हीन पुरुष को लक्ष्मी उसी तरह नहीं चाहती है, जैसे वृद्ध पति को युवती (जवान) स्त्री नहीं चाहती है ॥ ४ ॥

---

१ 'पश्यन्तो वद के न दरिद्रति' पा० ।

किञ्च—

'आलस्यं, स्त्रीसेवा, सरोगता, जन्मभूमिवात्सल्यम् ।
सन्तोषो, भीरुत्वं, षड् व्याघाता महत्त्वस्य' ॥ ५ ॥

यतः—

'सम्पदा सुस्थिरंमन्यो भवति स्वल्पयाऽपि यः ।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्द्धयति तस्य ताम्' ॥ ६ ॥

अपरञ्च—

'निरुत्साहं, निरानन्दं, निर्वीर्यमरिनन्दनम् ।
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशम्' ॥ ७ ॥

तथा चोक्तम्—

'अलब्धं चैव लिप्सेत, लब्धं 'रक्षेदवक्षयात् ।
रक्षितं वर्द्धयेत्सम्यग्वृद्धं तीर्थेषु निक्षिपेत्' ॥ ८ ॥

स्त्रीसेवा=स्त्रीपरायणता । जन्मभूमिवात्सल्यं=जन्मभूमिस्नेहः, अप्रवासित्वमिति यावत् । व्याघातः=अन्तरायः ॥ ५ ॥

संपदेति । स्वल्पयाऽपि सम्पदा य आत्मानं सुस्थिरं मनुते' तस्य पुंसो-विधिः= भाग्यमपि—कृतकृत्यः सन्, मन्ये तस्य सम्पदं न वर्द्धयति । स्वल्पेन तुष्टस्य सम्पत्तिर्न वर्द्धते इत्याशयः ॥ ६ ॥

अरिनन्दनं=शत्रुहर्षदं, सीमन्तिनी=नारी । ईदृशं=निरुत्साहं, निर्वीर्यञ्च ॥ ७ ॥

अलब्धम्=अप्राप्तम् । अवक्षयात्=नाशात् । 'अवेक्षणा'दिति पाठे— यथावदवेक्षया=प्रेक्षणेन रक्षेदित्यर्थः । तीर्थेषु=उपायेषु, क्षेत्रेषु, धनवृद्धिकरेषु स्थानेषु,

---

और भी—आलस्य, स्त्री की सेवा, (स्त्री में असक्ति), रोग, जन्मभूमि का प्रेम, सन्तोष, डर, ये छः बातें महत्त्व की और उन्नति की बाधक हैं ॥५॥

क्योंकि—जो मनुष्य थोड़ी सी सम्पत्ति पाकर ही अपने को सुस्थिर समझने लगता है, उसकी उस सम्पत्ति को दैव (भाग्य) भी, अपने को कृतकृत्य समझ कर, नहीं बढ़ाता है, —ऐसा मैं समझता हूं ॥ ६ ॥

और भी—कोई भी स्त्री (माता)—उत्साह हीन, आनन्द रहित, बलहीन और शत्रुओं को आनन्द देने वाले निर्वीर्य पुत्र को न उत्पन्न करे ॥ ७ ॥

ऐसाही किसी ने कहा भी है—अप्राप्त वस्तु (धन) की इच्छा करनी चाहिये,

---

१ 'दवेक्षणात्' पा० ।

यतोऽलब्धमिच्छताऽर्थयोगादर्थस्य प्राप्तिरेव । लब्धस्याऽप्यरक्षितस्य निधेरपि स्वयं विनाशः । अपि च अवर्द्धमानश्चाऽर्थः काले स्वल्पव्ययोऽप्यञ्जनवत्क्षयमेति । अनुपभुज्यमानश्च निष्प्रयोजन एव सः ।

तथा चोक्तम्—

'धनेन किं, यो न ददाति, नाऽश्नुते,
बलेन किं, यश्च रिपून्न बाधते ।
श्रुतेन किं, यो न च धर्ममाचरेत्,
किमात्मना, यो न जितेन्द्रियो भवेत्' ॥ ९ ॥

यज्ञादिषु इति वा । 'तीर्थं शास्त्राऽध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु, योनौ, जलावतारे चे'ति विश्वः ॥ ८ ॥

अर्थयोगात्=धनसम्बन्धात् । अर्थस्य=धनस्य । निधेरपि=शेवधेरपि । अपरिमितस्यापि वित्तस्य । अवर्द्धमानश्च=रक्षितोऽप्यवर्द्धमानोऽर्थः । काले=किञ्चित्कालान्तरम् । अनुपभुज्यमानः= तत्तदुपभोगस्थानेषु अनुपयुज्यमानः ॥ अश्नुते=उपभुङ्क्ते ॥९॥

प्राप्त वस्तु (धन) की अच्छी तरह रक्षा करनी चाहिये, और रक्षित वस्तु (धन) को अच्छी तरह बढ़ाना चाहिये, और बढ़े हुए धन को अच्छे २ कार्यों में लगाना चाहिये ॥८॥

क्योंकि—जिस वस्तु को मनुष्य चाहता है, वह वस्तु (धन आदि) उद्योग आदि से और व्यापार में धन लगाने से ही मिलती है । और मिले हुये, कुबेर के भण्डार के समान अनन्त धन की भी, यदि रक्षा न की जाय तो वह नष्ट ही हो जाता है । और यदि वह धन बढ़ाया न जाय तो थोड़ा २ खर्चने पर भी समय पाकर वह अञ्जन (सुर्मे) की तरह ही धीरे २ नष्ट ही हो जाता है । और यदि वह धन अच्छे कार्यों में न लगाया जाय तो फिर वह व्यर्थ ही है । अतः धन की रक्षा करनी चाहिए और उसे अच्छे २ कार्यों में और व्यापार आदि में लगाना चाहिए ।

किसी ने कहा भी है—उस प्राणी के धन से क्या लाभ है, जो न किसी को देता है, और न उसे भोगता है । और उस प्राणी का बल भी किस काम का है, जो शत्रुओं को नहीं दबाता है । और उस आदमी के पढ़ने से भी क्या लाभ है, जो धर्म का आचरण नहीं करता है, और उस मनुष्य के आत्मज्ञान से भी क्या लाभ है, जो जितेन्द्रिय नहीं है ॥ ९ ॥

यतः—

'जलबिन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः ।
स हेतुः सर्वविद्यानां, धर्मस्य च, धनस्य च'॥१०॥
'दानोपभोगरहिता दिवसा यस्य यान्ति वै ।
स कर्मकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति' ॥ ११ ॥

—इति सञ्चिन्त्य नन्दक-सञ्जीवकनामानौ वृषभौ धुरि नियोज्य, शकटं नानाविधद्रव्यपूर्णं कृत्वा, वाणिज्येन गतः काश्मीरं प्रति ।

अन्यच्च—

'अञ्जनस्य क्षयं दृष्ट्वा, वल्मीकस्य च सञ्चयम् ।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद्दानाऽध्ययनकर्मभिः ॥ १२ ॥

जलेति । जलस्य बिन्दूनां निपातेनाऽपि यथा घटः क्रमशः पूर्णो भवति, तथैव विद्या-धर्म-धनानि अल्पशः सञ्चितानि पूर्णतामावहन्ति । सः = तादृशो घटः । हेतुः=निदर्शनम् ॥ १० ॥ ११ ॥

अञ्जनं=नेत्राञ्जनम् (सुर्मा) । वल्मीकस्य=वामलूरस्य । (दीवलों का घूरा) । दानाऽध्ययनकर्मभिः—अवन्ध्यम्=अशून्यम् । 'कर्मसु' इति पाठान्तरम् ॥ १२ ॥

क्योंकि—क्रमशः जल के बूँदों के गिरने से भी घड़ा भर जाता है, वही कारण (उदाहरण) सब विद्याओं का, धर्म का, तथा धन का भी है । अर्थात् विद्या, धन और-धर्म ये सब थोड़ा २ एकत्र करने पर भी कुछ दिनों में बहुत हो जाते हैं ॥१०॥

और—दान और भोग के विना जिसके दिन बीतते हैं, वह लोहार की भाथी की तरह साँस लेता हुआ भी, मरे हुए के ही समान है ॥ ११ ॥

और भी कहा भी है—अञ्जन का धीरे २ नाश देख कर, और वल्मीक (दीमकों के ढूहे) का सञ्चय देख कर, दान और अध्ययन तथा उद्योग-व्यवसाय आदि कार्यों से दिन को सफल करना चाहिए । अर्थात् अञ्जन बहुत कम खर्च होने पर भी वह शनैः शनैः नष्ट ही हो जाता है, और वल्मीक में थोड़ी २ मिट्टी एकत्र होती २ वह एक बड़ा ढूहा बन जाती है, उसी प्रकार थोड़ा २ दान देने, पढ़ने आदि से भी वह बहुत अधिक हो जाता है ॥ १२ ॥

यतः—

'कोऽतिभारः समर्थानां ?, किं दूरं व्यवसायिनाम् ।
को विदेशः सविद्यानां, कः परः प्रियवादिनाम् ?' ॥१३॥

अथ गच्छतस्तस्य सुदुर्गनाम्नि महारण्ये सञ्जीवको भग्नजानुर्निपतितः । तमालोक्य वर्द्धमानोऽचिन्तयत्—

'करोतु नाम नीतिज्ञो व्यवसायमितस्ततः ।
फलं पुनस्तदेवाऽस्य यद्विधेर्मनसि स्थितम्' ॥ १४ ॥

किन्तु—

'विस्मयः सर्वथा हेयः प्रत्यूहः सर्वकर्मणाम् ।
तस्माद्विस्मयमुत्सृज्य साध्ये सिद्धिर्विधीयताम्' ॥ १५ ॥

व्यवसायिनाम् = उद्योगशीलानाम् । सविद्यानां = पण्डितानाम् । प्रियवादिनां= मधुरभाषिणाम् ॥ १३ ॥

तस्य = वर्द्धमानस्य । भग्नजानुः = त्रुटितोरुपर्वा ॥ नीतिज्ञः = व्यवहारपटुः । व्यवसायं = पराक्रमम् । उद्योगम् । पुनः = किन्तु । विधेः = ब्रह्मणः ॥ १४ ॥

विस्मय इति । विस्मयः = किङ्कर्तव्यविमूढता, व्याकुलत्वञ्च । (घबड़ाहट) । **प्रत्यूहः** = विघ्नः । साध्ये=कर्त्तव्ये कर्मणि । सिद्धिः = फलावाप्तिः । विधीयतां= सम्पाद्यताम् ॥ १५ ॥

ऐसा विचार कर वह वर्धमान, सञ्जीवक और नन्दक नाम के दो उत्तम बैलों को गाड़ी में जोत कर, और गाड़ी में नाना प्रकार की व्यापार की चीजें भर कर, व्यापार के लिये काश्मीर की ओर चल पड़ा ।

क्योंकि—समर्थ पुरुषों के लिये कौन कार्य असाध्य और भारी है, व्यवसायी और उद्योगी (कर्मठ) पुरुषों के लिये कौन स्थान दूर है ? । विद्वानों के लिये कौन विदेश है ? । मीठा वचन बोलने वालों का कौन पराया है ? । अर्थात् मधुर भाषण करने वाले के सभी अपने हो जाते हैं ॥ १३ ॥

इसके बाद जाते २ सञ्जीवक बैल का सुदुर्ग नाम के वन में एक पैर टूट गया और वह गिर पड़ा । यह देख कर वह वर्धमान वणिक् विचार करने लगा—

नीतिज्ञ पुरुष चाहे जितना इधर उधर उद्योग करे, परन्तु फल वही होगा जो विधाता के मन में होगा । अर्थात् जो भाग्य में लिखा है, वही होता है ॥ १४ ॥

परन्तु—विस्मय (घबड़ाना, किङ्कर्तव्य विमूढ़ होना) सब कार्यों का विना-

—इति सञ्चिन्त्य सञ्जीवकं तत्र परित्यज्य, वर्द्धमानः पुनः स्वयं धर्मपुरं नाम नगरं गत्वा, महाकायमन्यं वृषभमेकं समानीय, धुरि नियोज्य, चलितः। ततः सञ्जीवकोऽपि कथङ्कथमपि खुरत्रये भरं कृत्वोत्थितः। यतः—

'निमग्नस्य पयोराशौ, पर्वतात्पतितस्य च।
तक्षकेणाऽपि दष्टस्य, आयुर्मर्माणि रक्षति' ॥ १६ ॥
'नाऽकाले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि।
कुशाऽग्रेणैव संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति' ॥ १७ ॥
'अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं,
सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।

धुरि = रथस्याग्रे। खुरत्रये = पादत्रये। भरं = भारम्। ('बोझ'–'सहारा')। निमग्नस्य=मज्जितस्य। पयोराशौ–समुद्रे। आयुः = जीवितकालः। मर्माणि = मर्मस्थलानि। कोऽपि जन्तुः सत्यायुषि न म्रियते इत्यर्थः॥ १६॥

अकाले = अनवसरे। जन्तुः=प्राणी। प्राप्तकालः=प्राप्तमरणसमयः। संस्पृष्टः=

शक है, इसलिये उसको सर्वथा छोड़ देना चाहिये। और विस्मय को छोड़ कर अपने कार्यों को सिद्ध करना चाहिये॥ १५॥

ऐसा विचार कर, सञ्जीवक को वहीं छोड़ कर, वह वर्धमान धर्मपुर नगर में स्वयं गया और एक बहुत बड़ा बैल लेकर उसे गाड़ी के अग्रभाग में जोत कर आगे चल पड़ा। इसके बाद सञ्जीवक भी किसी प्रकार तीन पैरोंपर भार देकर उठा।

क्योंकि—यदि कोई समुद्र में भी डूब गया हो, या पर्वत से भी गिर गया हो, अथवा किसी को सांप ने भी काट लिया हो, तो भी वह आयु रहते कभी नहीं मर सकता है, क्योंकि सभी के मर्म की रक्षा आयु (जीवनकाल) करती है॥ १६॥

और प्राणी, विना काल (मृत्यु समय) आये, हजारों बाणों के लगने पर भी, नहीं मरता है। और मृत्यु समय आ जाने पर तो कुश के अग्रभाग के छू जाने पर भी नहीं जीता है॥ १७॥

क्योंकि—अरक्षित वस्तु भी यदि भाग्य से रक्षित हो तो वह सुरक्षित ही रहती है, पर सुरक्षितवस्तु भी यदि भाग्य से रक्षित न हो तो वह नष्ट हो जाती है। जैसे

जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः,
कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति' ॥ १८ ॥

ततो दिनेषु गच्छत्सु सञ्जीवकः स्वेच्छाऽऽहारविहारं कृत्वाऽरण्यं भ्राम्यन्हृष्टपुष्टाङ्गो बलवन्ननाद । तस्मिन्वने पिङ्गलकनामा सिंहः स्वभुजोपार्जितराज्यसुखमनुभवन्निवसति । तथा चोक्तम्—

'नाऽभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः ।
विक्रमाऽर्जितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता' ॥ १९ ॥

स चैकदा पिपासाऽऽकुलितः, पानीयं पातुं यमुनाकच्छमगच्छत् ।

कृतस्पर्शः ॥ १७ ॥ दैवरक्षितं = भाग्यरक्षितम् ॥ १८ ॥

हृष्टपुष्टाङ्गः=हृष्टो, बलवद्पुष्टश्च सन् । बलवत्=महता शब्देन । उच्चैस्तराम् । ननाद = जगर्ज । स्वभुजोपार्जितराज्यः = स्वपराक्रमार्जितवनराजीराज्यः । *'स्वभुजोपार्जितराज्यसुख'मिति क्वचित्पाठः । नेति । अभिषेकः = राज्याभिषेकः । संस्कारः=शौर्यादिगुणादिसम्बन्धः । विक्रमार्जितराज्यस्य = स्वभुजोपार्जितराज्यस्य । मृगेन्द्रता = मृगाधिपत्यम् ॥ सिंहस्य हि मृगेन्द्रत्वं स्वाभाविकम् । 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरिः' इत्यमरोक्तेः ॥ १९ ॥

सच = सिंहश्च । पिपासाकुलितः = तृषार्दितः । पानीयं—जलम् । यमुनाकच्छं = यमुनातटप्रदेशम् । 'जलप्रायमनूपं स्यात् पुंसि कच्छस्तथाविधः' इत्यमरः ।

वन में छोड़ दिया गया अनाथ बालक भी कोई जी जाता है । और घर में अनेक उद्योग करने पर भी कोई नहीं जीता है ॥ १८ ॥

इस प्रकार कुछ दिन बीतने पर वह सञ्जीवक यथेच्छ आहार-विहार करके हृष्ट पुष्ट हो गया । और वन में घूमता हुआ वह एक दिन जोर से चिल्लाने लगा । उसी वन में पिङ्गलक नाम का एक सिंह अपने भुजबल से पैदा किए राज्य के सुख का अनुभव करता हुआ रहता था । किसी ने कहा भी है—

मृग—न तो सिंह का अभिषेक ही करते हैं, और न वे संस्कार ही करते हैं । किन्तु सिंह तो अपने पराक्रम से ही वनका राज्य करता है, और स्वयं अपने पराक्रम से ही 'मृगेन्द्र' कहलाता है ॥ १९ ॥

एक दिन वह सिंह प्यास से व्याकुल होकर जल पीने के लिये यमुनाजी के तट

तेन च तत्र सिंहेनाऽननुभूतपूर्वमकालघनगर्जितमिव सञ्जीवकनर्दितमश्रावि। तच्छ्रुत्वा पानीयमपीत्वा, सचकितः परावृत्य, स्वस्थानमागत्य, 'किमिद'मित्यालोचयंस्तूष्णीं स्थितः।

स च तथाविधः करटक-दमनकाभ्यामस्य मन्त्रिपुत्राभ्यां शृगालाभ्यां दृष्टः।

तं तथाविधं दृष्ट्वा दमनकः करटकमाह—'सखे करटक! किमित्ययमुदकार्थी स्वामी पानीयमपीत्वा सचकितो मन्दं-मन्दमवतिष्ठते?'।

करटको ब्रूते—'मित्र दमनक! अस्मन्मतेनाऽस्य सेवैव न क्रियते। यदि तथा भवति, तर्हि किमनेन स्वामिचेष्टानिरूपणेनाऽस्माकम्?'।

यतोऽनेन राज्ञा विनाऽपराधेन चिरमवधीरिताभ्यामावाभ्यां महद्दुःखमनुभूतम्।

अननुभूतपूर्वम्=अश्रुतपूर्वम्। **चकितः**=भीतः, त्रस्तश्च। **स च** = सिंहश्च। **तथाविधः** = चिन्तातुरः। **उदकार्थी**=जलार्थी। **सचकितः** = सभयः। **मन्दंमन्दम्**=शनैः शनैः। व्याकुल इव। **स्वामिचेष्टानिरूपणेन**=स्वभर्तुः सिंहस्य कुत इयमवस्थेत्यादिविचारणेन। **चिरं** = बहुकालम्। **अवधीरिताभ्यां**=तिरस्कृताभ्यां। **सेवयेति**।

पर गया। तब उस सिंह ने आकाश में घन के गर्जन के समान गम्भीर और अश्रुतपूर्व सञ्जीवक का शब्द सुना। उसे सुन कर वह बिना जल पीये ही आश्चर्य से चकित होकर लौट आया और अपने स्थान पर आकर—'यह क्या है' ऐसा विचार करता हुआ, चुपचाप बैठ गया। तब उसके मन्त्री के पुत्र—करटक दमनक नाम के दो सियारों ने उसको उस दशा में देखा और दमनक ने करटक से कहा—हे मित्र करटक! हमलोगों का स्वामी यह सिंह जल पीने गया था पर विना जल पिये ही क्यों लौट कर, कुछ आश्चर्य में पड़ा हुआ-सा चुपचाप बैठा है?। करटक बोला—मित्र! मेरी समझ से तो इसकी सेवा करनी ही अनुचित है। जब सेवा ही नहीं करनी है, तो इसकी चेष्टा देखने से भी क्या लाभ है?। क्योंकि विना अपराध इस राजा ने हम लोगों का बहुत दिन तक अनादर किया है, और अपमानित होकर, आज तक हम लोगों ने बड़ा दुःख पाया है।

'सेवया धनमिच्छद्भिः सेवकैः पश्य यत्कृतम् ।
स्वातन्त्र्यं यच्छरीरस्य मूढैस्तदपि हारितम्' ! ॥ २० ॥

अपरञ्च—

'शीतवाताऽऽतपक्लेशान् सहन्ते यान् पराऽऽश्रिताः ।
तदंशेनाऽपि मेधावी तपस्तप्त्वा सुखी भवेत्' ॥ २१ ॥

अन्यच्च—

'एतावज्जन्मसाफल्यं यदनायत्तवृत्तिता ।
ये पराधीनतां यातास्ते वै जीवन्ति !, के मृताः' ? ॥ २२ ॥

अपरञ्च—

'एहि' 'गच्छ' 'पतो'त्तिष्ठ' 'वद' 'मौनं समाचर' ।
एवमाशाग्रहस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः' ॥ २३ ॥

सेवकैः = भृत्यैः । 'यत्कृतं तत्पश्ये'त्यन्वयः । किं तत्कृतमत आह—स्वातन्त्र्यमिति । मूढैः = मूर्खैः । हारितं = विनाशितम् ॥ २० ॥

शीतेति । यान्—शीतवायुघर्मादिजान् क्लेशान्, पराश्रिताः=पराधीनाः, स्वाम्यधीनाः, भृत्याः । तदंशेनाऽपि=तद्दुःखांशेनापि । मेधावी=विद्वान् ॥ २१ ॥

एतावत्=एतावदेव । यत् अनायत्तवृत्तिता=अपराधीनवृत्तिता । स्वाधीनजीविकत्वम् । स्वातन्त्रमिति यावत् । ये पराधीनास्तेऽपि यदि जीवन्ति, तर्हि वद मृताः के ? । ये परतन्त्रास्ते एव मृता इत्यर्थः ॥ २२ ॥

एहि=आयाहि । गच्छ=दूरमपसर । याहि । पत=नीचैस्तिष्ठ, उत्तिष्ठ=उत्थितो

दूसरे की सेवा से धन कमाने की इच्छा रखने वालों ने देखो कैसा अनर्थ किया है । इन मूर्खों ने अपने शरीर की स्वाभाविक स्वतन्त्रता को भी खो दिया है ॥ २० ॥

और भी देखो–पराधीन लोग जितना–शीत, वायु और घाम से क्लेश सहते हैं, बुद्धिमान् मनुष्य उससे आधा भी दुःख सहकर तपस्या करके सदा के लिए सुखी हो सकता है ॥ २१ ॥

और भी—जीविका का स्वाधीन होना ही जन्म की सफलता है । यदि पराधीन मनुष्य भी जीता है, तो फिर मरा कौन कहा जायगा ? ॥ २२ ॥

और भी—धनी लोग आशा रूप ग्रह से ग्रस्त अपने याचकों के साथ

किञ्च—

'अबुधैरर्थलाभाय पण्यस्त्रीभिरिव स्वयम् ।
आत्मा संस्कृत्य-संस्कृत्य परोपकरणीकृतः' ॥ २४ ॥

किञ्च—

'या प्रकृत्यैव चपला, निपतत्यशुचावपि ।
स्वामिनो बहु मन्यन्ते दृष्टिं तामपि सेवकाः' ! ॥२५॥

भव । **वद**=कथय । **मौनं समाचर**=तूष्णीमास्व । (चुप रहो) । **एवम्**= इत्येवंरीत्या । **आशाग्रहग्रस्तैः**=आशापाशसंयतैर्मर्कटैरिव । **अर्थिभिः**=आशान्वितैर्याचकैः सह ॥ २३ ॥

अबुधैः=मूर्खैः । **पण्यस्त्रीभिरिव**=वाराङ्गनाभिरिव । **आत्मा**=शरीरम् । आत्मा च । **संस्कृत्य-संस्कृत्य**=आभूषणैरिव विद्याविनयादिभिर्नानागुणैः पुनः पुनः संस्कारं कृत्वा । **परोपकरणीकृतः**=परोपहारतां नीतः । **उपकरणं**= साधनम् ॥ २४ ॥

येति । या दृष्टिः—**प्रकृत्यैव**=स्वभावेनैव, **चपला**=अस्थिरा । किञ्च या दृष्टिः— **अशुचावपि**=अयोग्येऽपि, **निपतति**=अभिमुखीभवति । **तामपि स्वामिनो दृष्टिं**= प्रसादं-सेवका **बहुमन्यन्ते**=क्षणिकेन प्रसादेनापि धन्यमात्मानं मन्यन्ते इति धिक् सेवकत्वमित्यर्थः ॥ २५ ॥

'आओ,' 'जावो,' 'बैठो,' 'उठो,' 'चुप रहो,' इस प्रकार नाना प्रकार के खेल किया करते हैं ॥ २३ ॥

और भी—मूर्खों (मृत्यों) ने धन के वास्ते वेश्याओं के सदृश अपने शरीर और आत्माको संस्कृत (नाना गुणों से युक्त) कर के स्वयं ही दूसरों के काम में लगा दिया है । वेश्या भी अपने शरीर का बनाव-श्रृंगार दूसरों को (अपने ग्राहकों को) प्रसन्न करने के लिये ही करती हैं ॥ २४ ॥

और भी—जो स्वभाव ही से चञ्चला है, और अयोग्यजनों पर भी जो पड़ती है, ऐसी स्वामी की दृष्टि (कृपा दृष्टि) को भी सेवक लोग बहुत बड़ी बात समझते हैं ! ॥ २५ ॥

किञ्च—

'मौनान्मूर्खः, प्रवचनपटुर्वातुलो,[1] जल्पको वा,
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाऽभिजातः।
धृष्टः पार्श्वे वसति नियतं, दूरतश्चाऽप्रगल्भः[2],
सेवाधर्मः परगहनो योगिनामप्यगम्यः' ॥२६॥

विशेषतश्च—

'प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान्।
दुःखीयति सुखहेतोः, को मूढः सेवकादन्यः'? ॥ २७ ॥

मौनादिति। सेवको यदि मौनमालम्बते, तर्हि मूर्खोऽयं न वक्तुमपि जानातीति स्वामिनो भाषन्ते। वाक्पटुं—**वातुलः** = बहुभाषी (बकवादी)। **वातुलः**=वातूलः, वातरोगी इति केचित्। **जल्पकः**=जल्पाकः, बहुगर्ह्यवाक् (बड़बड़िया) इति भाषन्ते। **क्षान्त्या** = सहनशक्त्या, **युतम्**—संयुतं–भीरुं वदन्ति। यदि न सहते परापराधं, तर्हि—अयं न अभिजातः—न कुलीन इति भाषन्ते। **पार्श्वे**=निकटे, **वसति** = तिष्ठति चेत्, तदा—धृष्टः = अविनीत इति तं भाषन्ते। **नियतं**=नियमेन, **दूरतः** = दूरे तिष्ठति चेत्, **अप्रगल्भः**=अपटुः—इति भाषन्ते। एवञ्च–**सेवाधर्मः**= सेवारूपो धर्मः—सेवकत्वम्, योगिनामपि—**अगम्यः** = यथावदनुष्ठातुमशक्यो, नितरां कठिनश्च ॥ २६ ॥

उन्नतिहेतोः=आत्मन उन्नत्यर्थं, **प्रणमति**=अवनमति, नीचो भवति च,स्वामिनं

और भी—यदि सेवक चुप रहे, तो उसे मालिक लोग मूर्ख कहते हैं, यदि वह बोले, तो उसे बकवादी या पागल कहते हैं, और वह यदि सहनशील हो, तो उसे डरपोक कहते हैं। और वह यदि किसी की बात न सहे, तो उसे अकुलीन कहते हैं। यदि पास में बैठे, तो धृष्ट (अविनीत) कहते हैं, और यदि वह दूर रहे, तो उसे गँवार कहते हैं। इसलिये सेवाधर्म बहुत कठिन है, इसको योगी लोग भी नहीं निर्वाह सकते हैं ॥ २६ ॥

विशेष तो यह है कि–सेवक से बढ़ कर कोई मूर्ख नहीं है, क्योंकि वह अपनी

१. 'वातूलो, वातुलोऽपि स्या' दिति द्विरूपकोशः। २ 'दूरगश्चा'–पा०।

दमनको ब्रूते-'मित्र ! सर्वथा मनसाऽपि नैतत्कर्त्तव्यम्। यतः—

'कथं नाम न सेव्यन्ते यत्नतः परमेश्वराः।
अचिरेणैव ये तुष्टाः पूरयन्ति मनोरथान्' ॥ २८ ॥

अन्यच्च पश्य—

'कुतः सेवाविहीनानां चामरोद्धूतसम्पदः।
'उद्दण्डधवलच्छत्रं, वाजि-वारण-वाहिनी' ? ॥ २९ ॥

करटको ब्रूते-'तथापि किमनेनाऽस्माकं व्यापारेण ?। यतोऽव्यापारेषु व्यापारः सर्वथा परिहरणीयः'। पश्य—

प्रणमति च। जीवितहेतोः=स्वजीवनार्थंच, प्राणान् विमुञ्चति = युद्धादौ स्वाम्यर्थं म्रियते। दुःखीयति=दुःखमनुभवति ॥ २७ ॥ एतत्=ईदृशं व्यवसितं, सेवात्याग-सेवानिन्दादिकम् ॥ परमेश्वराः = राजानः, स्वामिनश्च ॥ २८ ॥ चामरोद्धूतसम्पदः= चामरव्यजनाद्यङ्किताः श्रियः। किञ्च-उद्दण्डं धवलच्छत्रं=दीर्घदण्डमण्डितं धवलं छत्रम्। 'कुत' इति शेषः। किञ्च—वाजिवारणवाहिनी=गजाश्वपदातिसैन्य-सम्पत्तिरपि राजसेवां विना कुतो लभ्यते—इत्यर्थः ॥ २९ ॥

उन्नति के लिये अवनत (नम्र) होता है। अपने जीवन के लिये अपने प्राणों को दूसरे के लिये त्याग देता है, सुख के लिये दुःख सहता है। अर्थात् वह सभी कार्य विपरीत ही करता है, अतः सेवक से बढ़कर मूर्ख और कौन होगा ॥ २७ ॥

दमनक बोला—हे मित्र ! मन में भी कभी ऐसी बात नहीं सोचनी चाहिये।

क्योंकि—बड़े ही यत्न से उन धनी लोगों की सेवा क्यों नहीं करनी चाहिए, (अर्थात् अवश्य ही करनी चाहिए), जो प्रसन्न होकर सेवकों के सभी मनोरथों को शीघ्र ही पूर्ण कर देते हैं ॥ २८ ॥

और भी देखो—जो लोग राजाओं की सेवा नहीं करते हैं, उनको चामर से युक्त धन सम्पत्ति, ऊँचे दण्ड वाला सफेद छत्र, और हाथी, घोड़ा, सेना, ये उपभोग की सब सामग्रियाँ कहाँ से मिल सकती हैं ? ॥ २९ ॥

करकट बोला—तो भी हमको इस अनधिकार चेष्टा से लाभ ही क्या है ?। क्योंकि कभी भी मनुष्य को अव्यापार में व्यापार नहीं करना चाहिये। अर्थात् जो कार्य अपना कर्तव्य नहीं है, उसमें हाथ नहीं लगाना चाहिये।

'अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्त्तुमिच्छति ।
स भूमौ निहतः शेते, कीलोत्पाटीव वानरः' ॥ ३० ॥

दमनकः पृच्छति—'कथमेतत् ?' । करटकः कथयति—

(१) कीलोत्पाटिवानरकथा ।

अस्ति मगधदेशे धर्मारण्यसंनिहितवसुधायां शुभदत्तनाम्ना कायस्थेन विहारः कर्त्तुमारब्धः । तत्र करपत्रदार्यमाणैकस्तम्भस्य कियद्दूरस्फाटितस्य काष्ठखण्डद्वयमध्ये कीलकः सूत्रधारेण निहितः । तत्र बलवान्वानरयूथः क्रीडन्नागतः । एको वानरः कालप्रेरित इव तं कीलकं हस्ताभ्यां धृत्वोपविष्टः । तत्र तस्य मुष्कद्वयं लम्बमानकाष्ठखण्डद्वयाऽभ्यन्तरे प्रविष्टम् ।

अव्यापारेषु=अव्यापारानवसरेषु । अव्यापारऽयोग्येषु । **कीलोत्पाटी**=शङ्कूत्पाटी ॥३०॥

करपत्रं=काष्ठदारणं (करौत) । तेन **दार्यमाणः**= विदार्यमाणो, य एकः-स्तम्भस्तस्येत्यर्थः । **स्फाटितस्य**=दारितस्य । **सूत्रधारेण** = वर्द्धकिना । (**सूत्रधार**= बढ़ई, सुतार) । **तत्र** = विहारे । **यूथः** = समूहः ।

कालप्रेरित इव = मृत्युपाशगृहीत इव । **धृत्वा** = आदाय । **मुष्कद्वयम्**=

देखो—जो प्राणी अव्यापार (वृथा कार्यों) में व्यापार करता है, अर्थात् जो काम अपना कर्तव्य नहीं है, उसको करता है, वह कील उखाड़ने वाले उस बन्दर के समान ही मर कर भूमि पर पड़ जाता है ॥ ३० ॥

दमनक ने पूछा—यह कथा कैसे है ? । करटक कहने लगा—

मगध देश में धर्मारण्य के पास की किसी भूमिपर शुभदत्त नाम का एक कायस्थ एक विहार[1] (बौद्ध मठ) बनवा रहा था। वहाँ पर आरे से आधी दूर तक फटे हुये किसी खम्भे के दोनों काठ के टुकड़ों के बीच में बढ़ई ने एक कील गाड़ दी थी। एक समय वहाँ बहुत से बन्दर खेलते हुए आगये। उनमें से एक बन्दर मानों काल से प्रेरित होकर उस कील को हाथ से पकड़ कर बैठ गया। उसके लटकते हुए दोनों अण्डकोश भी फटे हुए उन दोनों काष्ठों के मध्य में घुस गये।

---

१. विहार=बौद्ध संन्यासियों के रहने का स्थान (मठ) ।

अनन्तरं स च सहजचपलतया महता प्रयत्नेन तं कीलकमाकृष्टवान्। आकृष्टे च कीलके चूर्णिताऽण्डद्वयः पञ्चत्वं गतः। अतोऽहं ब्रवीमि—'अव्यापारेषु व्यापारम्' इत्यादि ॥॥

दमनको ब्रूते—'तथापि स्वामिचेष्टानिरूपणं सेवकेनाऽवश्यं करणीयम्।' करटको ब्रूते—'सर्वस्मिन्नधिकारे य एव नियुक्तः प्रधानमन्त्री, स करोतु। यतोऽनुजीविना पराधिकारचर्चा सर्वथा न कर्त्तव्या। पश्य—

'पराऽधिकारचर्चां यः कुर्यात्स्वामिहितेच्छया।
स विषीदति, चीत्काराद् गर्दभस्ताडितो यथा' ॥ ३१ ॥

दमनकः पृच्छति—'कथमेतत्?'। करटको ब्रूते—

(२) चीत्कारिगर्दभकथा।

अस्ति वाराणस्यां कर्पूरपटको नाम रजकः। स चाऽभिनववयस्कया वध्वा सह चिरं निधुवनं कृत्वा, (तां) निर्भरमालिङ्ग्य, प्रसुप्तः।

अण्डकोशद्वयम्। सः=वानरः। पञ्चत्व गतः=मृतः। स्वामिचेष्टानिरूपणं=प्रभुचेष्टानिरीक्षणम्। अनुजीविना=भृत्येन। विषीदति=क्लिश्यते ॥३१॥
अभिनववयस्कया=नवीनया, नवोढया, युवत्या। क्रीडां=सुरतक्रीडाम्।

इसके बाद उस बन्दर ने स्वाभाविक चञ्चलता के कारण बड़े परिश्रम से उस कील को खींचा। कील के निकल जाने पर उसके दोनों अण्डकोश काठ के दोनों खण्डों के बीच में दब कर पिस गये और वह वानर मर गया। इसी लिये मैं कहता हूँ कि 'अव्यापार (व्यर्थ के कार्यों) में जो व्यापार करता है'—इत्यादि।

तब दमनक बोला-तो भी स्वामी की चेष्टा पर नौकर को अवश्य ध्यान रखना ही चाहिए। करटक बोला—जो सब अधिकारों में नियुक्त है, वही प्रधानमन्त्री ध्यान दे। क्योंकि नौकर को दूसरे अधिकारों की चर्चा कभी नहीं करनी चाहिए।

देखो, जो भृत्य स्वामी की भलाई की इच्छा से भी, दूसरे के अधिकारों की चर्चा करता है, वह वैसे ही दुःखी होता है, जैसे चीत्कार करने से पीटा गया वह गदहा दुःखी हुआ था, और मारा गया था। ॥ ३१ ॥

दमनक ने पूछा—यह कथा किस प्रकार है?। करटक कहने लगा—

वाराणसीपुरी (बनारस) में 'कर्पूरपटक' नाम का एक धोबी रहता था। वह अपनी नवीन नवोढा स्त्री के साथ बहुत देर तक सुरत क्रीड़ा करके, उसका गाढ़

तदनन्तरं तद्गृहद्रव्याणि हर्त्तुं चौरः प्रविष्टः। तस्य प्राङ्गणे गर्दभो बद्धस्तिष्ठति। कुक्कुरश्चोपविष्टोऽस्ति।

अथ गर्दभः श्वानमाह—'सखे! भवतस्तावदयं व्यापारः, तत्किमिति त्वमुच्चैः शब्दं कृत्वा स्वामिनं न जागरयसि ?।'

कुक्कुरो ब्रूते-'भद्र! मम नियोगस्य चर्चा त्वया न कर्त्तव्या। त्वमेव किं न जानासि, यथा तस्याऽहर्निशं गृहरक्षां करोमि, ततोऽयं चिरान्निर्वृतो ममोपयोगं न जानाति। तेनाऽधुनापि ममाऽऽहारदाने मन्दाऽऽदरः। यतो विना विधुरदर्शनं स्वामिन उपजीविषु मन्दाऽऽदरा भवन्ति।'

गर्दभो ब्रूते—'शृणु रे बर्बर'!

'याचते कार्यकाले यः स किंभृत्यः, स किंसुहृत्' ?।

'निधुवन'मिति पाठेऽपि स एवार्थः। निर्भरं=गाढं सुप्तः। अयं व्यापारः=चौरादिभये सति स्वामिनो जागरणम्। व्यापारः=कर्त्तव्यो नियोगः। नियोगस्य=अधिकारस्य। (ड्यूटी)। निर्वृतः=चौरादिभयरहितः सुखी। उपयोगं=सफलताम्। मन्दादरः=शिथिलादरः। विधुरदर्शनं=विपदनुभवम्। बर्बर=अनार्य। मूर्ख। कार्यकाले=कार्ये उपस्थिते सति। किंभृत्यः=कुत्सितो भृत्यः। किंसुहृत =

आलिङ्गन कर सो गया। उसी समय उसके घर में चोरी करने को चोर घुसा। उस धोबी के घर के आँगन में एक गदहा बंधा हुआ था। और वहीं एक कुत्ता भी बैठा था।

गदहे ने कुत्ते से कहा हे मित्र! अपने स्वामी को चोरों से सावधान करना आपका काम है। अतः आप चिल्लाकर अपने मालिक को क्यों नहीं जगाते हो ?।

तब वह कुत्ता बोला—भाई! आप मेरे काम की चिन्ता क्यों करते हैं ?। क्या आप नहीं जानते हैं, कि रात दिन मैं इसके गृह की रक्षा करता हूँ। इसीलिए यह बहुत दिनों से सुखी है, और इसलिये इसको अब मेरी आवश्यकता भी नहीं मालूम देती है। इससे इन दिनों यह मुझे ठीक २ भोजन देने का भी ध्यान नहीं रखता है। क्योंकि बिना दुःख देखे स्वामी लोग नौकरों का ध्यान कम ही करते हैं। तब वह गदहा बोला—सुन रे नीच!

जो भृत्य, या मित्र काम के समय मांगता है, वह नौकर भी अधम और नीच है, और वह मित्र भी अधम और निन्दित है।

कुक्कुरो ब्रूते—

'भृत्यान् संभाषयेद्यस्तु कार्यकाले, स किंप्रभुः' ? ॥ ३२ ॥

यतः—

'आश्रितानां भृतौ, स्वामिसेवायां, धर्मसेवने ।
पुत्रस्योत्पादने चैव, न सन्ति प्रतिहस्तकाः' ॥ ३३ ॥

ततो गर्दभः सकोपमाह—'अरे दुष्टमते ! पापीयांस्त्वं, यद्विपत्तौ स्वामिकार्ये उपेक्षां करोषि । भवतु तावत् । यथा स्वामी जागरिष्यति, तन्मया कर्त्तव्यम् । यतः—

'पृष्ठतः सेवयेदर्कं, जठरेण हुताऽशनम् ।
स्वामिनं सर्वभावेन, परलोकममायया' ॥ ३४ ॥

दुष्टं मित्रम् । **कार्यकाले**=कार्ये उपस्थिते । **सम्भाषयेत्**=पूजयेत्, पृच्छेत्, संस्मरेत् ॥ ३२ ॥

आश्रितानां=शरणागतानां, सेवकादीनाञ्च । **भृतौ**=पालने । **स्वामिसेवायां**=राजसेवायाम् । **धर्मसेवने**=धर्मोपार्जने, तीर्थादिगमने च । **पुत्रस्योत्पादने**=गर्भाधाने । **प्रतिहस्तकाः** = प्रतिनिधयः । **न सन्ति** = न भवन्ति । नोपयुज्यन्ते ॥ ३३ ॥

पृष्ठतः=पृष्ठं दत्त्वा । **अर्कं**=सूर्यम् । **हुताशनं**=वह्निम् । **जठरेण** = आभिमुख्येन । **सर्वतोभावेन** = सर्वथा । **अमायया** = अकपटेन, ऋजुभावेन च । **परलोकं**=

तब वह कुत्ता बोला—यह ठीक है, परन्तु जो अवसर पर (काम पड़ने पर) ही नौकरों को याद करता है, वह स्वामी भी तो अधम और निन्दित है ॥ ३२ ॥

क्योंकि—आश्रितों की रक्षा करने में, स्वामी की सेवा करने में, धर्म करने में, सन्तान उत्पन्न करने में प्रतिनिधि नहीं होते हैं। अर्थात् ये सब काम स्वयं ही करने के हैं, दूसरों के ऊपर छोड़ने के नहीं हैं ॥ ३३ ॥

तब वह गदहा क्रुद्ध होकर बोला—'अरे दुष्ट ! तूँ बड़ा पापी है, जो विपत्ति में भी स्वामी के कार्य की उपेक्षा करता है । अच्छा, जो हो, जिस उपायसे स्वामी जागेंगे, वह उपाय मैं ही करूँगा । क्योंकि—

सूर्य की सेवा पृष्ठ से करनी चाहिए, अर्थात्-सूर्य को पीठ देकर बैठना चाहिए, इससे उसका सन्ताप अधिक बाधा नहीं देता है, और अग्नि की सेवा पेट (सामने)

इत्युक्त्वाऽतीव चीत्कारशब्दं कृतवान् । ततः स रजकस्तेन चीत्कारेण प्रबुद्धो, निद्राभङ्गकोपादुत्थाय, गर्दभं लगुडेन ताडयामास । तेनासौ पञ्चत्वमगमत् । अतोऽहं ब्रवीमि–'पराधिकारचर्चाम्' इत्यादि ॥ ॥

पश्य—पशूनामन्वेषणमेवाऽस्मन्नियोगः । स्वनियोगचर्चा क्रियताम् । (विमृश्य—) 'किंत्वद्य तया चर्चया न प्रयोजनम् । यत आवयोर्भक्षित-शेषाऽऽहारः प्रचुरोऽस्ति ।'

दमनकः सरोषमाह–'कथमाहाराऽर्थी भवान् केवलं राजानं सेवते ? । एतदयुक्तमुक्तं त्वया । यतः—

स्वर्गम् । धर्ममिति यावत् ॥ ३४ ॥

प्रबुद्धः = जागरितः । निद्राविमर्दकोपात्=अनवसरनिद्राव्याघातजात् क्रोधात् । पञ्चत्वं गतः=मृतः । अस्माकं = करटकदमनकयोः । नियोगः=अधिकारः । तयाऽपि= पशूनामन्वेषणरूपया । चर्चया=वार्त्तया । प्रचुरः = भूयान् । आहारमात्रार्थी=भोजन-मात्राभिलाषी ।

से करनी चाहिए । औरस्वामी की सेवा सब प्रकार से (अच्छी तरह से पूरी२) करनी चाहिए, और परलोक की सेवा (परलोक में उत्तम गति की प्राप्ति के लिए पुण्य का उपार्जन) छल रहित होकर करनी चाहिए ॥ ३४ ॥

ऐसा कहकर गदहा बड़े जोर से चिल्लाने लगा । इसके बाद वह धोबी उसके चिल्लाने से जाग उठा, और असमय में नींद टूटने के कारण क्रुद्ध होकर, उठकर गदहे को दण्डे से पीटने लगा । और वह गदहा इस प्रकार मार खाकर मर गया । इसीलिए मैं कहता हूँ, कि–'दूसरे के अधिकार की चर्चा कभी नहीं करनी चाहिए' इत्यादि ।

और देखो, पशुओं का खोजना ही हम लोगों का काम है । अतः अपने काम की चर्चा ही हमें करनी चाहिए । (कुछ सोच कर–) किन्तु आज तो उस चर्चा की भी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हम लोगों के खाने से बचा हुआ पूरा आहार रखा हुआ है । तब वह दमनक क्रोध करके बोला—क्या तुम केवल अपने पेट पालने के लिये राजा की नौकरी करते हो? । भाई यह बात तो तुमने ठीक नहीं कही ।

'सुहृदामुपकारकारणाद् , द्विषतामप्यपकारकारणात् ।
नृपसंश्रय इष्यते बुधैर्जठरं को न बिभर्त्ति केवलम्' ॥३५॥
'जीविते यस्य जीवन्ति विप्रा, मित्राणि, बान्धवाः ।
सफलं जीवितं तस्य, आत्मार्थे को न जीवति' ? ॥३६॥

अपि च—

'यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः, स तु जीवतु ।
काकोऽपि किं न कुरुते चञ्च्वा स्वोदरपूरणम्' ॥ ३७ ॥

पश्य—

[illegible] दासत्वं पुराणैः कोऽपि मानवः ।
कोऽपि लक्षैः कृती, कोऽपि लक्षैरपि न लभ्यते' ! ॥ ३८ ॥

सुहृदामिति । मित्राणामुपकाराय, द्विषतां = शत्रूणामपकारकरणाय च, राजाश्रयो-बुधैः = विद्वद्भिः,-इष्यते = अभिलष्यते । केवलं जठरं = स्वोदरन्तु, को न बिभर्त्ति = को न पूरयति ? । सर्वोऽपि स्वोदरं पूरयत्येवेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

यस्य = यस्य पुंसः । जीविते = जीवने । विप्राः = ब्राह्मणाः । गोविप्रमित्रात्मीयपालकस्येति यावत् । तस्यैव जीवनं सफलं, स्वात्मार्थे तु को न जीवति ? ॥ ३६ ॥

बहवः = गोविप्राऽनाथातुरदरिद्राः ॥ ३७ ॥

पञ्चभिरिति । कोऽपि मानवः पञ्चभिरपि पुराणैः = पुराणनामकमुद्राभिः ।

क्योंकि—मित्रों का उपकार करने के लिये, तथा शत्रुओं का अपकार करने के लिये ही विद्वान् लोग राजाओं की सेवा किया करते हैं । केवल अपना पेटमात्र तो कौन नहीं भर लेता है, अर्थात् सभी भर लेते हैं ॥ ३५ ॥

और भी—जिसके जीने से ब्राह्मण, मित्र और बन्धुजन जीते हैं, उसी का जीना सफल है । अपने लिये तो कौन नहीं जीता है, अर्थात् सभी जीते हैं ॥३६॥

और भी–जिसके जीने से बहुतों की जीविका चलती है, वही जीता है, अर्थात् उसी का जीवन सफल है । क्या कौआ भी चोंच से अपना पेट नहीं भर लेता है ?। अर्थात् भरता ही है ॥ ३७ ॥

देखो–कोई प्राणी पांच पैसे या पांच रुपये पर ही नौकरी करता है, और कोई

अन्यच्च—

'मनुष्यजातौ तुल्यायां भृत्यत्वमतिगर्हितम् ।
प्रथमो यो न तत्रापि, स किं जीवत्सु गण्यते' ? ।। ३९ ।।

तथा चोक्तम्—

'वाजि-वारण-लोहानां, [2]काष्ठ-पाषाण-वाससाम् ।
नारी-पुरुष-तोयानामन्तरं महदन्तरम्' ।। ४० ।।

(पुराण=पैसा, ८० कौडी) । दासतां याति = कस्यापि भृत्यभावं धत्ते । कोऽपि च कृती = कुशलः,—लक्षैः = लक्षैः पुराणैर्दासतां करोति । यद्वा—कोऽपि—लक्षैः कृती= आत्मानं कृतकृत्यं मनुते इत्यर्थः । कोऽपि पुरुषश्रेष्ठस्तु--लक्षैरपि न लभ्यते ।।३८।।

मनुष्येति । सेवके, स्वामिनि च मनुष्यत्वं- तावत्तुल्यमेवेति तयोः सेव्यसेवक-भाव एव तावन्निन्दितः । तत्रापि=गर्हितायां सेवकवृत्तौ स्वीकृतायामपि । यद्वा-तत्राऽपि =सेवकेष्वपि । यो न प्रथमः=न मुख्यः, केवल सामान्यभृत्यभावं भजते, चेत् स मृतकतुल्य एवेत्यर्थः ।।३९।।

वाजीति । वाजी=अश्वः । वारणः=हस्ती । लोहानि=स्वर्णादिधातवः, वासः=वस्त्रम् । तोयं = जलम् । तुल्यायामपि वाजित्वादिजातौ, कश्चित् साधारणोऽश्वः, कश्चिच्च जात्यः-'पारसीकाश्व' इति, किञ्चिज्जलं कूपादेः, किञ्चिच्च भागीरथ्यादेरिति च रीत्या एषां यदन्तरं = भेदः, तन्महदेव अन्तरं=नितरां भेद इत्यर्थः । तुल्येऽपि नामनि

बुद्धिमान् कुशल पुरुष लाख रुपयों (या पैसों) पर नौकरी करता है, और कोई महा पुरुष ऐसे भी होते हैं, जो लाखों रुपये (या पैसों) देने पर भी नहीं मिलते हैं ।।३८।।

और भी—स्वामी और सेवक की मनुष्य जाति एक समान होने पर भी, किसी को स्वामी बनाना और उसकी सेवकाई करना यह अत्यन्त ही निन्दित है। फिर उस नौकरी में भी जो सेवक प्रथम (मुख्य) नहीं हुआ, तो उसकी गणना भी क्या ने वालों में है ? । अर्थात् उसको मरा हुआ ही समझना चाहिये ।।३९।।

जैसे कहा भी है--घोड़ा, हाथी, धातु, काष्ठ, पत्थर, वस्त्र, स्त्री, पुरुष, जल, इनमें परस्पर में बहुत बड़ा भेद (विशेषता) रहता है । अर्थात्—घोड़े, हाथी, धातु, पत्थर, वस्त्र, स्त्री, पुरुष, जल—ये सब एक ही तरह के नहीं होते हैं, किन्तु इनमें

तथा स्वल्पमप्यतिरिच्यते,—

'स्वल्पस्नायुवसाऽवशेषमलिनं[1] निर्मांसमप्यस्थि गोः,
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति, न भवेत्तस्य क्षुधः शान्तये।
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा,निहन्ति द्विपं,
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम्' ॥४१॥

अपरं च–सेव्यसेवकयोरन्तरं पश्य—

'लाङ्गूलचालनमधश्चरणाऽवपातं,
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनञ्च।

गुणेषु महद्वैषम्यमिति यावत् ॥ ४० ॥

स्वल्पमपि **अतिरिच्यते** = विशेषाऽऽधायकं भवति। **स्वल्पे**ति। स्वल्पस्नायु-वसालेशयुतं मलिनं मांसरहितं गोः कीकशम् = अस्थि, लब्ध्वाऽपि कुक्कुरः **परितोषमेति** = परितुष्यति। **क्षुधः** = बुभुक्षायाः। **न भवेत्** = न तदस्थि समर्थम्। **सिंहस्तु-जम्बुकं** = शृगालम्, **अङ्के** = क्रोडे, (गोदमें)। आगतमपि, विहाय-**द्विपं** = गजमेव, **हन्ति** = निहन्ति, हन्तुं धावति। **कृच्छ्रगतः** = क्लिष्टोऽपि। **सत्त्वानुरूपं** = स्वस्वरूपानुरूपमेव-फलं वाञ्छति। सत्त्वं = तेजः ॥ ४१ ॥

सेव्यसेवकयोरन्तरं = सेव्यसेवकभावेऽपि प्रभेदम्। **लाङ्गूलचालनं** = पुच्छ-परिचालनम्। **अधः** = नीचैः। चरणयोरवपातः—चरणयोः पातः, तं = पादपतनम्। वदनञ्च, उदरञ्च वदनोदरं, तस्य **दर्शनं** = प्रदर्शनम्। श्वजातिरेषा। **श्वा** = कुक्कुरः।

उत्तम, मध्यम, अधम भाव रहता ही है ॥ ४० ॥

और वस्तुओं का—थोड़ा भेद भी विशेषाधायक होता है। देखो—

कुत्ता थोड़ी सी आंत तथा चर्बीके लेश युक्त मलिन, एवं मांस रहित गौ की सूखी हड्डी को पाकर भी सन्तुष्ट हो जाता है, जिससे उसकी भूख भी शान्त नहीं होती है। और सिंह अपनी गोद में आये हुये भी सियार को भी छोड़कर हस्ती को ही मारता है। ठीक है—सभी प्राणी कष्ट में पड़े हुए रहने पर भी अपने सत्त्व (बल, पराक्रम, योग्यता) के अनुरूप ही फल चाहते हैं ॥ ४१ ॥

और भी–स्वामी और सेवक में भी अन्तर (भेद) देखो—कुत्ता अपने भोजन देने वाले के सामने पूँछ हिलाता है, और उसके चरणों पर (नीचे) गिर कर

---

१. 'ऽवसेक' पा०। २ 'अस्थिक'मिति पाठान्तरम्।

श्वा पिण्डदस्य कुरुते, गजपुङ्गवस्तु-
धीरं विलोकयति, चाटुशतैश्च भुङ्क्ते' ॥ ४२ ॥

किञ्च—

'यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै-
र्विज्ञान-विक्रम-यशोभिरभज्यमानम् ।
तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः,
काकोऽपि जीवति चिराय, बलिं च भुङ्क्ते' ॥ ४३ ॥

पिण्डदस्य = भोजनग्रासप्रदातुः स्वामिनः । **गजपुङ्गवस्तु** = करीन्द्रस्तु । भोजनं परिवेषितं दृष्ट्वाऽपि, **धीरं** = मन्द, मलीलम् । **विलोकयति** = पिण्डं पश्यति, पिण्डदं स्वामिनं च पश्यति । **चाटुशतैश्च** = बहुरूपैः, प्रियवाक्यशतैश्च प्रार्थ्यमान इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

भृशं **विज्ञानं**=कलाकौशलं, **विक्रमः** = पराक्रमः, **यशः** = कीर्त्तिः, तैः **प्रथितं** = सुप्रसिद्धम्, **अभज्यमानम्** = अतिरस्क्रियमाणम् । अप्रतिहतं यथा स्यात्तथा, मनुष्यैर्यज्जीव्यते, **तदेव नाम** = किल—**जीवनं**=प्रशस्तजीवनाभिधेयम् । **तज्ज्ञाः** = लोकयात्राविदो विद्वांसः । **चिराय**=चिरम् । **बलिं** = काकादिभ्यो दीयमानं बलिञ्च भुङ्क्ते । मानेनैव जीवनं शोभनम्, अन्यथा काकतुल्य तज्जीवनमिति भावः ॥ ४३ ॥

उसकी खुशामद करता है, और जमीन पर लोट कर अपना पेट और मुख दिखलाता है । परन्तु हाथी-अपने भोजन देने वाले के सामने बड़ी गंभीरता से देखता है, और सैकड़ों प्रिय वचन बोलने पर ही खाता है । अर्थात् सेवकों में भी बहुत भेद है ॥ ४२ ॥

और भी—जो इस संसार में मानी प्राणी-ज्ञान, पराक्रम और कीर्ति के साथ मनुष्यों में प्रसिद्ध होकर, क्षण भर के लिये भी जीता है, उसी को विद्वान् लोग सच्चा जीना कहते हैं, इस तरह तो कौवा भी बहुत दिन तक जीता है, और बलि के टुकड़े खाया करता है ॥ ४३ ॥

अपरञ्च—

'यो नाऽऽत्मजे, न च गुरौ, न च भृत्यवर्गे,
दीने दयां न कुरुते, न च बन्धुवर्गे ।
किं तस्य जीवितफलं नु[1] मनुष्यलोके,
काकोऽपि जीवति चिराय, बलिं च भुङ्क्ते' ॥ ४४ ॥

अपरमपि—

'अहित हित-विचारशून्यबुद्धेः,
[2]श्रुतिसमयैर्बहुभिस्तिरस्कृतस्य[3] ।
उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः,
पुरुषपशोश्च, पशोश्च को विशेषः' ? ॥ ४५ ॥

य इति । आत्मजे = पुत्रे । 'किन्नु तस्य = पुंसो जीवितस्य फल'मित्यन्वयः । न किमपि फलमिति भावः । 'जीवितफलेने'ति पाठे-जीवनात्मकेन फलेनेत्यर्थो बोध्यः ॥ ४४ ॥

अहितेति । हिता-ऽहित-शत्रुमित्रादिविचारविवेकशून्यस्य । श्रुतिविषयैः=शास्त्रोक्तैर्विषयैः = धर्माचारदयादाक्षिण्यादिभिः, बहिष्कृतस्य = रहितस्य । श्रुतिसमयैरिति पाठे-श्रुत्युक्ताचारशून्यस्येत्यर्थः । 'समयाः शपथाऽऽचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः=स्वोदरभरणमात्रपरायणस्य । पुरुषरूपपशोर्गर्दभादिपशोश्च किमन्तरम् ? । न किमपीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

और भी—जो मनुष्य–पुत्र, गुरु, भृत्य (नौकर), दीन तथा बन्धुओं पर दया नहीं करता है, मनुष्य लोक में उसके जीवन से क्या लाभ है ? । क्योंकि ऐसे तो कौवा भी बहुत दिन तक जीता है, और बलि के टुकड़ों को खाता रहता है ॥ ४४ ॥

और भी—हिताहित के विचार से शून्य, बहुत से धार्मिक सिद्धान्तों से अनादृत, अर्थात् उनको न मानने वाले, केवल अपने उदरमात्र भरने के अभिलाषी, पुरुष रूप पशु में और साक्षात् पशु में क्या भेद है ? । अर्थात् ऐसे पेटू मनुष्य में और पशु में कोई भेद नहीं है, उसको तो पशु ही समझना चाहिये ॥ ४५ ॥

१. 'जीवितफलेने'ति पाठान्तरम् । २. 'श्रुतिविषयैः' इति पा० । ३'बहिष्कृतस्य' ।

करटको ब्रूते—'आवां तावदप्रधानौ, [1]तावताऽप्यावयोः किमनया विचारणया ? ।' दमनको ब्रूते-'भ्रातः! कियता कालेनाऽमात्याः[2] प्रधानतामप्रधानतां वा [3]लभन्ते । यतः—

'न कस्यचित्कश्चिदिह स्वभावा-
द्भवत्युदारोऽभिमतः, खलो वा ।
लोके गुरुत्वं, विपरीततां वा,
स्वचेष्टितान्येव नरं नयन्ति' ॥ ४६ ॥

किञ्च—

'आरोप्यते शिला शैले यत्नेन महता यथा ।
निपात्यते क्षणेनाऽधस्तथाऽऽत्मा गुण-दोषयोः' ॥ ४७ ॥

स्वभावात् = प्रकृत्या । उदारः = दाता, महान् वा । 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः । अभिमतः = अनुकूलः । खलः = दुष्टः, प्रतिकूलः । गुरुत्वं = महत्त्वम् । विपरीततां = लाघवञ्च । स्वचेष्टितान्येव = स्वकर्माण्येव, नयन्ति=प्रापयन्ति ॥४६॥

शैले = पर्वते । तथेति=गुणे महता यत्नेनात्मा आरोप्यते, क्षणादेव तु दोषेषु निपातयितुं शक्यते इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

तब करटक बोला-हम लोग तो इस राज्य के प्रधान हैं नहीं, इसलिये भी हम लोगों को इस विचार से क्या प्रयोजन है। दमनक बोला-मन्त्री लोग थोड़े ही दिनों में प्रधानता वा अप्रधानता को स्वयं प्राप्त कर लेते हैं।

क्योंकि—किसी के लिये कोई भी स्वभाव से ही उदार (अच्छा, महान्, बड़ा) या अभीष्ट (प्रिय), या खल (दुष्ट) नहीं होता है, किन्तु मनुष्य को अपना किया हुआ कर्म ही संसार में छोटा या बड़ा बनाता है ॥ ४६ ॥

और भी-जैसे पर्वत पर कोई शिला बड़ी कठिनाई से चढ़ाई जा सकती है, परन्तु उसे नीचे तो क्षण भर में गिराया जा सकता है, वैसे ही आत्मा भी बड़ी कठिनता से गुणी बनता है, परन्तु दोषी तो वह क्षण भर में बनाया जा सकता है ॥४७॥

---

१. तदावयोः' पा० । २. 'अमात्यः' । ३. 'लभेत' ।

'यात्यधोऽधो, व्रजत्युच्चैर्नरः स्वैरेव कर्मभिः ।
कूपस्य खनिता यद्वत्प्राकारस्येव कारकः' ॥ ४८ ॥

तद्भद्र ! स्वयत्नाऽऽयत्तो ह्यात्मा सर्वस्य ।'

करटको ब्रूते—अथ भवान्किं ब्रवीति ? ।'

दमनक आह–'अयं तावत्स्वामी पिङ्गलकः पानीयमपीत्वा कुतोऽपि [1]कारणात्सचकितः[2] परिवृत्योपविष्टः' । करटको ब्रूते–'किं तत् त्वं जानासि ?' । दमनको ब्रूते —[3]'किमत्राऽविदितमस्ति (प्रज्ञावताम्)'[4] ? । उक्तञ्च—

'न यत्राऽस्ति गतिर्वायो, रश्मीनाञ्च विवस्वतः ।
तत्रापि प्रविशत्याशु बुद्धिर्बुद्धिमतां सदा' ॥ ४९ ॥

अधोऽधः = अत्यन्तं नीचैः, **उच्चैः** = उन्नतं पदञ्च । **कर्मभिः** = चेष्टितैः । **यथा**=कूपखनकः स्वेनैव भूमिखनन–कर्मणाऽधोऽधो याति, **प्राकारस्य** = दुर्गादि-भित्तेः–कारकश्च उपर्युपरि याति ॥ ४८ ॥

तत्=तस्मात् । **भद्र** !=हेसाधो । **स्वयत्नायत्तः**=स्वचेष्टाधीनः । **सचकितः**= त्रस्तः । तत्=कारणं । **तत्त्वं**=वस्तुतः कारणं वा । **रश्मीनां**=किरणानाम् । **विवस्वतः**= सूर्यस्य ॥ ४९ ॥

मनुष्य—अपने ही कर्मों से कुआँ खोदने वाले की तरह नीचे की ओर जाता है, और महल बनाने वाले की तरह अपने ही कर्मों से ऊपर की ओर भी जाता है ॥ ४८ ॥

इसलिये हे भद्र ! सभी का आत्मा बड़ा या छोटा अपने उद्योग से ही बनता है । तब करकट बोला–अच्छा तो आप क्या कहना चाहते हैं ? । दमनक बोला–यह स्वामी पिङ्गलक किसी कारण से ही जल पीये बिना ही लौट कर चकित होकर बैठा है । करटक बोला—वह कारण क्या है—क्या तुम जानते हो ? । दमनक बोला—इसमें अविदित क्या है । कहा भी है—जहाँ वायु की भी गति नहीं है, और जहाँ सूर्य की किरणें भी नहीं पहुँच पाती हैं, वहाँ भी बुद्धिमानों की बुद्धि पहुँच जाती है ॥ ४९ ॥

१. 'भयात्' । २, 'सचकितं' । ३. 'किं प्रज्ञावतामविदितमस्ति' । ४. कश्चिन ।

अपरञ्च—

'उदीरितोऽर्थः पशुनाऽपि गृह्यते,
हयाश्च, नागाश्च वहन्ति नोदिताः[1] ।
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः,
परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः' ॥ ५० ॥

अपिच—

'आकारैरिङ्गितैर्गत्या, चेष्टया, भाषणेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः' ॥ ५१ ॥

उदीरितः = वाचया स्पष्टमुक्तः, अर्थः = अभिप्रायः । हयाः=अश्वाः, नागाः = गजाः, चाद् वृषभादयः । **नोदिताः**=प्रेरिताः । **देशिता** इति पाठे–आज्ञप्ता इत्यर्थः । **ऊहति** = तर्कयति । **पण्डितः**=कुशलः । **परेङ्गितज्ञानफलाः**=परकीयमानसचेष्टिताऽवबोधफलाः ॥ ५० ॥

आकारैरिति । **आकारैः** = भ्रूभङ्गादिभिः, मुखरागादिभिश्च बाह्यैः । **इङ्गितैः**= अनुराग–वैराग्याद्यावेदकैर्भावैर्मानसैः । **चेष्टया**=कायव्यापारेण । **नेत्रवक्त्रविकारेण** =मुखनेत्रमुद्रादिभिः ॥ ५१ ॥

हे सौम्य ! अपनी आत्मा को बड़ा या छोटा बनाना तो अपने उद्योग के ही अधीन है । करटक बोला–अच्छा तो आप क्या कहना चाहते हैं ? । दमनक बोला हमारा स्वामी यह पिङ्गलक सिंह किसी कारण विशेष से ही विना जल पीये लौटकर चकित होकर (घबड़ाया हुआ) बैठा है । करटक बोला—ऐसा किस कारण से हुआ, क्या तुम जानते हो ? । दमनक बोला—इसमें बुद्धिमानों से अविदित (छिपीहुई) बात क्या है ? । कहा भी है—

कही हुई बात को तो पशु भी समझ लेते हैं, और चलाए जाने पर, तथा मालिक की आज्ञा पाने पर तो घोड़े, हाथी आदि पशु भी चलने लगते हैं । परन्तु विद्वान् लोग तो विना कहे हुए भी मन की बातों को समझ लेते हैं, क्योंकि दूसरे के मनके भावों को समझना ही बुद्धि का फल है ॥ ५० ॥

और भी आकार, इङ्गित (हृदय के भाव), चाल, चेष्टा, बोलचाल और आँख तथा मुख के विकार आदि से चित्त(मन)के भीतर की बात जानी जा सकती है ॥५१॥

१. 'चोदिताः' इति, 'देशिताः' इति च पाठा० ।

तदत्र भयप्रस्तावे प्रज्ञाबलेनाऽहमेनं स्वामिनमात्मीयं करिष्यामि । यतः-

'प्रस्तावसदृशं वाक्यं, सद्भावसदृशं प्रियम् ।
आत्मशक्तिसमं कोपं, यो जानाति स पण्डितः' ॥ ५२ ॥

करटको ब्रूते[1]—'सखे ! त्वं सेवाऽनभिज्ञः' । पश्य—

'अनाहूतो विशेद्यस्तु, अपृष्टो बहु भाषते ।
[2]आत्मानं मन्यते प्रीतं भूपालस्य, स दुर्मतिः' ॥ ५३ ॥

दमनको ब्रूते—'भद्र ! कथमहं सेवाऽनभिज्ञः' ? । पश्य—

[3]'किमप्यस्ति स्वभावेन सुन्दरं वाऽप्यसुन्दरम् ? ।
यदेव रोचते यस्मै, भवेत्तत्तस्य[4] सुन्दरम्' ॥ ५४ ॥

भयप्रस्तावे = भयावसरे । सिंहस्य भयमुद्दिश्य । एनं=सिंहम् । **आत्मीयं** = स्ववशम् । प्रस्तावसदृशम् = अवसरोचितम् । **सद्भावसदृशं** = प्रणयानुरूपम् । **प्रियं**= स्नेहप्रदर्शनं कर्तुम्, स्वशक्तिमवेक्ष्य कोपञ्च कर्तुं यो जानाति स एव पण्डितः ॥५२॥

विशेत् = राजसभां प्रविशेत् । यो हि आत्मानं भूपालस्य प्रीतं मन्यते, स मूर्ख इत्यर्थः ॥५३॥

स्वभावेन = प्रकृत्या सुन्दरम्, असुन्दरं वा किमपि वस्तु अस्ति अपि ? । अपिः

अतः इस भय के प्रसङ्ग को लेकर ही मैं अपनी बुद्धि के बल से स्वामी सिंह को अपने अधीन बना लूँगा ।

क्योंकि—जो मनुष्य अवसर के अनुरूप वचन बोलना जानता है, और जो स्नेह के अनुकूल प्रिय बोलना जानता है, और अपनी शक्ति के अनुकूल ही कोप करना जानता है, वही सच्चा पण्डित है ॥ ५२ ॥

तब करटक बोला—मित्र ! तुम तो सेवा करना जानते नहीं हो ।

देखो—जो मनुष्य राजा के पास विना बुलाये जाता है, और जो विना पूछे बहुत बोलता है, और जो अपने ऊपर राजा को प्रसन्न समझता है, वह मूर्ख है ॥५३॥

दमनक बोला—भाई ! मैं सेवा का अनभिज्ञ कैसे हूँ ? । देखो—

क्या कोई भी वस्तु स्वभाव से ही अच्छी या बुरी होती है, अर्थात् नहीं

---

१. 'वदति' । २. 'आत्मना मन्यते-'प्रीतो भूपालो वै' स दुर्मतिः' पा० । ।
३. 'न चाऽप्यस्ति' इति, ४. 'तद्भवेत्तस्य सुन्दरम्' इति तु गौडाः पठन्ति ।

यतः—

'यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन हि तं नरम् ।
अनुप्रविश्य मेधावी क्षिप्रमात्मवशं नयेत्' ॥ ५५ ॥

अन्यच्च—

'कोऽत्रे'त्यहमिति ब्रूयात्, सम्यगादेशयेति च ।
आज्ञामवितथां कुर्याद्यथाशक्ति महीपतेः' ॥ ५६ ॥

अपरञ्च—

'अल्पेच्छुर्धृतिमान्प्राज्ञश्छायेवाऽनुगतः सदा ।
आदिष्टो न विकल्पेत, स राजवसतौ वसेत्' ॥ ५७ ॥

—प्रश्ने । 'अपि: सम्भावनाप्रश्नशङ्कागर्हासमुच्चये' इति कोशः । तादृश वस्तु किमस्ति क्वचिदित्यर्थः । नैवाऽस्तीति यावत् । 'न चाऽप्यस्ति' इति तु गौडाः पठन्ति ॥५४॥

यस्य यस्य=यस्य यस्य पुंसः, **भावः**=अभिप्रायः, स्वभावश्च । **मेधावी**= बुद्धिमान् । **अनुप्रविश्य** = तन्मनोऽनुकूलाचरणादिभिरात्मनि विश्वासमुत्पाद्य ॥ ५५ ॥

'कोऽत्र द्वारि तिष्ठती'ति राज्ञः शब्दं श्रुत्वा 'अहम्–अस्मि' इति ब्रूयात्, किञ्च–**सम्यगादेशय**='आज्ञापय प्रभो' इति च सम्यग्ब्रूयात् । 'समादेशये'ति वा । किञ्च प्रभोः–आज्ञाम्–यथाशक्ति अवितथां = सत्याम् । अखण्डिताम् । यथाशक्ति स्वामिन आज्ञामवश्यं पालयेदित्यर्थः ॥ ५६ ॥

अल्पेच्छुः=स्वल्पेनैन परितुष्टः । **धृतिमान्** = धीरः । **अनुगतः**=अनुगामी । **आदिष्टः**=आज्ञप्तः सन् । **न विकल्पेत**='नेदं करिष्यामि', 'अथवा करिष्यामी'-

इसलिये जो वस्तु जिसको अच्छी लगे, वही वस्तु उसके लिये सुन्दर है ॥ ५४ ॥

क्योंकि—जिसका जैसा अभिप्राय हो उसी अभिप्राय से उसके मनके भीतर प्रवेश कर के उसको बुद्धिमान् मनुष्य शीघ्र ही अपने वश में कर लेवे ॥ ५५ ॥

और भी—'यहाँ कौन है ?' ऐसा पूछने पर 'मैं हूँ, महाराज ! आज्ञा दीजिए', ऐसा कहना चाहिये । और यथाशक्ति राजा की आज्ञा का अक्षरशः पालन करना चाहिये ॥ ५६ ॥

और भी—जो मनुष्य थोड़े में ही सन्तुष्ट हो सकता हो, धीर हो, बुद्धिमान् हो,

करटको ब्रूते-'कदाचित्त्वामनवसरप्रवेशादवमन्यते[1] स्वामी'? ।

[2]दमनक आह—'अस्त्वेवं, तथाऽप्यनुजीविना स्वामिसांनिध्यमवश्यं करणीयम्' । यतः—

'दोषभीतेरनारम्भस्तत्कापुरुषलक्षणम् ।
कैरजीर्णभयाद्भ्रातर्भोजनं परिहीयते' ? ॥ ५८ ॥

पश्य—

'आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं,
विद्याविहीनमकुलीनमसङ्गतं वा;
प्रायेण भूमिपतयः, प्रमदा, लताश्च,
यः पार्श्वतो, [3]वसति, तं परिवेष्टयन्ति' ॥५९॥

त्यादि विकल्प न कुर्यात्, किन्तु राज्ञाऽऽज्ञप्तः कार्यं कुर्यादेव । **राजवसतौ**= राजगृहे ॥ ५७ ॥

अवमन्यते=तिरस्कुर्यात् । **अनुजीविना** = भृत्येन । **दोषेति** । **अनारम्भः** = कार्यानारम्भः । हे भ्रातः-अजीर्णरोगादिभयात्-कैः = जनैः खलु भोजनं-**परिहीयते** =परित्यज्यते, न कैरपि परित्यज्यते इति भावः ॥ ५८ ॥

आसन्नं=निकटवर्त्तिनम् । **असङ्गतम्**=अयोग्यम् । **प्रमदाः** = स्त्रियः ।

सदा छाया की तरह राजा के पीछे २ चलने वाला हो, आज्ञा पाकर सकल्प-विकल्प न करता हो, वही मनुष्य राजा के पास रह कर उसकी सेवा कर सकता है ॥५७॥

तब करटक बोला—विना अवसर के (बेमौके, विना बुलाए) जाने से स्वामी सिंह कदाचित् तुम्हारा अनादर ही कर देगा तो तुम क्या करोगे ? । दमनक बोला-ऐसा हो तो भी नौकर को अपने स्वामी के पास अवश्य जाना चाहिए ।

क्योंकि—दोप के भय से कार्यों का आरम्भ नहीं करना यह कायरों का लक्षण है । हे भाई ! अजीर्ण (न पचने) के भय से भला कौन भोजन छोड़ देता है, अर्थात् कोई नहीं छोड़ता है ॥ ५८ ॥

देखो—जो मनुष्य सदा राजा के पास बना रहता है, वह चाहे मूर्ख हो, अकुलीन हो, अथवा बुरा (अयोग्य) हो, राजा लोग उसको ही चाहते हैं । क्योंकि

---

१. 'अवमन्येत' । २. 'स चाह' । ३. 'भवति' पा० ।

करटको ब्रूते—'अथ तत्र गत्वा किं [1]वक्ष्यति भवान् ?' दमनक आह—शृणु, 'किमनुरक्तो, विरक्तो वा मयि स्वामी'ति ज्ञास्यामि[2] तावत्।

करटको ब्रूते—'किं तज्ज्ञानलक्षणम् ?।' दमनको ब्रूते-शृणु—

'दूरादवेक्षणं, हासः, संप्रश्नेष्वादरो भृशम्।
परोक्षेऽपि गुणश्लाघा, स्मरणं प्रियवस्तुषु' ॥ ६० ॥

'[3]असेवके चाऽनुरक्तिर्दानं सप्रियभाषणम्।
[4]सुरक्तेश्वरचिह्नानि, दोषेऽपि गुणसङ्ग्रहः' ॥ ६१ ॥

अन्यच्च—

'कालयापनमाशानां वर्द्धनं, फलखण्डनम्।
विरक्तेश्वरचिह्नानि जानीयान्मतिमान्नरः' ॥ ६२ ॥

पार्श्वतः = निकटे। परिवेष्टयन्ति=आश्लिष्यन्ति, भजन्ते, अनुगृह्णन्ति च ॥ ५९ ॥

अवेक्षणं = स्नेहादवलोकनम्। हासः = ईषद्धास्यादिकं प्रसन्नतायाः सूचकम्। संप्रश्नेषु=परस्परकथासु च। (बात चीत में)। प्रियवस्तुषु=प्रीतिदायेषु, हर्षावसरे च ॥ ६० ॥ अनुरक्तिः = अनुरागः। अनुरक्तस्य = प्रसन्नस्य ईश्वरस्य राजादेः ॥ ६१ ॥

कालयापनं=समययापनम्। 'अद्य ददामि' 'श्वो दाताऽस्मि' 'परश्वो दास्यामि'—इत्यादिरीत्या दाने, पारितोषिकादौ च कालयापनं, न तु कार्यकरणम्। आशानां

प्रायः राजा, स्त्री, और लता, ये सब अपने पास रहने वाले के साथ ही सम्बन्ध स्थापित करते हैं, और उनसे ही प्रसन्न रहते हैं ॥ ५९ ॥

करटक बोला—अच्छा, वहाँ जाकर आप क्या कहेंगे ?। दमनक बोला-सुनो, पहिले तो मैं यह जानूँगा कि स्वामी मेरे ऊपर अनुरक्त है, या विरक्त है। करटक बोला—इसके जानने के क्या लक्षण हैं ?। दमनक बोला, सुनो—

दूर ही से देखना, हँसना, कुशल आदि पूछने में आदर करना, परोक्ष में भी उसके गुणों की प्रशंसा करना, प्रिय पदार्थों के अवसर में उसका स्मरण करना ॥ ६० ॥

और-सेवा न करने पर भी प्रेम रखना, देना, प्रिय वचन बोलना, दोषों में भी गुणों का ही संग्रह (ग्रहण) करना,-ये सब अनुरक्त स्वामी के चिह्न हैं ॥६१॥

और-समय बिताना, अर्थात् दान पारितोषिक आदि देने में टाल टूल करना,

१. 'वक्ष्यति'। २. 'ज्ञास्यते तावत्'। ३. 'तत्सेवकेऽनुरक्तिश्च, दानं प्रीतिविवर्द्धनम्'। ४. 'अनुरक्तस्य चिह्नानि'।

एतज्ज्ञात्वा यथा चाऽयं ममाऽऽयत्तो भविष्यति, [1]तथा वदिष्यामि। यतः—

'अपायसंदर्शनजां विपत्ति-
मुपायसंदर्शनजां च सिद्धिम्।
मेधाविनो नीति-विधि-[2]प्रयुक्तां
पुरः स्फुरन्तीमिव दर्शयन्ति' ॥ ६३ ॥

वर्द्धनम्=‘इत्थं दास्यामि’ ‘इदं दास्यामी’ त्यादिरीत्या वृथैवाऽऽशावर्द्धनं। तत्खण्डनं च। **फलखण्डनं**=लाभस्य हानिः, अदानम्। सत्यवसरेऽनादरो वा। **ईश्वरः**=स्वामी ॥६२॥

अयं=सिंहः। **आयत्तः**=अधीनः। **अपायः**=कार्यविनाशः, तस्य **सन्दर्शनं**=सम्भावना, ज्ञानं, तेन तर्किताम्—**विपत्तिं**=कार्यविनाशादिविपदम्। हानिम्। **उपायः**=कार्यसिद्ध्युपायो, विपत्प्रतीकारश्च। **सिद्धिं**=कार्यसिद्धिम्। **नीतिविधि-प्रयुक्तां**=नीतितत्त्वपर्यालोचनसम्पादिताम्। **पुरःस्फुरन्तीमिव**=अग्रे साक्षादव-भासमानामिव,—आदावेव—दर्शयन्ति=निर्दिशन्ति। ‘नीतिविदः प्रयुक्ता’मिति पाठे—**प्रयुक्तां**=राजनीतिज्ञैर्युक्तिभिर्निश्चितामित्यर्थः ॥ ६३ ॥

आशा का बढ़ाना और फल का खण्डन करना, ये विरक्त स्वामी के लक्षण हैं, इनको बुद्धिमान् मनुष्य अच्छी तरह समझ लेवें ॥ ६२ ॥

मैं भी-यह सब समझ कर जैसे वह मेरे वश में होगा वैसा ही मैं कहूँगा।

क्योंकि—बुद्धिमान् लोग नीतिशास्त्र के अनुसार ही अपाय=त्रुटि, दोष, मन्त्रभेद आदि से आई हुई विपत्ति (बुराई) को, और उपाय=ठीक से कार्य करने से आई हुई सिद्धि को सामने झलकती हुई सी पहिले ही से दिखला देते हैं। अर्थात् मन्त्र (गुप्त सलाह, मन्त्रणा) के अनुसार कार्य नहीं होने से, या नहीं करने से होने वाली हानि और विपत्तियों को, और मन्त्रणा के अनुसार कार्य करने से होने वाले फलों को, बुद्धिमान् कुशल राजनीतिज्ञ मंत्रिगण पहिले से ही स्पष्ट बता देते हैं। अर्थात् हानि और लाभ का चित्र सा खींचकर पहिले से ही सामने उपस्थित कर देते हैं ॥ ६३ ॥

---

१. ‘तद्वक्ष्यामि’ ‘तथा करिष्यामि’ पा०। २, ‘नीतिविदः प्रयुक्ताम्’ पा०।

[अपरञ्च-'दोषा[1] गुणा, गुणा दोषा, दोषा दोषा, गुणा गुणाः ।
रक्ते, विरक्ते, मध्यस्थे स्वामिनि त्रिविधा गुणाः] ॥

करटको ब्रूते—'तथाऽप्यप्राप्ते प्रस्तावे न वक्तुमर्हसि' । यतः—

'अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
प्राप्नुयाद्बुद्ध्यवज्ञानमपमानं च शाश्वतम्' ॥ ६४ ॥

दमनको ब्रूते—'मित्र ! मा भैषीः, नाऽहमप्राप्ताऽवसरं वचनं [2]वदिष्यामि । यतः—

'आपद्युन्मार्गगमने, कार्यकालाऽत्ययेषु च ।
अपृष्टेनाऽपि वक्तव्यं भृत्येन हितमिच्छता' ॥ ६५ ॥

यदि च प्राप्ताऽवसरेणापि मया मन्त्रो न वक्तव्यस्तदा मन्त्रित्वमेव ममाऽनुपपन्नम् । यतः—

'कल्पयति येन वृत्तिं,[3] येन च लोके प्रशस्यते सद्भिः ।
स गुणस्तेन च गुणिना रक्ष्यः, संवर्द्धनीयश्च' ॥ ६६ ॥

प्रस्तावे = अवसरे । बुद्ध्यवज्ञानं='नायं बुद्धिमान्, किन्तु मूर्खः' इत्यपमानम् । अपमानं = तिरस्कारम् । शाश्वतम् = अनिवर्त्तनीयम् ॥ ६४ ॥

उन्मार्गगमने=कुपथगमने । कार्यकालस्य योऽत्ययः=उलङ्घनम्, तेषु ॥६५॥

येन-गुणेन । वृत्तिं=स्वजीवनम् । वृत्तं=सुचरितं वा । कल्पयति=संपादयति ।

करटक बोला—तो भी बिना अवसर के तुमको बोलना नहीं चाहिए ।

क्योंकि—बृहस्पति भी बिना अवसर के बोलने पर अपनी बुद्धि की अवज्ञा (तिरस्कार) कराता है, तथा सदा के लिए वह अनादृत ही हो जाता है ॥६४ ॥

तब दमनक बोला—मित्र ! तुम डरो मत, मैं बिना अवसर की बात कभी नहीं कहूँगा । क्योंकि–विपत्ति में, स्वामी के बुरे रास्ते पर चलने के समय, कार्य की हानि होने की संभावना के समय, स्वामी का हित चाहने वाले नौकर को बिना पूछे भी अवश्य स्वामी के हित की बात कहनी चाहिए ॥ ६५ ॥

और यदि अवसर पाकर भी मैं मन्त्र (अच्छी सलाह) न कहूँ तो फिर मेरा मन्त्री होना ही अनुचित और व्यर्थ है । क्योंकि—जिस गुण से अपनी जीविका चलती हो, और संसार में जिस गुण से मनुष्य प्रशंसित होता हो, वही सच्चा गुण

---

१. क्वाचित्कः पाठः । २. 'वक्ष्यामि' । ३. 'वृत्तं' ।

तद्भद्र ! अनुजानीहि माम्, [1]पिङ्गलकसमीपमहं गच्छामि ।' करटको ब्रूते-'शुभमस्तु, शिवास्ते पन्थानः, [2]यथाऽभिलषितमनुष्ठीयताम्' [[1]इति] ।

'गम्यतामर्थलाभाय, क्षेमाय, विजयाय च ।
शत्रुपक्षविनाशाय, पुनरागमनाय च' ॥ ६७ ॥

ततो दमनको विस्मित इव पिङ्गलकसमीपं गतः ।

अथ दूरादेव राज्ञा दृष्टः, साऽऽदरं प्रवेशितस्तं साष्टाङ्गं प्रणिपत्योपविष्टः । राजाऽऽह—'चिराद् दृष्टोऽसि' ? । दमनको ब्रूते—'यद्यपि मया सेवकेन श्रीमद्देवपादानां न किञ्चित्प्रयोजनमस्ति, तथापि प्राप्तकालेऽनुजीविना सांनिध्यमवश्यं कर्त्तव्यमित्यागतोऽस्मि' । किञ्च—[3]

सः=स एव । गुणः=गुणपदवाच्यः । स गुणो–गुणिना रक्षणीयो, वर्द्धनीयश्चेत्यर्थः ॥६६॥

अनुजानीहि = गमनाऽनुज्ञां देहि । विस्मित इव=आश्चर्याविष्ट इव । भीत इव वा । श्रीमद्देवपादानां = श्रीमतां महाराजानाम् । भवताम् । प्राप्तकालं = यथाऽवसरम् । अवसरप्राप्तम् । इति = इत्थं विचार्य ।

है, गुणी मनुष्य को चाहिये कि उस गुण की सदा रक्षा करे और उसे सदा बढ़ाता रहे ॥ ६६ ॥

इसलिये हे भाई ! तुम मुझे जाने की आज्ञा दो, मैं अब वहाँ जाता हूँ । करटक बोला—आपका कल्याण हो । आपका मार्ग शुभप्रद हो, और आप अपना अभीष्ट सिद्ध कीजिए ।

और आप धनलाभ, क्षेम, कुशल, विजय, शत्रुपक्ष का विनाश और पुनः सकुशल आगमन के लिये प्रस्थान कीजिए ॥ ६७ ॥

इसके बाद दमनक कुछ विस्मित (अचम्भित) सा होकर पिङ्गलक के पास गया ।

तब दूर ही से राजा ने उसे देखा और आदरपूर्वक उसे भीतर बुलाया । तब वह भी उसे साष्टाङ्ग प्रणाम करके उस (सिंह) के पास ही बैठ गया । राजा सिंह बोला—तुम बहुत दिन पर देख पड़े, क्या बात है ? ।

तब दमनक बोला कि—यद्यपि मेरी सेवा की तो श्रीमान् को कुछ भी आवश्यकता नहीं है, तथापि समय पर नौकर को स्वामी के पास अवश्य आना चाहिए, इसीलिये मैं आज आया हूँ ।

१. 'क्वचिन्न' । २. 'यथाऽभिप्रेतमनुष्ठीयताम्' । ३. 'यतः' ।

'दन्तस्य निर्घर्षणकेन राजन् !
कर्णस्य कण्डूयनकेन वाऽपि ।
तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां,
किमङ्ग ! वाक्पाणिमता नरेण' ॥ ६८ ॥

[1]यद्यपि चिरेणाऽवधीरितस्य देवपादैर्मे बुद्धिनाशः शङ्कयते, तदपि न [2]शङ्कनीयम् । यतः—

'कदर्थितस्याऽपि च धैर्यवृत्ते-
र्बुद्धेर्विनाशो न हि शङ्कनीयः ।
अधःकृतस्याऽपि तनूनपातो
नाऽधः शिखा याति कदाचिदेव' ॥ ६९ ॥

निर्घर्षणं = कण्डूयनं, तेन । अल्पार्थे, स्वार्थे वा कः । कर्णस्य = श्रोत्रस्य । तृणेन = तृणेनापि । ईश्वराणां = राजादीनाम् । अङ्गेति सम्बोधने । हे राजन् ! वाक्पाणिमता = वाक्शक्तिसम्पन्नेन, नानाविधहस्तपादाद्यङ्गवता च, नरेण कार्यं भवतीति तु किं वक्तव्यम् ? । तेन सेवकेन कदाचित्कार्यं भवत्येवेत्यर्थः ॥ ६८ ॥

देवपादैः = भवद्भिः । चिरेण = बहोः कालात् । अवधीरितस्य = असत्कृतस्य, अनादृतस्य मम ॥ कदर्थितस्य = तिरस्कृतस्य । धैर्यवृत्तेः = धीरस्य । तनूनपातः =

और भी—हे राजन् ! दाँत खोदने के लिए और कान खोदने के लिए तृण से भी राजा महाराजा और बड़े लोगों को काम पड़ता है, फिर शरीर, वाणी, हाथ, और पाँव वाले मनुष्य की तो बात ही क्या है ? । अर्थात् मनुष्य से तो मनुष्य को काम कभी न कभी तो पड़ता ही है ॥ ६८ ॥

और यदि बहुत दिनों से आपके यहाँ से तिरस्कृत होने के कारण मेरी बुद्धि के विनाश का सन्देह आप करते हों तो, वह भी ठीक नहीं है ।

क्योंकि—यदि धीर मनुष्य का अनादर भी हो, तो भी उसकी बुद्धि के विनाश की शङ्का नहीं करनी चाहिए। क्योंकि अग्नि को नीचे की ओर करने पर भी

१. 'यदपि देवपादैश्चिराऽवधीरितस्य मे' पा० । २. कश्चिन्न । ।

'देव ! तत्सर्वथा विशेषज्ञेन स्वामिना भवितव्यम्' । यतः—

'मणिर्लुठति पादेषु, काचः शिरसि धार्यते ।
[1]यथैवाऽऽस्ते तथैवाऽऽस्तां, काचः काचो, मणिर्मणिः' ॥७० ॥

अन्यच्च—

'निर्विशेषो यदा राजा समं सर्वेषु वर्त्तते ।
तदोद्यमसमर्थानामुत्साहः [2]परिहीयते ॥ ७१ ॥

वह्नेः ॥ ६६ ॥

विशेषज्ञेन=सेवकगुणतारतम्यज्ञेन । **स्वामिना** = राज्ञा । यदि—**मणिः**= हीरकादिमणिः, **पादेषु लुठति**=पतति, धार्यते । काचश्च—शिरसि धार्यते—अविवेकिना केनापि । तथापि—**यथैवास्ते**=यथा येन प्रकारेण तिष्ठतु मणिः, काचो वा, तथा तिष्ठतु नाम, तथापि-काचः काच एव, मणिर्मणिरेव, न तेन तस्य गुणहानिर्वृद्धिर्वेत्यर्थः ॥ ७० ॥

निर्विशेषः=गुणतारतम्याऽनभिज्ञः, गुणिनि, गुणविकले च तुल्याऽऽदरः । **सर्वेषु** = उत्तमाधमेषु । **वर्त्तते** =व्यवहरति, भवति च । **उद्यमसमर्थानाम्**=उद्योगशीलानाम् । **परिहीयते** = नश्यति । 'परिहण्यते' इति पाठेऽपि स एवार्थः॥७१॥

उसकी शिखा (ज्वाला)नीचे की ओर कदापि नहीं जाती है । किन्तु अग्नि की शिखा (ज्वाला) सदा ऊपर को ही जाती है ।। ६६ ।।

हे राजन् ! इसलिये स्वामी को सर्वथा (सब तरह से) विवेकी (विचारवान्) होना चाहिए ।

क्योंकि-यदि मणि को पैर के नीचे रख कर ठुकराया जाता हो, और काँच को शिर पर धारण किया जाता हो,तो भी काँच काँच ही है,और मणि-मणि ही है । अर्थात् इस तरह अपमान करने से भी मणि का कुछ नहीं बिगड़ता है॥७०॥

और भी—जब राजा सामान्य रूप से योग्य और अयोग्य सभी भृत्यों को ..ही तरह समझता है, तब उद्योगी और कार्य करने में पटु तथा समर्थ पुरुषों भृत्यों) का उत्साह कम हो जाता है ॥ ७१॥

---

१. 'क्रयविक्रयवेलायां काचः काचो, मणिर्मणिः' इति पाठान्तरम् ।
२. 'परिहण्यते' ।

किञ्च—

'त्रिविधाः पुरुषाः राजन्नुत्तमाऽधममध्यमाः ।
नियोजयेत्तथैवैतांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु' ॥ ७२ ॥

यतः—

'स्थान एव नियोज्यन्ते भृत्याश्चाऽऽभरणानि च ।
न हि चूडामणिः पादे, नूपुरो[1] न च मूर्द्धनि' ॥ ७३ ॥

अपि च—

'कनकभूषणसङ्ग्रहणोचितो
यदि मणिस्त्रपुणि प्रणिधीयते ।
न स विरौति, न चापि [2]न शोभते,
भवति योजयितुर्वचनीयता' ॥ ७४ ॥

एतान् = उत्तमाधममध्यमान् । त्रिविधेषु = उत्तमाधममध्यमेषु कार्येषु ॥७२॥

स्थाने = उचिते स्थाने, योग्येषु कार्येषु च । चूडामणिः = शिरोभूषणम् । नूपुरं = पादभूषणविशेषः । ('पैंजनी, पाजेब') । 'नूपुरो न च मूर्धनि' इति पाठेतु 'ध्रियते' इति योजना ॥ ७३ ॥

कनकभूषणसङ्ग्रहणोचितः = स्वर्णाऽऽभरणस्थापनयोग्यः । त्रपुणि = रङ्गे । 'त्रपु सीसक-रङ्गयोः' इति मेदिनी । प्रणिधीयते = स्थाप्यते । विरौति=न शब्दायते,

और हे राजन् ! उत्तम मध्यम और अधम भेद से पुरुष भी तीन प्रकार के होते हैं । इन तीनों को वैसे ही तीन प्रकार के उत्तम, मध्यम, अधम कामों में ही लगाना चाहिए ॥ ७२ ॥

और भृत्य (नौकर) और आभूषण अपने २ योग्य स्थानों पर ही लगाये जाते हैं । क्योंकि चूड़ामणि कभी पैर में नहीं पहिना जाता है, और पायजेब कभी शिर पर नहीं धारण किया जाता है ॥ ७३ ॥

और भी—सुवर्ण के गहनों में लगाने के योग्य श्रेष्ठ मणि को यदि शीशे (काच)

१. 'नपु ं शिरसा कृतम्' । २. 'नचाऽपि विशोभते' पा० ।

अन्वय—

'मुकुटे रोपितः काचश्चरणाऽऽभरणे मणिः ।
न हि दोषो मणेरस्ति, किन्तु साधोरविज्ञता' ॥ ७५ ॥

पश्य—

'बुद्धिमाननुरक्तोऽयमयं शूर, इतो भयम्' ।
इति भृत्यविचारज्ञो भृत्यैरापूर्यते नृपः' ॥ ७६ ॥

तथा हि—

'अश्वः, शस्त्रं, शास्त्रं, वीणा, वाणी, नरश्च, नारी च ।
पुरुषविशेषं[1] प्राप्य हि, भवन्ति योग्या, अयोग्याश्च' ॥७७॥

(चिल्लाता नहीं है) । न शोभते इति न किन्तु शोभते एवेत्यर्थः । 'न चापि विशोभते' इति केचित्पटन्ति । वचनीयता = निन्दा ॥ ७४ ॥

चरणाभरणे = पादभूषणे । मणिः—प्रतिरोपित इत्यर्थः । साधोः=आभरणनिर्मातुः । (साधु='साहू' 'साहूकार') । अविज्ञता = गुणानभिज्ञता ॥ ७५ ॥

पुरुषविशेषं = योग्यमयोग्यं, गुणतारतम्यज्ञम् । अर्थात्–एते हि योग्यहस्तस्थिता योग्या भवन्ति, अयोग्यहस्तस्थिताश्च अयोग्या भवन्ति ॥ ७७ ॥

में लगा दिया जाय तो भी वह मणि न कुछ कहता है, और न उसकी शोभा ही कम होती है, किन्तु उसे काच में जड़ने वाले की ही इसमें निन्दा होती है ॥ ७४ ॥

और भी—यदि मुकुट में कांच लगाया जाय और पाँव के गहनों में मणि लगाई जाय तो इसमें मणि का तो कुछ दोष नहीं है, किन्तु लगानेवाले साहूकार की ही इसमें मूर्खता व भूल सिद्ध होती है ॥ ७५ ॥

और भी देखिये—'यह बुद्धिमान् है', 'यह हमारा (भक्त) अनुरक्त है,' 'यह शूर वीर है' 'इससे मुझे भय है,' ऐसा सेवकों के विषय में पूरा २ विचार करने वाला राजा सदा नौकरों से परिपूर्ण रहता है ॥ ७६ ॥

और भी—अश्व, शस्त्र, शास्त्र, वीणा, वाणी, पुरुष और स्त्री–ये सब पुरुष विशेष (योग्य, अयोग्य) को पाकर योग्य और अयोग्य जो हो जाते हैं ॥ ७७ ॥

१. 'प्राप्य मनुष्य विशेषं भवन्ति'

अन्यच्च—

'किं भक्तेनाऽसमर्थेन, किं शक्तेनाऽपकारिणा ? ।
भक्तं, शक्तं च मां राजन्नाऽवज्ञातुं त्वमर्हसि' ॥ ७८ ॥

यतः—

'अवज्ञानाद्राज्ञो भवति मतिहीनः परिजन-
स्ततस्तत्प्राधान्या[1]द्भवति न समीपे बुधजनः ।
बुधैस्त्यक्ते राज्ये न हि भवति नीतिर्गुणवती,
विपन्नायां नीतौ, सकलमवशं सीदति जगत्' ॥ ७९ ॥

भक्तेन = अनुरक्तेनापि । **असमर्थेन** = शक्तिविकलेन । किं=किं फलम् ? ॥७८॥

राज्ञोऽवज्ञानात् = राजकृतात्तिरस्कारात् । **परिजनः** = सेवकवर्गः । **मतिहीनः** =मूर्खः । **भवति** = जायते । तत्प्राधान्यात् = मूर्खपरिजनप्राधान्याच्च । **बुधजनः** = विद्वांसो लोकाः । सज्जनः । राजसामीप्यं जहातीत्यर्थः । **नीतिः** = राजनीतिः, मन्त्रः । **गुणवती** = सफला । **विपन्नायां** = विफलायाम् । **अवशं** = स्वतन्त्रम् । उच्छृङ्खलम् । **सीदति** = विनश्यति ॥ ७९ ॥

और भी—यदि नौकर भक्त हो परन्तु शक्ति हीन हो, कार्य करने में असमर्थ हो, तो उसके रहने से भी क्या लाभ है । और भृत्य समर्थ होकर भी यदि अपकारी हो तो भी उससे क्या लाभ है ? । परन्तु हे राजन् ! मैं तो आपका भक्त और कार्य करने में समर्थ (शक्त) दोनों हूँ, इसलिये आप मेरा अनादर न करें ॥७८॥

क्योंकि—राजा के अनादर करने से नौकर बुद्धिहीन और मूर्ख हो जाते हैं, और मूर्ख भृत्यों की प्रधानता देखकर विद्वान् लोग उस राजा के पास नहीं आते हैं । और जिस राज्य को विद्वान् लोग छोड़ देते हैं, वहाँ की राजनीति कभी सफल नहीं होती है । और राजनीति के असफल होने पर सकल संसार अर्थात्—सभी प्रजा उच्छृङ्खल और स्वतन्त्र होकर अन्त में नष्ट हो जाती है ॥ ७९ ॥

१. 'तत्प्रामाण्याद्'

अपरंच देव !—

'जनं जानपदा[1] नित्यमर्चयन्ति नृपाऽर्चितम् ।
नृपेणाऽवमतो यस्तु स सर्वैरवमन्यते' ॥ ८० ॥

किं च—

'बालादपि ग्रहीतव्यं युक्तमुक्तं मनीषिभिः ।
रवेरविषये किं न प्रदीपस्य प्रकाशनम्' ? ॥ ८१ ॥

पिङ्गलकोऽवदत्—'भद्र दमनक ! किमेतत् ? । त्वमस्मदीयप्रधाना-[2] ऽमात्यपुत्रः सुधीरियन्तं कालं यावत्कुतोऽपि [3]खलवाक्यान्नाऽऽगतोऽसि, इदानीं यथाऽभिमतं ब्रूहि ।'

दमनको ब्रूते—'देव ! पृच्छामि किञ्चित्, उच्यताम्,—'उदकार्थी स्वामी पानीयमपीत्वा, किमिति विस्मित इवाऽवतिष्ठते ! ।' पिङ्गलकोऽवदत्—'भद्र-

---

नृपार्चितं = राजसत्कृतम् । जानपदाः=देशवासिनः । पाठान्तरे—जनपदाः = देशाः, देशवासिन इति यावत् । अवमतः = तिरस्कृतः ॥ ८० ॥

अविषये=रविप्रकाशाऽविषये, रात्रौ । प्रदीपस्य-प्रकाशनम्=उद्दीपनं किं न भवति ? । अपितु भवत्येवेत्यर्थः ॥ ८१ ॥

खल(पिशुन)वाक्यात्=दुष्टवाक्यात् । यथाभिमतं=यथेच्छम् । उदकार्थी=पिपासितो जलार्थी । विस्मित इव = चकित इव । व्याकुल इव । भद्रं = युक्तम् (ठीक कहा)।

और भी हे देव !—राजा से सत्कृत और पूजित मनुष्य को ही राष्ट्र के लोग भी सदा आदर करते हैं और उसे पूजते हैं । और राजा जिसका अनादर करता है, उसका सभी लोग अनादर करने लगते हैं ॥ ८० ॥

और भी—बालक की कही हुई भी बात यदि योग्य हो, तो वह विद्वानों को माननी चाहिए । देखिये—सूर्य के न रहने पर क्या दीपक से प्रकाश नहीं होता है ? । अर्थात् होता ही है ॥ ८१ ॥

तब वह पिङ्गलक बोला—भद्र दमनक ! यह क्या कह रहे हो ? । तुम हमारे प्रधान मन्त्री के पुत्र होकर भी किसी दुर्जन के बहकाने से इतने दिनों तक नहीं आये थे । अब जो तुम्हें कहना हो कहो । दमनक बोला—हे देव ! मैं आपसे कुछ पूछता हूँ, कहिए आप पानी पीने को यमुना नदी के तट पर गए थे, परन्तु जल पीए

---

१. 'जनपदाः' पा० । २. 'त्वमस्माकं प्रधानामात्यः' । ३. 'पिशुनवचनात्' ।

मुक्तं त्वया, किन्त्वेतद्रहस्यं वक्तुमस्माकं काचिद्विश्वासभूमिर्नास्ति, [1]तथापि निभृतं कृत्वा कथयामि। शृणु–सम्प्रति वनमिदमपूर्वसत्त्वाऽधिष्ठितमतोऽस्माकं त्याज्यम्। अनेन हेतुना विस्मितोऽस्मि। तथा च श्रुतो भवेत्त्वयाऽपि महानपूर्वः शब्दः। [2]शब्दाऽनुरूपेणाऽस्य प्राणिनो महता बलेन भवितव्यम्।'

दमनको ब्रूते—'देव! अस्ति तावदयं महान्भयहेतुः। स शब्दोऽस्माभिरप्याकर्णितः। किन्तु स किंमन्त्री यः प्रथमं [3]भूमित्यागं, पश्चाद्युद्धं चोपदिशति। अपरञ्च–देव! अस्मिन्नेव कार्यसन्देहे भृत्यानामुपयोगो ज्ञातव्यः। यतः—

विश्वासभूमिः=विश्वासपात्रं जनः। निभृतं=गुप्तम्। अपूर्वसत्त्वाधिष्ठितम्=अद्भुतजीवाऽधिष्ठितम्। महान्=बलवान्, उच्चतरः। शब्दानुरूपेण=शब्दतुल्येन। आकर्णितः=श्रुतः। किंमन्त्री=अयोग्यो, निन्दितश्च मन्त्री। कार्यसन्देहे=

बिना ही आप घबड़ा कर वापिस क्यों लौट आये?। और उदास तथा चिन्तित होकर क्यों बैठे हैं? तब पिङ्गलक बोला–तुमने अच्छा पूछा, परन्तु इस रहस्य के कहने के लायक कोई विश्वासपात्र नहीं है। तो भी मैं एकान्त में तुमसे कहता हूँ, सुनो,–इस समय इस वन में किसी अपूर्व प्राणी ने आकर अधिकार जमा लिया है, इसलिए मैं इस वन को छोड़ देना चाहता हूँ। इसी लिए मैं घबड़ाया हुआ हूँ। और तुमने भी वह अपूर्व शब्द सुना ही होगा। शब्द के अनुसार ही उस जीव का बल भी अवश्य हो अधिक होगा।

तब वह दमनक बोला—हाँ महाराज! यह बात तो जरूर बहुत बड़े भय की है। वह शब्द तो मैंने भी सुना है। परन्तु वह मन्त्री अच्छा और योग्य नहीं है, जो पहले राजा को देश छोड़ने के लिये कहे और पीछे लड़ाई लड़ने के लिये उपदेश देवे। ऐसे २ कठिन कार्यों के उपस्थित होने पर क्या कर्त्तव्य है–इस कार्य सन्देह (कठिन समस्या) के समय ही तो नौकरों का उपयोग और योग्यता देखी जाती है।

१ 'त्वन्तु तथाविधः, अतश्च शृणु कथयामि'। २ 'शब्दानुरूपेण च तस्य प्राणिनो बलेनाऽपि सुमहता भवितव्यं'। ३ 'मन्त्राऽभावेण भूमिपरित्यागं, युद्धोद्योगं वोपदिशति'—इति तु शोभनं पाठान्तरम्।

'बन्धु-स्त्री-भृत्यवर्गस्य, बुद्धेः, सत्त्वस्य चाऽऽत्मनः ।
आपन्निकषपाषाणे नरो जानाति सारताम्' ॥ ८२ ॥

सिंहो ब्रूते—'भद्र ! महती शङ्का मां बाधते । दमनकः [1]पुनराह स्वगतम्—'अन्यथा राज्यसुखं परित्यज्य, स्थानान्तरं गन्तुं कथं मां सम्भाषसे ? ।' प्रकाशं ब्रूते—'देव ! यावदहं जीवामि तावद्भयं न कर्त्तव्यम् । किन्तु करटकादयोऽप्याश्वास्यन्तां, [2]यस्मादापत्प्रतीकारकाले दुर्लभः पुरुषसमवायः ।'

ततस्तौ दमनक-करटकौ राज्ञा [3]सर्वस्वेनाऽपि पूजितौ, भयप्रतीकारं प्रतिज्ञाय चलितौ । करटको गच्छन्दमनकमाह—'सखे ! किं शक्य-

विपत्काले । 'किङ्कर्तव्यमिदानी'मिति सन्देहावसरे एव । सत्त्वस्य=धैर्यशौर्यादेः, गाम्भीर्यस्य च । आपदेव निकषपाषाणस्तस्मिन्निति विग्रहः । विपत्तिनिकषोपले । (विपत्तिरूपी कसौटी पर) । सारताम्=महत्त्वम् । (सचाई) ॥ ८२ ॥

स्वगतम्=आत्मगतम् । (मनही मन) । गन्तुं=गमिष्यामीति । प्रकाशं= सर्वश्राव्यम् । (जोर से) । यस्मात्=यतः (क्योंकि) । आपत्प्रतीकारकाले=विपन्निवारणाऽवसरे । पुरुषसमवायः = योग्य-भृत्यादि-जनसमुदायः । राज्ञा = मृगराजेन । सर्वस्वेन = विपुलेन धनेन । प्रतिज्ञाय = 'भयमपनेष्याव' इति प्रतिज्ञां कृत्वा ।

क्योंकि—मनुष्य अपने बन्धु, स्त्री, नौकर, अपनी बुद्धि और बल का सार (तत्त्व, सचाई) आपत्ति रूप कसौटी पर ही जानता है ॥ ८२ ॥

सिंह बोला—भद्र ! मुझे तो इस समय बहुत अधिक भय लग रहा है । दमनक अपने मन ही मन बोला—'नहीं तो तुम राज्य का सुख छोड़कर दूसरी जगह जाने की क्यों कहते ? । फिर जोर से उसे सुनाकर बोला—महाराज ! जब तक मैं जीता हूँ, तब तक आप डरिये मत । किन्तु करटक आदि को भी धैर्य (सान्त्वना देकर प्रसन्न करना चाहिये । और उन्हें भी अपने पक्ष में पूरा २ कर लेना चाहिए। क्योंकि आपत्ति के आ पड़ने के समय योग्य पुरुषों (भृत्यों) का एकत्र होना कठिन है । इसके बाद राजा (सिंह) ने सर्वस्व (बहुत धन) देकर दमनक और करटक का पूरा २ संमान किया और वे दोनों भय को दूर करने की प्रतिज्ञा करके चल

१ 'दमनकः स्वगतमाह' । २ 'आपत्प्रतीकाराय' । ३ 'राज्ञा महाप्रसादेन पूजितौ' ।

प्रतीकारोऽयं भयहेतुरशक्यप्रतीकारो वेति न ज्ञात्वा, भयोपशमं प्रतिज्ञाय, कथमयं महाप्रमादो गृहीतः ?, । यतोऽनुपकुर्वाणो न कस्याऽप्युपायनं गृह्णीयाद्विशेषतो राज्ञः । पश्य—

'यस्य प्रसादे पद्माऽऽस्ते, विजयश्च पराक्रमे ।
मृत्युश्च वसति क्रोधे, सर्वतेजोमयो हि सः' ॥ ८३ ॥

तथा हि—

'बालोऽपि नाऽवमन्तव्यो 'मनुष्य' इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति' ॥ ८४ ॥

भयहेतुः = भयकारणम् । **शक्यप्रतीकारः** = दूरीकर्तुं शक्यः । **अशक्यप्रतीकारः** = अपनेतुमशक्यः । **भयोपशमं प्रतिज्ञाय** = 'भयं दूरीकरिष्यामीति' प्रतिज्ञाय । **महाप्रसादः** = राजदत्तं पारितोषिकम् । **उपायनं** = पारितोषिकम् । राज्ञ उपायनं तु सर्वथा गृह्णीयादित्यन्वयः ।

यस्य = राज्ञः । **प्रसादे** = प्रसन्नतायाम् । **पद्मा** = लक्ष्मीः । **विजयः** = जयः, कृष्णोऽर्जुनश्च । 'सर्वदेवमयः' इति पठन्ति केचित् । 'सर्वतेजोमय' इति पाठे विशिष्टतेजःपुञ्जमयः ॥ ८३ ॥

मनुष्य इति = मनुष्योऽयमिति मत्वा । **नाऽवमन्तव्यः** = न तिरस्कार्यः । **नररूपेण** = मनुष्यरूपेण ॥ ८४ ॥

पड़े । तब करटक जाते २ दमनक से बोला—हे मित्र ! इस भय के कारण का हटाना शक्य है, या अशक्य है, इसको बिना समझे ही तुमने भयशान्ति की प्रतिज्ञा करके राजा से यह भारी पारितोषिक क्यों ले लिया । क्योंकि बिना उपकार (कार्य) किये किसी का भी पारितोषिक नहीं लेना चाहिए, विशेष करके राजा का । क्योंकि देखो—

जिस (राजा) की प्रसन्नता में लक्ष्मी निवास करती है, जिसके पराक्रम में विजय है, और जिसके क्रोध में मृत्यु निवास करती है, अतः वह राजा–सब तेजों (देवताओं) का निवास स्थान है ॥ ८३ ॥

और कहा भी है—यदि राजा बालक भी हो तो भी उसको साधारण मनुष्य समझ कर उसका अनादर कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह राजा मनुष्य के रूप में एक बहुत बड़ा देवता ही है ॥ ८४ ॥

दमनको विहस्याऽऽह—'मित्र ! तूष्णीमास्यताम् । ज्ञातं मया भयकारणम् । बलीवर्दनर्दितं तत् । वृषभाऽश्चास्माकमपि भक्ष्याः, किं पुनः सिंहस्य ! ।' करटको ब्रूते—'यद्येवं, तदा (किं पुनः[1]) स्वामित्रासस्तत्रैव किमिति[2] नाऽपनीतः ? ।' दमनको ब्रूते—'यदि स्वामित्रासस्तत्रैव मुच्यते, तदा कथमयं महाप्रसादलाभः स्यात्' ? । अपरञ्च—

'निरपेक्षो न कर्त्तव्यो भृत्यैः स्वामी कदाचन ।
निरपेक्षं प्रभुं कृत्वा भृत्यः स्याद्दधिकर्णवत्' ॥८५॥

करटकः पृच्छति—'कथमेतत् ? ।' दमनकः कथयति—

(३) दधिकर्णबिडालकथा ।

अस्त्युत्तरापथेऽर्बुदशिखरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम महाविक्रमः सिंहः । तस्य पर्वतकन्दरमधिशयानस्य केसराऽग्रं कश्चिन्मूषकः प्रत्यहं छिनत्ति । [3]ततः केसराऽग्रं लूनं दृष्ट्वा कुपितो विवरान्तर्गतं मूषकमलभमानो

एवं = ज्ञातं त्वया भयकारणं चेत् । स्वामित्रासः=सिंहभयम् । किमिति = कस्माद्धेतोः । नापनीतः = न दूरीकृतः । मुच्यते = अपयाति । निरपेक्षः=सर्वथा कृतार्थः । दधिकर्णवत् स्यात् = तद्वदुपेक्षितो, निस्सारितश्च स्यादित्यर्थः ॥८५॥ महाविक्रमः = महापराक्रमः । केसराग्रं = सटाग्रभागम् । लूनं = छिन्नम् ।

तब दमनक हँसकर बोला—मित्र, चुप रहो । मैंने भय का कारण समझ लिया है । यह बैल का शब्द है । और बैल तो हम लोगों का भी भक्ष्य है । सिंह के लिये वह भक्ष्य है—यह तो कहना ही क्या है ? ।

तब करकट बोला—यदि ऐसी बात है, तो स्वामी के भय को तुमने वहीं क्यों नहीं दूर कर दिया ? । तब दमनक बोला—यदि हम स्वामी का भय वहीं दूर कर देते तो यह महान् पारितोषिक कैसे मिलता ।

और भी—भृत्यों को चाहिये कि अपने स्वामी को सर्वथा निरपेक्ष (कृतार्थ) कभी न करें, स्वामी को निरपेक्ष करके भृत्य दधिकर्ण के समान हो जाता है ॥८५॥

करटक ने पूछा—यह कथा कैसे है ? । दमनक बोला—

उत्तरापथ में अर्बुदशिखर नाम के पर्वत पर दुर्दान्त नाम का बड़ा भारी पराक्रमी सिंह रहता था । जब वह पर्वत की कन्दरा में सो जाता था तो एक चूहा

१ क्वाचित्कः पाठः । २ 'किं नापनीतः' । ३ 'स सिंहः केसराग्रं लूनं बुद्ध्वा'

ऽचिन्तयत्—'किं विधेयमत्र ? । भवतु । एवं श्रूयते—

'क्षुद्रशत्रुर्भवेद्यस्तु विक्रमान्नैव लभ्यते[1] ।
[2]तमाहन्तुं पुरस्कार्यः सदृशस्तस्य सैनिकः' ॥ ८६ ॥

—इत्यालोच्य, तेन ग्रामं गत्वा, (विश्वासं दत्वा[3]), दधिकर्णनामा बिडालो [4]यत्नेनाऽऽनीय मांसाऽऽहारं दत्वा, स्वकन्दरे स्थापितः। [5]अनन्तरं तद्भयान्मूषकोऽपि बिलान्न निःसरति। तेनाऽसौ सिंहोऽक्षतकेसरः सुखं स्वपिति। मूषकशब्दं यदा-यदा शृणोति तदा-तदा तं बिडालं मांसाऽऽहारदानेन सविशेषं संवर्द्धयति।

अलभमानः=अप्राप्नुवन्। पुरस्कार्यः=पुरस्कारादिना सन्तोष्य नियोज्यः ॥८६॥ तेन=सिंहेन। विश्वास दत्वा=विश्वासमुत्पाद्य। स्वकन्दरे=स्वगुहायाम्। अक्षतकेसरः=

प्रतिदिन आकर उसके केसरों को (अयालों, गर्दन के ऊपर के लम्बे-लम्बे बालों को) काट लेता था। अपने बालों को कटा हुआ देखकर सिंह बहुत क्रुद्ध होता था, परन्तु चूहा बिल में चला जाता था, अतः सिंह उसको पकड़ नहीं सकता था। इस प्रकार उसको न पाकर वह सिंह सोचने लगा कि—अब क्या करना चाहिये?। अच्छा, ऐसा सुना जाता है, कि—जो शत्रु छोटा हो और पराक्रम से वश में नहीं आ सके, तो उस क्षुद्र शत्रु को वश में लाने के लिये उसी के सदृश क्षुद्र सैनिक को ही अग्रसर (आगे) करना चाहिए ॥ ८६ ॥

ऐसा विचार कर वह सिंह किसी ग्राम में गया और दधिकर्ण नाम की एक बिल्ली को बड़े परिश्रम से लाकर विश्वास देकर और मांस आदि का लोभ देकर अपनी कन्दरा (गुफा) में रक्खा। इसके बाद उस बिल्ली के भय से वह चूहा बिल से नहीं निकलता था। इसलिये वह सिंह भी बालों के नहीं कटने से आनन्दपूर्वक सोता था। और वह सिंह जब-जब चूहे का शब्द सुनता था, तब-तब मांस आदि भोजन देकर उस बिल्ली को खूब प्रसन्न करता था।

१. 'वध्यते' पा०। २. 'तमाहन्तुं' पा०। ३. 'विश्वासं कृत्वा'। क्वचिन्नाऽयं पाठः। ४. 'प्रयत्नादानीय, मांसाद्याहारेणस्व'। ५. 'ततस्तद्भयान्मूषिको बहिर्न निःसरति'।

अथैकदा स मूषकः क्षुधापीडितो बहिः सञ्चरन्विडालेन[1] प्राप्तो,[2]व्यापादितश्च। अनन्तरं स [3]सिंहोऽनेककालं यावन्मूषकं न पश्यति,तत्कृतरावमपि न शृणोति, तदा तस्याऽनुपयोगाद्विडालस्याऽऽहारदानेऽपि मन्दाऽऽदरो बभूव। [4]ततोऽसावाहारविरहाद्दुर्बलो दधिकर्णोऽवसन्नो बभूव। अतोऽहं ब्रवीमि—'निरपेक्षो न कर्त्तव्यः' इत्यादि ।।

ततो दमनक-करटकौ सञ्जीवकसमीपं गतौ। तत्र करटकस्तरुतले साऽऽटोपमुपविष्टः। दमनकः सञ्जीवकसमीपं गत्वाऽब्रवीत्—'अरे वृषभ! एषोऽहं[5] राज्ञा पिङ्गलकेनाऽरण्यरक्षार्थं नियुक्तः[6]। सेनापतिः करटकः [7]समाज्ञा-

अलूनकेसरः। सुखं यथा स्यात्तथा। संवर्द्धयति = सत्करोति। व्यापादितः=हतः। अनेककालं यावत् = बहुकालपर्यन्तम्। तत्कृतरावं = मूषकशब्दमपि। तस्य = बिडालस्य। अनुपयोगात् = प्रयोजनाऽभावात्। अवसन्नः = कृशः, विपन्नश्च।

तरुतले = वृक्षतले। साऽऽटोपं = सगर्वम्। नियुक्तः=नियोजितः। राजपुरुषोऽहमिति यावत्। वस्तुतस्तु—'एषोऽयं राज्ञा पिङ्गलकेनारण्यरक्षार्थं नियुक्तः सेनापतिः

एक दिन वह चूहा क्षुधा से पीडित होकर बाहर भ्रमण कर रहा था, कि उस बिल्ली ने उसे पकड़ कर मार डाला। इसके बाद सिंह ने जब बहुत दिन तक उस चूहे को नहीं देखा और उसका शब्द भी जब नहीं सुना, तब उस बिल्ली की आवश्यकता नहीं समझ कर उसको भोजन देने में भी शिथिलता करने लगा। तब भोजन न मिलने से वह दधिकर्ण नामक बिलाव बहुत दुर्बल होकर मर गया। इसी लिये मैं कहता हूँ कि—'स्वामी को सर्वथा निरपेक्ष भी कभी नहीं करना चाहिये'—इत्यादि।

इसके बाद दमनक और करटक सञ्जीवक बैल के पास गये। उनमें से करटक तो बड़े आडम्बर (तपाक) के साथ किसी वृक्ष के नीचे बैठ गया।

और दमनक सञ्जीवक के पास जाकर बोला—अरे बैल! राजा पिङ्गलक ने इस वन की रक्षा के लिये जिनको नियुक्त किया है, वे सेनापति करटक तुमको बुलाते हैं,

१. 'मार्जारेण'। २. 'खादितश्च'। ३. 'यदा कदाचिदपि मूषिकशब्दं न शुश्राव, तदा उपयोगाऽभावात्तस्य बिडालस्याऽऽहारदाने मन्दादरो'। ४. क्वचिन्न। ५. 'एषोऽयं राज्ञा' पा०। ६. 'नियुक्तः सेनापतिः' पा०। ७. 'त्वामाज्ञापयति' पा०।

पयति—'सत्वरमागच्छ, न चेदस्मदरण्याद्दूरमपसर। अन्यथा ते विरुद्धं फलं भविष्यति। नो जाने क्रुद्धः स्वामी किं विधास्यति'?। तच्छ्रुत्वा सञ्जीवकश्चाऽऽयात्। यतः—

'आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणां, ब्राह्मणानामनादरः।
पृथक्शय्या च नारीणामशस्त्रविहितो वधः' ॥ ८७ ॥

ततो देशव्यवहाराऽनभिज्ञः सञ्जीवकः सभयमुपसृत्य, साष्टाङ्गपातं करटकं प्रणतवान्। तथा चोक्तम्—

'मतिरेव बलाद्गरीयसी, यदभावे करिणामियं दशा'।
इति घोषयतीव डिण्डिमः करिणो हस्तिपकाऽऽहतः क्वणन्'॥८८॥

करटकस्त्वामाज्ञापयति' इत्येवं पाठः स्यात्। न चेत्=यदि नाऽऽगच्छसि तदा। स्वामी=सिंहः। किं=किं दण्डम्। आयात्=सेनापतिकरकटनिकटमायातः। अशस्त्रविहितः=शस्त्रप्रयोगं विनाऽपि कृतः। वधः=वधसदृशोऽपकारः ॥ ८७ ॥

देशव्यवहारानभिज्ञः=वनप्रदेशव्यवहाराऽनभिज्ञः। प्रणतवान्=ननाम। मतिः=बुद्धिः। गरीयसी=श्रेष्ठा। यदभावे=मतेरभावे। करिणाम्=हस्तिनाम्। इयं=परैरा-

अतः तुम उनके पास शीघ्र चलो। नहीं तो तुम इस वन से कहीं दूर चले जाओ। यदि तुम ऐसा नहीं करोगे, तो इसका फल अच्छा नहीं होगा, न जाने स्वामी क्रुद्ध होकर तुमारा क्या कर डाले। यह सुन कर वह सञ्जीवक सेनापति बने हुए उस करटक के पास आया।

क्योंकि राजा की आज्ञा को भङ्ग करना, उसे नहीं मानना, और ब्राह्मणों का अनादर करना, स्त्री को (पति से) पृथक् शय्या पर सुलाना, ये तीनों काम उनके लिये (राजा, ब्राह्मण और स्त्री के लिये) विना शस्त्र के वध के ही तुल्य हैं॥८७॥

इसके बाद देश काल को न जानने वाले सञ्जीवक ने डरते २ उसके पास जाकर, (भूमिपर साष्टाङ्ग गिर कर) उस करटक को प्रणाम किया। कहा भी है—

बल की अपेक्षा बुद्धि ही बड़ी है, जिसके न रहने से ही हस्ती की यह दशा है, जो इतना बड़ा शरीरवाला होकर भी दूसरों को वहन करता है (दूसरों को ढोता है)। इसी बात को मानो हाथी की पीठ पर चढ़े हुए हाथीवान् से बजाया गया

अथ सञ्जीवकः स [1]शङ्कमाह–'सेनापते ! किं मया कर्त्तव्यम्?, तदभिधीयताम्। करटको ब्रूते—'वृषभ ! यद्यत्र कानने ते स्थातुमिच्छा,[2] तदा अस्मद्देवपादाऽरविन्दं गत्वा प्रणम। सञ्जीवको ब्रूते—'तदभयवाचं मे प्रयच्छ, गच्छामि।'

करटको ब्रूते—'शृणु रे बलीवर्द ! अलमनया शङ्कया। यतः—

'प्रतिवाचमदत्त केशवः शपमानाय न चेदिभूभुजे।
अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं, न हि गोमायुरुतानि केसरी' ॥ ८९ ॥

रोहणादिरूपा। करिणो डिण्डिमः=राजाज्ञाप्रसारकाले गजारोपितो डिण्डिमः। क्वणन्=शब्दायमानः ॥ ८८ ॥

प्रयच्छ=त्वं देहि। 'अभयं मे देहि, स्वस्वामिना वा दापये'त्यर्थः। गच्छामि=त्वत्स्वामिनः सिंहस्य सविधे गच्छामि।

प्रतिवाचं=प्रत्युत्तरम्। केशवः=कृष्णः। शपमानाय=अवाच्यं ब्रुवाणायाऽपि, स्वाऽननुरूपाय, तुच्छाय। चेदिभूभुजे=चेदिदेशाधिपाय शिशुपालाय। घनध्वनिमनु=मेघध्वनिं श्रुत्वा। केसरी=सिंहः। गोमायुरुतानि=जम्बुकशब्दमनु। न=न हुङ्कुरुते। अतस्त्वां क्षुद्रं स सिंहो नैव हनिष्यतीत्याशयः ॥ ८९ ॥

नगारा (डुग्गी द्वारा) कह रहा है। (पहिले राजाओं की महत्त्वपूर्ण आज्ञाएँ हाथी की पीठ पर नगाड़ा रखकर, उसे बजा कर प्रजा को सुनाई जाती थीं) ॥ ८८ ॥

इसके बाद सञ्जीवक डरता हुआ सा उससे बोला—हे सेनापते ! कहिये मैं क्या करूँ, मुझे क्या आज्ञा है। करटक बोला ! अरे बैल ! इस वन में यदि तुम्हारी रहने की इच्छा है, तो चलकर हमारे राजा के चरणों को प्रणाम करो। तब वह सञ्जीवक बोला—मुझे आप अभयदान दीजिये। मैं चलता हूँ। करटक बोला—सुन रे बैल ! यह शङ्का ही तुम मत करो कि-सिंह मुझे मार डालेगा।

क्योंकि—शिशुपाल के गाली देने पर भी भगवान् श्रीकृष्ण ने उत्तर तक नहीं दिया। क्योंकि सिंह-मेघ का गर्जन सुनकर ही हुँकार करता है, परन्तु सियारों के शब्दों को सुन कर वह कभी हुङ्कार नहीं करता है ॥ ८९ ॥

१. 'साऽऽशङ्कमाह'। २. 'इच्छा वर्त्तते तदा देवपादारविन्दं प्रणम'।

अन्यच्च—

'तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो मृदूनि नीचैःप्रणतानि सर्वतः।
समुच्छ्रितानेव तरून्प्रबाधते, महान्महत्स्वेव करोति विक्रमम्'॥६०॥

ततस्तौ सञ्जीवकं[1] कियद्दूरे संस्थाप्य,[2] पिङ्गलकसमीपं गतौ। ततो राज्ञा साऽऽदरमवलोकितौ प्रणम्योपविष्टौ। राजाऽऽह—'अपि दृष्टः सः'?।

दमनको ब्रूते—'देव ! दृष्टः,[3]। किन्तु यद्देवेन ज्ञातं तत्तथा। महानेवाऽसौ। देवं द्रष्टुमिच्छति। किन्तु महाबलोऽसौ, ततः सज्जीभूयोपविश्य दृश्यताम्। किन्तु शब्दमात्रादेव[4] न भेतव्यम्। अतः—

'अम्भसा भिद्यते सेतुस्तथा मन्त्रोऽप्यरक्षितः।
पैशुन्याद्भिद्यते स्नेहो, वाग्भिर्भेद्यो हि कातरः'॥ ६१ ॥

प्रभञ्जनः = वायुः। नीचैः = पादयोः। प्रणतानि=नम्राणि। समुच्छ्रितान् = उन्नतान्, स्तब्धांश्च। महति=उच्छ्रिते। करोति=प्रदर्शयति। अतस्त्वया तत्पादयोः प्रणतेन-तस्मात्सिंहाद्भयं नैव कार्यमिति भावः॥ ६०॥ तथा=तथैव महाबलः।

अम्भसा=जलपूरेण। सेतुः=संक्रमः। (पुल)। पैशुन्यात्=निन्दादिना।

और भी वायु—नीचे की तरफ झुके हुए कोमल तृणों को कभी नहीं उखाड़ती है, किन्तु ऊंचे २ वृक्षों ही को वह तोड़ती है। क्योंकि बड़े लोग बड़ों के ऊपर ही अपना पराक्रम दिखलाते हैं, क्षुद्रजीवों पर एवं अपने पैरों पर गिरे हुए आश्रितों पर बल नहीं दिखाते हैं। अतः तुम सिंह से बिलकुल मत डरो॥ ६०॥

इसके बाद उस सञ्जीवक को कुछ दूर बैठाकर वे दोनों पिङ्गलक सिंह के पास गये। तब राजा ने बड़े आदर से और प्रेम पूर्ण दृष्टि से इनको देखा, और वे दोनों भी प्रणाम कर के राजा के पास ही बैठ गये। तब वह राजा बोला—क्या उस जीव को देखा ?। दमनक बोला—हे राजन् ! मैंने उसको देखा। और जैसा आपने समझा था, वह वैसा ही महान् बली सत्त्व (जीव) है। वह आप से मिलना चाहता है। परन्तु वह बहुत बलवान् है, इसलिए आप सावधान होकर बैठिये और तब उससे मिलिए। परन्तु केवल शब्द से ही डरना भी नहीं चाहिये। जैसे किसी ने कहा भी है—

जल के वेग से सेतु (पुल) टूट जाता है, तथा विना रक्षा के मन्त्र भी

१. 'अपरञ्च'। २. 'ऽतिदूरं संस्थाप्य'। ३. 'दृष्टः। यद्देवेनाऽऽकर्णितं तत्तथैव। महाबलोऽसौ। देवं द्रष्टुमिच्छति, तत्सज्जीभूयोपविश्यताम्'। ४. 'मात्रान्'।

तथा चोक्तम्—

'शब्दमात्रान्न भेतव्यमज्ञात्वा शब्दकारणम् ।
शब्दहेतुं परिज्ञाय कुट्टनी गौरवं गता' ॥ ९२ ॥

राजाऽऽह—'कथमेतत् ?'। दमनकः कथयति—

(४) घण्टाकर्णकुट्टनीकथा ।

अस्ति श्रीपर्वतमध्ये ब्रह्मपुराख्यं नगरम्। '[1]तच्छिखरप्रदेशे घण्टाकर्णो नाम राक्षसः प्रतिवसती'ति जनप्रवादः श्रूयते। एकदा घण्टामादाय पलायमानः कश्चिच्चौरो व्याघ्रेण व्यापादितः। तत्पाणिपतिता घण्टा वानरैः प्राप्ता। ते वानरास्तां घण्टामनुक्षणं वादयन्ति। ततो नगरजनैर्मनुष्यः खादितो दृष्टः, प्रतिक्षणं घण्टाऽऽरावश्च श्रूयते। अनन्तरं 'घण्टा-

भेद्यः = विजेतव्यः ॥ ९१ ॥

कुट्टनी = शम्भली । गौरवं=जनसत्कारेण महत्त्वम् । गता=प्राप्ता ॥ ९२ ॥

जनप्रवादः=जनश्रुतिः । अनुक्षणं=प्रतिक्षणम् । स मनुष्यः=घण्टा-

(सलाह भी) प्रकट हो जाता है । और पैशुन्य (चुगल खोरी)से स्नेह नष्ट हो जाता है । तथा केवल वचनों से ही कायर पुरुष डर जाता है (भाग जाता है) ॥ ९१ ॥

अतः शब्द का कारण बिना जाने ही केवल शब्द सुनने मात्र से ही डरना नहीं चाहिये। देखिए, केवल शब्द का कारण समझ कर ही उस कुट्टनी ने लोक में संमान पाया था ॥ ९२ ॥

राजा(पिङ्गलक सिंह) बोला—यह कथा कैसे है ? । दमनक कहने लगा—

श्रीपर्वत पर एक ब्रह्मपुर नाम का नगर है । इस श्रीपर्वत की चोटी पर घण्टाकर्ण नाम का एक राक्षस रहता है, ऐसा लोग कहा करते थे । एक समय एक चोर कहीं से घण्टा चुराकर भाग रहा था और किसी व्याघ्र ने उस चोर को मार डाला । उसके हाथ से गिरी हुई उस घण्टा को कुछ वानरों ने पा लिया । वे वानर उस घण्टा को प्रतिक्षण (हर समय) बजाया करते थे । तब नगरके लोगों ने देखा कि एक मनुष्य (चोर) तो मरा हुआ पड़ा है, और प्रतिक्षण घण्टे का शब्द भी सुनाई देता है । इसलिये लोगों ने विचारा कि अवश्य ही घण्टाकर्ण राक्षस क्रुद्ध होकर मनुष्यों को खाता है, और घण्टा भी बजाता है । ऐसा विचार कर सब लोग नगर

१. 'तत्र शैलशिखरे'।

कर्णः कुपितो मनुष्यान्खादति, घण्टां च वादयती'त्युक्त्वा सर्वे जना नगरात्पलायिताः ।

ततः करालया नाम कुट्टन्या विमृश्य,–'अनवसरोऽयं घण्टानादः, तत्किं मर्कटा घण्टां वादयन्ति' ?–इति स्वयं विज्ञाय, राजा विज्ञापितः–'देव ! यदि कियद्धनोपक्षयः क्रियते, तदाऽहमेनं घण्टाकर्णं साधयामि ।'

ततो राज्ञा तुष्टेन[1] तस्यै धनं दत्तम् । कुट्टन्या च मण्डलं कृत्वा, [2]तत्र गणेशादिपूजागौरवं दर्शयित्वा, स्वयं वानरप्रियफलान्यादाय, वनं प्रविश्य, तत्र फलान्याकीर्णानि । ततो घण्टां परित्यज्य वानराः फलाऽऽसक्ता बभूवुः । कुट्टनी च घण्टां गृहीत्वा नगरमागता [3]सर्वजनपूज्याऽभवत् । अतोऽहं ब्रवीमि—'शब्दमात्रान्न भेतव्यम्' इत्यादि ॥*॥

चौरः । विमृश्य = विचार्य । अनवसरः = घण्टाशब्दोऽनवसरेऽपि श्रूयमाणो घण्टाशब्दः । (तत्किं = तो क्या ?) । विज्ञापितः=निवेदितः । धनोपक्षयः = धनव्ययः । साधयामि = अनुकूलं करोमि, प्रसादयामि । मण्डलं = कुङ्कुमादिवृत्तं, त्रिकोणषट्कोणवृत्तादिरूपम् । पूजागौरवं=पूजाव्यापारप्रपञ्चम् । फलाऽऽसक्ताः=फलभक्षण-

से भागने लगे । इसके बाद कराला नाम की एक कुट्टनी ने यह सोचा कि यह तो घण्टा बजने का समय नहीं है, जान पड़ता है कि कहीं वानरों के हाथ कोई घण्टा लग गई है,और वे वानर ही घण्टा को बजाते हैं । इस रहस्य को स्वयं जानकर उस कुटनी ने राजा से निवेदन किया कि–यदि कुछ रुपया खर्च किया जाय तो मैं इस घण्टाकर्ण को सिद्ध (वश में) कर सकती हूँ । तब राजा ने प्रसन्न हो उसको बहुत सा धन दिया । तब उस कुट्टनी ने भी देवता इत्यादि का मण्डल बनाकर गणेश इत्यादि कीपूजा का झूठे ही आडम्बर दिखला कर, वानरों को अच्छे लगने वाले कुछ फल ले जाकर वनमें इधर उधर फेंक दिए (छींट दिये) । तब उस घण्टा को छोड़ कर वे सब बानर उन फलों को खाने लग गये । और कुट्टनी उस घण्टाको लेकर नगर में आई और सर्वमान्य (लोक पूजित) हो गई । इसीलिये मैं कहता हूं कि—'केवल शब्दमात्र से ही नहीं डरना चाहिये–' इत्यादि ।

१. क्वचिन्न । २. क्वचिन्न । ३. 'सकललोकपूज्या' ।

ततः सञ्जीवकमानीय दर्शनं कारितवन्तौ। पश्चात्तत्रैव[1] स परमप्रीत्या निवसति। अथ कदाचित्तस्य सिंहस्य भ्राता स्तब्धकर्णनामा[2] सिंहः समागतः। तस्याऽऽतिथ्यं कृत्वा, समुपवेश्य, पिङ्गलकस्तदाहाराय[3] पशुं हन्तुं चलितः।

अत्राऽन्तरे सञ्जीवको वदति—'देव! अद्य हतमृगाणां मांसानि क्व?।' राजाऽऽह—दमनक-करटकौ जानीतः। सञ्जीवको ब्रूते—'ज्ञायतां किमस्ति, नाऽस्ति वा?।'

सिंहो विमृश्याऽऽह—नाऽस्त्येव तत्।' सञ्जीवको ब्रूते-'कथमेतावन्मांसं ताभ्यां खादितम्?।' राजाऽऽह—'खादितं, व्ययितमवधीरितं च। प्रत्यहमेष क्रमः।'

सञ्जीवको ब्रूते—'कथं श्रीमद्देवपादानामगोचरेणैवं क्रियते?'। राजाऽऽह-'मदीयाऽगोचरेणैव क्रियते।' अथ[4] सञ्जीवको ब्रूते-'नैतदुचितम्'।

परा:। आनीय = तत्राऽऽनीय। तत्रैव=सिंहसविधे एव।

आतिथ्यम्=अतिथिसत्कारम्, क्व=क्व गतानि?। विमृश्य=विचार्य, पर्यवेक्ष्य वा। एतावत्=सञ्चितं,विपुलम्। व्ययितम्=उपयुक्तम्, वितीर्णम्। अवधीरितं=नाशितं, विकीर्णञ्च। क्रमः=परिपाटी। अगोचरेण=आज्ञां विनैव। अपृष्ट्वैव च माम्।

तब उन्होंने सञ्जीवक को लाकर राजा से मिलाया। इसके बाद वह सजीवक बैल परम प्रेम से वहीं सिंह के पास ही रहने लगा।

इसके बाद एक दिन उस सिंह का भाई स्तब्धकर्ण नाम का सिंह वहां पर आया। पिङ्गलक उसका आतिथ्य सत्कार कर, उसे बैठा कर, उसके भोजन के लिये पशु मारने को चला। इसी बीच में सञ्जीवक बोला-आज के मारे हुए मृगों का मांस कहाँ है?। राजा बोला—दमनक और करटक ही जानते हैं। तब सञ्जीवक बोला-देखिए तो मांस है, कि नहीं?। तब सिंह विचार कर (देखकर) बोला-नहीं है। सञ्जीवक बोला-क्या इतना मांस उन दोनों ने खा डाला?। राजा बोला-कुछ खाया, कुछ खर्च किया,और कुछ फेंक दिया होगा। प्रतिदिन का यही इन लोगों का क्रम है।

सञ्जीवक बोला—आपसे विना पूछे ही ये लोग ऐसा करते है?। सिंह बोला-मुझसे बिना पूछे ही ऐसा करते हैं। तब सञ्जीवक ने कहा-यह तो उचित नहीं है।

१. 'पश्चात्स तत्रैव वने चिरमतिप्रणयेन निवसति'। २. 'स्तब्धकर्णो नाम सिंहः समायातः'। ३. 'पशून्'। ४. 'अथे'ति क्वचिन्न।

तथा चोक्तम्—

'नाऽनिवेद्य प्रकुर्वीत भर्तुः किञ्चिदपि स्वयम् ।
कार्यमापत्प्रतीकारादन्यत्र, [1]'जगतीपते !' ॥९३॥

[2]अन्यच्च—

'कमण्डलूपमोऽमात्यस्तनुत्यागो, बहुग्रहः ।
नृपते ! किंक्षणो मूर्खो, दरिद्रः किंवराटकः' ॥९४॥
'स ह्यमात्यः सदा श्रेयान्[3] काकिणीं यः प्रवर्द्धयेत् ।
[4]कोशः कोशवतः प्राणाः, प्राणाः प्राणा न भूपतेः' ॥९५॥

अनिवेद्य = असूचयित्वा । भर्तुः=राज्ञः । आपत्प्रतीकारात् = स्वामिन आपत्तिनिराकरणात् ॥ ९३ ॥

कमण्डलूपमः=कमण्डलुसदृशः । सादृश्यमेव दर्शयति—तनुत्याग इति । अल्पप्रदः । बहुग्रहः=विपुलग्राही । (कमण्डलु में मुँह की ओर से ज्यादा पानी डाला तो जा सकता है, पर गिरते समय टोंटी से थोड़ा-थोड़ा ही जल उससे गिरता है) । किं क्षणा यस्यासौ-किंक्षणः । 'किञ्चित्क्षणव्यये का मे हानिः, पश्चात्पठिष्यामी'त्यादि विचारपरायणो हि जनो मूर्खो भवतीत्यर्थः । किंवराटकः='द्वित्रवराटकविनाशेऽपि का मे हानिः, द्वित्राः, पञ्चषा वा वराटका गच्छन्तु नाम, किन्तै'रिति विचारपरो दरिद्रो भवतीर्थः । (वराटकः=कौडी) । श्रेयान्=श्रेष्ठः । काकिणीं=कपर्दिकामपि । 'वराटकानां दशकद्वयं यत्सा काकिणी' त्युक्तेः-२० कौडी = १ काकिणी । (कौडी २

क्योंकि कहा भी है—हे राजन् ! अपने स्वामी (राजा आदि) की विपत्ति को दूर करने को छोड़कर, भृत्य को और कोई भी काम अपने स्वामी से पूछे बिना स्वयं अपने मनसे कभी नहीं करना चाहिये ॥ ९३ ॥

और भी—मन्त्री कमण्डलु के सदृश थोड़ा-थोड़ा देने वाला और बहुत सा लेने वाला होता है । और हे राजन् ! क्षणभर समय को तुच्छ समझने वाला मूर्ख होता है, और एक कौड़ी को भी तुच्छ समझने वाला दरिद्र होता है ॥९४॥

और वही मन्त्री सदा अच्छा है, जो दमड़ी को भी बढ़ाता है । खजाने वाले

१. 'जगतीपतेः' पा० । २. 'अपरञ्च' । ३. 'यः काकिन्याऽपि वर्द्धयेत्' । ४. 'कोषः' ।

'किं चाऽर्थैर्न कुलाऽऽचारैः सेव्यतामेति पूरुषः ।
धनहीनः स्वपत्न्याऽपि त्यज्यते, किं पुनः परैः' ! ॥९६॥

एतच्च राज्ञः [2]प्रधानं दूषणम् । [3]पश्य—

'अतिव्ययोऽनवेक्षा[4] च, तथाऽर्जनमधर्मतः ।
मोषणं, दूरसंस्थानं, [5]कोशव्यसनमुच्यते' ॥९७॥

पर ध्यान रक्खे) । कोशवतो भूपतेः = राज्ञः । कोशः = धनमेव । प्राणाः = वास्तवजीवनम् । प्राणाः—जीवनं न ॥ ६५ ॥

किञ्चेति । पुरुषः—अर्थैः = धनैरेव, सेव्यताम् = आश्रयणीयताम्, एति = गच्छति । कुलाचारैः=सत्कुलेन, सदाचारैश्च, न = नैव । परैः = अन्यैः ॥६६॥

किन्तदित्यत आह—अतीति । अनवेक्षा = अनिरीक्षणम्, अचिन्तनं वा । अर्जनम् = उपार्जनम् । मोषणं = अविकृतैश्चौरैश्च कृतं चौर्यम् । दूरसंस्थानं = राज्यात्कोशस्य दूरेऽवस्थापनम् । व्यसनं = विपत्तिः । नाशहेतुः ॥ ६६ ॥

आयं = लाभ, धनागमनम्, अनालोच्य = अविचार्यैव । स्ववाञ्छया = स्वेच्छया । क्षिप्रं = द्रुतम् । व्ययमानः=स्वधनस्य व्ययं कुर्वन् । वैश्रवणोपमः=कुबेरतुल्योऽपि । परिक्षीयते = दरिद्रो भवति ॥ ६७॥

(राजा) का प्राण तो खजाना ही है,उसके प्राण-प्राण नहीं है । अर्थात् राजा के लिए प्रधानतया रक्षणीय खजाना ही है, अपने प्राण भी उतने रक्षणीय नहीं हैं ॥६५॥

और भी—पुरुष धन से ही माननीय और सेवनीय होता है, अन्य कुलाचारों से संसार में वह संमानित नहीं होता है । क्योंकि धनहीन पुरुष को अपनी स्त्री भी छोड़ देती है, दूसरों की तो ही बात क्या है ॥६६॥

और राजा के ये तो प्रधान दोष हैं, कि—

आय से अधिक खर्च करना, धन की रक्षा के लिये विशेष ध्यान नहीं देना, अधर्म से द्रव्योपार्जन करना, किसी का धन छीन लेना, तथा अपने राज्य से दूर कहीं खजाने को रखना—ये सब खजाने की आपत्तियाँ (दोष) हैं । अर्थात् इन दोषों से राजा का खजाना (कोश) जल्दी ही नष्ट हो जाता है ॥६७॥

१. सर्वेषु मुद्रितपुस्तकेषूपलभ्यमानः 'किञ्चान्यै'रिति पाठस्तु न शोभनः ।
२. 'प्रधानदूषणं' । ३. क्वचिन्न । ४. 'अनपेक्षे'ति पाठान्तरम् । ५. 'कोष' ।

यतः—

'क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमानः स्ववाञ्छया ।
परिक्षीयत[1] एवाऽसौ धनी वैश्रवणोपमः' ॥९८॥

[2]तदाकर्ण्य स्तब्धकर्णो ब्रूते—'शृणु भ्रातः ! चिराऽऽश्रितावेतौ दमनक-करटकौ सन्धिविग्रहकार्याधिकारिणौ कदाचिदर्थाधिकारे न नियोक्तव्यौ। अपरञ्च–[3]नियोगिप्रस्तावे यन्मया श्रुतं, तत्कथ्यते—

'ब्राह्मणः, क्षत्रियो, बन्धुर्नाऽधिकारे प्रशस्यते ।
ब्राह्मणः सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेणाऽपि न यच्छति' ॥९९॥

चिराश्रितौ=पुरातनसेवकौ। सम्प्रति। सन्धिः=मैत्री, विग्रहः=युद्धम्। अमात्यपदमारूढावित्यर्थः। अर्थाधिकारे=कोशरक्षणकर्मणि। नियोगप्रस्तावे='कोऽधिकारेषु नियोज्य' इति प्रसङ्गे। 'नियोगिप्रस्तावे' इति पाठे—नियोगी=राजनियुक्तोऽधिकारी। (राजकर्मचारी, अफसर, हाकिम आदि अधिकारी)।

बन्धुः=स्वबान्धवश्च। (एते त्रयोऽपि)। अधिकारे=कार्याधिकारे, अर्थाऽधिकारे च। ('ओहदा' 'नौकरी')। प्रशस्यते=पूज्यते। सिद्धं=लब्धम्।

क्योंकि—अपनी आमदनी को बिना समझे ही अपनी इच्छापूर्वक शीघ्र खर्चने वाला धनी पुरुष यदि कुबेर के बराबर धनी हो तो भी नष्ट हो जाता है ॥९८॥

स्तब्धकर्ण बोला—भाई ! सुनो। ये दमनक करटक बहुत पुराने नौकर हैं, और सन्धि तथा विग्रह के अधिकारी हैं,इसलिये रुपये पैसे के काम में इनको कभी नहीं लगाना चाहिये। और भी नियोगी (अधिकारी) के विषय में जो मैंने सुना है, वह मैं तुमसे कहता हूँ—

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अपने बन्धुओं को, पुराने नौकरों को, और अपने उपकारी को, तथा साथ खेले हुए अपने मित्रों आदि को भी कभी किसी अधिकार में नहीं लगाना चाहिए। क्योंकि ब्राह्मण अधिकारी प्रजा से मिले हुए राजा के कर

१. श्रमणाऽऽयत एवासौ'इति पाठे—'श्रमणः—निष्किञ्चनो नग्नो जैन भिक्षुकः। २. क्वचिन्न। ३. 'नियोगप्रस्तावे मया यत्किञ्चिच्छ्रुतं तत्कथयामि'।

'नियुक्तः क्षत्रियो द्रव्ये खड्गं दर्शयते ध्रुवम् ।
'सर्वस्वं ग्रसते बन्धुराक्रम्य ज्ञातिभावतः' ॥१००॥

'अपराधेऽपि निःशङ्को नियोगी चिरसेवकः ।
स स्वामिनमवज्ञाय चरेच्च निरवग्रहः' ॥ १०१ ॥

'उपकर्त्ताऽधिकारस्थः[2] स्वाऽपराधं न मन्यते ।
उपकारं ध्वजीकृत्य [3]सर्वमेवाऽवलुम्पति' ॥१०२॥

कृच्छ्रेण=प्रयत्नशतेनापि । न प्रयच्छति=नार्पयति । 'स्वामिने' इति शेषः ॥९९॥

खड्गं दर्शयते=खड्गादिकं शस्त्रं गृहीत्वा युद्धाय संनद्धो भवति । राजधनं च बलाद्भुङ्क्ते । ज्ञातिभावतः=आत्मीयसम्बन्धात् ॥ १०० ॥

नियोगी=कार्याधिकृतः । निरवग्रहः=उच्छृङ्खलः सन् ॥१०१॥ उपकर्ता=पूर्वं कृतोपकारो जनः । मन्यते=स्वीकुरुते, गणयति च । ध्वजीकृत्य=अग्रे कृत्वा । अवलुम्पति=ग्रसते, नाशयति च ॥१०२

को (धन को) हजार उपाय करने पर भी, अनेक कष्ट देने पर भी, राजा को नहीं देता है, किन्तु स्वयं ही खा जाता है ॥ ९९ ॥

द्रव्य सग्रह सम्बन्धी (धन एकत्रित करने के:) कार्यों में लगाया हुआ क्षत्रिय अधिकारी भी अवश्यमेव तलवार दिखलाकर, लड़ने-मारने को उतारू होकर, धन खा जाता है । और बन्धु बान्धव भी अपनी जाति के होने के ही कारण सर्वस्व (सम्पूर्ण धन को) ही दबा कर बैठ जाते हैं ॥१००॥

और पुराना नौकर भी—यदि वह किसी काम में लगाया जाय तो अपराध करके भी वह निर्भय ही रहता है । और वह स्वामी का अनादर करके उच्छृङ्खल-भाव से (बेरोक-टोक) काम किया करता है ॥१०१॥

और उपकार करने वाला मनुष्य भी–यदि वह अधिकारी बना दिया जाए तो वह भी अपने अपराधों को कुछ भी नहीं गिनता है । और केवल एक अपने उपकार ही को सबके ऊपर रखकर स्वामीके सर्वस्व धन को खाने को तैयार रहता है ॥१०२॥

---

१. 'सर्वार्थं' । २. 'अधिकाराऽऽढ्यः' । ३. 'सर्वमेव विलुम्पति' ।

'उपांशुक्रीडितोऽमात्यः स्वयं राजायते यतः ।
अवज्ञा क्रियते तेन सदा परिचयाद् ध्रुवम्' ॥ १०३ ॥
'अन्तर्दुष्टः, क्षमायुक्तः, सर्वाऽनर्थकरः किल ।
शकुनिः, शकटारश्च दृष्टान्तावत्र भूपते' ! ॥ १०४ ॥
'[1]सदाऽमात्यो न साध्यः स्यात्समृद्धः सर्व एव हि ।
सिद्धानामयमादेश 'ऋद्धिश्चित्तविकारिणी'॥ १०५ ॥

उपांशुक्रीडितः = एकान्ते लीलासहचरः, गुप्तरहस्यवेत्ता, गूढक्रीडासहायश्चेत्यर्थः । अवज्ञा = स्वामितिरस्कारः । ध्रुवं = निश्चितमेतत् ॥१०३॥

अन्तर्दुष्टोऽपि-बहिः—क्षमायुक्तः=क्षमापरः, सर्वविधाऽनर्थकारको भवति । अत्र = एतद्विषये । तत्र शकुनिर्दुर्योधनमातुलः । स्वपितुर्गान्धारराजस्य सुबलस्य दुर्योधनकृतात्कारावन्धनादिरूपादवमानादन्तःकलुषितो, द्यूतादियोगेन महाभारतं युद्धमुत्पाद्य, दुर्योधननाशं, कौरवकुलनाशञ्च कृतवान्–इत्यन्तर्दुष्टस्याऽनर्थकरत्वं सूचितम् । शकटारश्च नन्दमन्त्री—सकुटुम्बो राज्ञा कुपितेनान्धकूपे क्षिप्तः, कथञ्चिद्धृतप्राणो हतकुटुम्बो राज्ञा कालान्तरे कूपान्मोचितो, बहिः क्षमापरोऽपि, हृदि तं विरोधं धारयन् चाणक्येन सह नन्दस्य राज्ञो विरोधमुत्पाद्य, सान्वयं तं नन्दं राजानं नाशयामासेतीतिहासविदः ॥ १०४ ॥

समृद्धः = धनादिसमृद्धश्चेत्, सर्व एव अमात्यः, न साध्यः = शक्यप्रतीकारो न

बाल्य अवस्था में संग खेला हुआ मित्र और राजा की एकान्त की (गुप्त) बातों को जाननेवाला मन्त्री भी राजा के समान ही हुकूमत करने लगता है । क्योंकि निरन्तर परिचय होने से वह सदा उस स्वामी का अनादर ही करता है ॥१०३॥

और जो मन्त्री भीतर से दुष्ट और ऊपर से क्षमावान् हो, वह भी बड़ा ही अनर्थ करने वाला होता है । हे राजन् ! इसमें शकुनि और शकटार ये दोनों दृष्टान्त हैं ॥ १०४ ॥

और जब मन्त्री अधिक सम्पन्न (धनी) हो जाता है, तब वह कभी राजा के

१. 'सपांसुक्रीडितः' इति तु गौडाः पठन्ति । (बालपन में साथ खेला हुआ)।

१ 'सदाऽऽयत्यामसाध्यः' इति पा० । आयत्यां=किञ्चित्कालानन्तरं, बद्धमूल इत्यर्थः । 'सदाऽऽयती न साध्य' इत्यपि च पाठा० ।

'प्राप्तार्थग्रहणं, द्रव्यपरीवर्त्तोऽनुरोधनम् ।
उपेक्षा, बुद्धिहीनत्वं, भोगोऽमात्यस्य दूषणम्' ॥ १०६ ॥
'[1]नियोग्यर्थग्रहोपायो राज्ञा नित्यं परीक्षणम् ।
प्रतिपत्तिप्रदानं च, तथा कर्मविपर्ययः' ॥ १०७ ॥

स्यात् । सिद्धानां=व्यवहार-राजनीतिविदाम्, आदेशः=उक्तिः । ऋद्धिः= समृद्धिः । चित्तविकारिणी = मनुष्यस्य मनसो विकृतिमुत्पादयति ॥ १०५ ॥

प्राप्तस्य अर्थस्य=धनस्य, ग्रहणं=स्वयं ग्रहणम् । द्रव्यस्य परीवर्त्तः=परिवर्त्तनम् । स्वल्पमूल्यं स्ववस्तु निधाय, महामूल्यस्य राजवस्तुनः स्वीकारः । (राजा की बढ़िया बढ़िया चीजों को बदल लेना) । अनुरोधः=स्वाभिलषितसिद्धये-राजानुरोधः । (अपने कार्य के लिये राजा को दबाना) । उपेक्षा=राजकार्योपेक्षणम् । भोगः= राजद्रव्योपभोगः, कामोपभोगपरायणता वा ॥ १०६ ॥

नियोगी=राजपुरुषः (अफसर), कायस्थश्च । तस्माद्राजकार्यनियुक्ताद्योऽर्थस्य =धनस्य, ग्रहः=प्राप्तिस्तस्योपाय इत्यर्थः । नित्यं परीक्षणं = तत्कार्यपरीक्षा । प्रतिपत्तिप्रदानं = विश्वासप्रदानम् । (आशा दिलाना, इनाम देना) । कर्मविपर्ययः= कार्यपरिवर्त्तनम् । (अधिकार की बदली कर देना) ॥ १०७ ॥

वश में नहीं आता है, क्योंकि महापुरुषों का यह कहना है कि–सम्पत्ति (अधिकार और धन) मनुष्य के चित्त को बिगाड़ देती है ॥ १०६ ॥

और मिले हुए धन को स्वयं ले लेना, राजा के द्रव्य का परिवर्त्तन (अदला बदली) करना, किसी बात का अनुरोध (आग्रह) करना, राजकार्यों की या राजा की उपेक्षा करना, बुद्धि की कमी होना, तथा विषयों का उपभोग करना, या राजद्रव्यों का उपभोग करना, ये सब अमात्य (मन्त्री) के दोष हैं ॥ १०६ ॥

नियोगियों (राजकर्मचारियों) से अर्थ (धन) लेने के उपाय ये हैं— उन की सदा परीक्षा करते रहना, उनके कार्यों की जांच करते रहना, उनको उन्नति आदि का विश्वास देना, तथा उनका काम बदल देना ॥ १०७ ॥

१. 'नियोग्याऽर्थग्रहाऽपाय' इति पाठे नियोग्य=राज-द्रव्यो-त्पत्ति-विघ्नभूत इत्यर्थः ।

'निपीडिता वमन्त्युच्चैरन्तःसारं [1]महीपतेः ।
दुष्टव्रणा इव प्रायो भवन्ति हि नियोगिनः' ॥ १०८ ॥
'मुहुर्नियोगिनो [2]बाध्या वसुधारा [3]महीपते ! ।
सकृत्किं पीडितं स्नानवस्त्रं मुञ्चेद् द्रुतं पयः[4]' ॥ १०९ ॥

एतत्सर्वं ज्ञात्वा यथाऽवसरं व्यवहर्त्तव्यम् ।' सिंहो [5]ब्रूते—'अस्ति तावदेवं, किन्त्वेतौ सर्वथा न मम वचनकारिणौ ।' स्तब्धकर्णो ब्रूते—'एतत्सर्वं सर्वथाऽनुचितम् । यतः—

निपीडिताः=दण्डिताः सन्तः, वमन्ति=राजधनं ददति । अन्तः=निभृतं स्थापितं, सारं=धनम् ॥ १०८ ॥

नियोगिनः=कायस्थादयो, राज्याधिकारिणश्च॥ १०९ ॥

मुहुः=वारंवारं, बाध्याः=राज्ञा धनाऽऽदानाय ते पीडनीयाः । पीडिता एव ते-वसुधाराः=धनवर्षिणो भवन्ति । यद्वा-'वसुधाराः=धनचौराः-नियोगिनो भृशं बाध्या' इति वाऽन्वयः । स्नानवस्त्रं=धौतवस्त्रं । द्रुतं=त्वरितम् । मुञ्चेत् किं=परित्यजति किम् ? । नैव परित्यजति ॥ १०९ ॥

हे राजन् ! राजकर्मचारी गण दबाने पर ही गुप्त (छिपाए हुए) धन को देते हैं । क्योंकि प्रायः ये राजकर्मचारी दुष्टव्रण (पके हुए फोड़े) की तरह ही होते है । अर्थात् जैसे पका फोड़ा दबाने से मवाद देता है, वैसे ही ये दबाने ही से छुपाया हुआ धन देते हैं ॥ १०८ ॥

और हे राजन् ! धनी कर्मचारियों को बार २ दबाना चाहिये । क्योंकि क्या स्नान का (गीला) वस्त्र एकही बार निचोड़ने से सब जल शीघ्र छोड़ देता है ? । अर्थात् नहीं छोड़ता है ॥ १०९ ॥

ये सब बातें समय २ पर समझ कर ही राजा को अपने कर्मचारियों के साथ यथोचित व्यवहार करना चाहिये । तब सिंह बोला—बात तो यह ऐसी ही (ठीक) है, परन्तु ये करटक और दमनक किसी प्रकार से भी मेरा कहना नहीं मानते हैं । तब स्तब्धकर्ण बोला—यह सब बात तो सर्वथा अनुचित है ।

१. 'महीपते' पा० । २ 'बोध्याः' । ३ 'महीपतेः' । ४ 'बहूदकं' । ५ 'पिङ्गलको' ।

'आज्ञाभङ्गकरान् राजा [1]न क्षमेत्स्वसुतानपि।
विशेषः को नु राज्ञश्च, राज्ञश्चित्रगतस्य च' ॥ ११० ॥

[2]अन्यच्च—

'स्तब्धस्य नश्यति यशो, विषमस्य मैत्री,
नष्टेन्द्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः।
विद्याफलं व्यसनिनः, कृपणस्य सौख्यं,
राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य' ॥ १११ ॥

[3]अपरं च—

'तस्करेभ्यो, नियुक्तेभ्यः, शत्रुभ्यो, नृपवल्लभात्।
नृपतिर्निजलोभाच्च, प्रजा रक्षेत्पितेव हि' ॥ ११२ ॥

राज्ञः = वास्तविकस्य मूर्तिमतो राज्ञः, चित्रगतस्य=भित्तिलिखितस्य च ॥११०॥

स्तब्धस्य = अभिमानिनो जडस्य। विषमस्य = कुटिलस्य। नष्टेन्द्रियस्य= इन्द्रियपरायणस्य। अर्थपरस्य=धनैकपरायणस्य। व्यसनिनः=द्यूतादिव्यसनासक्तस्य। सौख्यं = सुखम्। प्रमत्तसचिवस्य = दुष्टामात्यसहायस्य ॥ १११ ॥

तस्करेभ्यः = चौरेभ्यः। नियुक्तेभ्यः = दुष्टेभ्यो राजपुरुषेभ्यः। नृपवल्लभात्= राजप्रियात्। ('दर्बारी' 'मुसाहिब' 'मुँहलगा')। धनिलोकात् = ऋणादिदानेन

क्योंकि—राजा को चाहिए कि अपनी आज्ञा को नहीं मानने वाले अपने पुत्रों को भी क्षमा न करे, नहीं तो सच्चे राजा में और राजा की तसबीर में क्या भेद रहेगा? ॥ ११० ॥

और घमण्डी तथा शठ मनुष्य का यश नष्ट हो जाता है, और अनियत स्वभाव वाले तथा कपटी की-मित्रता नष्ट हो जाती है, और नष्टेन्द्रिय (इन्द्रिय-परायण) पुरुष का कुल (वंश) नष्ट हो जाता है, और जो केवल धन कमाने में ही लगा रहता है, उसका धर्म नष्ट हो जाता है। और व्यसनी मनुष्य की विद्या नष्ट हो जाती है. और कृपण का सौख्य नष्ट हो जाता है, और जिस राजा का मन्त्री असावधान है, उसका राज्य ही नष्ट हो जाता है ॥ १११ ॥

और राजा को चाहिये कि वह विशेषतः चोरों से, अपने नौकरों से, बाहरी शत्रुओं

१ 'न क्षमेत सुतानपि'। २ क्वचिन्न। ३ 'विशेषतश्च'।

'भ्रातः ! सर्वथाऽस्मद्वचनं क्रियताम् । व्यवहारोऽप्यस्माभिः कृत एव । अयं सञ्जीवकः[1] सस्यभक्षकोऽर्थाऽधिकारे नियुज्यताम् ।'

[2]तद्वचनात्तथाऽनुष्ठिते सति, तदारभ्य पिङ्गलक-सञ्जीवकयोः सर्वबन्धु-परित्यागेन महता स्नेहेन कालोऽतिवर्त्तते । ततोऽनुजीविनामप्याहारदाने शैथिल्यदर्शनाद्दमनक-करटकावन्योन्यं चिन्तयतः । तदाह दमनकः करटकम्—'मित्र ! किं कर्त्तव्यम्[3] ? । आत्मकृतोऽयं दोषः । स्वयं कृतेऽपि दोषे परिदेवनमप्यनुचितम्' । तथा चोक्तम्—

प्रजासर्वस्वाऽपहारकेभ्यः कुसीदजीविभ्यः । 'निजलोभा'दिति पाठेऽपि—लोभप्रधान-राजपुरुषादिलोकादित्यर्थः । स्वलोभादिति वाऽर्थः ॥ ११२ ॥

व्यवहारः=धर्माधिकरणनिर्णयः (फैसला) । कार्यप्रबन्धो वा । स्वकृतं व्यवहार-मेवाह—**अयमिति** । तद्वचनात्=स्वभ्रातुर्वचनेन । सर्वबन्धुपरित्यागेन = दमनकादिपरिजनपरिवर्जनेन । अनुजीविनां=सेवकानाम् । परिदेवनं=चिन्तनं,

---

से, तथा अपने प्रिय जनों से, एवं अपने लोभ से प्रजाओं की पिता की तरह रक्षा करे ॥ ११२ ॥

और हे भाई ! आप हर प्रकार से मेरा ही कहना मानिये । हम लोगों ने यही (इस मुकदमे का फैसला' 'निर्णय') किया है, कि–घास खाने वाले इस सञ्जीवक को ही अर्थ (आय-व्यय) के अधिकार में लगा दीजिए ।

उसके कहने से पिङ्गलक ने वैसा ही किया । और तब से इन दोनों (पिङ्गलक और सञ्जीवक) का समय और सबको छोड़ देने से बड़े प्रेम से बीतने लगा। इसके बाद अपने भाई बन्धुओं को भोजन देने में भी शिथिलता होती देख कर दमनक और करटक आपस में विचार करने लगे । दमनक ने करटक से कहा–मित्र, अब क्या करना चाहिये ? । और यह तो (संजीवक को राजा से मिलाना) अपना ही किया हुआ दोष है । और अपने किये हुए दोष में अब रोना-धोना भी अनुचित ही है।

---

१ 'सस्यभक्षकः सञ्जीवको भोजनाधिकारे' । २. 'एतद्वचनात्' पा० । ३ 'किमत्रविधेयं' ।

'स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा, बद्ध्वाऽऽत्मानं च दूतिका।
आदित्सुश्च मणिं साधुः, स्वदोषाद्दुःखिता इमे' ॥ ११३ ॥

करटको ब्रूते[1]–'कथमेतत् ?'। दमनकः कथयति—

(५) स्वर्णरेखानापितादिकथा।

अस्ति काञ्चनपुरनाम्नि नगरे वीरविक्रमो नाम राजा। तस्य धर्माधिकारिणा कश्चिन्नापितो वध्यभूमिं नीयमानः, कन्दर्पकेतुनाम्ना परिव्राजकेन साधुद्वितीयेन 'नाऽयं हन्तव्य' इत्युक्त्वा वस्त्राञ्चले धृतः। राजपुरुषा ऊचुः–'किमिति नाऽयं वध्यः' ?। स आह–'श्रूयताम्'। 'स्वर्ण रेखामहं स्पृष्ट्वे'-त्यादि (च[2]) पठति। त आहुः–'कथमेतत् ?'। परिव्राजकः कथयति—

'अहं सिंहलद्वीपस्यभूपतेर्जीमूतकेतोः पुत्रः कन्दर्पकेतुर्नाम। एकदा

रोदनञ्च। आदित्सुः = जिघृक्षुः। साधुः = श्रेष्ठी (सेठ) ॥ ११३ ॥

धर्माधिकारी = न्यायाधिष्ठाता ('जज' 'हाकिम')। परिव्राजकेन=भिक्षुणा। वस्त्राञ्चले=वस्त्रकोणे। किमिति = कस्माद्धेतोः ?। ते = राजपुरुषाः। केलिकानना-

---

किसी ने कहा भी है—स्वर्णरेखा को छूने से मैं, और अपने को बँधाने वाली दूती, और मणि को लेने की इच्छा करने वाला साधु-ये तीनों अपने ही दोषों से दुःखी हुए हैं ॥ ११३ ॥

करटक बोला—यह कथा कैसे है ?। दमनक कहने लगा—

काञ्चनपुर नामक एक नगर में वीरविक्रम नाम का एक राजा राज्य करता था। उसका धर्माधिकारी (राजपुरुष) किसी नाई को फांसी पर लटकाने की जगह ले जा रहा था, कि कन्दर्पकेतु नामके संन्यासी ने उसे देखा और वह बोला कि-इसको मारना नहीं चाहिये। ऐसा कह कर उसने उस नापित के वस्त्र का एक कोना पकड़ लिया। तब राजा के नौकरों ने पूछा कि–इसे क्यों नहीं मारना चाहिये ?। तब वह 'स्वर्णरेखा को छूने वाला मैं' इत्यादि श्लोक पढ़ने लगा। तब राजपुरुषों ने पूछा–यह क्या बात है, स्पष्ट कहो। तब वह संन्यासी कहने लगा, कि–मैं सिंहल द्वीप के राजा

---

१ 'पृच्छति'। २ क्वचिन्न।

केलिकाननाऽवस्थितेन मया पोतवणिङ्मुखाच्छ्रुतं, यत्–'अत्र समुद्रमध्ये चतुर्दश्यामाविर्भूतकल्पतरुतले रत्नावलीकिरणकर्बुरपर्यङ्के स्थिता, सर्वाऽलङ्कारभूषिता लक्ष्मीरिव, वीणां वादयन्ती कन्या काचित् दृश्यते' इति।

ततोऽहं तं पोतवणिजमादाय पोतमारुह्य तत्र गतः। अनन्तरं तत्र गत्वा मया पर्यङ्केऽर्धमग्ना तथैव साऽवलोकिता। ततस्तल्लावण्यगुणाऽऽकृष्टेन मयापि तत्पश्चाज्झम्पो दत्तः। तदनन्तरं कनकपत्तनं प्राप्य सुवर्णप्रासादे तथैव सा पर्यङ्के स्थिता विद्याधरीभिरुपास्यमाना[1] मयाऽऽलोकिता। तयाऽप्यहं दूरादेव दृष्ट्वा सखीं प्रस्थाप्य सादरं सम्भाषितः। तत्सख्या च मया पृष्टया

वस्थितेन=क्रीडोद्यानस्थितेन। पोतवणिङ्मुखात्=सांयात्रिकद्वारा। आविर्भूतो यः कल्पतरुस्तस्य तले=अधोभागे। रत्नावलीकिरणकर्बुरपर्यङ्के=रत्नमालामयूखचित्रिते मञ्चके। सर्वालङ्कारभूषितत्वेन च लक्ष्मीसादृश्यम्। पोतं=जलयानं (जहाज)। अर्धमग्ना=अर्धसुप्ता (आधी लेटी हुई)। लावण्यमेव गुणः=रज्जुः, तेनाऽऽकृष्टेन। लावण्यञ्च गुणाश्च, तैराकृष्टेनेति वा। झम्पः=निमज्जनम्। ('गोता मारना' 'पानी में कूदना')। पत्तनं=पुरम्। सुवर्णप्रासादे=कनकमये प्रासादे। तथैव=अर्धमग्ना। सम्भावितः=सत्कृतः। 'सम्भाषित' इति पाठे–भाषणादिना, कुशलप्रश्नादिना च

जीमूतकेतु का पुत्र कन्दर्पकेतु हूँ। एक दिन आनन्द कानन में बैठे हुए मैंने जहाजी बनियें के मुँह से सुना कि चतुर्दशी के दिन समुद्रमें एक कल्पवृक्ष प्रगट होता है, और उसी पर रत्नों की किरणों से चित्रित पलङ्ग पर लक्ष्मी के सदृश वस्त्र अहङ्कारों से भूषित, वीणा बजाती हुई एक कन्या दीख पड़ती है। इसके बाद मैं उस जहाजी बनिए को साथ लेकर जहाज पर चढ़कर उस प्रदेश में गया। तब मैंने वहाँ पलङ्ग पर आधी लेटी हुई उस कन्या को उसी प्रकार से देखा। वह मुझे देखकर समुद्र में गायब हो गई। इसके बाद उसके सौन्दर्य से मुग्ध होकर मैं भी उसके साथ ही वहाँ समुद्र में कूद पड़ा। और मैं कनकपुर में जा पहुँचा। वहाँ जाकर मैंने सोने के महलों में उसे सोने के पलङ्ग पर लेटी हुई देखी। और वहाँ युवति विद्याधरी सब उनकी सेवा कर रही थीं। उसने दूर ही से अपनी सखी को भेज कर मुझे बुलाया और मेरा सत्कार किया। पूछने पर

---

१. 'अभिनवयौवनाभिरुपास्यमाना'।

समाख्यातम्—'एषा कन्दर्पकेलिनाम्नो विद्याधरचक्रवर्तिनः पुत्री रत्नमञ्जरी नाम, प्रतिज्ञापिता[1] विद्यते, 'यः कनकपत्तनं स्वचक्षुषाऽऽगत्य पश्यति, स एव [2]पितुरगोचरोऽपि मां परिणेष्यती'ति [-[3]मनसः सङ्कल्पः]। [4]तदेनां गन्धर्वविवाहेन परिणयतु भवान्।

अथ तत्र वृत्ते गान्धर्वविवाहे तया सह रममाणस्तत्राऽहं तिष्ठामि। तत एकदा रहसि तयोक्तं—'स्वामिन्! स्वेच्छया सर्वमिदमुपभोक्तव्यम्, [5]परम् एषा चित्रगता स्वर्णरेखा नाम विद्याधरी न कदाचित्स्प्रष्टव्या।

ततः पश्चादुपजातकौतुकेन मया सा स्वर्णरेखा स्वहस्तेन स्पृष्टा। तया च चित्रगतयाऽप्यहं[6] चरणपद्मेन ताडित आगत्य स्वराष्ट्रे पतितः। [7]अथ दुःखार्त्तोऽहं परिव्रजितः पृथिवीं परिभ्राम्यन्निमां नगरीमनुप्राप्तः। अत्र चाऽतिक्रान्ते

सम्भावित इत्यर्थः। विद्याधरचक्रवर्तिनः=विद्याधरसम्राजः। प्रतिज्ञापिता=कृतप्रतिज्ञा। तस्याः प्रतिज्ञामेवाह—य इति। पितुरगोचरोऽपि = मत्पित्राऽपरिदृष्टोऽपि। परिणेष्यति = मया सह विवाहं करिष्यति। तत् = अस्याः प्रतिज्ञायास्त्वयैव पूरणात्। वृत्ते = निष्पन्ने। तत्र = कनकपत्तने। गान्धर्वविवाहे = स्वेच्छाविवाहे। इदं = भोग्यं पदार्थजातम्। एषा=पुरोवर्त्तिनी। चरणपद्मेन=पादपद्मेन। परिव्रजितः=

उसकी सखी ने मुझसे कहा कि—यह विद्याधरों के राजा कन्दर्पकेलि की पुत्री है। इसका नाम रत्नमञ्जरी है। इसकी यह प्रतिज्ञा है, कि—जो कनकपत्तन में आकर अपने नेत्रों से मुझे देखेगा, उसी के साथ मैं अपना विवाह, अपने पिता से पूछे विना भी कर लूंगी। यही इसके मन का सङ्कल्प है। इसलिये गान्धर्व विविधि से आप इससे विवाह करिये। बाद में उसके पास गान्धर्व विवाह कर उसके साथ आनन्द करता हुआ वहीं रहने लगा। एक दिन एकान्त में उसने मुझसे कहा कि-हे स्वामिन्! अपनी इच्छा के अनुसार आप इन सभी पदार्थों का उपभोग कर सकते हैं, परन्तु इस चित्र में जो यह स्वर्णरेखा नाम की विद्याधरी है, इसको आप हाथ कभी भूल से भी मत लगाइयेगा।

इसके बाद मुझको बड़ा कौतुक हुआ, और मैंने उस विद्याधरी को अपने हाथ से छू दिया। यद्यपि वह चित्र था, तो भी उसने मुझे एक लात मारी और मैं आकर अपने देश में गिरा। तब मैं दुःखी होकर संन्यासी हो गया और पृथिवी

१. 'अनया प्रतिज्ञातं—यः'। २. क्वचिन्न। ३ क्वाचित्कः पाठोऽयम्। ४ 'तदिमां'। ५ 'किन्तु'। ६ 'अहं तथा कृत्वा-चरणपद्मेनाऽऽहतो यथाऽऽगत्य स्वराष्ट्रे पतितः'। ७ 'अतो'।

दिवसे गोपगृहे सुप्तः सन्नपश्यम्-प्रदोषसमये[1] पशूनां पालनं कृत्वा स्वगेह-मागतो गोपः स्ववधूं दूत्या सह किमपि मन्त्रयन्तीमपश्यत् । ततस्तां गोपीं ताडयित्वा स्तम्भे बद्ध्वा सुप्तः ।

ततोऽर्द्धरात्रे [2]एतस्य नापितस्य वधूर्दूती पुनस्तां गोपीमुपेत्याऽवदत्—'तव विरहाऽनलदग्धोऽसौ स्मरशरजर्जरितो मुमूर्पुरिव वर्त्तते । तथा चोक्तम्—

'रजनीचरनाथेन खण्डिते तिमिरे निशि ।
यूनां मनांसि विव्याध दृष्ट्वा-दृष्ट्वा मनोभवः' ॥ ११४ ॥

तस्य तादृशीमवस्थामवलोक्य परिक्लिष्टमनास्त्वामनुवर्त्तितुमागता ।

परित्यक्तसर्वस्वः । संन्यासीभूत्वा । सुहृदां=मित्राणाम् । स्ववधूं = स्वपत्नीम् । दूत्या= दूतकर्मकारिण्या नापित्या । मन्त्रयन्तीं=किमपि परामृशन्तीम् । एतस्य = भवद्भि-र्वध्यस्थानं नीयमानस्य । विरहानलदग्धः=वियोगाग्निदग्धः । असौ=नायकः । जारः । स्मरशरजर्जरितः=मन्मथबाणविदीर्णहृदयः । मुमूर्षुः = मरणासन्नः ।

रजनीचरनाथेन=चन्द्रमसा । खण्डिते=नाशिते=सति । दृष्ट्वा-दृष्ट्वा=चन्द्रालोके निभृतं मुहुर्मुहुर्विलोक्य । मनोभवः=कामः ॥११४॥ परिक्लिष्टमनाः=दुःखितहृदया ।

पर घूमता २ यहाँ आया । गत दिन एक गोप के घर में सोये हुए मैंने देखा कि सायंकाल में पशुओं का पालन करके वह गोप गोष्ठ सेअपने घर आया और अपनी स्त्री को किसी दूती (कुटनी) से बात चीत करते हुए देखा । तब उसने अपनी स्त्री गोपी को पीट कर खम्मे में बाँध दिया और सो गया । इसके बाद आधी रात को इस नाई की स्त्री यह दूती फिर उस गोपी के पास आकर बोली—हे सखि ! तुम्हारी विरहाग्नि से जला हुआ और काम के शरों (बाणों) से पीडित हुआ वह (नायक तेरा) यार मरना ही चाहता है । क्योंकि कहा भी है—

रात में चन्द्रमा ने जब अन्धकार को दूर कर दिया तब कामदेवने—युवा पुरुषों के हृदयों को ताक २ कर अपने बाणों से घायल कर दिया ॥ ११४ ॥

और उस नायक की यह अवस्था देख कर दुःखी होकर मैं तुम्हारे पास आई

---

१ 'स गोपो गोष्ठादागतःस्ववधूं' । २ 'अस्य' ।

तदहमत्राऽऽत्मानं [1]बद्ध्वा तिष्ठामि । त्वं तत्र गत्वा, तं सन्तोष्य, सत्वरमागच्छ ।'

तथाऽनुष्ठिते सति स गोपः प्रबुद्धोऽवदत्—'[2]इदानीं त्वं पापिष्ठे! जारान्तिकं कुतो न यासि' ? । ततो यदाऽसौ न किञ्चिदपि ब्रूते, तदा क्रुद्धो गोपः–'दर्पान्मम [3]वचसि प्रत्युत्तरमपि न ददासी' त्युक्त्वा, कोपेन तेन [4]कर्त्रिकामादाय तस्या नासिका च्छिन्ना ।

तथा कृत्वा पुनः सुप्तो गोपो निद्रामुपगतः । अथाऽऽगत्य सा गोपी दूतीमपृच्छत्—'का वार्त्ता ? ।'

[5]दूत्योक्तं—पश्य, [6]मम मुखमेव वार्त्तां कथयति । अनन्तरं सा गोपी

अनुवर्त्तितुम् = अनुकूलयितुम् । तत्र=नायकनिकटे । तथाऽनुष्ठिते=आत्मानं बद्ध्वा, गोपीमोचने कृते सति । प्रबुद्धः = सुप्तोत्थितः । जारान्तिकं = स्वनायकनिकटे । (अपने यार के पास) । ईर्ष्ययोक्तिरियम् । असौ=गोपी । ब्रूते=प्रत्युत्तरं ददाति । दर्पात् = अभिमानात् । तेन = गोपेन । कर्त्रिकाम्=क्षुरिकाम् । तथा कृत्वा=तस्या नासिकां छित्त्वा । दूतीं=बद्धां तां संचारिकां नापितवधूम् । वार्त्ता=वृत्तान्तः । (इधर

हूँ । अतः यहाँ पर इस खम्भे में तो मैं तब तक बँध कर खड़ी रहती हूँ, और तूँ वहाँ जाकर उस कामी को सन्तुष्ट कर शीघ्र चली आ ।

तब गोपी ने इस नापित (दूती) को तो खम्भे से बान्ध दिया और आप अपने प्रेमी (कामी) के पास चली गई । जब ऐसा परिवर्त्तन इधर हो गया तब वह गोप जागा और बोला कि-अरी पापिनि ! अब अपने यार के पास क्यों नहीं जाती है ! । इसके बाद जब वह कुछ नहीं बोली, तब वह गोप क्रुद्ध होकर बोला कि अरी पापिनि, मारे घमण्ड के मेरी बातों का जवाब भी नहीं देती है ! । ऐसा कह कर क्रोधसे छूरी (चाकू) लेकर उसने उस दूती की नाक काट डाली । ऐसा करके वह गोप तो फिर सो गया और उसको नींद आगई । तब गोपी ने बाहर से आकर दूती से पूछा कि-क्या बात है ?। कोई नई बात तो नहीं है न ? । तब दूती ने कहा, –मुझको देखले, मेरा मुख ही सब हाल कह रहा है । इसके बाद वह गोपी पुनः

१. 'तदहमात्मानमत्र' । २. 'इदानीं जारान्तिकं कथं न यासि' । ३ 'मम वचसः' । ४'कर्त्रिकामादाय तस्यास्तेन' । ५ 'दूत्युवाच' । ६'पश्य, मन्मुखमेवे'ति ।

[1]तथा कृत्वाऽऽत्मानं बद्ध्वा स्थिता। इयं च दूती तां छिन्नां [2]नासिकां ...त्वा [3]स्वगृहे प्रविश्य स्थिता। ततः[4] प्रातरेवाऽनेन नापितेन स्ववधूः क्षुरभाण्डं याचिता [5]सती क्षुरमेकं प्रादात्। ततोऽसमग्रभाण्डे प्राप्ते समुपजातकोपोऽयं नापितस्तं क्षुरं दूरादेव गृहे क्षिप्तवान्। अथ [6]कृताऽऽर्त्तरावेयं ...नाऽपराधेन मे नासिकाऽनेन च्छिन्ने'त्युक्त्वा धर्माधिकारिसमीपमेनमानीतवती। सा च गोपी तेन गोपेन पुनः पृष्टोवाच—'अरे[7]पाप! को मां महासतीं विरूपयितुं समर्थः?। मम व्यवहारमकल्मषमष्टौ लोकपाला एव जानन्ति'। यतः—

का क्या हाल है?)। वार्त्ता=स्वनासिकाच्छेदनव्यापारम्। स्ववधूः=स्वपत्नी नापिती। क्षुरभाण्डं=क्षौरसाधनभाण्डम्। ('लोखर' 'उस्तरों का डिब्बा')। असमग्रभाण्डे=असम्पूर्णे क्षुरभाण्डे। कृतार्त्तरावा=कृताक्रन्दा। (चिल्लाती हुई)। अपराधं विनाऽपि अनेन=मद्भर्त्रा। एनं=नापितम्। विरूपयितुं=छिन्ननासिकां विधातुम्। व्यवहारं=चरितम्। अकल्मषं=निष्पापं, शुद्धम्। लोकपालाः=आदित्यचन्द्राऽग्निवाय्वादयः।

उसी तरह अपने आप बँधकर खड़ी हो गई। और यह दूती नापिती अपनी उस कटी हुई नाक को लेकर अपने घर में जाकर चुप चाप बैठ गई। और प्रातःकाल जब नाई ने अपनी स्त्री (दूती) से छूरा रखने का लोहखर माँगा, तब उसने एक छूरा उसे दे दिया। तब उसने पूरा २ लोहखर न पाकर मारे क्रोध के दूर ही से उस छूरे को घर में फेंक दिया। इसके बाद उस नाई की स्त्री ने कोलाहल मचाना प्रारम्भ कर दिया कि विना अपराध ही इसने मेरी नाक काट डाली है। ऐसा कह कर अपने पति इस नाई को न्यायकर्ता (जज) के पास ले आई। और उधर उस गोप ने भी गोपी से फिर वही प्रश्न पूछा कि-अपने जार के पास आज तूँ क्यों नहीं जाती है?। अपनी कटी हुई नाक उसको दिखलाने क्यों नहीं गई?। तब वह गोपी बोली—अरे पापी! मुझ सती का रूप कौन बिगाड़ सकता है?। मेरे निर्दोष व्यवहार को तो इन्द्र आदि आठों लोकपाल ही जानते हैं, कि मैं कैसी सती साध्वी हूँ। तूँ पामर जीव मुझे क्या जानेगा।

१ 'तथैवाऽऽत्मानं बध्द्वाऽवस्थिता'। २ 'छिन्ननासिकां'। ३ 'निजगृहे'। ४ 'प्रभातेऽनेन'। ५ 'क्षुरभाण्डमदत्वा'। ६ 'कृतार्त्तनादेयं'। ७ 'पाप! अधम'।

'आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च,
द्यौर्भूमिरापो, हृदयं, यमश्च ।
अहश्च, रात्रिश्च, उभे च सन्ध्ये,
धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम्' ॥ ११५ ॥

यद्यहं परमसती स्यां, त्वां विहायाऽन्यं न जाने, पुरुषाऽन्तरं स्वप्नेऽपि न हि भजे, ([1]तर्हि) तेन धर्मेण छिन्नाऽपि मम नासिकाऽछिन्नाऽस्तु । मया त्वं भस्म कर्तुं शक्यसे । किन्तु स्वामी त्वं, लोकभयादुपेक्षे, '[1]त्वाम् । पश्य मन्मुखम्' । ततो यावदसौ गोपो दीपं प्रज्वाल्य[2], तन्मुखमवलोकते, [3]तावदुन्नसं मुखमवलोक्य, तच्चरणयोः पतितः—'धन्योऽहं यस्येदृशी भार्या परमसाध्वी' इत्युवाच[4] ।

अनिलः = वायुः । अनलः = अग्निः । द्यौः = गगनम् । वृत्तं = शीलं । चरितम् । (चाल-चलन) ॥ ११५ ॥
उन्नसम् = उन्नतनासिकम् । नासिकायुतम् । इति = इत्युक्त्वा । साधुः = श्रेष्ठा ।

क्योंकि सूर्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, आकाश, पृथिवी, जल, मन, यमराज, दिन, रात, दोनों सन्ध्या (प्रातःसन्ध्या और सायंसन्ध्या) और धर्म- ये सब मनुष्य के वृत्त (शील, चरित) को जानते हैं ॥ ११५ ॥

और यदि मैं परम सती और सच्ची पतिव्रता होऊँ,और तुमको छोड़ कर दूसरे पुरुष को मैं नहीं जानती होऊँ, और स्वप्न में भी कभी मैं पर पुरुष का भजन (समागम) नहीं करती होऊँ , तो मेरी कटी हुई नाक भी विना कटी हुई (पहिले की तरह ही ठीक) होजाय । और मैं तो तुमको भस्म कर सकती हूँ, पर तुम मेरे स्वामी (पति) हो, इस लिये लोकभय से ही मैं तुम्हारी उपेक्षा करती हूँ (तुमको छोड़ देती हूँ,भस्म नहीं करती हूँ) । और लो,मेरा मुख देखो । इसके बाद गोप ने दीप जला कर जब उसके मुख को देखा तो पूर्ववत् ऊँची-अक्षत-नाक युक्त मुख को देख कर, उसके चरणों पर गिर पड़ा । और बोला कि-अहो ! मैं धन्य हूँ, जिसके ऐसी पतिव्रता स्त्री है ।

१ क्वचिन्न । २ 'प्रदीपमानीय तस्या मुखं पश्यति' ।
३ 'तावदक्षतं' । ४ 'उवाचे'ति क्वाचित्कम् ।

याऽयमास्ते साधुरेतद्वृत्तान्तमपि [1]कथयामि । शृणुत—

'अयं स्वगृहान्निर्गतो[2] द्वादशवर्षैर्मलयोपकण्ठादिमां नगरीमनुप्राप्तः[3] । अत्र च वेश्यागृहे सुप्तः । [4]ततः कुट्टन्या गृहद्वारि स्थापितस्य काष्ठघटित-वेतालस्य मूर्धनि रत्नमेकमुत्कृष्टमास्ते । [5]तत्र लुब्धेनाऽनेन साधुना रात्रावुत्थाय[6] रत्नं गृहीतुं यत्नः कृतः ।तदा[7] तेन वेतालेन सूत्रसञ्चारितेन बाहुभ्यां पीडितः सन्नार्त्तनादमयं चकार । पश्चादुत्थाय कुट्टन्योक्तम्—

'पुत्र ! मलयोपकण्ठादागतोऽसि, तत्सर्वरत्नानि प्रयच्छाऽस्मै, नो चेदनेन न त्यक्तव्योऽसि । इत्थमेवाऽयं चेटकः ।' ततोऽनेन सर्वरत्नानि समर्पितानि । अधुना[8] चाऽयमपहृतसर्वस्वोऽस्मासु समागत्य[9] मिलितः ।

मलयोपकण्ठात्=मलयाऽचलसमीपप्रदेशाद्रत्नाकरात् । तस्याः कुट्टन्या=वेश्याया-जनन्या । वेश्याया उपमात्रा । ('वेश्यामाता''नायका')। काष्ठघटितवेतालस्य=काष्ठनिर्मि-तयन्त्रमयवेतालस्य । वेतालो भूतविशेषः । अस्मै=वेतालाय । चेटकः=मायाविलासः । ('तिलस्म' 'जादू,' टोना) । एतन्मोचनोपायः । (इस से छूटने का यही एक उपाय है) । अस्मासु=परिव्राजकेषु । न्याये = न्यायोऽत्र विधीयतामिति । प्रव-

और हमारे साथ में और यह जो बनिया है, इसका वृत्तान्त भी मैं आप लोगों से कहता हूँ, सुनिये । यह वैश्य अपने घर से निकल कर बारह वर्ष के बाद मलयाचल के पास से धन कमाकर इस नगरी में आया । और यहाँ किसी वेश्या के घर में रात को सो गया । उस वेश्या की माता कुट्टनी ने अपने द्वार पर एक काष्ठ का वेताल (भूत, पिशाच, पुतला) खड़ा कर रक्खा था, जिस के शिर पर एक १ बहु-मूल्य रत्न जड़ा हुआ था । वहाँ इस लोभी बनिये ने रात को उठ कर उस रत्न को लेने का प्रयत्न किया । तब उस वेताल (पुत्तली) ने यन्त्र से चलने वाले अपने बाहुओं से इसको जोर से दबाया तो यह चिल्लाने लगा । तब वह कुट्टनी उठ कर बोली कि बेटा ! मलयाचल से तुम आये हो, अतः तुम्हारे पास अवश्य जवाहि-रात होंगे, सो तुम उन सब रत्नों को इसे दे दो, नहीं तो नहीं छूटोगे । इस भूत से छूटने का यही एक उपाय है । यह जादू (तिलस्म) इसी प्रकार का है । तब यह अपना सर्वस्व धन रत्न उसको देकर भिक्षु होकर हम लोगों में आकर मिल गया ।

१ 'कश्चिन्न' । २ 'निःसृतो' । ३ 'मागतः' । ४ 'तस्या' । ५ 'तद्दृष्ट्वाऽर्थ-लुब्धेना' । ६ 'हत्र हस्तो दत्तः' । ७ 'तदैव' । ८ 'चायमपि हृत' । ९ 'स्मासु मिलितः'।

एतत्सर्वं श्रुत्वा राजपुरुषैर्न्यायेे[1] धर्माधिकारा: प्रवर्त्तिताः। अनन्तरं तेन सा[2] दूती, गोपी च ग्रामाद्बहिर्निःसारिते। नापितश्च गृहं गतः। कुट्टनी दण्डिता। साधोश्च रत्नानि दापितानि। अतोऽहं ब्रवीमि—'स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा' इत्यादि।॥

[3]अथ स्वयं कृतोऽयं दोषः, अत्र विलपनं नोचितम्। (क्षणं विमृश्य-) मित्र! [4]यथाऽनयोः सौहार्दं मया कारितं, तथा मित्रभेदोऽपि[5] मया कार्यः'। यतः—

'अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्त्यतिपेशलाः[6]।
समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जनाः' ॥ १२६ ॥

र्तिताः = प्रार्थिताः। तेन=तेनाऽपराधेन। तेन धर्माधिकारिणा वा। स्वयङ्कृतः= आत्मना कृतः। विलपनं = परिदेवनम्। मया = दमनकेन।

अतथ्यानि = असत्यान्यपि वस्तूनि। तथ्यानि = तथ्यानीव। अतिपेशलाः = चतुराः। समे=अविषमेऽपि चित्रपटे। निम्नोन्नतानीव = पर्वतसागरादिप्रदेशानिव। चित्रकर्मविदः = चित्रकर्मकुशला दर्शयन्ति ॥ ११६ ॥

यह सब हाल सुनकर राजपुरुषों ने कचहरी में न्यायाध्यक्ष से जाकर कहा। इसके बाद न्यायाधीश की आज्ञा से वह दूती और गोपी तो गाँव के बाहर निकाल दी गई। और नाई छूटकर अपने घर चला गया। और कुट्टनी को राजदण्ड हुआ। और साहूकार कर का सब धन उससे वापिस मिल गया। इसीलिये मैं कहता हूँ कि—'स्वर्णरेखा को छूकर मैं' इत्यादि। सो अपना ही किया हुआ यह (सिंह और बैल की मित्रता कराना) यह दोष है। अतः अब इसमें रोना ठीक नहीं। (थोड़ी देर विचार कर) मित्र! जैसे मैंने बात की बात में सिंह-वृषभ इन दोनों में मित्रता कराई थी, वैसे ही मैं इनका मित्र भेद (मित्रों में फूट करना) भी करा सकता हूँ। क्योंकि—

चतुर लोग झूठ को भी सत्य करके दिखा सकते हैं। जैसे चित्र खींचने वाले चतुर मनुष्य सम धरातल पर भी (पहाड़ घर इत्यादि बनाकर) नीचा-ऊँचा प्रदेश दिखा देते हैं ॥ १२६ ॥

१ 'न्यायः प्रवर्त्तितः'। २ 'तेन नापितवधूर्मुण्डिता, गोपी शासिता, कुट्टनी दण्डिता, साधोर्धनानि च प्रदत्तानि'। ३ 'यतः स्वयं'। ४ 'सहसैव यथाऽनयोः'। ५ 'तथा भेदोऽपि'। ६ 'दर्शयन्ति हि पेशलाः'।

अपरञ्च—

'उत्पन्नेष्वपि कार्येषु मतिर्यस्य न हीयते ।
स निस्तरति दुर्गाणि, गोपी जारद्वयं यथा' ॥ ११७ ॥

करटकः पृच्छति—'कथमेतत्' ? । दमनकः कथयति—

(६) गोपीजारद्वयकथा ।

अस्ति द्वारवत्यां पुर्यां कस्यचिद् गोपस्य वधूर्बन्धकी । सा ग्रामस्य दण्डनायकेन, तत्पुत्रेण च [1]समं रमते । तथा चोक्तम्—

'नाऽग्निस्तृप्यति काष्ठानां, नाऽऽपगानां महोदधिः ।
नाऽन्तकः सर्वभूतानां, न पुंसां वामलोचनाः[2]' ॥ ११८ ॥

उत्पन्नेष्वपि = उत्थितेष्वपि । न हीयते=न विषीदति । निस्तरति = तरति । दुर्गाणि=विपदः । जारद्वयं=समकालसमागत-जारद्वयोत्थां समस्यां । विपदम् ॥ ११७ ॥

बन्धकी=असती । व्यभिचारिणी । ('छिनाल') । दण्डनायकेन = रक्षापुरुषाध्यक्षेण । ('कोतवाल ' या 'सेनापति') । समं = सह ।

काष्ठानाम् = इन्धनानाम् । 'इन्धनै'रिति यावत् । सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । आपगानां = नदीनां । नदीभिरिति यावत् । अन्तकः = यमः । पुंसां = पुरुषः । वामलोचनाः = मृगलोचनाः, स्त्रियः-न तृप्यन्ति ॥ ११८ ॥

और उत्पन्न (उपस्थित) कार्यों में जिसकी बुद्धि नष्ट नहीं होती है, (व्याकुल नहीं होती है), वही कठिनाइयों से पार होता है, जैसे वह ग्वालिन दो जारों (उपपति पुरुषों) से पार हुई थी ॥ ११७ ॥

करटक पूछने लगा—यह कथा कैसे है ? । दमनक कहने लगा—

द्वारवती (द्वारका) नगरी में किसी ग्वाले की बहू बड़ी कुलटा थी । वह एक साथ ही अपने नगर के दण्डनायक (कोतवाल) से और उसके पुत्र से भी रमण करती थी (उन दोनों से फँसी थी) ।

ऐसा ही कहा भी है—अग्नि की-काष्ठों से, समुद्र की-नदियों से, यमराज की-सब प्राणियों से, और स्त्रियों की अनेक पुरुषों से भी कभी तृप्ति नहीं होती है ॥ ११८ ॥

---

१ 'सह' । २ 'वामलोचना' ।

अन्यच्च—

'न दानेन, न मानेन, नाऽऽर्जवेन, न सेवया ।
न शस्त्रेण, न शास्त्रेण, सर्वथा विषमाः स्त्रियः' ॥११९॥

यतः—

'गुणाऽऽश्रयं, कीर्तियुतं च, कान्तं,
पतिं, रतिज्ञं, सधनं, युवानम् ।
विहाय, शीघ्रं वनिता व्रजन्ति
नराऽन्तरं शीलगुणाऽऽदिहीनम्' ॥ १२० ॥

अपरञ्च—

'न तादृशीं प्रीतिमुपैति नारी,
विचित्रशय्यां शयिताऽपि कामम् ।

न दानेन । 'गृह्यन्ते' इति शेषः । न मानेन । 'प्रसीदन्ती'ति शेषः । आर्जवेन =सरलतया । न=नैव । 'वशीभवन्ती'ति शेषः । अतएव विषमाः=दुर्ग्रहाः, कठिनाश्च ॥ ११९ ॥

गुणाऽऽश्रयं=गुणिनम् । कान्तं=मनोहरम् । रतिज्ञं=सुरतसङ्गरमल्लम् । नरा-न्तरं=परपुरुषम् । उपपतिम् ॥ १२० ॥

विचित्रशय्यां=विचित्रसुन्दरपर्यङ्के । शयिताऽपि=सुप्ताऽपि । शायिताऽपि च ।

और स्त्रियाँ—न तो दान से, और न मान से, न सरलता और सज्जनता से, और न सेवा से, न शस्त्र से, और न शास्त्र से ही वश में होती है, अतएव स्त्रियों की माया तो सब प्रकार से विषम (कठिन) ही होती है ॥ ११९ ॥

क्योंकि—गुणवान्, कीर्तिमान्, सुन्दर, रति के जानने वाले, धनवान् और जवान पति को भी छोड़कर स्त्रियाँ शील और गुणादि से रहित अन्य मनुष्यों के पास झट चली जाती हैं ॥ १२० ॥

और भी—अत्यन्त मृदु सुन्दर शय्या पर अच्छी तरह सुख पूर्वक सोई हुई भी स्त्री ऐसी प्रसन्न और सुखी नहीं होती है, जैसी कि घास, फूस, दूब आदि से

यथ हि दूर्वाऽऽदिविकीर्णभूमौ
प्रयाति सौख्यं परकान्तसङ्गात्' ॥ १२१ ॥

अथ [1]कदाचित्सा दण्डनायकपुत्रेण सह रममाणा तिष्ठति । [2]अथ दण्डनायकोऽपि रन्तुं तत्राऽऽगतः । तमायान्तं दृष्ट्वा, तत्पुत्रं कुशूले निक्षिप्य,[3] दण्डनायकेन सह तथैव क्रीडितवती । अनन्तरं तस्या भर्त्ता गोपो गोष्ठात्समागतः । तमालोक्य गोप्योक्तं—'दण्डनायक ! त्वं लगुडं गृहीत्वा, कोपं दर्शयन् सत्वरं गच्छ[4]' ।

[5]तथा तेनाऽनुष्ठिते, गोपेन गृहमागत्य, भार्या पृष्टा—'केन कार्येण दण्डनायकः [6]समागत्याऽत्र स्थितः' ? । सा ब्रूते—'अयं केनाऽपि

कामं = यथेच्छम् । दूर्वादिविकीर्णभूमौ = तृणाद्यास्तीर्णायां कठिनायां वनादिभूमौ । सौख्यं=सुखम् । परकान्तसङ्गात्=उपपतिसङ्गमात् ॥ १२१ ॥

सा=गोपी । रममाणा=सुरताऽऽसक्ता । कुशूले=धान्याऽऽवपने । ('ओवरी'ति' 'बखारी'ति च प्रसिद्धे) । तथैव = पूर्ववदेव सुरतक्रीडया । गोष्ठात् = गोस्थानकात् ।

युक्त ऊबड़-खाबड़ कण्टकाकीर्ण कठिन भूमि पर पराये पुरुष के साथ सोकर सुखी व प्रसन्न होती है ॥ १२१ ॥

कुछ काल के बाद एक दिन वह स्त्री दण्डनायक के पुत्र के साथ रमण कर रही थी, कि इतने में दण्डनायक भी उसके साथ रमण करने को उसके घर पर आगया । उसे आते देखकर उसने उसके पुत्र को अन्न की कोठली में छिपा दिया और स्वयं निर्भय हो दण्डनायक के साथ वैसे ही रति क्रीडा करने लगी । इतने में उसका पति ग्वाला भी गोशाला से घर आ गया । उसे आते देख कर उस गोपी ने कहा कि—'हे दण्डनायक ! आप लाठी हाथ में लेकर उसे पटकते हुए क्रोधमुद्रा में यहाँ से शीघ्र ही चले जाइये । सुनकर वह दण्डनायक (कोतवाल) तो क्रोध से लाठी पटकता हुआ, बड़बड़ाता हुआ, क्रोध करता हुआ शीघ्र ही वहाँ से चला गया । तब उस गोपी के पति ग्वाले ने घर आकर अपनी स्त्री से पूछा कि यह दण्डनायक यहाँ क्यों आया था ? । तब वह बोली कि—'यह अपने

१. 'अथ सा कदाचिद्दण्डनामकसुतेन' २ 'अत्रान्तरे' । ३ 'धृत्वा' । ४ 'याहि' । ५ तथाऽनुष्ठिते सति स गोपस्तत्रागत्य भार्यां पृष्टवान्' । ६ 'समागतोऽत्र' ।

[1]कारणेन पुत्रस्योपरि क्रुद्धः। स च पलायमानोऽत्राऽऽगत्य प्रविष्टो, मया कुशूले निक्षिप्य [2]रक्षितश्च। तत्पित्रा चाऽन्विष्यताऽत्र [3]गृहे न दृष्टः। [4]अत एवाऽयं (दण्डनायकः) क्रुद्ध एव गच्छति।'

ततः सा तत्पुत्रं कुशूलाद्बहिष्कृत्य[5] दर्शितवती। तथा चोक्तम्—

'आहारो द्विगुणः स्त्रीणां, बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा।
षड्गुणो व्यवसायश्च, कामश्चाऽष्टगुणः स्मृतः' ॥ १२२ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि—'उत्पन्नेष्वपि कार्येषु' इत्यादि ॥ ॐ ॥

करटको ब्रूते—'अस्त्वेवम्। किन्त्वनयोर्महानन्योन्यं नैसर्गिकः स्नेहः कथं भेदयितुं शक्यः'?। दमनको ब्रूते—'उपायः[6] क्रियताम्।' तथा चोक्तम्—

तासां = स्त्रीणाम्। व्यवसायः = व्यापारः ॥ १२२ ॥

पुत्र पर किसी कारण से क्रुद्ध हो गया है। इसलिये इसका पुत्र डर के मारे भागकर हमारे यहाँ आकर छिप गया था। और मैंने उसे अन्न की इस कोठली में छिपाकर किसी तरह बचा लिया है। इसके पिता ने ढूँढ़ने पर भी जब यहाँ उसको कहीं नहीं पाया तब यह दण्डनायक क्रुद्ध हो बड़बड़ाता हुआ चला गया है। ऐसा कहकर उस गोपी ने दण्डनायक के पुत्र को कोठली से बाहर निकाल कर दिखा दिया। और वह भी मौका पाकर अपने घर चला गया।

किसी ने कहा भी है—पुरुषों की अपेक्षा से स्त्रियों का भोजन दूना, बुद्धि चौगुनी, परिश्रम छः गुना और कामदेव आठ गुना अधिक होता है ॥ १२२ ॥

इसीलिये मैं कहता हूँ कि विषम कार्य उपस्थित होने पर भी जिसकी बुद्धि नष्ट नहीं होती है, वही संकट से पार होता है—इत्यादि। तब करटक बोला कि—ठीक है, परन्तु इन दोनों (सिंह-वृषभ) का एक दूसरे में स्वभाव से ही प्रेम उत्पन्न हो गया है, यह प्रेम कैसे टूट सकता है?। तब दमनक बोला कि—उपाय करना चाहिये। जैसे कहा भी है—

१. 'कार्येण'। २. 'रक्षितः'। ३ 'अत्र न दृष्टः'। ४ 'अतोऽयं कुपित एव गच्छति'। ५. 'दवतार्य दर्शितवती'। ६ 'उपायश्चिन्तनीयः'।

'उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः ।
[1]काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः' ॥ १२३ ॥

करटकः पृच्छति—'कथमेतत् ?'। दमनकः कथयति—

(काकी-कनकसूत्र-सर्पकथा) ।

कस्मिंश्चित्तरौ वायसदम्पती निवसतः । तयोश्चाऽपत्यानि तत्कोटराऽवस्थितेन कृष्णसर्पेण खादितानि । ततः पुनर्गर्भवती वायसी [2]वायसमाह—'नाथ ! त्यज्यतामयं तरुः । [3]अत्राऽवस्थितकृष्णसर्पेणाऽऽवयोः सन्ततिः सततं भक्ष्यते'। यतः—

'दुष्टा भार्या, शठं मित्रं, भृत्यश्चोत्तरदायकः ।
ससर्पे च गृहे वासो, मृत्युरेव न संशयः' ॥ १२४ ॥

नैसर्गिकः=सहजः, अकारणः । कनकसूत्रेण=स्वर्णदोरकाख्येनाऽलङ्कारेण, तदवलम्बेन ॥ १२३ ॥

तरौ=वृक्षे । वायसदम्पती=काकमिथुनम् । काकः, काकीच । वायसी=काकी । शठः=दुष्टः ॥ १२४ ॥

उपाय से जो हो सकता है, वह बल से नहीं हो सकता है, जैसे कौवी (कौवे की स्त्री) ने सोने के डोरे (आभूषण) के अवलम्ब से एक भयङ्कर काले साँप को मार डाला था ॥ १२३ ॥

करटक ने पूछा कि—यह कथा कैसे है ? । दमनक कहने लगा—

किसी वृक्ष पर एक कौवा अपनी स्त्री के साथ रहता था । उसके बच्चों को उसी वृक्ष के खोखले में रहने वाला काला सर्प खा जाता था । तब वह कौवी जब पुनः गर्भवती हुई तो अपने पति उस कौवे से बोली कि—हे नाथ ! इस वृक्ष को छोड़ दीजिये, क्योंकि इसमें रहने वाला काला साँप हम दोनों की सन्तान को सदा खा जाता है ।

क्योंकि—दुष्ट (खोटी) स्त्री, मूर्ख मित्र, उत्तर देनेवाला सेवक (नौकर)

---

१. 'काकः कनकसूत्रेण कृष्णसर्पमघातयत् ।' इति पा० । २. 'वायसी ब्रूते' । ३. 'अत्र यावत्कृष्णसर्पस्तावदावयोः सन्ततिः कदाचिदपि न भविष्यति' ।

वायसो ब्रूते—'प्रिये ! न भेतव्यं, वारं वारं मयैतस्य [1]महानपराधः सोढः, इदानीं पुनर्न क्षन्तव्यः।' वायस्याह—'कथमेतेन बलवता [2]कृष्ण-सर्पेण सार्धं भवान्विग्रहीतुं समर्थः ? ।' वायसो ब्रूते—'अलमनया [3]शङ्कया । यतः—

'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ? ।
पश्य सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः' ॥ १२५ ॥

वायसी [4]विहस्याह—'कथमेतत् ? । वायसः कथयति—

(८) मदोन्मत्तसिंह-शशक-कथा ।

अस्ति मन्दरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम सिंहः । स च सर्वदा पशूनां वधं कुर्वन्नास्ते । ततः सर्वैः पशुभिर्मिलित्वा[5] स सिंहो विज्ञप्तः—'मृगेन्द्र[6] !

एतस्य=सर्पस्य । विग्रहीतुं=योद्धुम् । मदोन्मत्तः=बलदर्पितः । निपातितः=हतः ॥ १२५ ॥

और साँप वाले घर में निवास, ये सब साक्षात् मृत्युरूप ही हैं, इसमें सन्देह नहीं है ॥ १२४ ॥

तब वह कौवा बोला कि—'प्यारी ! तुम डरो मत, बारंवार मैंने इस दुष्ट सर्प के बहुत अपराध सहे, पर अब फिर नहीं सहूँगा । तब वह कौवे की स्त्री बोली कि—इस बली साँप के साथ आप कैसे लड़ सकते हैं ? । कौआ बोला कि—तुम यह शङ्का मत करो । क्योंकि—जिसके पास बुद्धि है, वही सच्चा बलवान् है, निर्बुद्धि को बल कहाँ से हो सकता है ? देखो, मद से मत्त सिंह को भी एक छोटे से खरगोश ने मार डाला था ॥ १२५ ॥

तब वह कौवे की स्त्री (हँस कर) बोली कि—'यह कथा कैसे है ?' । कौवा कहने लगा कि—

मन्दराचल (मन्दरगिरि) पर दुर्दान्त नाम का सिंह रहता था । वह सदा पशुओं का निरर्थक ही वध करता रहता था । तब एक दिन सब पशुओं ने मिल

१. 'महापराधः' । २. 'कश्चिन्न' । ३. 'चिन्तया' । ४. 'वायस्याह' पा० । ५. 'मेलकं कृत्वा' पा० । ६. 'देव' ।

किमर्थमेकदा[1] बहुपशुघातः क्रियते। यदि प्रसादो भवति, तदा वयमेव भवदाहाराय प्रत्यहमेकैकं पशुमुपढौकयामः।' ततः सिंहेनोक्तं—'यद्येतदभिमतं भवतां, तर्हि भवतु तत्'। ततः [2]प्रभृत्येकैकं पशुमुपकल्पितं भक्षयन्नास्ते। अथ कदाचित्कस्याऽपि वृद्धशशकस्य वारः [3]समायातः। ततः सोऽचिन्तयत्—

'त्रासहेतोर्विनीतिस्तु क्रियते जीविताऽऽशया।
पञ्चत्वं चेद् गमिष्यामि, किं सिंहाऽनुनयेन मे'? ॥१२६॥

तन्मन्दं-मन्दं [4]गच्छामि।' ततः सिंहोऽपि क्षुधापीडितः कोपात्तमु-

पाठान्तरे मेलकं कृत्वा=सङ्गमं कृत्वा। समूहं विधाय। (मिलकर, इकट्ठे होकर)। प्रसादः = कृपा। उपढौकयामः=उपहरामः। प्रेषयामः। अभिमतम्=अभीष्टम्। उपकल्पितं=प्रेषितं, निश्चितं वा। वारः=पर्यायः। ('वारी' 'पारी')। त्रासहेतोः= भयप्रदस्य सिंहादेः। विनीतिः = नम्रता, प्रार्थना। विनयश्च। पञ्चत्वं = मृत्युम्। सिंहानुनयेन = सिंहप्रार्थनया। 'सिंहो बुभुक्षितोऽस्ति, अतः शीघ्रं मया गन्तव्य'-मित्यादि सिंहसौख्यचिन्तया च मम किम् ॥ १२६ ॥

मन्दं मन्दं=शनैः शनैः। तं = वृद्धशशकम्। अपराधी = कृतापराधः।

कर उस सिंह से जाकर कहा कि—हे मृगेन्द्र! आप एक समय में ही बहुत से पशुओं को क्यों मारते हैं?। यदि प्रसन्न हों, तो हम लोग ही आपके भोजन के लिये स्वेच्छा से प्रतिदिन एक एक पशु आपको भेज दिया करें। यह सुन कर वह सिंह बोला कि—जो तुम लोगों की यही इच्छा है, तो ऐसा ही हो। तब से उसके पास प्रति दिन एक २ पशु आने लगा और वह भी पास में आये हुए एक ही पशु को खाकर रहने लगा। एक दिन एक बूढ़े खरगोश की बारी आई, तब वह मन ही मन विचार करने लगा कि—

भय के हेतु सिंह आदि की विनति अपने जीने की आशा से ही की जाती है। यदि मुझे मरना ही है, तो मुझे सिंह की विनति (खुशामद) से भी क्या प्रयोजन है?' ॥ १२६ ॥

इसलिये मैं तो धीरे २ जाऊँगा। जल्दी क्या है?। इस प्रकार वह खरगोश

१. 'सर्वपशुवधः क्रियते'। २. 'प्रभृति प्रत्यहमेकैकं'। ३. 'प्राप्तः'। ४. 'मुपगच्छामि'।

वाच-'कुतस्त्वं विलम्ब्य[1] समागतोऽसि ? ।' शशकोऽब्रवीत्-'देव ! [2]नाऽहमपराधी, आगच्छन्पथि सिंहाऽन्तरेण बलाद्धृतः । तस्याऽग्रे पुनरागमनाय शपथं कृत्वा स्वामिनं निवेदयितुमत्राऽऽगतोऽस्मि' ।

सिंहः सकोपमाह-'सत्वरं गत्वा[3] (तं) दुरात्मानं मां दर्शय, क स दुरात्मा तिष्ठति ? ।' ततः शशकस्तं गृहीत्वा [4]गभीरकूपं दर्शयितुं गतः । तत्राऽऽगत्य 'स्वयमेव पश्यतु स्वामी'त्युक्त्वा तस्मिन्कूपजले तस्य सिंहस्यैव प्रतिबिम्बं दर्शितवान् । ततोऽसौ [5]दर्पाऽऽध्मातो दर्पात्तस्योपर्यात्मानं निक्षिप्य, पञ्चत्वं गतः' । अतोऽहं ब्रवीमि-'बुद्धिर्यस्ये'त्यादि ॥ * ॥

वायस्याह-'श्रुतं मया सर्वम् । सम्प्रति यथा कर्त्तव्यं तद् ब्रूहि' । वायसोऽवदत्—'अत्राऽऽसन्ने सरसि राजपुत्रः प्रत्यहमागत्य स्नाति । स्नान-

सिंहान्तरेण=अन्येन बलवता केनापि सिंहेन । असौ=स सिंहः । तस्यैव=सिंहस्यैव । दर्पाध्मातः = क्रोधान्धः ।

सिंह के पास बहुत देर करके पहुँचा । तब भूख से दुःखी होकर सिंह ने भी क्रोध कर उससे कहा कि—अरे ! तूं देर करके क्यों आया ? । खरगोश बोला कि—हे प्रभो ! इसमें मैं अपराधी नहीं हूँ । रास्ते में आते हुए मुझे एक दूसरे सिंह ने बलात्कार से पकड़ लिया था । उसके आगे फिर आने की शपथ (कसम) खा कर के ही मैं आपके निवेदन करने आया हूँ ।

तब वह सिंह क्रोध में भरकर बोला कि—शीघ्र चल, उस दुष्ट को मुझे दिखा, वह दुष्ट कहाँ रहता है ? । तब वह खरगोश एक गहरे कुएँ को दिखाने के लिये उस सिंह को ले चला । और कूएँ के पास पहुँच कर बोला कि—महाराज, आप स्वयं उसको कूएँ में बैठे हुये को देख सकते हैं । यह कह उस कुएँ के पानी में उसी सिंह की छाया दिखा दी । उसी समय वह सिंह क्रोध से भयङ्कर शब्द करता हुआ बड़े अभिमान से उस कूएँ के भीतर कूद पड़ा और इस प्रकार वह कूएँ में गिर कर मर गया । इसी से मैं कहता हूँ कि—जिसे बुद्धि है, वही बलवान् भी है—इत्यादि ।

तब वह कौवे की स्त्री बोली कि—मैंने ये सब बातें तुम्हारी सुनी, परन्तु अब जो करना चाहिये, सो कहो । तब कौवा बोला कि—पास ही के इस सरोवर में

१. 'विलम्बादागतोऽसि' । २. 'अपराद्धः' । ३. 'गत्वा मां दर्शय क्वासौ दुरात्मा' । ४. 'गभीरकूपसमीपमागतः' । ५. 'क्रोधाध्मातः' ।

समये तदङ्गादवतारितं तीर्थशिलानिहितं कनकसूत्रं चञ्च्वा विधृत्याऽऽनीयाऽस्मिन्कोटरे धारयिष्यसि ।'

अथ कदाचित्कनकसूत्रं दृषदि संस्थाप्य, स्नातुं [1]जलं प्रविष्टे राजपुत्रे, वायस्या तदनुष्ठितम् । अथ कनकसूत्राऽनुसरणप्रवृत्तै राजपुरुषैस्तत्र तरुकोटरे कृष्णसर्पो दृष्टो, व्यापादितश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—'उपायेन हि यच्छक्यम्' इत्यादि ॥ ❀ ॥

करटको ब्रूते–'यद्येवं [2]तर्हि गच्छ, शिवास्ते सन्तु पन्थानः ।' ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा, प्रणम्योवाच—'देव ! [3]आत्ययिकं किमपि महाभयकारि कार्यं मन्यमानः समागतोऽस्मि' । यतः—

यथा=यत्कर्म कृत्वा तद्वधं चिकीर्षसि । तीर्थशिलानिहितं=सोपानप्रस्तरस्थापितम् । 'तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु । योनौ जलावतारे चे'ति कोशः । दृषदि=तीर्थप्रस्तरखण्डे । कनकसूत्राऽनुसरणप्रवृत्तैः=स्वर्णदोरकगवेषणपरैः । राजपुरुषैः=राजानुचरैः । (सिपाही) । (निरूप्यमाणः=दृष्टः) । व्यापादितः=हतः ।

शिवाः=शुभाः । अत्याहितं=महद्भयम् । 'अत्याहितं महाभीति'रित्यमरः ।

एक राजा का पुत्र प्रतिदिन स्नान करने आता है । नहाने के समय उसके शरीर से उतार कर सीढ़ी पर रक्खा हुआ सोने का डोरा (हार) तूँ अपनी चोंच से लाकर इस खोखले में डाल देना । तब एक दिन सोने के हार को गले से उतार कर पत्थर पर रख कर स्नान के लिये राजकुमार के जल में घुसने पर कौवे की की स्त्री ने वैसा ही किया । फिर सोने के हार को खोजने के लिये गए हुए राजपुरुषों (सिपाहियों) ने उस वृक्ष के खोखले (गड्हे) में उस काले साँप को बैठा हुआ देखा और उसे मार डाला । इस लिये मैं कहता हूँ कि—जो उपाय से हो सकता है, सो बल से नहीं हो सकता है—इत्यादि ।

तब करटक बोला कि—यदि यह बात है, तो तुम जाओ, तुम्हारा मार्ग सुखदायी हो । उसके उपरान्त वह दमनक राजा पिङ्गलक के पास जाकर प्रणाम कर बोला कि—हे देव ! मैं किसी अत्यावश्यक बड़े भयङ्कर कार्य को समझ कर उससे आप को सावधान करने के लिये आया हूँ ।

१. 'जले' पा० । २. 'तदा' । ३. 'अत्याहितं मन्यमानो निवेदयितुमागतः' ।

'आपद्युन्मार्गगमने, कार्यकालाऽत्ययेषु च ।
कल्याणवचनं ब्रूयादपृष्टोऽपि हितो नरः' ॥ १२७ ॥

अन्यच्च—

'भोगस्य भाजनं राजा, [1]न राजा कार्यभाजनम् ।
[2]राजकार्यपरिध्वंसे मन्त्री दोषेण लिप्यते' ॥ १२८ ॥

तथा हि पश्य, अमात्यानामेष क्रमः—

'वरं प्राणपरित्यागः, शिरसो वाऽपि कर्त्तनम् ।
न तु स्वामिपदाऽऽवाप्तिपातकेच्छोरुपेक्षणम्' ॥ १२९ ॥

आपदि=विपत्तौ । उन्मार्गगमने=राज्ञः कुमार्गगमने । कार्यकालस्य अत्यये=उल्लङ्घने । कल्याणवचनं=हितवाक्यम् ॥ १२७ ॥

भोगस्य=सुखस्य । भाजनं=पात्रम् । राजकार्यपरिध्वंसे=राजकार्यविनाशे । पाठान्तरे–राजकार्यपरिध्वंसी=राजकार्यविनाशकः ॥ १२८ ॥

क्रमः=परिपाटी । (ढङ्ग) । स्वामिपदस्य=राज्यादेः, अवाप्तिः=अभिलाषः, प्राप्तिर्वा,–सैव पातकं, तस्य इच्छोः=अभिलाषवतो, राजद्रोहिणः, उपेक्षणम्=

क्योंकि—आपत्ति के समय, स्वामी के बुरे रास्ते में जाने पर, और अवश्य कर्त्तव्य कार्य का काल बीतते देखकर हितकारी मनुष्य को चाहिये कि वह स्वामी के विना पूछे भी उसे कल्याणकारी वचन कहै ॥ १२७ ॥

और–राजा तो सुख-भोग का ही पात्र होता है, कार्य करने का पात्र नहीं । यदि राजा के किसी कार्य की हानि होती हो तो मन्त्री ही उसका उत्तरदायी होता है । अर्थात् राजकार्य यदि बिगड़ता है, तो उसका दोष मन्त्री पर ही है ॥१२८॥

और भी देखिए, मन्त्रियों का तो यही कार्य करने का क्रम (तरीका, सिद्धान्त) है; कि—वे अपने प्राणों को त्याग देना (मर जाना) कहीं अच्छा समझते हैं, अपने शिरको भी कटवाना पड़े तो भी वे उसे अच्छा समझते हैं, परन्तु राजा के

१. 'मन्त्री कार्यस्य भाजनम्' । २. 'राजकार्यपरिध्वंसी' पा० ।

पिङ्गलकः साऽऽदरमाह[1]—'अथ भवान्किं वक्तुमिच्छति ?'। दमनको [2]ब्रूते—'देव ! [3]अयन्तावत्सञ्जीवकस्तवोपर्यसदृशव्यवहारीव लक्ष्यते। तथा चाऽस्मत्सन्निधाने श्रीमद्देवपादानां[4] शक्तित्रयनिन्दां कृत्वा, राज्यमेवाऽभिलषति। एतच्छ्रुत्वा पिङ्गलकः सभयं, साश्चर्यं ([5]मत्वा) तूष्णीं स्थितः। दमनकः पुनराह—'देव ! सर्वाऽमात्यपरित्यागं कृत्वैक एवाऽयं यत्त्वया सर्वाऽधिकारे[6] नियुक्तः स एव महान् दोषः। यतः—

'अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि, पार्थिवे च,
विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः।

अनिरासः। न तु=नैव। 'वर'मिति शेषः॥ १२६॥ असदृशव्यवहारीव=अनुचिताऽऽचार इव। विकृत इव। लक्ष्यते=दृश्यते। श्रीमद्देवपादानां = भवताम्। पाठान्तरे—स्वामिनः = भवतः। शक्तित्रयनिन्दां = प्रभावोत्साहमन्त्रशक्तित्रयगर्हणम्। प्रभुत्वनिन्दाम्।

तूष्णीं = मौनम्। देव = राजन्। अयं=सञ्जीवकः॥ अत्युच्छ्रिते=अत्युन्नते, महाप्रभावे च। पादौ विष्टभ्य = चरणौ निधाय। पादाग्रोपष्टम्भेन। उपतिष्ठते =

सिंहासन पर अधिकार करने के इच्छुक राजद्रोही की उपेक्षा करना, उसे विना दण्ड दिए ही छोड़ देना—वे कभी अच्छा नहीं समझते हैं॥ १२६॥

तब पिङ्गलक आदर और स्नेहपूर्वक बोला कि—अच्छा तो तुम कहना क्या चाहते हो ?। तब वह दमनक बोला कि—हे महाराज ! यह सञ्जीवक बैल आपका अनिष्ट करना चाहता है, और आपके ऊपर दुर्भाव रखता है, ऐसा मेरे को मालूम होता है। क्यों कि मेरे सामने यह आपके प्रताप, बल और पुरुषार्थ आदि की निन्दा करता था, इसी से यह स्पष्ट है कि वह आपका राज ही ले लेना चाहता है।

यह सुन कर पिङ्गलक भयभीत हो, अचरज सा मान कर चुप हो रहा। दमनक फिर बोला कि—हे देव ! सब मन्त्रियों को छोड़ कर, आपने जो एक इसीको सब कार्यों का अधिकारी बना दिया है, यही दोष है, जिससे इस बैल को इतना घमण्ड हो गया है।

क्योंकि—राजलक्ष्मी—राज्य के प्रधान और अत्युच्च स्तम्भ स्वरूप राजा और प्रधान मन्त्री इन दोनों का ही आश्रय लेकर उनके सहारे पर खड़ी होती है। अर्थात्

१. 'ब्रूते'। २. 'आह'। ३. 'सञ्जीवकः'। ४. 'स्वामिनः'। ५. क्वाचित्कः पाठः'। ६. 'विकारी कृतः, स एव दोषः'।

सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य,
तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति' ॥१३०॥

अपरञ्च—

'एकं भूमिपतिः करोति सचिवं राज्ये प्रमाणं यदा,
तं मोहाच्छ्रयते मदः, स च[1] मदाद्दास्येन निर्विद्यते ।
निर्विण्णस्य[2] पदं करोति हृदये तस्य स्वतन्त्रस्पृहा,
स्वातन्त्र्यस्पृहया ततः स नृपतेः[3] प्राणान्तिकं द्रुह्यति' ॥

सन्तिष्ठते । सेवते च । परन्तु सा = लक्ष्मीः, स्त्रीस्वभावात्=स्त्रीजनोचितमार्दवात् । भरस्य = उभयोपासनारूपभारस्य । असहा=तं भारं सोढुमसमर्था सती । तयोर्द्वयोर्मध्ये एकतरम् = एकं, राजानममात्यं वा । जहाति = त्यजति । अन्योऽपि उच्चैः स्थितं वस्तु प्रार्थयमानः पादाग्रयोर्भरं दत्वोत्तिष्ठते ॥ १३० ॥

तं = मन्त्रिणम् । मोहात् = अभिमानात्, मदः = गर्वः, मदाद्दास्येन = मदात्-राजसेवया । 'मदादल्पेन निर्विद्यते' इति, निर्भिद्यते' इति वा केचित् पठन्ति । पाठान्तरे अल्पेन = स्वल्पेनाऽपि हेतुना, निर्भिद्यते=भिन्नचित्तो भवति । अन्तर्विरुध्यते—इति च तदर्थः । निर्विद्यते इति पाठे-खिन्नो भवति । स्वल्पेनाधिकारेण न तुष्यति, किन्तु राज्यमेवेच्छतीत्यर्थः ।'निर्भिन्नस्य=विरक्तस्य । निर्विण्णस्य=खिन्नस्ये'ति पाठान्तरेऽर्थः ।

राजा और मन्त्री- इन दोनों को अपना आश्रय बनाती है । और इनके सहारे पर ही वह स्थित होती है । परन्तु फिर वह स्त्रीस्वभाव से उन दोनों के बोझ को एक साथ नहीं सह सकने के कारण उन दोनों में से एक को छोड़ देती है ॥ १३० ॥

और भी—जब राजा राज्य में एक ही मन्त्री को प्रमाण (प्रधान) करता है, तब उस मन्त्री को मोह हो जाता है, और मोह से उसे मद हो जाता है । और वह मदान्धता के कारण पराधीनता से खिन्न हो जाता है । और दास्यसे निर्वेद और मद से युक्त होने से उसके हृदय में स्वतन्त्र होने की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है,

१. 'मदालस्येन निर्भिद्यते', 'मदादल्पेन निर्विद्यते' इति पा. । २. 'निर्विण्णस्य' । ३. 'प्राणेष्वपि द्रुह्यती'ति गौडाः पठन्ति ।

[1]अन्यच्च—

'विषदिग्धस्य भक्तस्य, दन्तस्य चलितस्य च ।
अमात्यस्य च दुष्टस्य, मूलादुद्धरणं सुखम्' ॥ १३२ ॥

किञ्च—

'यः कुर्यात्सचिवाऽऽयत्तां श्रियं, तद्व्यसने सति ।
सोऽन्धवज्जगतीपालः सीदेत्सञ्चारकैर्विना' ॥ १३३ ॥

स च सर्वकार्येषु स्वेच्छातः प्रवर्त्तते । तदत्र स्वामी प्रमाणम् । एतच्च [2]जानामि कार्यतः । ([3]यतः—)

विषदिग्धस्य=विषसंसृष्टस्य । भक्तस्य = ओदनस्य । चलितस्य=श्लथबन्धनस्य । स्वतन्त्रस्पृहा=स्वातन्त्र्येच्छा । पदं = स्थानम् । प्राणेष्वपि = जीवितेऽपि । राजानं जिघांसतीत्यर्थः ॥ १३१ ॥ उद्धरणम् = उत्पाटनमेव ॥ १३२ ॥

सचिवायत्ताम् = अमात्याधीनाम् । तद्व्यसने = अमात्यविपत्तौ, अमात्ये दुष्टे सति । जगतीपालः = राजा । सीदेत् = दुःखमनुभवेत् । सञ्चारकैः=भृत्यैः ॥१३३॥

फिर स्वतन्त्र होने की इच्छा से वह मन्त्री उस राजा के प्राणों से भी द्रोह करने लगता है । अर्थात् राजा को मार डालना चाहता है ॥ १३१ ॥

और—विष से सने हुए अन्न को, हिलते हुए दाँत को, तथा दुष्ट मन्त्री को जड़ से उखाड़ देना ही सुखदायी होता है ॥ १३२ ॥

और भी—जो राजा अपनी राज लक्ष्मी को सचिवों के अधीन कर देता है, वह राजा उन मन्त्रियों के न रहने पर, या उनके बिगड़ जाने पर अन्धे के समान ही विना सहायक के दुःख पाता है ॥ १३३ ॥

और वह (संजीवक) सभी कार्यों को अपनी इच्छा से ही करता है । आप से पूछता तक नहीं है । सो इस विषय में अब आप ही प्रमाण हैं । अर्थात्-जैसा आपको अच्छा लगे, वैसा ही प्रतीकार (उपाय) करें । और मैं इस बात को कार्य से जानता हूँ ।

१. 'तथा चोक्तं' । २. एतच्चाऽहं जानामि कार्यतः' । ३. 'क्वचिदपि नास्ति' ।

'न सोऽस्ति पुरुषो लोके यो न कामयते श्रियम् ।
परस्य युवतीं रम्यां 'साऽऽदरं नेक्षतेऽत्र कः' ? ॥१३४॥

सिंहो विमृश्याऽऽह—'भद्र ! यद्यप्येवं, तथापि सञ्जीवकेन सह मम महान् स्नेहः' । पश्य—

'कुर्वन्नपि व्यलीकानि, यः प्रियः प्रिय एव सः ।
अशेषदोषदुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः' ? ॥ १३५ ॥

अन्यच्च—

'अप्रियाण्यपि कुर्वाणो यः प्रियः प्रिय एव सः ।
दग्धमन्दिरसारेऽपि कस्य वह्नावनादरः' ? ॥ १३६ ॥

स च=सञ्जीवकश्च । प्रमाणं = निर्णायकः । कामयते = इच्छति । सादरं = साभिलाषम् ॥१३४॥ एवं = यथा त्वं वदसि तथैव । यद्यपि त्वं युक्तं कथयसि।

व्यलीकानि=अपराधान् (व्यलीक=बिगाड़) । अशेषेति । निखिलदोषाऽऽलयोऽपि । कायः = शरीरम् । वल्लभः = प्रियः ॥ १३५ ॥

दग्धेति । दग्धो मन्दिरस्य=गृहस्य, सारः =धनं-येन, तस्मिन्नपि वह्नौ, कस्य अनादरो भवतीत्यर्थः । दग्धं मन्दिरं, सारश्च येनेति, दग्धो मन्दिरसारो येनेति

क्योंकि—संसार में ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है, जो लक्ष्मी की इच्छा नहीं करता हो । देखो, दूसरे की जवान सुन्दर स्त्री को इस संसार में कौन पुरुष चाहसे नहीं देखता है ? ॥ १३४ ॥

तब वह सिंह विचार कर बोला, कि—हे भद्र ! यद्यपि तुम्हारा कहना बहुत ठीक है, तथापि सञ्जीवक से तो मेरा बहुत स्नेह हो गया है ।

देखो-यद्यपि वह अनिष्ट, अप्रिय, अननुकूल एवं अरुचिकर (बुरे) काम करे तथापि जो प्यारा है, वह प्यारा ही रहता है । क्योंकि सब दोषों से दूषित रहने पर भी अपना शरीर किसे प्यारा नहीं होता है ? ॥ १३५ ॥

और भी-अप्रिय कार्यों को करने वाला भी जो प्यारा है, वह प्यारा ही रहता

१. 'साकाङ्क्षं' । 'सादरं वीक्षते न कः' ।

[1]दमनकः पुनरेवाह—'देव ! स एवाऽतिदोषः' । यतः—

[2]'यस्मिन्नेवाऽधिकं चक्षुरारोपयति पार्थिवः ।
सुतेऽमात्येऽप्युदासीने, स लक्ष्म्याऽऽश्रीयते जनः' ॥ १३७ ॥

शृणु देव !

'अप्रियस्याऽपि पथ्यस्य परिणामः सुखाऽऽवहः ।
वक्ता, श्रोता च यत्राऽऽस्ते रमन्ते तत्र सम्पदः' ॥ १३८ ॥

त्वया च मूलभृत्यानपास्याऽयमागन्तुकः पुरस्कृतः । एतच्चाऽनुचितं कृतम् । यतः—

वा विग्रहः । मन्दिरसारः=उत्कृष्टगृहमिति वा ॥ १३६ ॥

स एव=अतिस्नेह एव । यस्मिन्निति । पार्थिवः=राजा । यत्र जने स्नेहार्द्रां दृष्टिं निक्षिपति, स एव लक्ष्मीवान् भवतीत्यर्थः । उदासीने=यस्मिन् कस्मिंश्चिदपि जने ॥ १३७ ॥ अप्रियस्यापि=अनभीष्टस्यापि, पथ्यस्य=हितकारिणो वाक्यस्य, वक्ता, श्रोता च यत्राऽस्ति तत्र सर्वाः सम्पदो रमन्ते, सुखाऽऽवहश्च परिणामो भवतीत्यन्वयः ॥ १३८ ॥

है । जैसे घरमें आग लगने पर घर की सारी बहुमूल्य वस्तु जलाने वाली भी अग्नि का कौन निरादर करता है ? । कोई नहीं ॥ १३६ ॥

तब दमनक फिर बोला–महाराज यही (शत्रु पर स्नेह करना ही) तो बड़ा दोष है।

क्योंकि—राजा जिस-पुत्र या मन्त्री या किसी उदासीन—को भी जब बहुत मानता है, तब राज लक्ष्मी भी उस मनुष्य के पास ही चली जाती है ॥१३७॥

और भी महाराज ! सुनिये, पथ्य बात यद्यपि अप्रिय हो तो भी उसका परिणाम (नतीजा) सुखदायी ही होता है, क्योंकि—जहाँ अप्रिय पर पथ्य (हितकर वचन) का कहने वाला व सुनने वाला होता है, वहाँ सभी सम्पत्तियाँ रमण करती है ॥ १३८ ॥

१. 'दमनको वदति' । २. 'साकाङ्क्षमधिकं चक्षु' पा० । 'साकाङ्क्षं, सस्पृहं चक्षु' रिति तु गौडाः ।

[1]'मूलभृत्यान्परित्यज्य नाऽऽगन्तून्प्रतिमानयेत् ।
नाऽतः परतरो दोषो राज्यभेदकरो यतः' ॥ १३९ ॥

सिंहो ब्रूते-'महदाश्चर्यम् । [2]मया यदभयवाचं दत्त्वाऽऽनीतः, संवर्द्धितश्च, तत्कथं मह्यं द्रुह्यति' ? । दमनको ब्रूते—देव !

'दुर्जनो नाऽऽर्जवं याति सेव्यमानोऽपि नित्यशः ।
स्वेदनाऽभ्यञ्जनोपायैः श्वपुच्छमिव नामितम्' ॥ १४० ॥

मूलभृत्यान्=वंशक्रमागताननुजीविनः । अपास्य=परित्यज्य । आगन्तुकः=यदृच्छागतोऽपरिचितः सञ्जीवको वृषभः । पुरस्कृतः=अधिकारे स्थापितः । न प्रतिमानयेत्=न पुरस्कुर्यात् । अतः=आगन्तुसत्कारात् ॥१३९॥ आर्जवं=सरलतां, सज्जनताञ्च। स्वेदनं=वह्निजलोष्मसंयोगादिना संस्वेदनम् । अभ्यञ्जनं=तैलादिलापनम्। उपायाः=नलिकाभ्यन्तरस्थापनादिरूपाः । तैर्नामितमपि श्वपुच्छं पुनरपि वक्रतामेव यातीत्याशयः ॥ १४० ॥

और आपने जो अपने वंश परम्परागत पुराने सेवकों को छोड़ कर इस नये आये हुए संजीवक वृषभ का सम्मान करके इसे ही अधिकारी बनाया है, यह बहुत ही अनुचित किया है ।

क्योंकि—अपने परम्परागत पुराने सेवकों को छोड़ कर नये आये हुओं का कभी सत्कार और मान नहीं करना चाहिये । क्योंकि इससे बढ़कर और कोई दोष राज्य में जबरदस्त फूट कराने वाला नहीं होता है ॥ १३९ ॥

तब सिंह बोला—बड़े आश्चर्य की बात है, इसे तो मैंने अभय वचन देकर बुलाया है, और पाला है, यह मुझसे कैसे वैर करने लगा? । दमनक बोला हे देव!

प्रेम से सदा सेवा किया गया भी दुर्जन कभी सीधा और सरल नहीं होता है, जैसी कुत्ते की टेढ़ी पोंछ को सेकने से तथा तेल आदि मल कर सीधी करने से भी वह कभी सीधी नहीं होती है ॥ १४७ ॥

१. 'मूलभृत्याऽपराधेन नाऽऽगन्तून् प्रतिपालयेत्' २. 'यन्मयाऽयमभय'

अपरञ्च—

'स्वेदितो, मर्दितश्चैव, रज्जुभिः परिवेष्टितः ।
मुक्तो द्वादशभिर्वर्षैः श्वपुच्छः प्रकृतिं गतः' ॥ १४१ ॥

अन्यच्च—

'वर्धनं [1]वाऽथ संमानः खलानां प्रीतये कुतः ? ।
फलन्त्यमृतसेकेऽपि न पथ्यानि विषद्रुमाः' ॥ १४२ ॥

पश्य—

'यः स्वभावो हि यस्याऽस्ति स तेन दुरतिक्रमः ।
श्वा यदि क्रियते राजा, स किं नाऽश्नात्युपानहम्' ? ॥१४३॥

मुक्तः=द्वादशवर्षानन्तरमपि बन्धनान्मुक्तश्चेत्कुटिलतामेव श्वपुच्छो धत्ते इत्यर्थः ॥ १४१ ॥

वर्धनं=पालनम् । खलानां=दुष्टानां, अमृतसेकेऽपि=दुग्धादिमधुररससेकेऽपि । विषद्रुमाः पथ्यानि—अमृतफलानि न फलन्ति, किन्तु विषफलान्येव ते फलन्तीत्यर्थः ॥ १४२ ॥

और—सेकी गई, तपाई गई, मली गई और और रस्सियों से लपेट कर बाँधी गई और फिर बारह वर्ष में भी खोली गई भी कुत्ते की टेढ़ी पूँछ अपने स्वभाव को नहीं बदलती है, किन्तु वह पुनः टेढ़ी ही हो जाती है ॥ १४१ ॥

और भी—दुष्टों को धन आदि देकर बढ़ाना, अथवा उनका सम्मान करना उनको तृप्तिकारक कैसे हो सकता है ?, जैसे अमृत से सींचने पर भी विष के वृक्ष में कभी मीठे और हितकारी फल नहीं लग सकते हैं ॥ १४२ ॥

देखो—जिसका जो स्वभाव होता है, वह उससे कभी नहीं छूटता है । क्योंकि कुत्ते को यदि राजा भी बना दिया जाए, तो भी वह क्या सूखी जूतियाँ खाना और सूखी हड्डियाँ चबाना छोड़ देता है ? । कभी नहीं ॥ १४३ ॥

१. 'स्वाथ' ।

अतोऽहं ब्रवीमि—

'अपृष्टोऽपि हितं ब्रूयाद्यस्य नेच्छेत्पराभवम् ।
एष एव सतां धर्मो, विपरीतमतोऽन्यथा' ॥ १४४ ॥

तथा चोक्तं—

'स स्निग्धोऽकुशलान्निवारयति यस्तत्कर्म यन्निर्मलं,
सा स्त्री याऽनुविधायिनी, स मतिमान् यः सद्भिरभ्यर्च्यते ।
सा श्रीर्या न मदं करोति, स सुखी यस्तृष्णया मुच्यते,
तन्मित्रं यदकृत्रिमं, स पुरुषो यः खिद्यते नेन्द्रियैः' ॥१४५॥

यदि सञ्जीवकव्यसनाद् इतो विज्ञापितोऽपि स्वामी न निवर्त्तते,

अतोऽहं ब्रवीमीति । यतोहि अपृष्टेनाऽपि हितैषिणा हितवाक्यं वक्तव्यमिति सतां धर्मः, अतोऽहमपृष्टोऽपि ब्रवीमीत्यन्वयः । अतोऽन्यथा = अवसरेऽपि हिताऽनुक्तिः । विपरीतम् = असन्मार्गः ॥ १४४ ॥

स्निग्धः=सुहृत् । अकुशलात् = पराभवात्, हानेः । निर्मलं = निर्दोषम् । अनुविधायिनी=वशंवदा । अभ्यर्च्यते=आद्रियते । मदं=गर्वम् । अकृत्रिमं= स्वार्थाऽनुसन्धानरहितम् । खिद्यते = न वशीक्रियते ॥ १४५ ॥

इतः=अस्मन्निर्दिष्टात् । सञ्जीवकव्यसनात् = सञ्जीवकासक्तिरूपाव्यसनात् । सञ्जीवकोत्थिताद्राज्यविपत्तेश्च । विज्ञापितः = मुहुर्मुहुः प्रतिबोधितोऽपि । तदा=तर्हि ।

और मैं तो आप का हितैषी हूँ, इसी लिये आप से मैं हित की बातें कहता हूँ । क्योंकि जिसका पराजय न चाहे, उसको विना पूछे हुए भी हित की बातें कहे, —यही श्रेष्ठों का धर्म है, और इससे उलटा अधर्म (पाप) है ॥ १४४ ॥

कहा भी है,—वही सच्चा मित्र है, जो आपत्तियों से बचावे । और जो बुराइयों से रोके वही सच्चा मित्र है । जो स्वच्छ और निर्मल है वही कर्म है । वही स्त्री है, जो आज्ञाकारिणी है । वही बुद्धिमान् है, जो श्रेष्ठों से पूजित होता है और वही लक्ष्मी है, जो मद (घमण्ड) उत्पन्न नहीं करती है । वही सुखी है, जो तृष्णा से बचा है । वही मित्र है, जो स्वाभाविक है । और वही पुरुष है, जो इन्द्रियों के वशीभूत नहीं होता है ॥ १४५ ॥

और यदि सञ्जीवक के स्नेह से फँसे हुए स्वामी (आप) हमारे निवेदन करने पर

[1]तदा ईदृशे भृत्यस्य न दोषः। तथा च—

'नृपः कामाऽऽसक्तो गणयति न कार्यं, न च हितं,
यथेष्टं स्वच्छन्दः प्रविचरति, मत्तो गज इव।
ततो [2]मानध्मातः स पतति यदा शोकगहने,
तदा भृत्ये दोषान्क्षिपति, न निजं वेत्त्यविनयम्' ॥१४६॥

पिङ्गलकः—(स्वगतम्)—

'न [3]परस्याऽपराधेन परेषां दण्डमाचरेत्।
आत्मनाऽवगतं[4] कृत्वा बध्नीयात्[5] पूजयेच्च वा' ॥ १४७ ॥

ईदृशे = ईदृशे प्रसङ्गे ॥ कामासक्तः = कामपरवशः, इन्द्रियपरवशः। कार्यं = कर्त्तव्यं, हितं = स्वोपकारक्षमम्। यथेच्छं = स्वेच्छयैव, स्वच्छन्दः = निरवग्रहः सन्, मत्तो गज इव प्रविचरति = व्यवहरति, चेष्टते च। मानध्मातः = गर्वोन्मत्तः। शोकगहने = शोकरूपे गहने। भृत्ये = अमात्यादौ। क्षिपति = योजयति। अविनयं = दोषम् न। वेत्ति = न गणयति ॥ १४६ ॥

स्वगतम् = मनस्येव चिन्तयति। परस्य = अन्यस्य। परेषाम् = अन्येषाम्।

भी सञ्जीवक के प्रेम रूपी व्यसन को नहीं छोड़ते हैं, तो फिर इसमें (ऐसे अवसर में) सेवकों का (हमारा) कुछ भी दोष नहीं है। क्योंकि कहा भी है—

कामासक्त राजा न कार्य को गिनता है, और न अपने हित को ही देखता है, वह तो स्वतन्त्र मतवाले हाथी के समान इच्छापूर्वक विचारता है। अर्थात् जो वह चाहता है, वही करता है। और वह जब घमण्ड से चूर होकर गहरे शोक सागर (विपत्ति) में पड़ता है, तब वह सेवकों के ही ऊपर उस विपत्ति का दोष मढ़ता है। पर वह अपने अविनय (दोष) को नहीं देखता है ॥ ११६ ॥

तब पिङ्गलक अपने मन में विचार करने लगा कि—

दूसरों के कहने मात्र से ही दूसरों को दण्ड नहीं देना चाहिये, किन्तु आप स्वयं परीक्षा करके ही दोष और गुणों का निश्चय करे। और तभी किसी को दण्ड

---

१. 'तदा भृत्यस्य'। २. मानाध्मातः' पा०। ३. 'परस्याऽपवादेन' पा०। 'परोक्षाऽपराधेन' इति शोभनः पाठः। ४. 'ऽवगमं कृत्वा'। ५. 'पूजयेत वा'।

तथा चोक्तं—

'गुण-दोषावनिश्चित्य [1]विधिर्न ग्रह-निग्रहे।
स्वनाशाय यथा न्यस्तो दर्पात्सर्पमुखे करः' ॥ १४८ ॥

(प्रकाशं ब्रूते—) 'तदा सञ्जीवकः किं प्रत्यादिश्यताम्' ?। दमनकः ससंभ्रममाह—'देव ! मा मैवम्। एतावता[2] मन्त्रभेदो जायते'। तथा[3] ह्युक्तम्—

'मन्त्रबीजमिदं गुप्तं रक्षणीयं तथा, [4]यथा-।
मनागपि न भिद्येत, तद्भिन्नं न प्ररोहति' ॥ १४९ ॥

अवगतं = साक्षाज्ज्ञातं कृत्वा। बध्नीयात् = दण्डयेत्, पूजयेत्=सत्कुर्यात् ॥१४७॥

ग्रहनिग्रहे = सत्कारदण्डयोः। ग्रहः = अनुग्रहः। दर्पात्सर्पमुखे न्यस्तो हस्तः स्वनाशायैव भवतीत्यर्थः ॥ १४८ ॥

एवम् = इत्थं, मा मा = नैव कार्यम्। एतावता = तत्प्रत्याख्याने। इदं गुह्यं= गूढं मन्त्रबीजं, यथा तथा = येनकेनापि प्रकारेण, रक्षणीयम्। मनाक् = ईषदपि, न भिद्येत = न भिन्नं भवेत्। तत् = मन्त्रबीजम्। भिन्नं = स्फुटितं सत्, न प्ररो-

भी दे, या उसका सम्मान करे ॥ १४७ ॥

क्योंकि कहा भी है—

गुणों और दोषों (अपराध) का पूरा-पूरा निश्चय किए बिना ही किसी को दण्ड देना, या उसका सत्कार करना, यह सर्वथा अनुचित है। बिना ठीक-ठीक गुण-दोषों को समझे किसी का आदर करना या किसी को दण्ड देना तो ऐसा ही आत्मघाती कार्य है, जैसे कोई घमण्ड से साँप के मुख में अपना हाथ डाल दे, और साँप के काटने से बेमौत मर जाए ॥ १४८ ॥

(प्रकट में बोला—) तब क्या सञ्जीवक को निकाल दिया जावे ? । दमनक घबड़ाकर बोला कि—देव ! ऐसा न कीजिये। इससे मन्त्रभेद (सलाह की फूट) हो जाता है। जैसे कहा भी है—

मन्त्ररूपी बीज की ऐसी सावधानी से रक्षा करनी चाहिये जिससे वह थोड़ा भी

१. 'विधिना ग्रह-निग्रहौ'। २. 'मा मैवं, मन्त्रभेदो'। ३. 'तथा चोक्तं'। ४. यथा तथा'।

किञ्च—

'आदेयस्य, प्रदेयस्य, कर्त्तव्यस्य च कर्मणः ।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य, कालः पिबति तद्रसम्' ॥ १५० ॥

तदवश्यं समारब्धं महता प्रयत्नेन सम्पादनीयम् । किं च—

'मन्त्रो योध इवाऽधीरः सर्वाङ्गैः संवृतैरपि ।
चिरं न सहते स्थातुं परेभ्यो भेदशङ्कया' ॥ १५१ ॥

यद्यसौ दृष्टदोषोऽपि दोषान्निवर्त्य सन्धातव्यस्तदतीवाऽनुचितम् । यतः—

इति=न फलति ॥ १४६ ॥

आदेयस्य=ग्राह्यस्य, प्रदेयस्य = देयस्य । क्षिप्रं=झटिति । पिबति = गृह्णातीव । तद्रसं=तत्सारम् ॥ १५० ॥

योधः=सैनिको भीरुभट इव । योधो हि सर्वाङ्गैः= सर्वावयवैः, कवचादिना संवृतैः = आच्छादितैरपि, चिरं स्थातुं=युद्धे चिरं स्थातुं, न सहते = न समर्थः । परेभ्यः=शत्रुभ्यः, भेदशङ्कया = पराजयभीत्या । विनाश (भेद)शङ्कया । स्वप्राकट्यशङ्कया न ॥१५१॥

असौ = सञ्जीवकः । दृष्टदोषः=दृष्टापराधोऽपि । सन्धातव्यः=पुनः संग्राह्यः ।

न फूटे, क्योंकि यह थोड़ा भी प्रकट होने पर नहीं जमता है (फलप्रद नहीं होता है) ॥१४६॥

और भी—लेने योग्य, देने योग्य, और करने योग्य काम को शीघ्र न करने से इनका रस समय पी लेता है ॥ १५० ॥

इसलिये अच्छे प्रकार से आरम्भ किये हुए काम का सम्पादन अवश्य ही बड़े यत्न से करना चाहिये ।

और भी—सब अङ्गों से ढका हुआ, सुरक्षित भी मन्त्र (सलाह) डरपोक योद्धा की तरही दूसरों से भेद (पराजय और प्रकट होने) की शङ्का से बहुत समय तक नहीं ठहर सकता है ॥ १५१ ॥

और यदि इसका अपराध जान लिया गया है, तो भी उसके दोषों को दूर कर के फिर इससे संधि (मेल) करना तो और भी अनुचित है ।

'सकृद् दुष्टं तु यो मित्रं पुनः सन्धातुमिच्छति ।
स मृत्युमेव गृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा' ॥ १५२ ॥

सिंहो ब्रूते—'ज्ञायतां तावत्किमस्माकमसौ कर्तुं समर्थः' ? ।
दमनक आह—'देव !

'अङ्गाऽङ्गिभावमज्ञात्वा कथं सामर्थ्यनिर्णयः ? ।
पश्य टिट्टिभमात्रेण समुद्रो व्याकुलीकृतः' ! ॥ १५३ ॥

सिंहः पृच्छति—कथमेतत् ? । दमनकः कथयति—

(९) टिट्टिभ–समुद्र–कथा ।

दक्षिणसमुद्रतीरे टिट्टिभदम्पती निवसतः । तत्र[1] चाऽऽसन्नप्रसवा

मृत्युमेवेति । तथा सति नून मृत्युरेव सन्धातुरित्यर्थः । अश्वतरी=गर्दभी । (खचरी)। अश्वतरी हि प्रसवकाले म्रियते, तदुदरकर्त्तनेनैवाश्वतरो बहिर्निष्कास्यते च ॥१५२॥

असौ=सञ्जीवकः । अङ्गाङ्गिभावं=परस्परसम्बन्धादिकम् । टिट्टिभमात्रेण= एकेन टिट्टिभेनैव ॥ १५३ ॥

दम्पती=जायापती । निभृतं सुगूढम् । 'ननु' इति निश्चये । इदं=समुद्र-

---

क्योंकि—जो एक बार दुष्ट हुए मित्र से फिर मेल चाहते हैं, वे निश्चय ही मृत्यु को बुलाते हैं। जैसे खचरी गर्भ को धारण करके मृत्यु को प्राप्त होती है ॥१५२॥

सिंह बोला कि—पहले तो यह जानना चाहिये, कि यह हमारा क्या बिगाड़ कर सकता है ? । दमनक बोला कि—देव !

अङ्ग (सहायक) और अङ्गी (प्रधान) को जाने बिना ही किसी के सामर्थ्य का निर्णय कैसे हो सकता है ? । देखिए एक टिटिहरी ने भी समुद्र को व्याकुल कर दिया था ॥ १५३ ॥

सिंह ने पूछा कि—यह कथा कैसे है ? । दमनक बोला—

दक्षिण समुद्र के किनारे टिटीहरी का एक जोड़ा रहता था । वहाँ टिटीहरी

---

१. 'अथाऽऽसन्न' ।

टिट्टिभी भर्त्तारमाह—'नाथ ! प्रसवयोग्यस्थानं निभृतमनुसन्धीयताम्' । टिट्टिभोऽवदत्—'प्रिये[१] ! नन्विदमेव स्थानं प्रसूतियोग्यम्' ।

सा ब्रूते—'समुद्रवेलया व्याप्यते [२]स्थानमेतत् ।

टिट्टिभोऽवदत्—'भद्रे[३] ! किमहं निर्बलो [४]यत् समुद्रेण निग्रहीतव्यः' ? । टिट्टिभी विहस्याऽऽह—'स्वामिन् ! त्वया, समुद्रेण च महदन्तरम् । अथवा—

'पराभवं[६] परिच्छेत्तुं, योग्याऽयोग्यं च वेत्ति यः ।
अस्तीह यस्य विज्ञानं, कृच्छ्रेणाऽपि न सीदति' ॥ १५४ ॥

तीरवर्तिस्थानमेव । समुद्रवेलया = समुद्रवेलाजलेन । (बेला=बाढ, ज्वार-भाटा) अन्तरं = भेदः । पराभवं=स्वपरिभवम् । परिच्छेत्तुं=दूरीकर्त्तुम् । वेत्ति=जानाति । योग्यायोग्यं = योग्यमयोग्यञ्च । वेत्ति = जानाति । विज्ञानं=कौशलम् । कृच्छ्रेण= अतिमहता कष्टेनापि । न सीदति=अवसन्नो न भवति । न विषण्णो भवति । 'दुःखमात्मे'त्यादिपाठान्तरे—आत्मा = स्वयं, 'योग्यो, नवे'ति, परिच्छेत्तुमेव= निर्णेतुमेव तावत्, दुःखं=कठिनम् । परन्तु यस्य विदुष ईदृक् विज्ञानंचेदस्ति तदा स न सीदतीत्यर्थः । शोभनोऽयं पाठः ॥ १५४ ॥

का जब प्रसवकाल समीप आया तब उसने अपने पति से कहा कि—'हे नाथ ! अब मेरे प्रसव करने योग्य कोई अच्छा सा एकान्त स्थान आपको ढूढ़ना चाहिये' । टिट्टिभ बोला कि—'हे प्रिये ! यह स्थान भी तो प्रसव (बच्चा जननेने) करने योग्य ही है ।' तब वह बोली—इस स्थान पर तो समुद्र की बेला (ज्वार-भाटा) आती है । टिटीहिरा बोला कि—'क्या मैं निर्बल हूँ, जो समुद्र इस तरह मेरे अंडों को हरण कर मुझे पीड़ा देगा ? । टिटीहिरी हँसकर बोली कि—'स्वामी ! तुमारे में और समुद्र में बड़ा अन्तर है ।

अथवा अपने पराजय को जो दूर करना जानता है, और जो योग्य और अयोग्य को जानता है, और जो विद्या और बुद्धि तथा कौशल से युक्त है, वह प्रबल विपत्ति आ पड़ने पर भी नष्ट नहीं होता है । और न कभी घबड़ाता है, न वह कष्ट ही पाता है । और न वह दुःखी होता है ॥ १५४ ॥

१ 'भार्ये' । २ 'प्लाव्यते स्थानमेतत्' । ३ 'सोऽब्रवीत्—किमहं' । ४ 'यन्मम गृहावस्थितान्यण्डानि समुद्रेणापहर्त्तव्यानि, अहञ्च निग्रहीतव्यः । पा० । ५ 'नाथ' । ६ 'दुःखमात्मा परिच्छेत्तुमेव—'योग्यो, नवे'ति वा । अस्तीहग्यस्य विज्ञानं स कृच्छ्रेऽपि' ।

अपि च—

'अनुचितकार्याऽऽरम्भः[1], स्वजनविरोधो, बलीयसा स्पर्द्धा।
प्रमदाजनविश्वासो, मृत्योर्द्वाराणि चत्वारि' ॥ १५५ ॥

ततः[2] कृच्छ्रेण स्वामिवचनात्सा तत्रैव प्रसूता। एतत्सर्वं श्रुत्वा समुद्रेणाऽपि तच्छक्तिज्ञानार्थं[3] तदण्डान्यपहृतानि। ततष्टिट्टिभी शोकार्त्ता भर्तारमाह–'नाथ! कष्टमापतितम्, [4]तान्यण्डानि मे नष्टानि'। टिट्टिभोऽवदत्–'प्रिये, मा भैषीः'। इत्युक्त्वा पक्षिणां मेलकं[5] कृत्वा, पक्षिस्वामिनो गरुडस्य समीपं गतः।

तत्र गत्वा[6] सकलवृत्तान्तं टिट्टिभेन भगवतो गरुडस्य पुरतो निवेदितं–'देव! समुद्रेणाऽहं स्वगृहाऽवस्थितो विनाऽपराधेन[7] निगृहीतः। ततस्तद्

स्पर्द्धा = विरोधः ॥ १५५ ॥ कृच्छ्रेण = महता निबन्धेन। (किसी तरह समझाने बुझाने पर)। सा = टिट्टिभी। तत्रैव=समुद्रकूले एव। तदण्डानि = टिट्टिभाण्डानि। अपहृतानि=चोरितानि।

मेलकं=समागमं। सभाम्। निगृहीतः=दण्डितः, क्लेशितश्च। गरुत्मता=गरुडेन। सृष्टि—स्थिति—प्रलयहेतुः = जगदुत्पत्ति–पालन–विनाशहेतुः। मौलौ = शिरसि।

और भी—अयोग्य काम का आरम्भ, अपने स्वजनों से वैर, बलवान् से स्पर्धा और स्त्रियों का विश्वास-ये चार बातें मृत्यु के द्वार की तुल्य ही बुरी हैं ॥१५५॥

फिर अपने स्वामी के बहुत समझाने बुझाने से, बड़ी कठिनाई से उसने वहीं ही संतान उत्पन्न की (वहीं अण्डे दे दिए)। यह सब सुनकर समुद्र ने भी उस टिटहरे के बल-पराक्रम को जानने के लिए ही उसके अण्डे हर लिये। तब वह टिटीहरी शोक से दुःखित होकर अपने पति से बोली कि—हे नाथ! बड़े ही दुःख की बात है, मेरे तो सब अण्डे नष्ट हो गए (समुद्र ने अपहरण कर लिए)। तब वह टिटीहरा बोला कि—हे प्यारी! तुम डरो मत। ऐसा कह कर सब पक्षियों को इकट्ठा करके उनको साथ लेकर पक्षियों के स्वामी श्री गरुड जी के पास गया। और वहाँ जा उस टिटीहरे ने समुद्रद्वारा अपने अण्डे चुराने का सब समाचार भगवान् श्री गरुड़ जी के आगे यों कहा, कि–हे देव! मुझे अपने घर में रहते

१. कर्मारम्भः'। २. 'ततः स्वामि'। ३. 'ज्ञानार्थिना'। ४ 'तानी'ति क्वाचित्कं। ५ 'मेलनं कृत्वा'। ६. 'गत्वा तेन निजाण्डानां विनाशकथा निवेदिता—'। ७ 'विनापराधेनैव'।

[1]वचनमाकर्ण्य गरुत्मता, प्रभुर्भगवान्नारायणः सृष्टि-स्थिति-प्रलयहेतु-र्विज्ञप्तः। स समुद्रमण्डदानायाऽऽदिदेश।

ततो भगवदाज्ञां मौलौ निधाय, [2]समुद्रेण तान्यण्डानि टिट्टिभाय समर्पितानि। अतोऽहं ब्रवीमि—'अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा' इत्यादि ॥ * ॥

राजाऽऽह–'कथमसौ ज्ञातव्यो–'द्रोहबुद्धि'रिति ?।' दमनको [3]ब्रूते–'यदाऽऽसौ [4]सदर्पः, शृङ्गाऽग्रप्रहरणाऽभिमुखश्चकित इवाऽऽगच्छति, तदा ज्ञास्यति स्वामी'। एवमुक्त्वा सञ्जीवकसमीपं गतः। तत्र गतश्च मन्दं मन्दमुपसर्पन्विस्मितमिवाऽऽत्मानमदर्शयत्। ततःसञ्जीवकेन साऽऽदरमुक्तं-

असौ = सञ्जीवकः, द्रोहबुद्धिः = राजद्रोहीति, कथं ज्ञातव्यः ?। सदर्पः = दर्पोद्धुरः। शृङ्गाग्रप्रहरणाऽभिमुखः = शृङ्गाग्रेण प्रहर्त्तुमुद्यत एव। चकित इव = सभयम् इतस्ततो विलोकयन्निव। (चौकन्ना होकर)।

विस्मितमिव=व्याकुलमिव, त्रस्तमिव च। भद्र = साधो। (भद्र=भाई)।

*हुये को विना अपराध ही समुद्र ने यह कष्ट दिया है !। उसके वचनों को सुनकर, श्री गरुड़ जी ने जगत् की सृष्टि स्थिति-प्रलय के कारण भगवान् प्रभु श्री नारायण से यह सब निवेदन कर दिया। तब उन्होंने समुद्र को टिटहरे के सब अण्डे दे देने की आज्ञा दी। तदनन्तर भगवान् की आज्ञा को शिर पर धारण कर समुद्र ने उसके सब अण्डे (टिटीहरे को) सौंप दिये। इसीलिये मैं कहता हूँ, कि—अङ्ग (सहायक) और अङ्गी (प्रधान) को पूरा २ जाने विना ही किसी के बल का अनुमान नहीं लगाया जा सकता है, इत्यादि।

तब वह राजा सिंह बोला कि—यह कैसे जाना जाय कि इस बैल की मुझ पर बैरबुद्धि है !। दमनक बोला कि—जब वह घमण्ड से (बड़े तपाक से), अपने सींगों की नोंक को सामने किये हुए,प्रहार करने की तैयारी में होकर, एवं चौकन्ना सा होकर आवे, तब आप जान लें कि,—इसके मन में कपट है, और यह राजद्रोही है। ऐसे कहकर वह दमनक उस सञ्जीवक के पास गया। और वहाँ जाकर धीरे २ चल कर, डरे हुए के समान ही अपने को उसके सामने दिखाता हुआ वह जाकर खड़ा हो गया। सञ्जीवक ने आदर सहित उससे पूछा कि–भाई ! आप

१. 'ततस्तेन गरुत्मता'। २. 'समुद्रस्तान्यण्डानि टिट्टिभाय समर्पितवान्'। ३. पुनराह'। ४. कश्चिन्न।

[1]'भद्र ! कुशलं ते' ? । दमनको ब्रूते–'अनुजीविनां कुतः कुशलम्' । यतः–

'सम्पत्तयः पराधीनाः, सदा चित्तमनिर्वृतम् ।
स्वजीवितेऽप्यविश्वासस्तेषां ये राजसेवकाः[2]' ॥ १५६ ॥

अन्यच्च–

'कोऽर्थान्प्राप्य न गर्वितो, विषयिणः कस्याऽऽपदोऽस्तङ्गताः,
स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः,को [3]नाम राज्ञां प्रियः ।
कः कालस्य भुजाऽन्तरं न च गतः, कोऽर्थी गतो गौरवं,
को वा दुर्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान्' ? ॥१५७॥

अनुजीविनां=सेवकानाम् । सम्पत्तयः=समृद्धयः । पराधीनाः = परायत्ताः । अनिर्वृतम्=अशान्तम् । असुखितम् । किमधिकं-ये राजसेवकास्तेषां स्वजीवितेऽप्यविश्वासो भवतीत्यन्वयः ॥ १५६ ॥

विषयिणः = विषयोपभोगप्रसक्तस्य । अस्तं गताः=दूरे स्थिताः । अपयाताः । विषयिणः सदैव विपद्ग्रस्ता भवन्तीत्यर्थः । खण्डितं = क्षोभितं, वशीकृतम् । अर्थी=याचकः, गौरव=महत्त्वम् । दुर्जनवागुरासु=खलवचनकपटजालेषु । क्षमेण = कुशलेन, यातः = निर्गतः ॥ १५७ ॥

कुशल से तो हैं ? । दमनक बोला कि—सेवकों की कुशल कहाँ है ? ।

क्योंकि—जो राजसेवक है, उसकी सभी सम्पत्तियाँ पराधीन होती हैं, और सेवकों का चित्त (मन) भी कभी सुखी नहीं रहता है । अर्थात् वे सदा दुःखी ही रहते है । और तो क्या, उन्हें अपने जीने का भी विश्वास नहीं रहता है ॥१५६॥

और भी—कौन पुरुष धन को पाकर घमण्डी नहीं होता है ? । और विषयों के व्यसनी किसकी आपदा जाती रही हैं ? । और स्त्रियों से पृथ्वी पर किसका मन खण्डित नहीं हुआ है ? । और राजाओं का प्रिय कौन है ? । और काल की भुजाओं के बीच में कौन नहीं आया है ? । और किस मांगने वाले ने बड़ाई पाई है ? । और कौन पुरुष दुष्टों के जाल में फँस कर कुशलता से बचा है ? ॥१५७॥

---

१. 'भद्र ! दमनक !' । २. 'राजसंश्रयाः' । ३. 'को वाऽस्ति राज्ञां' ।

सञ्जीवकेनोक्तम्—'सखे ! ब्रूहि, किमेतत्' ? ।
दमनक आह—'किं ब्रवीमि मन्दभाग्यः ? । पश्य—

'मज्जन्नपि पयोराशौ लब्ध्वा सर्पाऽवलम्बनम् ।
न मुञ्चति, न चाऽऽदत्ते, तथा मुग्धोऽस्मि सम्प्रति' ॥१५८॥

यतः—

'एकत्र राजविश्वासो नश्यत्यन्यत्र बान्धवः ।
किं करोमि, क्व गच्छामि, पतितो दुःखसागरे' ॥१५९॥

—इत्युक्त्वा दीर्घं निःश्वस्योपविष्टः । सञ्जीवको ब्रूते—'मित्र ! तथाऽपि [1]'सविस्तरं मनोगतमुच्यताम्' । दमनकः सुनिभृतमाह–'यद्यपि राज-

पयोराशौ = समुद्रे । सर्पावलम्बनं = सर्परूपमवलम्बनम्, तद्युक्तं वृक्षादिकमवलम्बनं वा । आदत्ते = गृह्णाति । मुग्धः = मूढः । सम्प्रति=इदानीम् ॥ १५८॥

एकत्र = एकस्यां दिशि । (एक ओर तो) । अन्यत्र=अकथने तु । बान्धवः= बन्धुः, भवान् सञ्जीवकः,—नश्यतीन्वयः ॥ १५९ ॥

मनोगतं=मनसि स्थितम् । सुनिभृतं=सुगूढम् । राजविश्वासः=राजमन्त्ररहस्यम् ।

सञ्जीवक बोला कि—'मित्र ! तुम ऐसे व्याकुल क्यों हो रहे हो । ? ऐसी क्या बात है ? ।' दमनक बोला कि–मैं तो बड़ा ही मन्दभाग्य हूँ, आप से क्या कहूँ ? ।

देखो—जैसे समुद्र में डूबता हुआ पुरुष सर्प का अवलम्बन (सहारा) पाकर भी उसे न तो छोड़ ही सकता है, और न उसे पकड़ ही सकता है, ऐसी ही इस समय मेरी दशा है । और मैं अपना कर्त्तव्य निर्धारण करने में असमर्थ होकर व्याकुल और किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो रहा हूँ ॥ १५८ ॥

क्योंकि—एक ओर तो राजा का विश्वास नष्ट होता है, और दूसरी ओर अपने बान्धव (सम्बन्धी, सञ्जीवक,) का विनाश हो रहा है । ऐसे इस दुःख के समुद्र में मैं पड़ रहा हूँ, समझ में नहीं आता है कि अब मैं कहाँ जाऊँ और क्या करूँ ? ॥ १५९॥

इस तरह कहकर वह लम्बी श्वास ले कर उदास होकर बैठ गया । सञ्जीवक बोला कि 'हे मित्र ! तो भी जो आपके मन में हो उसे आप विस्तार से कहिये । तब वह

1. 'सुविस्तरं मनोगतं कथ्यतां' ।

विश्वासो [1]न कथनीयस्तथापि भवानस्मदीयप्रत्ययादागतः, स्थितश्च[2]। [3]तन्मया परलोकार्थिनाऽवश्यं तव हितमाख्येयम्'। शृणु—

अयं स्वामी तवोपरि विकृतबुद्धी [4]रहस्युक्तवान्,—'सञ्जीवकं हत्वा स्वपरिवारं तर्पयामि'।

एतच्छ्रुत्वा सञ्जीवकः परं विषादमगमत्। दमनकः पुनराह—'अलं विषादेन, प्राप्तकालं कार्यमनुष्ठीयताम्।'

सञ्जीवकः क्षणं विमृश्याऽऽह—'सुष्ठु खल्विदमुच्यते'। [5]यतः—

'दुर्जनगम्या नार्यः, प्रायेणाऽपात्रभृद्भवति राजा।
कृपणाऽनुसारि च धनं, देवो गिरि-जलधिवर्षी च' ॥१६०॥

अस्मदीयप्रत्ययात्=अस्मद्वाक्यविश्वासात्। आगतः=इहाऽऽयातः। परलोकाऽर्थिना=परलोकविनाशभीतेन, धर्मभीरुणा। आख्येयं=कथनीयम्। स्वामी=राजा सिंहः। विकृतबुद्धिः=दुष्टबुद्धिः। रहसि=एकान्ते। प्राप्तकालम्=अवसरोचितम्। ईदृशे कठिने विपत्तिसमये यत्करणीयं तत्कार्यं विधेहि।

दुर्जनगम्याः=खलजनाऽनुरक्ताः। अपात्रभृत्=दुष्टपालकः। कृपणानुसारि=

दमनक बहुत छिपाते हुए, धीरे २ उसकेकान में यों कहने लगा कि—यद्यपि राजा का विश्वासघात नहीं करना चाहिये, और राजा का गुप्त विचार भी कभी-किसी से प्रकट नहीं करना चाहिये, तो भी आप हमारे ही भरोसे पर यहाँ आये हैं, अतः मैं आपके हित की बात आपसे अवश्य कहूँगा। क्यों कि मुझे भी तो पर लोक से भय है। आप की हानि होने से मुझे भी तो पाप लगेगा ही। अतः मैं कहता हूँ सुनिये—यह स्वामी आप पर दुष्ट भाव रखता है, क्योंकि यह मुझसे एकान्त में आज कहता था कि—मैं संजीवक को मार कर उसके मांस से ही अपने परिवार को आज तृप्त करूँगा। यह सुन कर सञ्जीवक बड़ा ही दुःखी हुआ। तब वह दमनक फिर बोला—भाई ! विषाद मत करो। ऐसी विपत्ति के समय पर जो आप से हो सके सो उपाय आपको करना चाहिए। सञ्जीवक क्षण भर कुछ सोचकर फिर कहने लगा—यह बहुत ठीक कहता है।

क्योंकि स्त्रियाँ प्रायः दुष्टजनों के ही पास जाती हैं, और राजा लोग भी

---

१. 'विश्वासोऽन्यस्मै'। २. 'स्वचिन्न। ३. 'दागतः। मया'। ४. 'रहस्येवमुक्तवान्'। ५. कचिन्न।

[[1]तथा च—

नीचमाश्रयते लक्ष्मीरकुलीनं सरस्वती ।
अपात्रं भजते नारी, गिरौ वर्षति वासवः] ॥

(स्वगतं—) किमिदं[2] दुर्जनचेष्टितं[3], न वेत्येतद्व्यवहारान्निर्णेतुं शक्यते । यतः—

'कश्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसज्जनः ।
प्रमदालोचनन्यस्तं मलीमसमिवाऽञ्जनम्' ॥ १६१ ॥

तत्र (पुनः[1]) विचिन्त्योक्तवान्—'कष्टं, किमिदमापतितम्' ?! यतः—

'आराध्यमानो नृपतिः प्रयत्नान्न तोषमायाति किमत्र चित्रम् ।
अयं त्वपूर्वः प्रतिभाविशेषो, यः सेव्यमानो रिपुतामुपैति' ! ॥१६२॥

कृपणहस्तगतम् । देवः=मेघः ॥१६०॥ व्यवहारात्=प्रसङ्गात् । कश्चिदसज्जनोऽपि—आश्रयसौन्दर्यात्=आधारगौरवात्—शोभां धत्ते, यथा—प्रमदालोचनन्यस्तं=सुन्दरी-नेत्रनिहितं, मलीमसमपि=मलिनमपि, अञ्जनं=कज्जलं—शोभते इत्यर्थः ॥१६१॥ आराध्यमानः=सेव्यमानः । तोषं=परितोषम् । अपूर्वः=अदृष्टपूर्वः । प्रतिभा-विशेषः=स्वभाववैचित्र्यम् । रिपुतां=शत्रुताम् ॥ १६२ ॥

प्रायः अपात्रों को ही धन देते हैं, धन भी कृपणों (कंजूसों) के ही पास प्रायः आता है, तथा मेघ भी पहाड़ और समुद्रों में ही व्यर्थ ही ज्यादा वर्षते हैं ॥१६०॥

(मन ही मन) परन्तु ये सब दमनक की बातें सच्ची हैं, या इनमें इसकी कुछ चाल है (यह सब इसका षड्यन्त्र ही है,) इसका पता इसके व्यवहार से लगाना भी कठिन है। क्योंकि कोई-कोई दुष्ट पुरुष आश्रय की सुन्दरता से ही शोभा पाते हैं। जैसे कि स्त्री के नेत्रों में लगा हुआ काला अञ्जन भी स्त्रियों के नेत्रों का आश्रय पाकर ही शोभा पाता है ॥ १६१ ॥

फिर सञ्जीवक विचार कर बोला कि—हा! मेरे ऊपर यह क्या कष्ट आ पड़ा। क्योंकि अत्यन्त प्रयत्न से सेवा करने पर भी यदि राजा प्रसन्न नहीं होता है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, परन्तु अनोखी और अत्यन्त आश्चर्य की तो यही बात है, कि सेवा करने पर भी वह उलटा शत्रु हो जाता है।

---

१. क्वाचित्कः पाठः । २. 'किं वा' । ३. 'असद्विचेष्टितं' ।

तदयमशक्याऽर्थः प्रमेयः[1]। यतः—

'निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकुप्यति,
ध्रुवं स तस्याऽपगमे प्रसीदति।
अकारणद्वेषि मनस्तु यस्य वै,
कथं जनस्तं परितोषयिष्यति'? ॥ १६३ ॥

किं मयाऽपकृतं राज्ञः?। अथवा निर्निमित्ताऽपकारिणश्च[2] भवन्ति राजानः'। दमनको ब्रूते—'एतमेवैतत्। शृणु—

'विज्ञैः स्निग्धैरुपकृतमपि द्वेष्यतामेति कश्चित्,
साक्षादन्यैरपकृतमपि प्रीतिमेवोपयाति।
चित्रं चित्रं किमपि[3] चरितं नैकभावाश्रयाणां,
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः' ॥१६४॥

अशक्यार्थः = अशक्यप्रतीकारः। प्रमेयः = विषयः।

निमित्तं = कारणम्, उद्दिश्य = मनसि कृत्वा। ध्रुवं=नूनम्। तस्य = हेतोः। अपगमे=विनाशे। प्रसीदति=प्रसन्नो भवति॥ १६१॥ निर्निमित्तापकारिणः= निर्हेतुकं विरोधिनः। विज्ञैः=कुशलैः। स्निग्धैः = अनुरागिभिः। उपकृतमपि। 'अविगणय्ये'ति शेषः। द्वेष्यतां=शत्रुताम्। साक्षात्=स्पष्टम्। अपकृतमपि। 'अवि-

---

परन्तु इस बात का तो कोई उपाय ही नहीं है। क्योंकि—

जो किसी कारण से कोप करता है, वह तो उस कारण के दूर हो जाने पर निश्चय ही प्रसन्न हो जाता है। परन्तु जिसका मन बिना कारण के ही वैर करने वाला है, उसको मनुष्य भला कैसे प्रसन्न कर सकता है? ॥ १६३ ॥

और मैंने इस राजा का अपकार ही क्या किया है?। अथवा राजा लोग बिना कारण के ही अपकार (बुराई) करने वाले होते हैं। यह सुनकर दमनक बोला कि—यह बात ऐसे ही है। सुनिए—

कोई मनुष्य तो विद्वानों तथा स्नेहियों से उपकार करने पर भी उनसे शत्रुता ही करता है, और कोई दूसरों से (शत्रुओं से) साक्षात् अपकार किए जाने

१. 'प्रयत्नः'। २. 'पकारिणो हि'। ३. 'किमथ चरितं'

अन्यच्च—

'कृतशतमसत्सु नष्टं, सुभाषितशतं च नष्टमबुधेषु ।
वचनशतमवचनकरे, बुद्धिशतमचेतने नष्टम्' ॥ १६५ ॥

किञ्च—

'चन्दनतरुषु भुजङ्गा, जलेषु कमलानि, तत्र च ग्राहाः ।
गुणघातिनश्च [1]भोगे खला, न च सुखान्यविघ्नानि ॥१६६॥'

चिन्त्ये'ति शेषः । प्रीतिमेव=प्रसन्नतामेव । चित्रं = महदेवाश्चर्यम् । नैकभावाश्रयाणां = नानाविधस्वभावाश्रयाणां, राज्ञां-चरितं किमपि विचित्रं भवतीत्यन्वयः । सेवा एव-धर्मः, नितरां गहनः—योगिनामपि = अतीन्द्रियज्ञानशालिनामपि, अगम्यः = अज्ञेयः ॥ १६४ ॥

कृतशतम् = उपकृतशतान्यपि । अबुधेषु = मूर्खेषु । अवचनकरे = आज्ञाविघातके । अचेतने=मूढे । नष्टं = विफलम् ॥ १६५ ॥

भुजङ्गाः=सर्पाः । जलेषु=सलिलेषु । तत्र=ग्राहाः=मकरादयः । गुणघातिनः= गुणविनाशकाः, सुखविघातकाः, खला=दुष्टाः । भोगे=सुखोपभोगेऽन्तरायभूताः । 'भोगे'इत्यत्र 'लोके'इति पाठस्तु शोभनः प्रतिभाति । न च=नहि । सुखानि=

पर भी प्रीति को ही प्राप्त होता है—यह अत्यन्त आश्चर्य ही है । ठीक है, अनेक प्रकार के भावों (चित्तवृत्तियों) से युक्त रहने वालों का चरित्र विचित्र ही होता है । और यह सेवा धर्म भी बड़ा कठिन है, योगियों से भी वह दुर्गम है ॥ १६४ ॥

और भी—दुर्जनों पर किए गए हजारों उपकार भी व्यर्थ ही हो जाते हैं । और मूर्खों को कहे गए सैकड़ों सुन्दर-सुन्दर हितकारक वचन भी व्यर्थ ही हो जाते । हैं और कहना न मानने वालों को कहे हुए सैकड़ों वचन भी नष्ट हो जाते हैं । और जड़ पुरुष में सैकड़ों बुद्धियाँ भी नष्ट ही हो जाती हैं, अर्थात् उनसे कोई भी फल नहीं होता है ॥ १६५ ॥

और—चन्दन के वृक्षों पर साँप हैं, जल में कमल हैं, और वहीं ग्राह भी हैं, भोगों

---

१. 'गुणघातिनश्च पिशुना भोगे, न सुखान्यविघ्नानि' ।

अन्वय—

'मूलं भुजङ्गैः, कुसुमानि भृङ्गैः
शाखाः प्लवङ्गैः, शिखराणि भल्लैः ।
नाऽस्त्येव तच्चन्दनपादपस्य,
यन्नाऽऽश्रितं दुष्टतरैश्च हिंस्रैः' ॥ १६७ ॥

अयं तावत्स्वामी [1]'वाचि मधुरो, विषहृदयो [2]मया ज्ञायते' । यतः—

'दूरादुच्छ्रितपाणिरार्द्रनयनः, प्रोत्सारिताऽर्द्धासनो,
गाढाऽऽलिङ्गनतत्परः, प्रियकथाप्रश्नेषु दत्ताऽऽदरः ।
[3]अन्तर्गूढविषो, बहिर्मधुमयश्चाऽतीव मायापटुः,
को नामाऽयमपूर्वनाटकविधिर्यः शिक्षितो दुर्जनैः' ? ॥१६८॥

भोगाः, अविघ्नानि=विघ्नरहितानि ॥ १६६ ॥

मूलमिति । मूलम्=अङ्घ्रिः । भुजङ्गैः=सर्पैः । प्लवङ्गैः = वानरैः । भल्लैः = ऋक्षैः । (भालू) । दुष्टतरैः = खलैः । दुष्टैः । हिंस्रैः=घातुकैः, व्यालैश्च ॥१६७॥

पाठान्तरे-ज्ञातः=इत्थमिदानीमवगतो मया । **दूरादिति** । उच्छ्रितपाणिः=कुशलप्रश्नाय उत्थापितहस्तः । नमस्काराय, आशीर्वाददानाय वोत्थापितहस्त इत्यर्थो वा । आर्द्रनयनः = बाष्पव्याप्तलोचनः । 'स्नेहवात्सल्याऽतिशयाऽऽविष्करणाये'तिशेषः । प्रोत्सारितार्द्धासनः = त्यक्तार्धासनः । 'सत्कारातिशयप्रदर्शनाये'ति शेषः । प्रिय-

---

में गुण का नाश करने वाले दुष्ट हैं । इस लिये विघ्न रहित सुख कहीं भी नहीं है ॥

और भी—चन्दन वृक्ष की जड़ साँपों से, फूल भौरों से, शाखा वानरों से, और चोटियाँ भालुओं से व्याप्त रहती हैं । अतः चन्दन के वृक्ष का ऐसा कोई भी भाग नहीं है, जो अतिदुष्ट हिंसक जीवों से व्याप्त नहीं हो । (भालू वृक्ष पर भी चढ़ जाते हैं) ॥ १६८ ॥

और यह स्वामी बोलने में तो बड़ा मीठा है, पर हृदय में विष से भरा हुआ है, यह बात अब मुझे मालूम हुई । क्योंकि दुर्जन दूर से हाथ उठाने वाले, आँखों

१. 'वाङ्मधुरो' । २. 'विषहृदयो ज्ञातः' ।३. 'अन्तर्भूते'ति पा० ।

तथाहि—

'पोतो दुस्तरवारिराशितरणे, दीपोऽन्धकाराऽऽगमे,
निर्वाते व्यजनं, मन्दाऽन्धकरिणां दर्पोपशान्त्यै सृणिः।
इत्थं तद्भुवि नास्ति यस्य विधिना नोपायचिन्ता कृता,
मन्ये दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे धाताऽपि भग्नोद्यमः' ॥१६९॥

सञ्जीवकः पुनर्निःश्वस्य[1]—(स्वगतं) 'कष्टं भोः! कथमहं सस्यभक्षकः सिंहेन [2]निपातयितव्यः'? । यतः—

कथायां=प्रियप्रश्नेषु च, दत्तादरः=दर्शिताऽदरः। बहिरेवं प्रणयपेशलमिव-व्यवहरन्नपि—अन्तर्गूढविषः=हृदयनिहितमहाविषः। 'अन्तर्भृते'ति पाठान्तरम्। मधुमयः=अमृतमधुरः। मायापटुः=कपटघटनाकुशलः। दुर्जनैः=खलैः॥४६८॥

पोतः=उडुपः। (जहाज)। दुस्तरवारिराशितरणे=दुर्लङ्घ्यसमुद्रजलतरणे। दीपः=प्रदीपः। निर्वाते=वाताऽभावे। सृणिः=अङ्कुशः। दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे=खलहृदयाऽऽवर्जने। धाता=प्रजापतिरपि। भग्नोद्यमः=कुण्ठितव्यापारः॥१६९॥

में स्नेह रखने वाले, अपना आधा आसन देने वाले, निकट में आलिङ्गन करने वाले, प्यारी २ कथा और प्रश्नों में आदर करने वाले, और बाहर से मीठे के समान और भीतर विष धारण करने वाले माया (छलबल) करने में बड़े चतुर होते हैं। अपूर्व नाटक का यह कौन सा व्यवहार है, जो दुर्जनों ने सीखा है? ॥१६८॥

किसी ने कहा भी है कि—गहरे समुद्र को पार करेने को जहाज, अन्धेरा मिटाने को दीप, हवा न होने पर हवा करने को पंखा, और मद से अन्धे हुए हाथियों के घमण्ड को शान्त करने के लिये विधाता ने अंकुश-उत्पन्न किया है। इस प्रकार पृथ्वी पर ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसके उपाय की चिन्ता ब्रह्माजी ने नहीं की हो, परन्तु दुष्ट के चित्त की वृत्ति को बदलने में तो ब्रह्मा भी हार चुके हैं,—ऐसा मैं समझता हूँ ॥ १६९ ॥

१. 'स्वगत'मिति क्वाचित्कम्। २. 'व्यापादयितव्यः'।

'ययोरेव समं वित्तं, ययोरेव समं बलम् ।
ययोर्विवाद,[1] मैत्री च, नोत्तमाऽधमयोः क्वचित्' ॥१७०॥

पुनर्विचिन्त्याऽऽह[2]—'केनाऽयं राजा ममोपरि विकारितो, न जाने । भेदमुपगताद्राज्ञः सदा भेतव्यम्' । यतः—

'मन्त्रिणा पृथिवीपालचित्तं विघटितं क्वचित् ।
वलयं स्फटिकस्येव, को हि सन्धातुमीश्वरः' ! ॥ १७१॥

'निपातयितव्य' इत्यत्र 'हन्तव्य' इति पाठान्तरम् । वित्तं = धनम् । मैत्री = सौहार्दम् ॥१७०॥ विकारितः = अन्यथाबुद्धिः कृतः । ('किसने बिगाड़ दिया है' 'नाराज कर दिया है) ।

भेदं=विरागम । मन्त्रिणा=अमात्यादिना सह । विघटितं=विरुद्धं, विरक्तश्चेत् । वलयं=करभूषणम् । (चूडी) । सन्धातुं = पुनः प्रकृतिमानेतुम् । क ईश्वरः = कः समर्थः । न कोऽपीत्यर्थः ॥१७१॥

सञ्जीवक फिर दीर्घ श्वास लेकर कहने लगा कि—हाय, बड़े दुःख की बात है, मैं तो धान और घास खाने वाला हूँ, अतः मैं सिंह से कैसे मारे जाने योग्य हूँ !।

क्योंकि—जिन दोनों का बराबर धन है, और जिनका बराबर बल है, उन दोनों में ही मित्रता या विवाद होना उचित माना जाता है । परन्तु बड़े और छोटे में तो विवाद कहीं भी उचित नहीं होता है ॥ १७० ॥

(फिर मन ही मन विचार कर बोला कि—) मैं यह भी नहीं जानता हूँ कि किसने इस राजा को मेरे ऊपर अप्रसन्न (नाराज) कर दिया है ! । और अप्रसन्न हुए (भेद को प्राप्त हुए) राजा से सदा डरना ही चाहिये ॥

क्योंकि—यदि कदाचित् राजा का मन अपने मन्त्री से फट जाए, अप्रसन्न हो जाए, तो फिर उनका पुनः मेल करा देने में किसी की भी शक्ति नहीं है, जैसे स्फटिक (बिल्लौर) की चूड़ियों के टूट जाने पर पुनः उनको जोड़ देने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता है ॥ १७१ ॥

---

१. 'विवादो मन्तव्यो' । २. 'आह' इति क्वाचित्कम् ।

अन्यच्च—

'वज्रं च, राजतेजश्च द्वयमेवाऽतिभीषणम् ।
एकमेकत्र पतति, पतत्यन्यत्समन्ततः' ॥ १७२ ॥

ततः संग्रामे मृत्युरेव [1]वरम् । इदानीं तदाज्ञानुवर्त्तनमयुक्तम् । यतः—

'मृतः प्राप्नोति वा स्वर्गं, शत्रुं हत्वा सुखानि वा ।
उभावपि हि शूराणां गुणावेतौ सुदुर्लभौ' ॥ १७३ ॥

[2]अन्यच्च—

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥

युद्धकालश्चाऽयम्—

'यत्राऽयुद्धे ध्रुवं [3]मृत्युर्युद्धे जीवितसंशयः ।
तमेव कालं युद्धस्य प्रवदन्ति मनीषिणः' ॥ १७४ ॥

वज्र=दम्भोलिः । एक=वज्रम् । अन्यत्=राजतेजः । समन्ततः=सर्वत्र वित्तपुत्रदारगृहादिषु ॥ १७२ ॥

तदाज्ञानुवर्त्तनं=विरुद्धमतिराजाज्ञापालनम् । अयुक्तं=नोचितम् ॥ सुखानि वा–प्राप्नोतीत्यन्वयः । शूराणां=सङ्ग्रामे युद्ध्यमानानाम् । उभौ=स्वर्गौ, भोगसुखं च । सुदुर्लभौ=अन्यजनदुरवापौ ॥ १७३ ॥

अयुद्धे=युद्धाऽकरणे । ध्रुवम्=अवश्यम् ॥१७४॥

और भी—वज्र और राजा का तेज ये दोनों ही बड़े भयङ्कर होते हैं । परन्तु एक (वज्र) तो एक ही जगह गिरता है, और दूसरा (राजा का क्रोध) तो सब जगह गिरता है (सब कुछ नष्ट कर देता है) ॥ १७२ ॥

इसलिये अब तो इस राजा से लड़कर मेरा युद्ध में मरना ही उत्तम है । अब उस राजा की आज्ञा का अनुसरण (पालन)—करना अयोग्य है ।

क्योंकि—शूर या तो रण में स्वयं मरकर स्वर्ग पाता है, या शत्रु को मारकर सुख पाता है । शूरों के ये दोनों गुण बड़े ही दुर्लभ हैं । अर्थात् युद्ध करनेवाले वीरों के दोनों ही हाथों में लड्डू हैं ॥ १७२ ॥

और अब तो यह युद्ध का ही समय है । क्योंकि—

जहाँ युद्ध न करने से निश्चय मृत्यु होती हो, और युद्ध में जीने का सन्देह होता हो, उसी को बुद्धिमान् युद्ध का समय कहते हैं ॥ १७४ ॥

---

१. 'रेवाश्रीयतामिति वरम्' । २ क्वाचित्कः पाठः । ३ 'ध्रुवं नाशो' ।

यतः—

'अयुद्धे हि यदा पश्येन्न किञ्चिद्धितमात्मनः ।
युद्ध्यमानस्तदा प्राज्ञो म्रियेत[1] रिपुणा सह' ॥ १७५ ॥
'जये च लभते लक्ष्मीं, [2]मृत्युनाऽपि सुराङ्गनाम् ।
क्षणविध्वंसिनः कायाः, का चिन्ता मरणे रणे' ? ॥१७६॥

एतच्चिन्तयित्वा सञ्जीवक आह—'भो मित्र ! कथमसौ मां जिघांसुरिति ज्ञातव्यः[3] ? ।' दमनको ब्रूते—'यदाऽसौ पिङ्गलकः[4]समुन्नतलाङ्गूल, उन्नतचरणो, विवृताऽऽस्यस्त्वां पश्यति, तदा त्वमपि स्वविक्रमं दर्शयिष्यसि' । यतः—

अयुद्धे=युद्धाऽभावे । 'रिपुणा सह युद्ध्यमान' इत्यन्वयः ॥१७५॥

सुराङ्गनाम्=अप्सरसः । कायाः=शरीराणि । रणे=युद्धे च, मरणे=मृत्यौ, का चिन्ता ? ॥१७६॥

जिघांसुः='मां हन्तुमिच्छु'रिति कथं ज्ञातव्य इत्यर्थः । समुन्नतलाङ्गूलः=उच्छ्रितपुच्छः । उन्नतचरणः=उत्थापितपादः, बद्धक्रमः । विवृताऽऽस्यः=व्यात्तमुखः । स्वविक्रमं = स्वपराक्रमम् ।

क्योंकि—युद्ध न करने में जब कुछ अपना हित न देखे, तो जो शत्रु के साथ युद्ध करता हुआ मर जावे वही पण्डित (नीतिज्ञ) है ॥ १७५ ॥

और विजय से लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, और मरने पर भी स्वर्ग में अप्सराएँ मिलती हैं । और यह शरीर भी क्षणभङ्गुर है ही, फिर युद्ध में मरने में भी क्या चिन्ता है ? ॥ १७६ ॥

ऐसा विचार कर, सञ्जीवक ने कहा कि—'मित्र ! यह कैसे जाना जाए कि—यह राजा मेरे मारने की इच्छा रखता है ?। दमनक बोला कि—जब वह पिङ्गलक पूँछ उठाकर, ऊँचे पैर किये हुए और मुँह फाड़कर तुम्हारी ओर देखे, तो तुम समझ लेना, कि—यह मुझे मारेगा और उस समय तुम भी अपना बल दिखाना । अर्थात् जो तुमसे करते बने सो तुम भी करना ।

१. 'म्रियते' । २ 'मरणेऽपि सुराङ्गनां' । ३ 'ज्ञातव्यं' । ४ 'यदाऽसौ स्तब्धकर्णः, समुद्धूतलाङ्गूलः, समुन्नतचरणो' ।

'बलवानपि निस्तेजाः कस्य नाऽभिभवाऽऽस्पदम् ? ।
निःशङ्कं दीयते लोकैः पश्य भस्मचये पदम्' ॥ १७७ ॥

किं तु सर्वमेतत्सुगुप्तमनुष्ठातव्यम, नो चेन्न त्वं, नाऽहम् । इत्युक्त्वा दमनकः करटकसमीपं गतः। करटकेनोक्तम्—'किं निष्पन्नम् ?।' दमनकेनोक्तम्—'निष्पन्नोऽनयोरन्योन्यभेदः' ।

करटको ब्रूते—'कोऽत्र सन्देहः' । यतः—

'बन्धुः को नाम दुष्टानां, [1]कुप्यते को न याचितः ? ।
को न दृप्यति वित्तेन, कुकृत्ये को न पण्डितः' ? ॥१७८॥

निस्तेजाः=पराक्रमविकलः, निस्सत्त्वश्च । अभिभवास्पदम्=अपमानभाजनम् । भस्मचये=भस्मराशौ । निश्शङ्कं=निर्भयम् । पदम्=पादः । दीयते=स्थाप्यते । 'धीयते' इत्यपि पाठः ॥ १७७ ॥

सुगुप्त = निभृततमम् । त्व न=त्वं न स्थास्यति । न तव कुशलम् । अहं न= अहं च न स्थास्यामि । सिंहोऽस्मान्विनाशयिष्यतीत्याशयः ।

अन्योन्यभेदः = परस्परोपजापः । याचितः = धनं याचितः सन् । दृप्यति= गर्वोद्धुरो भवति । कुकृत्ये = पापकर्मणि ॥ १७८ ॥

क्योंकि-तेज से रहित होने पर बलवान् का भी अनादर कौन नहीं करता है। देखो ! भस्म (राख) के ढेर पर सभी लोग निडर होकर पैर रखते हैं ॥१७७॥

और भाई ! ये सब बातें तुम छिप कर ही करना। नहीं तो न मैं होऊँगा और न तुम ही बचने पाओगे । अर्थात् सिंह के हाथ तुम भी मारे जाओगे और मैं भी मारा जाऊँगा' । इस प्रकार सञ्जीवक को उल्टी सीधी बातें समझा कर वह दमनक करटक के पास गया । करटक बोला कि—'क्या कर आए ? । तब वह दमनक बोला कि—राजा और मन्त्री (सिंह-वृषभ) इन दोनों में आपुस में भेद (फूट) डाल आया हूँ । करटक बोला कि—ठीक है, इसमें क्या सन्देह है ।

क्योंकि दुष्टों का बन्धु कौन है?, कोई नहीं । बार २ माँगने पर कौन क्रोध नहीं करता है ? । और धन से कौन दृप्त (घमण्डी) नहीं होता है ?। और बुरे कार्यों के करने में कौन पण्डित नहीं है ? ॥ १७८ ॥

१. 'कुप्येत्को नाऽतियाचितः'

अन्यच्च—

'दुर्वृत्तः क्रियते धूर्त्तैः श्रीमानात्मविवृद्धये ।
किं नाम खलसंसर्गः कुरुते नाऽऽश्रयाऽऽशवत्' ? ॥ १७६ ॥

ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा-'देव ! समागतोऽसौ पापाऽऽशयः, तत्-सज्जीभूय स्थीयताम्' । इत्युक्त्वा पूर्वोक्ताऽऽकारं कारयामास ।

सञ्जीवकोऽप्यागत्य, तथाविधं विकृताऽऽकारं सिंह दृष्ट्वा, स्वाऽनुरूपं विक्रमं चकार । ततस्तयोर्युद्धे [1]सञ्जीवकः सिंहेन व्यापादितः ।

अथ पिङ्गलकः सञ्जीवकं सेवकं व्यापाद्य, विश्रान्तः, सशोक इव [2]तिष्ठति । ब्रूते च—'किं मया दारुणं कर्म कृतम्' । यतः—

श्रीमान् = राजादिर्धनी । स्वभवातः सज्जनोऽपि,—आत्मविवृद्धये=स्वसमृद्धये । धूर्त्तैः = वञ्चकैः । दुर्वृत्तः = दुराचारी । क्रियते = विधीयते । खलसंसर्गः किं नाम न कुरुते ? । सर्वमेवानर्थं सूते । आश्रयाशवत्=अग्निवत् । अग्निर्हि सर्वं स्वाश्रयं काष्ठमपि भस्मीकरोति ॥१७६॥ पापाऽऽशयः=दुष्टहृदयः । राजद्रोही । पूर्वोक्ताकारं =विवृताऽऽस्यमुच्छ्रितपुच्छं, बद्धक्रमञ्च । तथाविधम्= उच्छ्रितलाङ्गूलं, क्रुद्धम् ।

और भी—धूर्त लोग अपनी वृद्धि (लाभ) के लिये राजाओं और रईसों को दुर्वृत्त बना देते हैं । उन्हें बुरे मार्ग पर चलाते हैं । ठीक है—दुष्टों का सङ्ग अग्नि के समान ही अपने आश्रयका भी क्या नाश नहीं करता है ? ॥ १७६ ॥

इसके अनन्तर वह दमनक पिङ्गलक सिंह के पास जाकर बोला—देव ! देखिये, वह पापी सञ्जीवक आता ही होगा, सो तैयार होकर बैठिये । यह कह के उसने सिंह का पहले कहा हुआ रूप (पैंतरा बदल कर बैठना आदि) करा दिया । सञ्जीवक ने भी आकर वैसे ही बिगड़े हुए रूपवाले सिंह को देख, अपनी शक्ति के अनुसार बल प्रदर्शन किया और उस सिंह से लड़ गया । और उन दोनों के युद्ध में अन्त में सञ्जीवक मारा गया ।

फिर पिङ्गलक अपने सेवक सञ्जीवक को मार कर थका हुआ सा और शोक युक्त सा उदास होकर बैठ गया । और कहने लगा कि—मैंने यह क्या दारुण कर्म किया ? ।

---

१. 'ततस्तयोः प्रवृत्ते महाहवे' । २ 'आसीनः' ।

'परैः सम्भुज्यते राज्यं, स्वयं पापस्य भाजनम् ।
धर्माऽतिक्रमतो राजा, सिंहो हस्तिवधादिव' ॥ १८० ॥

अपरञ्च—

'भूम्येकदेशस्य गुणान्वितस्य,
भृत्यस्य वा बुद्धिमतः [1]प्रणाशे ।
भृत्यप्रणाशो मरणं नृपाणां,
नष्टाऽपि भूमिः सुलभा, न भृत्याः' ॥ १८१ ॥

व्यापादितः = हतः । दारुणं=दुष्टं, क्रूरम् । परैः=अनुजीविभिः, मन्त्रि-राजकुमारादिभिश्च । स्वयं=राजा । धर्मातिक्रमतः = धर्मोल्लङ्घनात् । पापस्य = वधबन्धनादिजन्यदुरितस्य । भाजनं=पात्रम् ॥ १८० ॥

गुणान्वितस्य = गुणिनः । भूम्येकदेशस्य = भूखण्डस्य । बुद्धिमतो भृत्यस्य वा, प्रणाशे=विनाशे सति । नृपाणां योग्यभृत्यस्य मरणं=राजमृत्युसमः । उभयोरपि एकत्र विशेषमाह—नष्टाऽपीति । सुलभाः = पुनर्लब्धुं शक्या । योग्या भृत्यास्तु पुनर्न सुलभाः ॥ १८१ ॥

क्योंकि—राज्य का सुख तो दूसरे लोग भोगते हैं, और धर्म का उल्लंघन करके पाप का भागी राजा होता है। जैसे सिंह हाथी के मारने से पाप ही कमाता है। क्योंकि—हाथी को मारता तो सिंह है, पर उसका मांस तो अन्यान्य पशु शृगाल आदि ही खाते हैं ॥ १८० ॥

और भी—बुद्धिमान् सेवक का और उत्तम गुणयुक्त पृथ्वी के एक देश का नाश—इन दोनों में से योग्य भृत्य का विनाश राजाओं के लिए मृत्यु के समान ही है। क्योंकि खोई हुई उत्तम भूमि (देश) तो फिर भी कालान्तर में सरलता से मिल सकती है, पर योग्य सेवक जल्दी नहीं मिलता है ॥१८१॥

---

१. 'प्रणाशः' पा० ।

दमनको ब्रूते—'स्वामिन् ! कोऽयं नूतनो न्यायो यदरातिं हत्वा सन्तापः क्रियते ! । तथा [1]चोक्तम्—

'पिता वा, यदि वा भ्राता, पुत्रो वा, यदि वा सुहृत् ।
प्राणच्छेदकरा राज्ञा हन्तव्या भूतिमिच्छता' ॥ १८२ ॥

अपि च—

'धर्मा-ऽर्थ-कामतत्त्वज्ञो नैकान्तकरुणो भवेत् ।
न हि हस्तस्थमप्यन्नं [2]क्षमावान्भक्षितुं क्षमः' ॥ १८३ ॥

किञ्च—

'क्षमा शत्रौ च, मित्रे च, यतीनामेव भूषणम् ।
अपराधिषु सत्त्वेषु नृपाणां सैवदूषणम्' ॥१८४॥

नूतनः=अभिनवः । अरातिं=शत्रुम् । प्राणच्छेदकराः=जीवितद्रोहिणः । भूतिं=कल्याणम् ॥ १८२ ॥ एकान्तकरुणः=केवलदयापरः । नितरां दयापरः । क्षमावान्=शान्तिपरः, क्षमाशीलः । क्षमः=शक्तः ॥ १८३ ॥

शत्रौ, मित्रे च तुल्यैव क्षमा खलु यतीनां=सन्यासिनामेव । भूषणं=

तब दमनक बोला कि—हे स्वामिन् ! यह क्या नई रीति है, कि शत्रु को मार कर भी आप सन्ताप करते हैं ? ।

कहा भी है—पिता या भ्राता या पुत्र या मित्र, इनमें से कोई भी हो, जो अपने प्राणों को नाश करने वाला हो, उन्हें ऐश्वर्य चाहने वाला राजा अवश्य ही नष्ट कर दे ॥ १८२ ॥

और भी—धर्म, अर्थ और काम (त्रिविध पुरुषार्थों) के तत्त्व को जानने वाले पुरुष को चाहिए, कि वह अधिक दयापरायण नहीं होवें, क्योंकि अत्यन्त क्षमा करने वाला पुरुष अपने हाथ में धरे हुए अन्न को भी खाने में समर्थ नहीं होता है । अर्थात्—अत्यन्त दया और मृदुता भी हानि ही करती है ॥१८३॥

और—शत्रु और मित्र में समान रूप से क्षमा करना—यह तपस्वियों का ही

१. 'तथाप्युक्तम्' । २ 'हस्तस्थमप्यर्थं क्षमावान् रक्षितुं क्षमः'

अपरञ्च—

'राज्यलोभादहङ्कारादिच्छतः स्वामिनः पदम् ।

प्रायश्चित्तं तु[1] तस्यैकं जीवोत्सर्गो, न चाऽपरम्' ॥१८५॥

अन्यच्च—

'राजा घृणी, ब्राह्मणः सर्वभक्षः,

स्त्री चाऽवशा, दुष्प्रकृतिः सहायः ।

प्रेष्यः प्रतापोऽधिकृतः प्रमादी,

त्याज्या इमे, यश्च कृतं न वेत्ति' ॥१८६॥

भूषणं = शोभाऽऽधायकम् । सत्त्वेषु=जीवेषु । सैव=क्षमैव ॥ १८४ ॥

राज्येति । राज्यलोभात्, अहङ्काराद्वा । स्वामिनः=प्रभोः, पदं=स्थानम्, राज्यम् । इच्छतः=वाञ्छतो जनस्य । जीवोत्सर्गः=वधः, प्राणपरित्यागश्च ॥१८५॥

घृणी=दयापरः । अवशा = स्वतन्त्रा । दुष्प्रकृतिः = दुष्टस्वभावः । सहायः =अनुजीविवर्गः, सखा च । प्रेष्यः=भृत्यः । प्रतीपः = अननुकूलः । अधिकृतः=अधिकारी । प्रमादी=अनवधानः । यश्चेति । कृतं=कृतमुपकारं, न वेत्ति =न मनुते । कृतघ्न इत्यर्थः ॥ १८६ ॥

भूषण है। और अपराधी जीवों पर क्षमा करना राजाओं का दूषण है ॥ १८४ ॥

और भी, राज्य के लोभ से—या अहंकार से जो स्वामी के पद (राज्य) की इच्छा करता है, उसका तो मरना ही एक प्रायश्चित्त है, दूसरा कोई प्रायश्चित्त नहीं है ॥ १८५ ॥

और भी—अपराधियों पर दया करने वाला राजा, और सबके हाथ का और सब जातियों का अन्न खाने वाला ब्राह्मण, उच्छृङ्खल एवं स्वैरिणी स्त्री, दुष्ट स्वभाव वाला सहायक, कहा नहीं मानने वाला नौकर, असावधान अधिकारी (अफसर) और जो किये हुए को न जाने (कृतघ्न)—इनका त्याग करना ही श्रेष्ठ है ॥ १८६ ॥

---

१. 'हि' ।

वशेषतश्च—

'सत्याऽनृता च, परुषा, प्रियवादिनी च,
हिंस्रा, दयालुरपि, चाऽर्थपरा, वदान्या ।
नित्यव्यया, प्रचुररत्नधनाऽऽगमा च,
वाराऽङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा' ॥ १८७ ॥

—इति कपटवचनेन दमनकेन सन्तोषितः, स्वां प्रकृतिमापन्नः, पिङ्गलकः, सिंहासने समुपविष्टः। दमनकश्च प्रहृष्टमना भूत्वा 'विजयतां महाराजः, शुभमस्तु सर्वजगताम्' इत्युक्त्वा यथासुखमवस्थितः ॥*॥

सत्येति । सत्या = सत्याऽपि, अनृता=मिथ्याघटिता, परुषा = रूक्षाऽपि । प्रियवादिनी = मधुरभाषणप्रवणा । हिंस्रा=हिंसापराऽपि,-दयालुः । अर्थपरा= अर्थसङ्ग्रहपराऽपि । वदान्या = त्यागप्रवणा । प्रचुररत्नधनागमा = बहुलरत्न-द्रविणोपार्जनपरा । वाराङ्गना=वेश्या । अनेकरूपा=विरुद्धनानारूपा ॥ १८७ ॥
आपन्नः=आप्तः । प्रहृष्टमनाः=प्रसन्नमानसः । यथासुखं=सुखं यथा

और भी विशेष करके—राजाओं की नीति, वेश्याओं की तरह ही—सच और झूठ से मिश्रित होती है, और वह कठोर होते हुए भी प्रिय बोलने वाली होती है, और क्रूर तथा हिंसा परायण होते हुए भी दया करने वाली होती है। और अर्थ परायण (धन संग्रह करने वाली, कौड़ी २ को कड़ाई से वसूल करने वाली) होती हुई भी उदारता से धन व्यय करने वाली भी होती है। और नित्य असीम धन का व्यय करने वाली (खर्चीली) होते हुए भी प्रचुर धन और रत्नों की आमदनी करनेवाली होती है। इस प्रकार राजाओं की नीति वेश्याओं के समान ही अनेक (परस्पर विरुद्ध) रूप वाली होती है। उसका भेद पाना कठिन होता है। वेश्याएँ भी इसी प्रकार की नाना कपट रचनाएँ किया ही करती है ॥ १८७ ॥

इस प्रकार दमनक के समझाने पर वह पिङ्गलक अपने प्रसन्न स्वभाव को प्राप्त हो, सिंहासन पर जा कर बैठ गया। और तब दमनक ने कहा—महाराज की जय हो। संपूर्ण जगत् का कल्याण हो। यह कहकर वह भी सुख से बैठ गया।

विष्णुशर्मोवाच—'सुहृद्भेदः श्रुतस्तावद्भवद्भिः ? ।'
राजपुत्रा ऊचुः—'भवत्प्रसादाच्छ्रुत्वा[1] सुखिनो भूता वयम्' ।
विष्णुशर्माऽब्रवीत्,—अपरमपीदमस्तु—

'सुहृद्भेदस्तावद्भवतु भवतां शत्रुनिलये,
खलः कालाऽऽकृष्टः प्रलयमुपसर्पत्वहरहः ।
जनो नित्यं भूयात्सकलसुखसम्पत्तिवसतिः,
कथाऽऽरामे रम्ये सततमिह बालोऽपि रमताम्' ।११८।

इति श्रीविष्णुशर्मकृते हितोपदेशे सुहृद्भेदो नाम द्वितीयः कथासंग्रहः ।

स्यात्तथा । प्रसादात् = कृपया । अपरमपि = अन्यदपि (और भी) ।

सुहृदिति । भवतां ये शत्रवस्तेषां निलये=गृहे । खलः=दुष्टः । कालाऽऽकृष्टः= यमाकृष्टः, दुर्दैवाकृष्टः सन्निति वा । प्रलय = विनाशम् । उपसर्पतु = गच्छतु । अहरहः = प्रतिदिनम् । सकलसुखसम्पत्तिवसतिः = सम्पूर्णकल्याणसमृद्धिनिवासः । कथाऽऽरामे = हितोपदेशकथाप्रसङ्गरूपे उपवनेऽस्मिन् । सततं = निरन्तरम् । बालोऽपि । अपिशब्दाद्युवाऽपि, वृद्धोऽपि च । रमतां = क्रीडतु । प्रसीदताम् ॥ १८८ ॥

इति मरुमण्डलमार्तण्ड-विद्वद्धौरेय-श्रीशङ्करावतार-तर्करत्न श्री १०८ श्रीसनेहीरामजी-शास्त्रिणाम्पौत्रेण, न्यायाचार्य-पण्डितप्रकाण्ड-श्री १०८ श्रीशिवनारायणजी-शास्त्रिणान्तनूजन्मना, न्याय-व्याकरण-दर्शनाचार्य-श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिणा विरचितायां हितोपदेशाभिनवराजलक्ष्म्यां द्वितीयं सुहृद्भेदप्रकरणम् ।

तब विष्णुशर्मा बोले कि—हे राजपुत्रो ! आप लोगों ने सुहृद्भेद तो सुन ही लिया ।

राजपुत्र बोले कि—आपके प्रसाद से सुन लिया, और हम लोग इससे बड़े ही प्रसन्न और सुखी हुए । विष्णुशर्मा बोले कि—अच्छा, दूसरा यह भी हो, कि—

आपके शत्रुओं के घर में सुहृद्भेद (परस्पर लड़ाई, फूट) हो, दुष्टजन काल के वश होकर प्रतिदिन प्रलय (विनाश) को प्राप्त हों, सभी मनुष्य सदा सम्पूर्ण सुख सम्पत्ति के भण्डार बनें । और इस संसार में बालक भी इस सुन्दर कथा रूपी आराम (बगीचे में, प्रसङ्ग में) निरन्तर क्रीडा करें । अर्थात् इसे पढ़े और मनन करें ॥ १४८ ॥

हितोपदेश का 'सुहृद्भेद' नामक दूसरा कथा संग्रह समाप्त ।

---

१. 'च्छ्रुतः । सुखिनो' ।

अथ विग्रहः ।

अथ पुनः कथाऽऽरम्भकाले राजपुत्रा[1] ऊचुः–'आर्य ! राजपुत्रा वयम् । तद्विग्रहं श्रोतुं नः कुतूहलमस्ति ।' विष्णुशर्मणोक्तम्[2]–'यदेव भवद्भ्यो रोचते तत् कथयामि । विग्रहः श्रूयतां, यस्याऽयमाद्यः श्लोकः—

'हंसैः सह मयूराणां विग्रहे तुल्यविक्रमे ।
विश्वास्य वञ्चिता हंसाः काकैः स्थित्वाऽरिमन्दिरे' ॥ १ ॥

राजपुत्राः ऊचुः—कथमेतत् ? । विष्णुशर्मा कथयति—

❀ अभिनवराजलक्ष्मीः ❀

विग्रहं = युद्धम् । नः = अस्माकम् ॥ यदेव=युद्धमेव । यस्य = विग्रहतन्त्रस्य । हंसैरिति । तुल्यविक्रमैः=समानपराक्रमैः । तुल्यबलैः । अरिमन्दिरे= शत्रु-राज—हंसमन्दिरे, स्थित्वा विश्वास्य काकैर्हंसा वञ्चिता इत्यन्वयः ॥ १ ॥

भाषाटीका

इसके बाद फिर कथा के आरम्भ के समय वे राजपुत्र बोले कि–'हे आर्य ! हम लोग राजपुत्र (क्षत्रिय) हैं । इसलिये हम लोगों को विग्रह (युद्ध) सुनने का बड़ा चाव (कौतुक, लालसा) है । यह सुनकर विष्णुशर्मा जी बोले, कि– जो (विग्रह) आप लोगों का रुचिकर है, वही मैं वर्णन करता हूँ । अब आप लोग विग्रह का वर्णन सुनिये । जिसका पहला श्लोक यह है—

समान पराक्रम वाले हँसों के साथ मयूरों के युद्ध में कौवों ने शत्रु हँसों के स्थान में ठहर कर और उन्हें विश्वास देकर (उन हँसों को धोखा देकर) पराजित करा दिया था ॥ १ ॥

राजपुत्र बोले–यह कथा कैसे है ? । विष्णुशर्मा कहने लगे कि—

१. 'राजपुत्रैरुक्तम्' । २ 'विष्णुशर्मोवाच' ।

'अस्ति कर्पूरद्वीपे पद्मकेलिनामधेयं सरः। तत्र हिरण्यगर्भो नाम राजहंसः प्रतिवसति। स च सर्वैर्जलचरैः पक्षिभिर्मिलित्वा पक्षिराज्ये-ऽभिषिक्तः। यतः—

'यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेता, ततः प्रजा।
अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव' ॥ २ ॥

अपरञ्च—

'प्रजां संरक्षति नृपः, सा वर्द्धयति पार्थिवम्।
वर्द्धनाद्रक्षणं श्रेयस्तदभावे सदप्यसत्' ॥ ३ ॥

पद्मकेलिनामधेयं=पद्मकेलिनामकम्। तत्र=सरसि। अभिषिक्तः=स्थापितः।

यदीति। यदि सम्यक् प्रकारेण नेता=पालकः, नरपतिः=राजा, न स्यात्ततः=तदा, प्रजा-इह=जगति। जलधौ=सागरे। अकर्णधारा=नाविकशून्या, नौरिव=तरणिरिव-विप्लवेत=जले निमज्जेत् ॥ २ ॥

सा=प्रजा। पार्थिवं=राजानम्। वर्द्धनात्=धनधान्यवर्द्धनात्। रक्षणम्=उपार्जितधनरक्षणं, श्रेयः=श्रेष्ठम्। तदभावे=राजाऽभावे। सत्=शोभनमपि,

कर्पूरद्वीप में पद्मकेलिनामका एक सरोवर (झील या तालाब) है। जहाँ हिरण्य-गर्भ नाम का राजहंस रहता था। और उसे सब जलचर पक्षियों ने मिलकर पक्षियों के राज्य पर अभिषिक्त करा दिया था, अर्थात् उसे पक्षियों का विधिवत् राजा बना दिया था।

क्योंकि—यदि कोई अच्छा राजा प्रजा का नेता (रक्षक) नहीं हो, तो प्रजा—बिना मल्लाह के नाव की समान ही इस अथाह संसार सागर में डूब जाती है ॥ २ ॥

और भी—राजा प्रजा की रक्षा करता है, और वह प्रजा भी राजा को कर देकर उसे बढ़ाती है। परन्तु बढ़ाने की अपेक्षा से प्रजा की रक्षा करना ही अधिक श्रेष्ठ है। क्योंकि उसके अभाव में, अर्थात् ठीक २ रक्षा नहीं करने से, जो वस्तु (धन आदि) है, वह भी नहीं होने के समान ही हो जाती है। और राजा के

एकदाऽसौ राजहंसः सुविस्तीर्णकमलपर्यङ्के सुखाऽऽसीनः परिवार-परिवृतस्तिष्ठति। ततः [1]कुतश्चिद्देशादागत्य दीर्घमुखो नाम बकः प्रणम्यो-पविष्टः। राजोवाच—'दीर्घमुख! देशाऽन्तरादागतोऽसि, वार्त्तां कथय।' स ब्रूते—'देव! अस्ति महती वार्त्ता। [2]तामाख्यातुकाम एव सत्वरमागतो-ऽहम्। श्रूयताम्—

'अस्ति जम्बुद्वीपे विन्ध्यो नाम गिरिः। तत्र चित्रवर्णो नाम मयूरः पक्षिराजो निवसति। तस्याऽनुचरैश्चरद्भिः पक्षिभिरहं [3]दग्धाऽरण्यमध्ये चरन्नवलोकितः, पृष्टश्च—'कस्त्वम्?। कुतः समागतोऽसि'?।' [4]तदा

विद्यमानमपि च धनादिकम्। असत् = नष्टमेव। यद्वा धनादिकम् अशोभनमेव, यतो राजानं विनोपार्जितस्यापि धनस्य विनाशादित्यर्थः॥ ३॥

सुविस्तीर्णं कमलमेव मञ्चकस्तस्मिन्। परिवारपरिवृतः = स्वजनपरिवेष्टितः। बकः = कङ्कः (बगुला)। सः = बकः। महती = नितरां गुर्वी। आख्यातुकामः = वक्तुकामः। सत्वरं = सवेगम्। दग्धाऽरण्यमध्ये = तन्नाम्ना प्रसिद्धे कानने।

विना प्रजा की कोई भी वस्तु सुरक्षित नहीं रह सकती है, अतः राजा का कार्य बहुत ही गौरव पूर्ण है॥ ३॥

कुछ काल के बाद एक समय वह राजहंस बहुत विस्तृत कमल की शय्यापर अपने परिवार के साथ सुख से बैठा था, कि उसी समय किसी देश से आकर दीर्घमुख नामक एक बगला प्रणाम कर बैठ गया। तब वह राजा बोला कि—हे दीर्घमुख! तुम दूर देशान्तर से आए हो, अतः तुम वहाँ का देखा सुना हुआ कुछ नया समाचार कहो'। तब वह बोला कि—'हे देव! एक बड़े ही महत्त्व की बात मुझे आपसे कहनी है। उसे कहने को ही मैं शीघ्रता से यहाँ आया हूँ। सुनिये, जम्बूद्वीप में एक विन्ध्याचल पर्वत है। वहाँ पक्षियों का राजा चित्रवर्ण नाम का एक मयूर (मोर) रहता है। वन में फिरते हुए उसके अनुचर पक्षियों ने दग्धारण्य में चरते हुए मुझे देख कर पूछा कि—तुम कौन हो, और कहाँ

१. 'कुतोऽपि देशा'। २ 'तां वक्तुं सत्वर'। ३. 'दीर्घारण्यमध्ये' पा०। ४ 'ततो मयोक्तं'।

मयोक्तम्—'कर्पूरद्वीपस्य राजचक्रवर्त्तिनो हिरण्यगर्भस्य राजहंसस्याऽनुचरोऽहं, कौतुकाद्देशान्तरं द्रष्टुमागतोऽस्मि।' एतच्छ्रुत्वा पक्षिभिरुक्तम्—'अनयोर्देशयोः को देशो भद्रतरो, राजा च'?।

[1]ततो मयोक्तम्—'आः किमेवमुच्यते, महदन्तरम्। यतः कर्पूरद्वीपः स्वर्ग[2]एव, राजहंसश्च द्वितीयः स्वर्गपतिः, कथं वर्णयितुं शक्यते। अत्र मरुस्थले पतिता यूयं किं कुरुथ, [3]अस्मद्देशे गम्यताम्।'

ततोऽस्मद्वचनमाकर्ण्य सर्वे [4]पक्षिणः सकोपा बभूवुः। तथा चोक्तम्—

'पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्द्धनम्।
उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय, न शान्तये' ॥ ४ ॥

राजचक्रवर्तिनः=राजमण्डलाधिपस्य। महाराजाधिराजस्य। सम्राजः। अनुचरः=सेवकः। भद्रतरः=श्रेष्ठः। अनयोर्मध्ये को वा राजा भद्रतर इति योजना। स्वर्गः देशः = स्वर्गप्रदेशवद्रमणीयः। द्वितीयः = अपरः। स्वर्गपतिः = इन्द्रः। मरुस्थले = मरुस्थलवदसुखकरे ॥ पयःपानं = दुग्धपानम्। भुजङ्गानां=सर्पाणाम्। केवलं = नितराम्। विषवर्द्धनं = विषोत्तेजकमेव भवति ॥ ४ ॥

से आए हो?। तब मैंने कहा कि—'मैं कपूरद्वीप के चक्रवर्ती राजा हिरण्यगर्भ राजहंस का सेवक हूँ, और कौतुक वश ही इस देश को देखने आया हूँ। यह सुनकर उन पक्षियों ने मुझसे कहा कि—इन दोनों देशों में कौन सा देश श्रेष्ठ है, और इनमें से कौन सा राजा श्रेष्ठ है?। मैंने कहा--ओह! तुम लोग यह क्या कहते हो?। इन दोनों में तो बड़ा अन्तर है। क्योंकि--कर्पूरद्वीप तो दूसरा स्वर्ग ही है। और वहाँ का राजा राजहंस भी उस स्वर्ग का राजा दूसरा इन्द्र ही है। उनका क्या वर्ण किया जाए, उनका तो वर्णन हो ही नहीं सकता है। और तुम लोग यहाँ इस निर्जल रेतीले स्थल में पड़े हुए सब क्या करते हो?। मेरे देश में चलो। फिर मेरे इस वचन को सुन कर वे सब पक्षी बड़े क्रुद्ध हुए।

किसी ने ठीक ही कहा है—जैसे सर्पों को दूध पिलाना केवल उनका विष ही बढ़ाना है, वैसे ही मूर्खों को भी उपदेश देना केवल उनके कोप को बढ़ाने के लिए ही होता है, उनकी शान्ति के लिए नहीं ॥ ४ ॥

---

१. 'ततः' इति क्वचिन्न। २ 'स्वर्गैकदेशः। 'राजा च द्वितीयः। ३ 'आगच्छत, अस्मद्देशे'। ४ 'सर्वे सकोपाः' इति, 'पक्षिणः सकोपाः' इति च पा०।

अन्यच्च—

'विद्वानेवोपदेष्टव्यो, नाऽविद्वांस्तु कदाचन ।
वानरानुपदिश्याऽथ[1] स्थानभ्रष्टा ययुः खगाः' ॥ ५ ॥

राजोवाच—'कथमेतत्' ? । दीर्घमुखः कथयति—

१ पक्षि-वानर-कथा ।

अस्ति नर्मदातीरे पर्वतोपत्यकायां विशालः शाल्मलीतरुः । तत्र निर्मितनीडक्रोडे पक्षिणः सुखेन निवसन्ति । अथैकदा वर्षासु नीलपटैरिव जलधरपटलैरावृते नभस्तले, धाराऽऽसारैर्महती वृष्टिर्बभूव । ततो वानरांश्च[2] तरुतलेऽवस्थिताञ्शीताऽऽ[3]कुलान्कम्पमानानवलोक्य, कृपया पक्षिभिरुक्तम्—'भो भो वानराः !. शृणुत[4]—

अविद्वान् = मूर्खः । खगाः = पक्षिणः ॥ ५ ॥

पर्वतोपत्यकायां = पर्वताऽऽसन्नभूम्याम् । 'उपत्यकाऽद्रेरासन्ना भूमि'रित्यमरः । नीडक्रोडे = कुलायकुहरे । (घोंसले में) । जलधरपटलैः=मेघवृन्दैः । धारासारैः=

और कहा भी है, कि—विद्वान् ही को उपदेश देना चाहिये, मूर्खों को तो कभी कुछ उपदेश नहीं देना चाहिए, क्योंकि वानरों को उपदेश देने से ही वे सब पक्षी स्थानभ्रष्ट हो गए थे ॥ ५ ॥

राजा बोला कि—यह कथा कैसे है ? । तब वह दीर्घमुख कहने लगा कि—

नर्मदा के किनारे पर्वत के पास की तरहटी में एक बड़ा भारी सेमर का वृक्ष है । उस वृक्ष पर अपने २ घोंसले बना कर पक्षी गण बड़े ही सुख से रहते थे । इसके अन्तर एक समय बरसात में नील वस्त्रों की समान ही घोर नीले २ बादलों से जब आकाश आच्छादित हो रहा था उसी समय आँधी के साथ ही बड़े वेग से घोर वर्षा भी हो गई ।

तदनन्तर वृक्ष के नीचे बैठे हुए, शीत से पीड़ित, ठिठुरे हुए, और काँपते हुए वानरों को देख कर, उन पक्षियों ने कृपापूर्वक उन से कहा—हे वानरों ! आप लोग सुनिए—

१. उपदिश्याऽज्ञान्' । २'वानरान् तरुतले' । ३ 'शीतार्त्तान्' । ४ 'श्रूयताम्' ।

'अस्माभिर्निर्मिता नीडाश्चञ्चुमात्राऽऽहृतैस्तृणैः ।
हस्तपादाऽऽदिसंयुक्ता यूयं किमवसीदथ' ! ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा वानरैर्जाताऽमर्षैरालोचितम्—'अहो ! निर्वातनीडगर्भाऽवस्थिताः सुखिनः पक्षिणोऽस्मान्निन्दन्ति ! । [1]तद् भवतु तावद्वृष्टेरुपशमः' । अनन्तरं शान्ते पानीयवर्षे, तैर्वानरैर्वृक्षमारुह्य. सर्वे नीडा भग्नाः तेषामण्डानि चाऽधः पातितानि । अतोऽहं ब्रवीमि 'विद्वानेवोपदेष्टव्यः' इत्यादि ॥ ॥

राजोवाच-[2]'ततस्तैः पक्षिभिः किं कृतम्' ? ।

[3]बकः कथयति—'ततस्तैः पक्षिभिः कोपादुक्तं—'केनाऽसौ राजहंसो

धारासम्पातैः । 'आसारो वेगवान्वर्षः' इति कोशः ॥ नीडाः=कुलायाः । (घोंसला)। चञ्चुमात्राहृतैः=चञ्चुमात्रानीतैः । किं=कस्मात् । अवसीदथ=क्लिश्यध्वम् ॥ ६ ॥

जाताऽमर्षैः=जातक्रोधैः । निर्वातनीडगर्भावस्थिताः = वायुरहितकुलायमध्यस्थाः । उपशमः = निवृत्तिः । (वर्षा रुकने दो, तब इनको समझेंगे) ।

हम लोगों ने तो केवल अपनी छोटी सी चोंच से ही तृण लाकर ये अपने घोंसले बनाए हैं, फिर हाथ पैर आदि से युक्त होने पर भी आप लोग इस तरह क्यों दुःखी हो रहे हो ? । आप लोग भी अपने रहने लायक घर क्यों नहीं बनाते हैं ? ।

यह बात सुन कर उन वानरों ने क्रोधित होकर मन ही मन विचारा कि—अहो ! वायु और वर्षा के कष्टों से रहित घोंसलों में रहने के कारण ही ये सुखी पक्षी लोग हमारी निन्दा करते हैं । अच्छा वृष्टि को शान्त होने दो, तब इन्हें हम समझेंगे । इसके अनन्तर जब वर्षा शान्त हो गई, तब उन वानरों ने वृक्षों पर चढ़कर उनके सब घोंसले तोड़ डाले और उनके अण्डे भी नीचे गिरा दिये । इसी लिये मैं कहता हूँ, कि—'विद्वानों ही को उपदेश देना चाहिए, मूर्खों को नहीं' इत्यादि ॥

राजा बोला कि—फिर उन पक्षियों ने क्या किया ? । तब वह बगला बोला कि—फिर उन पक्षियों ने क्रोध से कहा कि, उस राजहंस को किसने राजा बनाया

---

१. 'त'दिति क्वचिन्न । २ 'तदा पक्षिभिः किमुक्त' । ३ 'दीर्घमुखः कथयति' ।

राजा कृतः' ? । ततो मयोपजातकोपेनोक्तम्—'अयं युष्मदीयो मयूरः केन राजा कृतः' ? । एतच्छ्रुत्वा ते [1]पक्षिणो मां हन्तुमुद्यताः। ततो मयाऽपि स्वविक्रमो दर्शितः, । यतः—

'अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेव योषितः[2] ।
पराक्रमः परिभवे, वैयात्यं सुरतेष्विव' ॥ ७ ॥

राजा विहस्याऽऽह—

'आत्मनश्च परेषां च यः समीक्ष्य बलाऽबलम् ।
अन्तरं नैव जानाति, स तिरस्क्रियतेऽरिभिः' ॥ ८ ॥

उपजातकोपेन = सञ्जातक्रोधेन । युष्मदीयः=त्वदीयः । (तुमारा) । स्वविक्रमः = स्वपराक्रमः ॥

अन्यदेति । पराभवाऽतिरिक्ते काले, योषितः=स्त्रियाः, लज्जेव-व्रीडेव, पुंसः =पुरुषस्यापि, क्षमा भूषणम् । परिभवे=तिरस्कारकाले तु, पुंसः पराक्रमो भूषणम् । सुरतेषु स्त्रिया यथा वैयात्य=धाष्टर्यं भूषणं, तद्वदित्यर्थः ॥ ७ ॥

अन्तर = प्रभेदम् । बलाऽबलम् ॥ ८ ॥

है ! । तब मैं भी बड़े क्रोध से बोला, कि–तुम्हारे इस मोर को भी किसने राजा बनाया है ? । यह सुन कर वे सब मुझे मारने लगे । तब मैने भी अपना पराक्रम दिखाया और मैंने भी उनको खूब मारा ।

क्योंकि—अपने अपमान से और जगह तो पुरुषों का क्षमा ही भूषण है, जैसे स्त्रियों का भूषण लज्जा है, उसी तरह पुरुषों का भी स्वपराभवातिरिक्त समय में क्षमा ही भूषण है । परन्तु अपमान होने पर तो पुरुषों का पराक्रम ही भूषण है, जैसे स्त्रियों का रति के समय धृष्टता पूर्वक अनेक प्रकार से रति क्रीडा करना ही भूषण (शोभादायक) है ॥ ७ ॥

तब राजा हँसकर बोला कि—

अपने और दूसरों के बलाबल को देखकर भी जो मूर्ख दोनों में अन्तर (वैषम्य, भेद,) नहीं जानता है, वह शत्रुओं से अवश्य ही तिरस्कार पाता है ॥ ८ ॥

१. 'ते सर्वे मां' । २ 'योषिताम्' ।

'सुचिरं हि चरन्नित्यं क्षेत्रे सस्यमबुद्धिमान् ।
द्वीपिचर्मपरिच्छन्नो, वाग्दोषाद् गर्दभो हतः' ॥ ६ ॥

बकः पृच्छति—कथमेतत् ? । राजा कथयति—

२. व्याघ्रचर्मावृतगर्दभकथा ।

अस्ति हस्तिनापुरे विलासो नाम रजकः । तस्य[1] गर्दभोऽतिभार-वहनाद् दुर्बलो मुमूर्षुरिवाऽभवत् । ततस्तेन रजकेनाऽसौ व्याघ्रचर्मणा प्रच्छाद्याऽरण्यसमीपे सस्यक्षेत्रे विमुक्तः[2] । ततो दूरात्तमवलोक्य व्याघ्रबुद्ध्या क्षेत्रपतयः सत्वरं पलायन्ते ।

अथैकदा केनाऽपि सस्यरक्षकेण धूसरकम्बलकृततनुत्राणेन धनुष्काण्डं

अबुद्धिमान्=मूर्खः । द्वीपिचर्मपरिच्छन्नः=व्याघ्रचर्मावगुंठितः । वाग्दोषात् =केवल स्ववाक्चापलात् । हतः = क्षेत्रपतिना व्यापादितः ॥ ६ ॥

रजकः = निर्णेजकः । (धोबी) । असौ=गर्दभः । व्याघ्रबुध्या=व्याघ्रोऽयमिति-बुद्धया । सस्यरक्षकेण = धान्यरक्षकेण क्षेत्रपतिना । धूसरकम्बलकृततनुत्राणेन=

और भी—चीते का चमड़ा ओढ़कर एक मूर्ख गदहे ने बहुत दिनों तक पराए खेतों में यथेच्छ धान्य खाया, परन्तु वह केवल अपने अनवसर बोलने के ही दोष से मारा गया ॥ ६ ॥

तब बगुले ने पूछा—यह कथा कैसे है ? । राजा कहने लगा कि—

हस्तिनापुर में विलास नाम का एक धोबी रहता था । उसका गधा बहुत बोझ ढोने से दुर्बल होकर मरणासन्न हो गया था । तब उस धोबी ने उसे चीते की खाल ओढा कर, वन के समीप अन्न के किसी खेत में छोड़ दिया । तदनन्तर दूर से ही उसे देख कर व्याघ्र जानकर खेतों के स्वामी लोग शीघ्र भाग जाते थे । कुछ काल के बाद एक समय कोई अन्न का रक्षक धूसर (मटमैले, धूमिल

---

१. 'यस्य' । २ 'मोचितः' ।

[1]सज्जीकृत्याऽऽनतकायेनैकान्ते स्थितम्। तं[2]च दूराद् दृष्ट्वा गर्दभः पुष्टाङ्गो, यथेष्टसस्यभक्षणजातबलो, 'गर्दभोऽय'मिति मत्वोच्चैःशब्दं कुर्वाण-स्तदभिमुखं धावितः। ततस्तेन सस्यरक्षकेण चीत्कारशब्दात् गर्दभोऽय'-मिति निश्चित्य[3], लीलयैव व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'सुचिरं हि चरन्नित्यम्'—इत्यादि ॥ ❀ ॥

दीर्घमुखो ब्रूते—'ततः पश्चात् तैः पक्षिभिरुक्तम्—'अरे पाप दुष्टबक! अस्माकं भूमौ चरन्नस्माकं स्वामिनमधिक्षिपसि!। तन्न क्षन्तव्यमिदा-नीम्'। इत्युक्त्वा सर्वे मां चञ्चुभिर्हत्वा, सकोपा ऊचुः—'पश्य रे मूर्ख! स हंसस्तव राजा सर्वथा मृदुः। तस्य [4]राज्याऽधिकारो नास्ति। यत

धूम्रवर्णकम्बलकृताऽवगुण्ठनेन। धनुष्काण्ड=धनुर्दण्डं। सज्जीकृत्य=सज्यं कृत्वा। अव-नतकायेन = विनम्रदेहेन। तञ्च=सस्यरक्षकञ्च। यथेष्टसस्यभक्षणजातबलः=यथाभि-लषितधान्यभक्षणोपजातबलः। तदभिमुखं = सस्यरक्षकाऽभिमुखम्। लीलयैव = अनायासेनैव, झटिति। पाप = हे पापात्मन्। अधिक्षिपसि = निन्दसि। मृदुः =

रंग) के कम्बल से अपने शरीर की रक्षा करके (कम्बल ओढ़कर) धनुष बाण हाथ में लेकर, बाण चढ़ाकर, नीचो काया करके (छिप करके) एकान्त में बैठ गया। और इच्छा पूर्वक (भर पेट) अन्न खाने से अत्यन्त बलवान्, और पुष्ट शरीर वाला वह गदहा 'यह भी कोई गधा ही है' ऐसा जानकर, ऊँचा शब्द करता (रेंकता) हुआ, उसके सन्मुख दौड़ा। तब धान के रक्षक ने गदहे के चीत्कार शब्द से निश्चय करके यह जान लिया कि—'यह गधा ही है।' और उसी समय उसे सहज ही बाण से मार गिराया। इससे मैं कहता हूँ कि—'चिरकाल से खेतों में चरता हुआ वह गदहा बोलने से ही मारा गया' इत्यादि।

तब दीर्घमुख बोला कि,—ब उन पक्षियों ने कहा—अरे दुष्ट! पापी बक! हमारी ही भूमि में चरता है, और हमारे ही स्वामी की निन्दा करता है!। इसलिये तूँ अब क्षमा करने योग्य नहीं है। यह कह कर वे सब मुझे चोंच से मारते हुए क्रोध से बोले कि—'देख रे मूर्ख! वह तेरा राजा राजहंस तो नितान्त कोमल प्रकृति का (बुद्धू) ही है। अतः वह राज्य के अधिकार के योग्य नहीं है। क्योंकि वह

१. 'अवनतकायेन'। २ 'ततस्तञ्च'। ३ 'ज्ञात्वा'। ४ राज्येऽधिकारो' पा०।

एकान्तमृदुः करतलस्थमप्यर्थं रक्षितुमक्षमः। स कथं पृथिवीं शास्ति ?, राज्यं वा तस्य किम् ?। त्वं च कूपमण्डूकः, तेन तदाऽऽश्रयमुपदिशसि'। शृणु—

'सेवितव्यो [1]महावृक्षः फलच्छायासमन्वितः।
यदि दैवात्फलं नास्ति, छाया केन निवार्यते' ? ॥ १० ॥

अन्यच्च—

'हीनसेवा न कर्त्तव्या, कर्त्तव्यो महदाश्रयः।
पयोऽपि शौण्डिकीहस्ते 'वारुणी'त्यभिधीयते' ॥ ११ ॥

कोमलः। निर्वीर्यः। निस्तेजा इति यावत्। एकान्तमृदुः=नितरां कोमलः। अर्थं=वस्तु। शास्ति=रक्षति। कूपमण्डूकः=कूपमण्डूकवद्देशान्तरीयसुखाद्यनभिज्ञः। वृक्षाश्रयणं=राजहंसाख्यस्वराजाश्रयणम्। निवार्यते=निषिध्यते ॥ १० ॥ महदाश्रयः =महत्सेवा। पयः=दुग्धमपि। शौण्डिकीहस्ते=कल्यपालस्त्रीहस्ते। मद्यपीहस्ते। (कलवार की स्त्री के हाथ में)। वारुणी=मद्यम् ॥ ११ ॥

नितान्त कोमल (दुर्बल) पुरुष होने के कारण अपनी हथेली में रक्खे हुए धन की भी रक्षा करने में समर्थ नहीं है, तब वह पृथ्वी (राज्य) की रक्षा कैसे कर सकता है ?। और उसका राज्य ही किस गिनती में है ?। और तूँ भी कूपमण्डूक=कुएँ का मेढक ही है, इसीसे तूँ उसके आश्रय का हमें उपदेश देता है। सुन—

फल और छाया से युक्त किसी महान् वृक्ष का ही आश्रय लेना चाहिए। क्योंकि जो कदाचित् वह वृक्ष दैव योग से फलहीन भी हो जाए तो भी उसकी छाया को कौन रोक सकता है ? ॥ १० ॥

और भी--नीच की सेवा कभी नहीं करनी चाहिए। किन्तु बड़े का ही आश्रय करना चाहिये। देखो, शौण्डिकी (कलवारिन) के हाथ में यदि दूध भी हो तो भी वह मदिरा ही समझा जाता है ॥ ११ ॥

१. 'महान् वृक्षः' पा०।

[1]अन्यच्च—

'महदप्यल्पतां याति निर्गुणे गुणविस्तरः ।
आधाराऽऽधेयभावेन गजेन्द्र इव दर्पणे' ॥ १२ ॥

किन्तु,—

'अजा सिंहप्रसादेन वने चरति निर्भयम् ।
राममासाद्य लङ्कायां लेभे राज्यं विभीषणः' ॥ १३ ॥

विशेषतश्च—

'व्यपदेशेऽपि सिद्धिः स्यादतिशक्ते नराधिपे ।
शशिनो व्यपदेशेन [2]शशकाः सुखमासते' ॥ १४ ॥

महानपि गुणविस्तरः=गुणसमूहः, आधाराधेयभावेन = आश्रयाश्रयिभावेन । आश्रयस्य निर्गुणस्य दोषवत्तया, स्वल्पतया च, आश्रयदोषेण । निर्गुणे–गुणशून्ये । अल्पतां = सङ्कोचं, याति = गच्छति । दर्पणे = आदर्शे । गजेन्द्र इव = हस्तीव ॥ १२ ॥ अजा = छागी । (बकरी) । आसाद्य=आश्रित्य ॥ १३ ॥

अतिशक्ते = बलिनि । नराधिपे = राजनि सति । व्यपदेशेऽपि = तन्नामग्रहणेऽपि । सिद्धिः=कार्यसिद्धिः । शशिनः=चन्द्रमसः । व्यपदेशेन=नामग्रहणेन ।

और भी—आधार (रहने का स्थान) और आधेय (रहने वाले) के स्वभाव से, निर्गुणी मनुष्य में स्थित महान् गुणों का समूह भी स्वल्पता को ही प्राप्त होता है । जैसे छोटे से दर्पण में बड़ा हाथी भी छोटा ही दीखता है ॥ १२ ॥

किन्तु—सिंह की कृपा (सिंह के आश्रय) से बकरी भी जङ्गल में निर्भय होकर चरती है । जैसे श्रीरामजी के प्रताप से ही विभीषण ने लङ्का का राज्य प्राप्त कर लिया था ॥ १३ ॥

और विशेषतः—बड़े प्रतापी, अत्यन्त प्रबल, शक्तिमान् राजा के नाम लेने से भी लोगों के कार्यों की सिद्धि हो जाती है । जैसे शशी (चन्द्रमा) का नाम लेने से वे खरगोश सुख से रहने लगे थे ॥ १४ ॥

१. 'अपरञ्च' । २ 'वसन्ति शशकाः सुखम्' ।

मयोक्तं- कथमेतत्? । पक्षिणः कथयन्ति—

३ गज-शशककथा ।

कदाचिद्वर्षास्वपि वृष्टेरभावात्तृषार्त्ता गजयूथा यूथपतिमाह—'नाथ ! कोऽभ्युपायोऽस्माकं जीवनाय ?। नाऽस्ति क्षुद्रजन्तूनाम्[१अपि] निमज्जन-स्थानम्। वयं च निमज्जनस्थानाऽभावान्मृता[२], अन्धा इव किं कुर्मः ?, क यामः ?'। ततो हस्तिराजो नाऽतिदूरं गत्वा निर्मलं ह्रदं दर्शितवान्।

ततो दिनेषु गच्छत्सु तत्तीरावस्थिता[३] क्षुद्रशशका [४]गजपादाऽऽहति-भिश्चूर्णिताः। अनन्तरं शिलीमुखो नाम शशकश्चिन्तयामास-'अनेन गजयूथेन पिपासाऽऽकुलितेन प्रत्यहमत्राऽऽगन्तव्यम्, [५]ततो विनष्टमस्मत्कुलम्।'

तृषाऽऽर्त्तः=पिपासाऽऽतुरः। यूथपतिं=गजयूथाऽधिपम्। अभ्युपायः=उपायः। क्षुद्रजन्तूनां=मृगसूकरादीनां स्वल्पानां जन्तूनामपि। निमज्जनस्थानं=स्नानयोग्यो जलाशयः। 'किं पुनरस्माक'मिति शेषः। निमज्जनं=स्नानम्। क्षुद्रशशकाः= स्वल्पकायाः शशकाः। गजयूथपादाऽऽहतिभिः=तत्पादताडनैः। तेषां पादाऽऽघातः।

मैने कहा—यह कथा कैसे है ?। वे पक्षी बोले—

एक समय वर्षाऋतु में भी वर्षा नहीं होने के कारण, प्यास से व्याकुल (पीडित) होकर हाथियों का यूथ (झुण्ड) व्याकुल होकर अपने यूथपति से बोला कि—हे नाथ (हे महाराज!) हमारे जीनका अब क्या उपाय है ?। क्योंकि छोटे २ जीवों के स्नान करने लायक भी स्थान (जलाशय) कहीं नहीं रहा है। और हम लोग स्नान के योग्य स्थान (जलाशय) न होने से मृतक के समान और अन्धे के समान हो रहे हैं। कहिए, अब हम लोग क्या करें ?, और कहाँ जाएँ ?। यह सुन कर हाथियों के राजा ने जाकर समीप में एक निर्मल तलाब उन्हें दिखला दिया। पीछे कुछ दिन बीतने पर उसके किनारे पर रहने वाले बहुत से छोटे छोटे खरगोश हाथियों के पैरों की ठोकरों से मरगए, और बहुत से पैरों के नीचे दबकर मर गये। तब शिलीमुख नाम का एक खरगोश विचार करने लगा (और बोला) कि—तृषा से पीडित होकर हाथियों का यह झुण्ड प्रतिदिन यहाँ आवेगा, और इससे हमारा कुल ही नष्ट हो जाएगा। यह सुन

१ 'अपिः क्वचिन्न'। २ वयञ्च निमज्जनाऽभावादन्धा इव क यामः, किं वा कुर्मः'। ३ 'तत्तीरस्थिता'। ४ 'गजयूथ'। ५ 'अतो'।

ततो विजयो नाम वृद्धशशकोऽवदत्-'मा विषीदत, [1]मयाऽत्र प्रतीकारः कर्त्तव्यः।' ततोऽसौ प्रतिज्ञाय चलितः। गच्छता च तेनाऽऽलोचितम्—'कथं मया गजयूथनाथसमीपे[2] स्थित्वा वक्तव्यम्'? । यतः—

'स्पृशन्नपि गजो हन्ति, जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः ।
[3]पालयन्नपि भूपालः, प्रहसन्नपि दुर्जनः' ॥ १५ ॥

अतोऽहं पर्वतशिखरमारुह्य यूथनाथं संवादयामि[4]।' तथाऽनुष्ठिते [5]सति यूथनाथ उवाच-'कस्त्वम्?, कुतः समायातः ?'।

स ब्रूते—[6]'शशकोऽहम्, भगवता चन्द्रेण भवदन्तिकं प्रेषितः।' यूथपतिराह-'कार्यमुच्यताम्'। विजयो ब्रूते—

कुलं=वंशः। मा विषीदत = मा क्लेशमनुभवत ॥

स्पृशन्नपि=स्पर्शमात्रेणापि। पालयन्=रक्षन्नपि, पाठान्तरे—मानयन्नपि= संमानं दर्शयन्नपि—इत्यर्थः। प्रहसन्=प्रसन्नवदनो, हसन्नपि, सौहार्द दर्शयन्नपि च। दुर्जनः = खलः ॥ १५ ॥

अभिवादयामि=प्रणमामि। तेन सह वार्त्तालापं करोमीति नाऽर्थः। विजयः

कर विजय नाम का एक वृद्ध खरगोश बोला कि–तुम लोग विषाद मत करो। मैं इसका उपाय करूँगा। ऐसी प्रतिज्ञा करके वह चला और जाते जाते उसने अपने मन में विचार किया कि—मैं उन हाथियों के झुण्ड के समीप खड़ा होकर कैसे बोलूँगा, और उनसे कैसे बात करूँगा ?।

क्योंकि–हाथी छूते ही मार डालता है। साँप सूँघते ही मार डालता है, (काट लेता है), राजा पालन करता हुआ भी मार डालता है, और दुर्जन हँसते हुए भी मार डालता है ॥ १५ ॥

इसलिये–मैं पर्वत की चोटी पर चढ़ कर उस यूथ के पति से बातें करूँगा। ऐसा निश्चय कर उस खरगोश ने वैसाही किया। अर्थात् वह पर्वत शिखर पर चढ कर हाथियों के राजा से बातें करने लगा। तब हस्तियूथ का वह राजा बोला कि–तुम कौन हो ?। वह बोला—मैं खरगोश हूँ। भगवान् चन्द्रमा ने आपके पास मुझे भेजा है। तब वह यूथ का स्वामी बोला कि—कहिए, मुझसे तुम्हारा क्या काम है ?। तब वह विजय बोला कि—

१ 'प्रतीकाशे मया कर्त्तव्यः। 'इति प्रतिज्ञाय'। २ 'गजयूथपनिकटे गत्वा'। ३ 'मानयन्नपि'। ४ 'अभिवादयामि'। ५ सतीति क्वचिन्न। ६ 'दूतोऽहम्'।

'उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नाऽन्यथा ।
सदैवाऽवध्यभावेन यथार्थस्य हि वाचकः' ॥ १६ ॥

तदहं तदाज्ञया ब्रवीमि, शृणु—'यदेते चन्द्रसरोरक्षकाः शशकास्त्वया [1]निःसारितास्तदनुचितं [2]कृतम् । ते [3]शशकाश्चिरमस्माकं रक्षिताः । अत एव मे 'शशाङ्क' इति प्रसिद्धिः ।'

एवमुक्तवति दूते यूथपतिर्भयादिदमाह—[4]'प्रणिधे! इदमज्ञानतः कृतम्, पुनर्न तत्र गमिष्यामि' ।

दूत उवाच—'यद्येवं तदत्र सरसि [5]कोपात्कम्पमानं भगवन्तं शशाङ्कं प्रणम्य, प्रसाद्य च गच्छ ।'

=तन्नामा वृद्धशशकः ॥ 'दूतोऽन्यथा न वदती'त्यन्वयः । दूतस्य सर्वदैवाऽवध्यतया, स = दूतः यथार्थस्य, वाचकः = कथयिता । वक्ता ॥ १६ ॥

तदाज्ञया=स्वामिनश्चन्द्रस्याऽऽज्ञया । चन्द्रसरोरक्षकाः=एतच्चन्द्रसरोवररक्षकाः । प्रणिधे=हे दूत ! । कोपात्=क्रोधात् । प्रसाद्य=प्रसन्नं कृत्वा । तेन=वृद्धशशकेन । तत्र = सरसि । अस्माकं रक्षिताः = मया प्रतिपालिताः । (हमारे रखे हुए हैं) ।

शस्त्रों के बीच में भी, हाथयारों के सामने भी, दूत कभी झूठ नहीं कहता है, क्योंकि वह तो अवध्य होता है, अतः वह अवध्य होने से निडर होकर यथार्थ (सत्य) ही कहता है ॥ १६ ॥

इसलिये मैं चन्द्रमा की आज्ञा से आपको उनका सन्देश कहता हूँ, चन्द्रमा ने आपसे कहलाया है, कि जो चन्द्रसरोवर के रक्षक खरगोश तुमने निकाल दिये हैं, यह तुमने अयोग्य कार्य किया है । क्योंकि वे-खरगोश चिरकाल से हमारे पाले हुए हैं,इसी से मेरा'शशाङ्क' यह नाम भी प्रसिद्ध है । दूत के यह कहने पर वह यूथपति भय से बोला कि—क्षमा करिए, यह अपराध विना जाने से ही हमलोगों से हो गया है । फिर ऐसा कभी नहीं होगा । दूत बोला कि—जो ऐसा है, तो इस सरोवर में कोप से काँपते हुये भगवान् शशाङ्क (चन्द्रमा) को प्रणाम करके और उन्हें आप प्रसन्न करके, आप यहाँ से कहीं अन्यत्र चले जाइए । ऐसा

१. 'मारिताः' । २'तन्न युक्तं कृतं' । ३ 'यतो रक्षकास्ते शशका मदीयाः'पा० । ४ 'देव' । ५ 'भगवन्तं चन्द्रमसं कोपात्प्रकम्पमानं' ।

ततस्तेन रात्रौ यूथपतिं नीत्वा, तत्र जले चञ्चलं [1]चन्द्रबिम्बं दर्शयित्वा, [2]स यूथपतिः प्रणामं कारितः ।

उक्तश्च तेन—'देव ! अज्ञानादनेनाऽपराधः कृतः, [3]ततः क्षम्यताम, नैवं वारान्तरं विधास्यते ।' इत्युक्त्वा [4]प्रस्थापितः । अतो [5]वयं ब्रूमः—'व्यपदेशेऽपि सिद्धिः स्यात्' इति ॥ * ॥

ततो मयोक्तम्-'स एवाऽस्मत्प्रभू राजहंसो महाप्रतापोऽतिसमर्थः । त्रैलोक्यस्याऽपि प्रभुत्वं तत्र युज्यते, किं पुना राज्यम्—' इति । तदाऽहं तैः पक्षिभिः—'दुष्ट ! कथमस्मद्भूमौ चरसि'—इत्यभिधाय, राज्ञश्चित्रवर्णस्य समीपं नीतः । ततो राज्ञः [6]पुरो मां प्रदर्श्य, तैः प्रणम्योक्तम्—'देव ! अवधीयताम, एष [7]दुष्टोऽस्मद्देशे चरन्नपि देवपादानधिक्षिपति' ! ।

वारान्तरं=पुनरपि । (फिर कभी) ।

मया = बकेन मया । महाप्रतापः = अतिप्रभावः । अतितेजस्वी । अतिसमर्थः = अत्यन्तं सामर्थ्यवान्, राज्यं = पक्षिमात्रराज्यम् । तैः=पक्षिभिः ।

अवधीयताम् = अवधानदानेन श्रूयताम् । (ध्यान देकर सुनिए) । देवपादान्

कहकर रात्रि में उस यूथपति को ले जाकर, जल में चलायमान चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब दिखाकर यूथपति से प्रणाम कराया और उस खरगोश ने कहा कि 'हे देव ! इनसे विना जाने ही यह अपराध हो गया है, सो आप क्षमा कीजिये । ये लोग फिर ऐसा कभी नहीं करेंगे ! । ऐसा कहकर उसे बिदा करा दिया । इससे मैं कहता हूँ कि—

'बड़ों के व्यपदेश (नाम लेने) से भी कार्य की सिद्धि हो जाती है' इत्यादि ।

फिर मैं (बगला) बोला—वे हमारा स्वामी राजहंस बड़े ही प्रतापी और समर्थ हैं । तीनों लोकों का भी स्वामित्व उनके योग्य हैं, फिर यह पक्षियों का राज्य तो क्या चीज है ? ।' यह सुनकर वे सब पक्षी बोले कि—अरे दुष्ट ! तूं हमारे राज्य में क्यों घूमता फिरता है ? । ऐसा कहकर मुझे अपने राजा के पास ले गए और वहाँ ले जाकर अपने राजा को प्रणाम करके बोले देव ! आप ध्यान देकर हमारी प्रार्थना सुने । यह दुष्ट बगला हमारे राज्य में चरता है, और हमारे देश

१ 'प्रतिबिम्बं' । २ 'कश्चिन्न' । ३ 'तत्' । ४ 'तेन शशकेन स यूथपतिः' । ५ 'अतोऽहं ब्रवीमि' । ६ 'पुरतः' । ७ 'दुष्टबको' ।

राजाऽऽह—'कोऽयम् ?, कुतः समायातः ।' ते ऊचुः—'हिरण्यगर्भनाम्नो राजहंसस्याऽनुचरः कर्पूरद्वीपादागतः ।'

अथाऽहं गृध्रेण मन्त्रिणा पृष्टः—'कस्तत्र मुख्यो मन्त्री'ति ? । मयोक्तम्—'सर्वशास्त्रार्थपारगः सर्वज्ञो नाम चक्रवाकः ।'

गृध्रो ब्रूते—'युज्यते । स्वदेशजोऽसौ' । यतः—

'स्वदेशजं, [1]कुलाऽऽचारविशुद्धमुपधाशुचिम् ।
[2]मन्त्रज्ञमव्यसनिनं, व्यभिचारविवर्जितम् ॥ १७ ॥

=श्रीमतो महाराजान् । अधिक्षिपति=निन्दति । तत्र=कर्पूरद्वीपे राजहंसनिकटे । युज्यते=प्रधानमन्त्रिपदार्हः । कुलाऽऽचारविशुद्धं=विशुद्धिकुलोत्पन्नं, विशुद्धाऽऽचारञ्च । उपधाशुचिम्=परीक्षासु शुद्धम् । प्रदर्शितेऽपि नानाविधे लोभादौ यः स्वमर्यादां नोल्लङ्घते, स 'उपधाशुचि'रित्युच्यते । 'उपधा तु धर्माद्यैर्यत्परीक्षणम्' इति कोशः । शास्त्रज्ञं=शास्त्ररहस्यविदम् । अव्यसनिनं=

में फिरता हुआ भी आपकी निन्दा करता है । राजा बोला कि—यह कौन है ?, कहाँ से आया है ?' । तब वे सब पक्षी बोले—यह हिरण्यगर्भनामक राजहंस का सेवक है । कर्पूरद्वीप (जापान या फारमोसा) से आया है । तब उस राजा के मन्त्री गृध्र ने मुझसे पूछा कि तुमारे यहाँ प्रधान मन्त्री कौन है ?' । मैंने कहा कि सब शास्त्रों का तत्त्व जानने वाला 'सर्वज्ञ' नामक चकवा ही हमारे यहाँ प्रधान मन्त्री है । तब गीध बोला—यह बात बिलकुल ठीक ही है । क्योंकि वह चक्रवाक राजहंस के अपने देश में उत्पन्न होनेवाला है । अतः उसको प्रधान मन्त्री बनाना उचित ही है । क्योंकि—

राजा को चाहिये कि—जो (पुरुष) अपने देश में उत्पन्न होनेवाला हो, और सत्कुल प्रसूत हो, आचार-विचार में शुद्ध हो, सब प्रकार की परीक्षाओं में खरा उतरा हुआ हो, अर्थात् जिसकी सचाई आदि की पूरी २ परीक्षा कर ली हो, मन्त्र (सलाह, राजनीति) को जाननेवाला हो, व्यसन रहित हो, व्यभिचार

१. 'कुलाचारे विशुद्धम्' पाठा० । २ 'शास्त्रज्ञ' ।

अधीतव्यवहाराऽर्थं[1] मौलं, [2]ख्यातं, विपश्चितम् ।
अर्थस्योत्पादकं चैव[3], विदध्यान्मन्त्रिणं नृपः' ॥१८॥

अत्राऽन्तरे शुकेनोक्तम्—'देव ! कर्पूरद्वीपादयो लघुद्वीपा जम्बुद्वीपान्तर्गता एव, तत्राऽपि देवपादानामेवाऽधिपत्यम् ।' ततो राज्ञाऽप्युक्तम्—'एवमेव' । यतः—

'राजा, मत्तः, शिशुश्चैव, प्रमदा[4], धनगर्वितः ।
अप्राप्यमपि वाञ्छन्ति, किं पुनर्लभ्यतेऽपि[5] यत्' ॥१९॥

द्यूतादिव्यसनशून्यम् । व्यभिचारः=परदारावमर्शः । शत्रुराजान्तरानुरागश्च ॥१७॥

अधीतव्यवहारार्थम्=अभ्यस्तधर्मशास्त्रोक्तव्यवहारमार्गम्, अर्थशास्त्रनिष्णातश्च । ख्यातं=प्रसिद्धम् । मौलं=कुलक्रमाऽऽगतम् । विपश्चितं=पण्डितम् । अर्थस्य=वित्तस्य । उत्पादकम्=उपार्जकम् ॥ १८ ॥

अत्रान्तरे=अस्मिन्नेवाऽवसरे । लघुद्वीपाः=क्षुद्रद्वीपाः । देवपादानां=भवतामेव । एवम्=सत्यमेतत् । (ठीक है) ।

राजा=नृपः । मत्तः=उन्मत्तः । शिशु=बालकः । प्रमदा=यौवनमदोन्मत्ता कामिनी । अप्राप्यमपि=दुर्लभमपि वस्तु । वाञ्छन्ति=इच्छन्ति । किं पुनः

आदि दोषों से शून्य हो, व्यवहार के और राजनीति के शास्त्रों को पढ़ा हुआ हो, वंशपरम्परा से चला आता हुआ एवं सुप्रसिद्ध विद्वान् हो और धन को उपार्जन करने में चतुर हो, उसको ही अपना मन्त्री बनावे ॥ १७–१८॥

इतने में तोता बोला, कि—'हे देव ! ये जो कर्पूरद्वीप आदि छोटे-छोटे द्वीप हैं, वे सब जम्बूद्वीप के अन्तर्गत ही हैं । अतः वहाँ पर भी आप ही का स्वामित्व है । अर्थात् वहाँ के भी आप ही राजा हैं ।

यह सुनकर राजा ने भी कहा कि—हाँ, ऐसा ही है ।

क्योंकि—राजा, उन्मत्त (पागल), बालक, यौवनमदमाती कामिनी और धन के अभिमानी पुरुष—दुर्लभ वस्तुओं की भी इच्छा किया करते हैं, फिर जो

---

१. 'व्यवहाराङ्गम्' पा० । २. 'ख्यातं मौलं' । ३ 'प्रमादी' इति पाठा० । ४ 'सम्यक्' ।५ 'लभ्यमेव यत्' पा० ।

ततो मयोक्तम्—'यदि [1]वचनमात्रेणैवाऽऽधिपत्यं सिद्धयति, तदा जम्बूद्वीपेऽप्यस्मत्प्रभोर्हिरण्यगर्भस्य स्वाम्यमस्ति ।' शुको [2]ब्रूते—'कथमत्र निर्णयः ? ।' मयोक्तम्—'संग्राम एव ।'

राज्ञा विहस्योक्तम्—'स्वस्वामिनं गत्वा सज्जीकुरु ।' तदा मयोक्तम्—'स्वदूतोऽपि प्रस्थाप्यताम्' । राजोवाच[3]—'कः प्रयास्यति दौत्येन ? । यत एवम्भूतो दूतः कार्यः'—

'भक्तो, गुणी, शुचिर्दक्षः, प्रगल्भोऽव्यसनी, क्षमी ।
ब्राह्मणः, परमर्मज्ञो, दूतः स्यात्प्रतिभानवान्' ॥२०॥

लभ्यं = सुलभम् ॥ १९ ॥

मया = बकेन । आधिपत्यं=कर्पूरद्वीपे आधिपत्यम् । संग्रामः=युद्धम् । उवाच = स्वानुयायिनः प्रोवाच । (यतः = क्योंकि) । एवंविधः=ईदृशो वक्ष्यमाणगुणविशिष्टः । भक्त इति । गुणी=गुणान्वितः । क्षमी=क्षमावान् । प्रगल्भः= पटुः । प्रतिभानवान् = प्रतिभाशाली । उत्तरे, प्रत्युत्तरे च प्रत्युत्पन्नमतिः ॥२०॥

वस्तु मिल सकती है, उसके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ १९ ॥

तब मैं (बगला) बोला—यदि केवल कहने से ही स्वामित्व सिद्ध होता है, तो इस जम्बूद्वीप में भी हमारे स्वामी हिरण्यगर्भ का ही स्वामित्व है । तब तोता बोला कि—तब इसका निर्णय कैसे हो ? । मैं बोला-संग्राम (युद्ध) में ही हो जायगा ।

तब वह राजा हँसकर बोला—अच्छा, अपने स्वामी को जाकर युद्ध के लिये तैयार करो । मैं बोला—आप भी अपना दूत मेरे साथ भेजिये । राजा बोला कि—कौन दूत होकर जावेगा ? । क्योंकि दूत ऐसा करना चाहिये—

जो स्वामी भक्त हो, और गुणी, पवित्र, कार्यकुशल, प्रगल्भ, (चतुर) व्यसनरहित, क्षमावान्, जातिका ब्राह्मण, पराये भेद का जानने वाला और बुद्धिमान् हो ॥२०॥

१. यदि वचसैव तत्रापि श्रीमद्देवपादानामाधिपत्यं सिद्धयति' । २ 'शुक उवाच' । ३ 'राजाह—कः प्रयातु' ।

गृध्रो वदति—'सन्त्येव[1] दूता बहवः, किन्तु ब्राह्मण एव [2]कर्त्तव्यः। यतः—

'प्रसादं कुरुते पत्युः, सम्पत्तिं नाऽभिवाञ्छति।
कालिमा कालकूटस्य नाऽपैतीश्वरसङ्गमात्' ॥ २१ ॥

राजाऽऽह–'ततः शुक एव व्रजतु। शुक! त्वमेवाऽनेन सह तत्र[3] गत्वाऽस्मदभिलषितं ब्रूहि।' शुको[4] ब्रूते–'यथाऽऽज्ञापयति देवः। किन्त्वयं दुर्जनो बकः, तदनेन सह न[5] गच्छामि'। तथा[6] चोक्तम्—

ब्राह्मणो हि पत्युः=स्वामिनो राजादेः। कालकूटपक्षे—शम्भोश्च। प्रसादं=शोभां, वृद्धिश्च। सम्पत्तिं=शोभां, समृद्धिश्च। ईश्वरसङ्गमात्=शिवकण्ठसम्बन्धात्, राजसम्बन्धाच्च। कालकूटस्य=विषस्य। कालिमा=कालुष्यम्, मारकत्वं च, नापैति=न दूरीभवति। यथा गरलं शिवकण्ठे स्थितमपि शिवस्य शोभां, स्वच्छतासम्पदश्च न चोरयति (गृह्णाति), किन्तु स्वकालिमानमेव सर्वदा धत्ते, तथैव ब्राह्मणोऽपि राजसम्बन्धेऽपि स्वदारिद्र्यं नैव जहाति, राज्ञः सम्पदश्च न मुष्णाति, किन्तु विपरीतं-नीलकण्ठस्य गले विषमिव, तस्य राज्ञः शोभामेव वर्द्धयतीत्याशयः ॥ २१ ॥

शुक एवेति। शुकस्य पक्षिषु पाठकत्वेन ब्राह्मणस्थानीयत्वात्। अनेन=

तब गृध्र बोला—यद्यपि दूत तो बहुत हो सकते हैं, पर किसी ब्राह्मण को ही दूत बनाना चाहिए।

क्योंकि—वह ब्राह्मण स्वामी को प्रसन्न करता है, और उसकी सम्पत्ति की इच्छा नहीं करता है। जैसे ईश्वर (महादेव) का सङ्ग होने से भी विष की श्यामता नहीं जाती है। अर्थात्—सम्पत्ति को देखकर भी ब्राह्मण का निर्लोभ स्वभाव नहीं बदलता है ॥ २१ ॥

राजा बोला कि—अच्छा, तो दूत बनकर यह तोता ही जावे। हे शुक! तुम ही इसके साथ जाकर राजा हँस से मेरी इच्छा को कहो।' तोता बोला कि—देव! आप की जैसी आज्ञा। मैं जाने को तैयार हूँ। परन्तु यह बगला दुष्ट जीव है, अतः मैं इसके साथ तो नहीं जाऊँगा। क्यों कि, कहा भी है—

---

१ 'सन्त्येवंभूता बहवः'। २ 'दूतः कर्त्तव्यः'। ३ 'तत्रे'ति क्वाचित्कम्। ४ 'शुकोऽवदत्'। ५ 'न व्रजामि'। ६ 'तथाप्युक्तं'।

'खलः करोति दुर्वृत्तं, नूनं फलति साधुषु ।
दशाननोऽहरत्सीतां, [1]'बन्धनं स्यान्महोदधेः' ॥ २२ ॥

अपरञ्च—

'न स्थातव्यं, न गन्तव्यं दुर्जनेन समं क्वचित् ।
काकसङ्गाद्धतो हंसस्तिष्ठन् गच्छंश्च वर्त्तकः' ॥ २३ ॥

राजोवाच—'कथमेतत् ?' । शुकः कथयति—

४ हंस-काककथा ।

अस्त्युज्जयिनीवर्त्मप्रान्तरे [2]प्लक्षतरुः । तत्र हंस-काकौ निवसतः ।

बकेन । तत्=तस्मात् । दुर्वृत्त=दुराचारम्, उपद्रवञ्च । फलति=तत्फलञ्च साधुषु पततीत्यर्थः । यथा रावणसम्बन्धादेव हि—समुद्रबन्धनं=समुद्रे सेतुकल्पना—अभूदित्याशयः ॥ २२ ॥ काकेन सह तिष्ठन्, तत्सङ्गाद्धंसो हतः, काकेन सह गच्छंश्च वर्त्तकः (बटेर) हत इत्यन्वयः ॥ २३ ॥

उज्जयिनीवर्त्मप्रान्तरे=उज्जयिनीदुर्गममार्गमहावने । 'प्रान्तरं दूरशून्योऽध्वा'

दुष्टजन तो दुष्टकर्म करते हैं, और उसका फल निश्चय करके साधुओं को भोगना पड़ता है । देखिए, रावण तो सीता को हर ले गया, पर उसका फल समुद्र का बन्धन हुआ, अर्थात् रावण के पास रहने से निरपराध समुद्र ही व्यर्थ में बान्धा गया ॥२२॥

और—दुष्ट के साथ कहीं भी नहीं जाना चाहिये और न उसके साथ रहना ही चाहिये । क्योंकि, कौवे के साथ रहकर निरपराध हंस मारा गया था । और कौए के सङ्ग जाता हुआ बेचारा निरपराध बटेर भी मारा गया था ॥ २३ ॥

राजा बोला कि–यह कथा कैसे है ? । तोता बोला कि—

उज्जयिनी के लम्बे, निर्जन, बीहड़ मार्ग के निकट एक पिप्पल (या पाकर)

---

१. 'बन्धनन्तु महोदधेः' पा० । २ 'पिप्पलतरुः' इति, 'महान् पिप्पलवृक्षः' इति च पा० ।

कदाचित् ग्रीष्मसमये परिश्रान्तः कश्चित्पथिकस्तत्र तरुतले धनुष्काण्डं संनिधाय सुप्तः। तत्र क्षणाऽन्तरे तन्मुखाद्वृक्षच्छायाऽपगता। [1]ततः सूर्यतेजसा तन्मुखं व्याप्तमवलोक्य[2], तद्वृक्षस्थितेन पुण्यशीलेन शुचिना राजहंसेन कृपया पक्षौ प्रसार्य पुनस्तन्मुखे छाया कृता। ततो निर्भरनिद्रासुखिना पथिभ्रमणपरिश्रान्तेन[3] पान्थेन मुखव्यादानं कृतम्।

अथ[4] परसुखमसहिष्णुः स्वभावदौर्जन्येन स काकस्तस्य मुखे पुरीषोत्सर्गं कृत्वा पलायितः। ततो यावदसौ पान्थ उत्थायोर्ध्वं निरीक्षते, तावत्तेनाऽवलोकितो हंसः काण्डेन हतो, व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'न स्थातव्य'मिति[5]॥ *॥

इत्यमरः। (प्रान्तर = उजाड़, बियाबान)। धनुष्काण्डं=धनुर्दण्डम्। अपगता =दूरीभूता। (हट गई)। तन्मुखं = पथिकमुखम्। शुचिना=शुद्धाऽऽचरणेन। वराकेण। तन्मुखे = पान्थमुखे। निर्भरनिद्रासुखितेन = गाढनिद्रासुखशालिना। व्यादानं = विवरणम्। (मुँह खोल दिया)। पुरीषोत्सर्गं = विष्ठात्यागं। काण्डेन =बाणेन।

का वृक्ष है। उस वृक्ष पर हंस और कौवा ये दो पक्षी रहा करते थे। कुछ काल के बाद कभी ग्रीष्म समय (गरमी के मौसम) में थका हुआ कोई पथिक (मुसाफिर) उस वृक्षके नीचे धनुष बाण शिरहाने रख कर सो गया। तब कुछ समय के बाद (क्षणमात्र में) उसके मुँह पर से वृक्ष की छाया हट गई। तब सूर्य की धूप से उसके मुँह को व्याप्त देख कर उस वृक्ष पर बैठे हुए साधुस्वभाव हंस ने कृपा करके अपने पंख फैलाकर उसके मुँह पर छाया कर दी। जिससे वह फिर गाढ़ी निद्रा में सो गया। तब सुख से सोते हुए उस पथिक ने अपना मुँह फैला दिया (खोल दिया)। उसी समय पराये सुख को नहीं सह सकने वाला वह कौवा अपने स्वभाव की दुष्टता से ही उस पथिक के मुँह में बीठ करके भाग गया। फिर जब उस मुसाफिर ने उठ कर ऊपर की ओर देखा, तब हंस को पाँख फैलाए हुए ऊपर बैठे देखा और उसे देखकर कर 'इसी ने मेरे मुख में बीठ की होगी' ऐसा जान कर, उस पर तीर चला दिया और उसे मार डाला। इसी लिए मैं कहता हूँ कि 'दुष्ट के साथ कभी नहीं रहना चाहिये' इत्यादि।

१. 'अनन्तरं'। २ 'कृपया पुण्यात्मना पापरहितेन तत्पिप्पलवृक्षस्थितेन राजहंसेन पक्षौ'। ३ 'भ्रमणाकुलेन परिश्रान्तेन'। ४ 'स्वभावदौर्जन्यात्परसुख'। ५ 'मित्यादि'।

[[1]तथाचोक्तं—

त्यज दुर्जनसंसर्गं, भज साधुसमागमम् ।
कुरु पुण्यमहोरात्रं, स्मर नित्यमनित्यताम्] ॥

'देव ! वर्त्तककथामपि कथयामि । श्रूयताम्—

५. काक-वर्त्तककथा ।

[2]एकत्र वृक्षे काक-वर्त्तकौ सुखं निवसतः । एकदा भगवतो गरुडस्य यात्राप्रसङ्गेन सर्वे पक्षिणः समुद्रतीरङ्गताः[3] । ततः काकेन सह वर्त्तकश्चलितः । अथ गच्छतो गोपालस्य मस्तकाऽवस्थितदधिभाण्डाद्वारं वारं तेन काकेन दधि खाद्यते । ततो यावदसौ दधिभाण्डं भूमौ निधायोर्ध्वमवलोकते, तावत्तेन काक-वर्त्तकौ दृष्टौ । ततस्तेन [4]दृष्टः काकः पलायितः । वर्त्तकः स्वभावनिरपराधो, मन्दगतिस्तेन प्राप्तो, व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि—'न गन्तव्यम्' इत्यादि ॥४॥

ततो मयोक्तम्—'भ्रातः शुक ! किमेवं ब्रवीषि ? । मां प्रति यथा

यात्राप्रसङ्गेन = दर्शनप्रसङ्गेन । तेन = गोपालेन । 'खेदित' इति पाठे—

हे महाराज अब बटेर की भी कथा कहता हूँ, सुनिए—

एक वृक्ष पर कौवा और बटेर ये दोनों पक्षी सुख से रहा करते थे । एक समय भगवान् गरुड़ की यात्रा (दर्शन) के प्रसङ्ग में सभी पक्षी समुद्र के किनारे पर जा रहे थे । तब उसी समय कौवे के साथ साथ एक बटेर भी वहाँ जाने को चल पड़ा । इसके पीछे कौवे ने राह में जाते हुए एक ग्वाले के दही के बर्तन में से बार बार दही खाना प्रारम्भ किया । तब ज्योंही इस ग्वाले ने दही का वर्तन पृथ्वी पर रख कर ऊपर की ओर देखा, त्योंही कौवा और बटेर ये दोनों ही साथ साथ जाते हुए दिखाई पड़े, परन्तु वह कौवा तो उसके खदेड़ने पर (पीछा करने पर) दूर भाग गया, पर स्वभाव से निरपराध और धीरे धीरे चलते हुए बटेर को उसने पा लिया (पकड़ लिया), और उसे उसने मार डाला । इसी से मैं कहता हूँ, कि—'दुष्ट के साथ कभी कहीं नहीं जाना चाहिये' इत्यादि ॥

तब मैं (बगला) बोला कि—भाई तोते ! आप यह क्या कहते हैं ? ।

---

१. काञ्चन्न । २ 'एकः काको वृक्षशाखायां स्वपिति । वर्त्तकश्चाधस्ताद् भूमौ निवसति' । ३ 'तीरं प्रचलिताः । तत्र' । ४. 'खेदित' इति पाठान्तरम् ।

श्रीमद्देवपादास्तथा भवानपि।' शुकेनोक्तम्[1]—'अस्त्वेवम्'। किन्तु—

'दुर्जनैरुच्यमानानि [2]संमतानि, प्रियाण्यपि।
अकालकुसुमानीव भयं सञ्जनयन्ति हि' ॥ २४ ॥

दुर्जनत्वं च भवतो [3]वाक्यादेव ज्ञातं, यदनयोर्भूपालयोर्विग्रहे भवद्वचनमेव निदानम्'। पश्य—

'प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे, मूर्खः सान्त्वेन तुष्यति।
रथकारो निजां भार्यां सजारां शिरसाऽकरोत्' ॥ २५ ॥

राज्ञोक्तम्[4]—'कथमेतत्?'। शुकः कथयति—

खेदितः = भर्त्सितः (खदेड़ा गया)। तेन = गोपेन। श्रीमद्देवः = अस्मत्प्रभुर्हिरण्यगर्भः। संमतानि = इष्टानि। 'वाक्यानी'ति शेषः ॥ २४ ॥

अनयोः = हंसमयूरयोः। विग्रहे = युद्धे। भवद्वचनं = वकवाक्यमेव। निदानं = कारणम्। सान्त्वेन = केवलं मधुरसामवाक्येन। निजां = स्वीयाम्। सजारां = जारोपगतामपि। शिरसाऽकरोत् = शिरसोदवहत् ॥ २५ ॥

मुझको तो जैसे हमारे महाराज हैं, वैसे ही तुम भी हो। तब वह तोता बोला कि—कदाचित् ऐसा ही होगा। परन्तु—

दुर्जन के कहे हुए मीठे मीठे वचन भी यदि वे अपने सम्मत और प्रिय भी हों तो भी-कुसमय के पुष्पों के समान ही वे भय उत्पन्न करते हैं। असमय में यदि किसी वृक्ष में फूल आ जाएँ तो वह उत्पात माना जाता है, और वह अरिष्ट सूचक ही होता है ॥ २४ ॥

और तुम्हारी दुष्टता तो तुम्हारे वचनों से ही जानी गई। क्योंकि इन दोनों राजाओं की लड़ाई होने में तुमारे वचन ही प्रधान कारण हैं।

देखो-प्रत्यक्ष दोष (अपराध) करने पर भी मूर्ख लोग ही मीठी २ बातों से प्रसन्न हो जाते हैं। जैसे एक रथकार (बढ़ई) ने अपनी स्त्री को जार सहित (यार के साथ) देखकर भी शिर पर धारण कर लिया था ॥ २५ ॥

यह सुनकर राजा बोला कि—यह कथा कैसे है?। तोता कहने लगा कि—

१ 'शुको ब्रूते'। २ 'सस्मितानि'। ३ 'वाग्व्यापारादेव प्रत्यक्षीकृतं'। ४. 'मयोक्त'मिति पाठा०।

६ रथकार-तद्वधू-जारकथा।

अस्ति[1] यौवनश्रीनगरे मन्दमतिर्नाम रथकारः। स च स्वभार्यां बन्धकीं जानाति। किन्तु जारेण समं [2]स्वचक्षुषा नैकस्थाने पश्यति। ततोऽसौ रथकारः 'अहमन्य ग्रामं गच्छामी' त्युक्त्वा चलितः। स कियद्दूरं गत्वा पुनरागत्य [3]पर्यङ्कतले स्वगृहे निभृतं स्थितः। 'अथ[4] रथकारो ग्रामान्तरं गत' इत्युपजातविश्वासः स जारः सन्ध्याकाल एवाऽऽगतः। पश्चात्तेन जारेण सम तस्मिन्पर्यङ्के निर्भरं क्रीडन्ती, पर्यङ्कतलस्थितस्य भर्तुः किञ्चिदङ्गस्पर्शात्स्वामिनं मायाविनं विज्ञाय, मनसि सा विषण्णाऽभवत्।

बन्धकीम्=असतीम्। (बदचलन)। एकस्थाने=रहसि। (एकान्त में)। कियद्दूर=किञ्चित्पन्तरम्। (कुछ दूर जाकर)। पर्यङ्कतले=शय्याया अधस्तात्। (पलङ्ग के नीचे)। निभृत=प्रच्छन्नं (छिपकर)। इति=इत्थम्। आगतः=रथकारगृहे आगतः। निर्भरम्=भृशम्। (खूब)। मायाविनं=कपट-

यौवनश्रीनगर (झाँसी) में मन्दमति नाम का एक रथकार (बढ़ई) रहता था। वह अपनी स्त्री को व्यभिचारिणी (छिनार) तो जानता था, परन्तु जार के साथ अपनी स्त्री को एक स्थान में अपनी आख से नहीं देख पाता था। इसी से वह उसको दण्ड नहीं दे सकता था। तब वह रथकार 'मैं दूसरे गाँव को जाता हूँ' ऐसा अपनी स्त्री से कहकर बाहर चला गया। और कुछ दूर जाकर फिर अपने घर पर ही लौट आया और अपने पलँग के नीचे छिप कर बैठ गया। इसके पीछे 'रथकार दूसरे गाँव गया है' ऐसा विश्वास होने से वह जार (यार) सायँकाल ही को निर्भय होकर उसके घर पर आगया। पीछे उस यार के साथ उस पलँग पर क्रीड़ा करती हुई उस स्त्री का कोई अङ्ग पलँग के नीचे स्थित अपने पति के किसी अङ्ग से छू गया, तब वह स्त्री 'यह मायावी मेरा स्वामी ही है' ऐसा जान कर मन ही मन बहुत दुःखी हुई

१. 'श्रीनगरे' पा०। २ 'एकस्थाने स्वचक्षुषा न पश्यति'। ३ 'स्वगृहे खट्वातले'। ४ 'मत्स्वामी ग्रामान्तरं गत इत्युपजातविश्वासया तद्वध्वा स्वजारः सायमेवाहूतः'।

ततो जारेणोक्तम्—'किमिति त्वमद्य मया सह निर्भरं न रमसे ?। विस्मितेव प्रतिभासि मे त्वम् ?।' अथ तयोक्तम—'अनभिज्ञोऽसि, योऽसौ मम प्राणेश्वरो—येन ममाऽऽकौमारं सख्यं, सोऽद्य ग्रामाऽन्तरं गतः, तेन विना सकलजनपूर्णोऽपि ग्रामो मां प्रत्यरण्यवत्प्रतिभाति। किं भावि ?। तत्र परस्थाने किं खादितवान् ?। कथं वा प्रसुप्तः' ?—इत्यस्मद्धृदयं विदीर्यते।

[1]जारो ब्रूते—'तव किमेवंविधा स्नेहभूमी रथकारः ?।'

[2]बन्धक्यवदत्—रे बर्बर ! किं वदसि ?। शृणु—

परम्। विषण्णा = दुःखिता। निर्भरम् = अतिमात्रम् (खुले मन से)। रमसे= क्रीडसि। विस्मितेव = चकितेव। ('अनमनीसी' 'घबड़ाई हुई सी')। प्रतिभासि = ज्ञायसे। अनभिज्ञः = अज्ञः। (तुम क्या जानो)। प्राणेश्वरः = प्रियः पतिः। अरण्यवत् = काननवत् शून्यः। किं भावि = किं भविष्यति। इति = इत्येवं, वितर्कशतेन। स्नेहभूमिः = प्रणयभाजनम्। बन्धकी = असती, रथकारभार्या। बर्बर = अरे मूर्ख।

तब वह जार उससे बोला कि-तूं आज मेरे साथ अच्छी प्रकार रमण क्यों नहीं करती है ?। आज तो तू मुझे कुछ घबड़ाई हुई सी जान पड़ती है। उसने कहा-तूं नहीं जानता है, कि मेरा प्राणेश्वर, जिससे कि-मेरा कुमार अवस्था (बाल्यावस्था) से ही सम्बन्ध है, वह आज दूसरे गांव को गया है। उसके बिना सब मनुष्यों से भरा हुआ यह गांव भी मुझे वन के समान ही सूना सा दीख पड़ रहा है। मेरा वह पति वहाँ कैसे होगा ?, परदेश में उसने क्या खाया होगा ?। और वह कैसे सोया होगा ?—इत्यादि चिन्ताओं से मेरा हृदय फटता है। तब वह जार बोला कि-क्या उस रथकार से तेरा ऐसा गाढ़ स्नेह (प्यार) है ?। तब वह (छिनाल) बोली कि—अरे मूर्ख !, यह तूं क्या कहता है ?।

१. 'जारेणोक्तं - 'तव किमेवं स्नेहभूमिः स कलहकारो भर्ता ?।' 'तत्किमेवंविधा स्नेहभूमिः स ते भर्ता कलहकारः' पा०। २ 'बन्धकी ब्रूते'।

'परुषाण्यपि या प्रोक्ता, दृष्टा या 'क्रोधचक्षुषा ।
सुप्रसन्नमुखी भर्त्तुः, सा नारी धर्मभाजनम्' ॥२६॥

अपरञ्च—

'नगरस्थो, वनस्थो वा, पापो वा, यदि वा (ऽ) शुचिः ।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्त्ता, तासां लोका महोदयाः' ॥२७॥

अन्यच्च—

'भर्त्ता हि परमं नार्या भूषणं भूषणैर्विना ।
एषा विरहिता तेन शोभनाऽपि न शोभते' ॥ २८ ॥

त्वञ्च जारः पापमतिः, मनोलौल्यात्पुष्पताम्बूलसदृशः कदाचित्-

परुषाणि=रूक्षाणि वाक्यानि । भर्त्तुः क्रोधचक्षुषाऽपि दृष्टा या नारी सुप्रसन्नवदनैव भवति, सा धर्मभाजनं=धर्मफलभागिनी भवति ॥ २६ ॥ शुचिः=पुण्यात्मा । महोदयाः=सर्वसुखदाः, सर्वश्रेष्ठाश्च लोका भवन्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥
नार्या भर्त्ता हि=भर्त्तैव, भूषणैर्विनाऽपि भूषणम् । एषा=प्रकृते-स्त्री । मूलग्रन्थे-सीता च । शोभना=सर्वगुणान्विताऽपि, तेन=पत्या । विरहिता=रहिता, न शोभते=न रोचते (रामायणस्थं पद्यमेतत्) ॥ २८ ॥
पापमतिः=दुष्टबुद्धिः । परदाराभिमर्शात्पापत्वम् । पुष्पताम्बूलसदृशः=

सु०—तीखे और कडुवे वचन बोलने पर भी, तथा पति के क्रोधभरी आँखों से देखने पर भी जो स्त्री पति के आगे सदा प्रसन्नमुख हो रहती है, वही स्त्री धर्मभागिनी होती है ॥ २६ ॥

और भी—नगर में रहने वाला, अथवा वन में रहने वाला, या पापी या (अ) पवित्र,-कैसा भी अपना पति हो, वही जिन स्त्रियों को प्यारा है, उन्हीं स्त्रियों को उत्तम सुखप्रद लोक (स्वर्ग) प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

और भी—भूषण के बिना भी स्त्री का पति ही परम भूषण है । और भूषण आदि से सुन्दर स्त्री भी पति के विना शोभायमान नहीं होती है ॥ २८ ॥

और तू तो जार है, और पापबुद्धि है । मैं अपने मन की चञ्चलता से ही

१. 'क्रुद्ध' ।

सेव्यसे, कदाचिन्न सेव्यसे च । स च पुनर्मे स्वामी, मां विक्रेतुं, देवेभ्यो, ब्राह्मणेभ्यो वा दातुमीश्वरः[1] । किं बहुना ?। तस्मिञ्जीवति जीवामि, तन्मरणे चाऽनुमरणं करिष्यामी'ति प्रतिज्ञा[2] वर्त्तते । यतः—

'तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानवे ।
तावत्कालं वसेत्स्वर्गे भर्त्तारं याऽनुगच्छति' ॥ २९ ॥

अन्यच्च—

'व्यालग्राही यथा व्यालं [3]बलादुद्धरते बिलात् ।
तद्वद्भर्त्तारमादाय [4]स्वर्गलोके महीयते' ॥ ३० ॥

यत्ताम्बूलतल्य: । (पान-पत्ते की तरह केवल थोड़ी देर की मन बहलाव की चीज समझ कर ही) । ईश्वरः=समर्थः । तस्मिन्=मम पत्यौ रथकारे । लोमानि=केशाः । मानवे=मनुष्यदेहे । तावत्कालं=सार्धत्रिकोटीवत्सरपर्यन्तम् । (साढे तीन करोड़ वर्ष तक) ॥ २६ ॥

व्यालग्राही=आहितुण्डिकः । ('सपेरा' 'कालबेलिया') । व्यालं=सर्पम् । आदाय=पापयोगेगतमपि स्वभर्त्तारं स्वपुण्यबलादुद्धृत्य । महीयते=पूज्यते,

---

तेरा फूल-पान के समान कभी २ उपभोग करती हूँ, कभी नहीं भी करती हूँ । पर वह तो मेरा स्वामी है । वह मुझे बेचने को और देवता या ब्राह्मणों को भी देने को भी समर्थ है । और बहुत कहने से क्या है । उसके जीने से ही मैं जीती हूँ, और उसके मरने पर उसके साथ ही मैं भी सती होऊँगी, उसके साथ ही चिता में जलकर मैं मरूँगी—यही मेरी प्रतिज्ञा है ।

क्योंकि—जो स्त्री पति का अनुगमन करती है (पति के साथ सती होती है) वह स्त्री मनुष्य के शरीर में जितने रोम हैं उतने ही समय तक अर्थात् साढ़े तीन करोड़ वर्ष तक स्वर्ग में बसती है । (मनुष्य के शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम होते हैं) ॥ २६ ॥

और भी–जैसे सर्प का पकड़ने वाला सपेरा मन्त्र के बल से सर्प को

---

१. 'दातुं समर्थः' । २ 'इत्येव मे निश्चयः' पा० । ३ 'बिलादुद्धरते बलात्' । ४ 'तेनैव सह मोदते' ।

अपरञ्च—

'चितौ परिष्वज्य विचेतनं पतिं,
प्रिया हि या मुञ्चति देहमात्मनः ।
कृत्वाऽपि पापं [1]शतलक्षमप्यसौ,
पतिं गृहीत्वा सुरलोकमाप्नुयात्' ॥ ३१ ॥

यतः—

'यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां, भ्राता वाऽनुमते पितुः ।
तं शुश्रूषेत जीवन्तं, संस्थितञ्च न लङ्घयेत्' ॥ ३२ ॥

एतत्सर्वं श्रुत्वा [2]मन्दमतिः स [3]रथकारः—'धन्योऽहं [4]यस्येदृशी प्रिय-

सुखमनुभवति च ॥३०॥ चितौ = चितायाम् । परिष्वज्य = आलिङ्ग्य, विचेतनं= मृतम् । असौ=पतिव्रता स्त्री । सुरलोक = स्वर्गम् ॥ ३१ ॥

एनां = कन्याम् । तं=पतिम् । शुश्रूषेत = सेवेत । संस्थितं = मृतमपि । न लङ्घयेत् = नाऽतिचरेत् । किन्तु तमनुगच्छेत् ॥ ३२ ॥

जबरदस्ती बिल से निकाल (खींच) लेता है, वैसे ही पतिव्रता स्त्री भी अपने पति को नरक से निकाल कर उसे स्वर्गलोक में ले जाती है, और पति की प्यारी होकर उसके साथ स्वर्ग लोक में पूजित होती है ॥ ३० ॥

और भी—मरे हुए पति का आलिङ्गन करके चिता में जो पति की प्यारी स्त्री अपनी देह को छोड़ती है,तो यदि वह सैकड़ों पाप करने वाली हो तो भी वह अपने उस पति को लेकर स्वर्गलोक में पहुँचती है ॥ ३१ ॥

क्योंकि—कन्या (स्त्री) को चाहिये कि उसका पिता, या पिता की अनुमति से बड़ा भाई जिसको देदे, जिसके साथ विवाह करदे, उसकी यावत् जीवन सेवा करे, और उसके मरने पर भी उस का उल्लङ्घन न करे । अर्थात् उसके साथ ही चिता में जलकर मर जाए ॥ ३२ ॥

यह सब सुनकर वह रथकार मन ही मन प्रसन्न होकर बोला कि—अहो !

१. 'शतसङ्कुय' । २ कश्चिन्न । ३ 'रथकारोऽवदत्' । ४ 'एतादृशी भार्या-स्नेहवती प्रियवादिनी' ।

वादिनी, स्वामिवत्सला च भार्ये'ति मनसि निधाय, तां खट्वां स्त्रीपुरुषसहितां मूर्ध्नि कृत्वा, सानन्दं [1]ननर्त्त। अतोऽहं ब्रवीमि—'प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे'–इत्यादि ॥ ॥

ततोऽहं तेन राज्ञा यथाव्यवहारं सम्पूज्य प्रस्थापितः। शुकोऽपि मम पश्चादागच्छन्नास्ते। एतत्सर्वं परिज्ञाय [2]यथाकर्त्तव्यमनुसन्धीयताम्'।

चक्रवाको विहस्याऽऽह–'देव! बकेन तावद्देशान्तरगमपि गत्वा यथाशक्ति राजकार्यमनुष्ठितम्। किन्तु [3]देव! स्वभाव एष मूर्खाणाम्'। यतः—

स्त्रीपुरुषसहितां = स्वपत्नी-जार-सहिताम्।

ततः=शुकवाक्यश्रवणानन्तरम्। तेन=मयूरेण। यथाव्यवहारं=यथायोग्यम्। आगच्छन्नास्ते=अनुपदमागच्छत्येव। (आही रहा है)। सर्वं=यदुक्तम्। देव=हे राजन्। 'राजकार्यमनुष्ठित'मिति सोल्लुण्ठनं वचः। बकेन दौरात्म्याद्राजा विपदि निपातित इति तु लक्ष्योऽर्थः।

मैं धन्य हूँ, जिसके ऐसी पतिव्रता एवं प्रियवचन कहने वाली और स्वामी से स्नेह करने वाली भार्या है। और ऐसा मन ही मन निश्चय करके वह रथकार (बढ़ई) स्त्री-पुरुष सहित उस खाट को ही शिर पर उठा कर बड़े ही आनन्द से नाचने लगा। इसलिये मैं कहता हूँ कि—'प्रत्यक्ष दोष करने पर भी मूर्ख मीठी मीठी बातों से बहकावे में आजाता है' इत्यादि ॥

फिर उस राजा मयूर ने यथोचित व्यवहार के अनुसार मेरा सत्कार कर मुझे (बगुले को) बिदा कर दिया। तोता भी मेरे पीछे पीछे आता ही होगा। यह सब जानकर जैसा करना चाहिये, सो आप विचार करिये।

तब प्रधान मन्त्री चक्रवाक हँसकर बोला—'हे देव! इस बगुले ने दूसरे देशान्तर में भी जाकर यथाशक्ति राजा का कार्य कर ही दिया। अर्थात् अपनी स्वाभाविक दुष्टता से आप को विपत्ति में (व्यर्थ के झगड़े में) डाल दिया। परन्तु हे देव! ऐसा मूर्खों का स्वभाव ही होता है। क्योंकि—

१. 'नर्त्तितवान्'। २. 'सर्वं ज्ञात्वा यथाकार्यमनुसन्धीयतां'। ३. क्वचिन्न।

'शतं दद्यान्न विवदे'दिति विज्ञस्य संमतम् ।
विना हेतुमपि द्वन्द्वमेतन्मूर्खस्य लक्षणम्' ॥ ३३ ॥

राजाऽऽह—[1]'अलमनेनाऽतीतोपालम्भनेन, प्रस्तुतमनुसन्धीयताम्' । चक्रवाको ब्रूते—'देव ! विजने ब्रवीमि' । यतः—

'वर्णा-ऽऽकार-प्रतिध्वानैर्नेत्र-वक्त्रविकारतः ।
अभ्यूहन्ति मनो धीरास्तस्माद्रहसि मन्त्रयेत्' ॥ ३४ ॥

ततो राजा, मन्त्री च [2]तत्र स्थितौ, अन्येऽन्यत्र गताः । चक्रवाको

विज्ञस्य = विदुषः । हेतुं = कारणं विनाऽपि । द्वन्द्वं = कलहः ॥ ३३ ॥ उपालम्भः = निन्दा । (कोसना) । अनुसन्धीयतां = चिन्त्यताम् । विजने = एकान्ते ।

वर्णेन = मुखवर्णेन, आकारेण = आकृत्या, प्रतिध्वनेन = ध्वानिना । नेत्र-विकारेण = नेत्रलौहित्यादिना, वक्त्रविकारेण = मुखभङ्गिभेदेन च । धीराः = परेङ्गितज्ञानपटवः । मनः = मनोगतमपि भावम्, ऊहन्ति = तर्कयन्ति । रहसि = एकान्ते ॥ ३४ ॥

सैकड़ों रुपये दे दे परन्तु किसी के साथ विवाद न करे, यह ज्ञानी पण्डितों का संमत (सिद्धान्त) है, और विना कारण के भी कलह करना-यह मूर्खों का लक्षण है ॥ ३३ ॥

राजा बोला कि—गई बात के बारे में अब किसी को उलहना देने से क्या लाभ है ? । अब तो हमें प्रस्तुत विषय का ही अनुसन्धान (विचार) करना चाहिये । चक्रवाक बोला कि—देव ! मैं आप से एकान्त में ही इस विषय में अपना मत कहूँगा ।

क्योंकि—रूप, रंग, आकार, शब्द, चेष्टा तथा आँख व मुँह के विकार से भी विद्वान् लोग मनुष्य के मन की बात को जान लेते हैं, इसलिए एकान्त में ही संमति (मन्त्र, सलाह) करनी चाहिये ॥ ३४ ॥

तब राजा तथा मंत्री ये ही दोनों वहाँ रह गए और दूसरे सब सभासद उठकर दूसरी जगह चले गये ।

१. 'किमतीतोपालम्भनेन' । २ 'स्थितौ तत्र' ।

ब्रूते—'देव ! अहमेवं जानामि—'कस्याऽप्यस्मन्नियोगिनः प्रेरणया बकेनेदमनुष्ठितम्' । यतः—

'वैद्यानामातुरः श्रेयान्, व्यसनी यो नियोगिनाम् ।
विदुषां जीवनं मूर्खः, [1]सद्वर्णो जीवनं सताम्' ॥ ३५ ॥

राजाऽब्रवीत्—'भवतु, कारणमत्र पश्चान्निरूपणीयम्, सम्प्रति यत्कर्त्तव्यं [2]तन्निरूप्यताम् ।' चक्रवाको ब्रूते—'देव ! प्रणिधिस्तावत्तत्र

नियोगिनः=राजसेवकाः, राज्याधिकारिणो वा । ['अफसर' 'अहलकार' 'राजकर्मचारी'] ।

आतुरः=रोगी । श्रेयान्=वृत्तिप्रदानेन सुखदः । व्यसनी=विपत्तिग्रस्तः । नियोगिनां=राज्याधिकारिणाम् । जीवनं=जीविकासाधनम् । सद्वर्णः=ब्राह्मण-वैश्यक्षत्रियादिः । सतां=साधूनाम् ॥ ३५ ॥ अत्र=समुपस्थिते सङ्ग्रामे । सम्प्रति=इदानीम् । निरूप्यतां=कथ्यताम्, अवधार्यताम् । प्रणिधिः=चरः ।

तब चकवाक बोला–हे देव ! मै ऐसा जानता हूँ कि हमारे किसी राजकर्मचारी की भीतरी प्रेरणा से ही इस बगुले ने ऐसा झगड़ा खड़ा किया है ।' क्योंकि—

वैद्यों के लिए रोगी अच्छा है । अर्थात् रोगी होने से ही वह वैद्य को कुछ देगा, अतः उसके लिए रोगी ही लाभदायक है । नियोगियों (अधिकारियों) के लिये व्यसनी राजा–अर्थात् युद्ध आदि विपत्तियों में तथा तथा मद्य, मृगया वेश्या आदि व्यसनों में फँसा हुआ राजा (स्वामी) अच्छा होता है, और विद्वानों के लिए जीवन (अर्थात् आजीविका देने वाला) मूर्ख है । और श्रेष्ठों के जीवन–उत्तम वर्ण (क्षत्रिय वैश्य आदि) हैं ॥ ३५ ॥

तब वह राजा बोला–ठीक है,—जो भी कुछ हो, परन्तु इसका कारण तो फिर सोचना । इस समय तो जो करना चाहिये, उसे निश्चय करना योग्य है ।

तब चकवा बोला कि–देव ! पहले तो शत्रु के राज्य में किसी प्रणिधि (गुप्त दूत)

१. 'सद्वन्द्वो नृपतेर्जनः' इति पाठे—सद्वन्द्वः=कलहायमानः । नृपतेः=राज्ञः, जनः=लोकः । स खलु राज्ञो लाभप्रदो भवतीत्यर्थः । २. 'तद्ब्रूहि' ।

प्रहीयताम्। ततस्तदनुष्ठानं, बलाऽबलं च जानीमः'। तथाहि—

'भवेत्स्व-पर-राष्ट्राणां कार्या-ऽकार्याऽवलोकने।
चारश्चक्षुर्महीभर्त्तुर्यस्य नास्त्यन्ध एव सः' ॥ ३६ ॥

स च द्वितीयं विश्वासपात्रं गृहीत्वा यातु। तेनाऽसौ स्वयं तत्राऽवस्थाय, द्वितीयं तत्रत्यमन्त्रकार्यं सुनिभृतं निश्चित्य, निगद्य, प्रस्थापयति[1]'। तथा चोक्तम्—

(जासूस)। प्रहीयतां=प्रेष्यताम्। तदनुष्ठानं=शत्रुमन्तव्यं, तदभिमतं वा।

भवेदिति। स्वराष्ट्रपरराष्ट्राणां कार्यस्य, अकार्यस्य च=उचितानुचितयोरवलोकने, राज्ञां चारा एव चक्षूंषि भवन्ति। चाररहितस्तु राजा चक्षुःशून्योऽन्ध एवेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

स च=प्रणिधिश्च। द्वितीयं=स्वसहायकं कञ्चनाऽपरं प्रणिधिम्। असौ=प्रणिधिः। तत्र=शत्रुराज्ये। तत्रत्यमन्त्रकार्यं=शत्रुपक्षमन्त्रादीनि, तत्रत्यानि कार्याणि च शत्रुभिर्निश्चितानि, तं कथयित्वा निभृतमत्र प्रेषयिष्यति।

को भेजना चाहिये, जिससे हम शत्रु के कर्त्तव्य और बलाबल को जान सकें। जैसे कहा भी है—

अपने और पराये राज्यों के कार्य और अकार्य के देखने के लिए राजा के चार (दूत) ही नेत्र होते हैं, जिस राज के पास वे (चार) नहीं हैं, वह राजा अन्धा ही है ॥ ३६ ॥

और जो दूत भेजना है, वह अपने साथ दूसरे विश्वासपात्र को साथ लेकर जावे जिससे वह आप वहीं रहकर, वहाँ की गुप्त बातों को चुपचाप बड़ी सावधानी से जान कर, पक्की खबरों को एकत्रित करके, दूसरे को वहाँ की गुप्त बातें अच्छी प्रकार समझा कर, यहाँ सूचना देने को भेज सके।

१. 'प्रस्थापयतु'।

'तीर्था-ऽऽश्रम-सुरस्थाने शास्त्रविज्ञानहेतुना ।
तपस्विव्यञ्जनोपेतैः स्वचरैः सह [1]'संवसेत्' ॥ ३७ ॥

गूढचारश्च—यो जले, स्थले च[2] चरति । ततोऽसावेव बको नियुज्यताम् । एतादृश एव कश्चिद्बको द्वितीयत्वेन प्रयातु । तद्गृहलोकाश्च[3] राजद्वारे तिष्ठन्तु । किन्तु एतदपि सुगुप्तमनुष्ठातव्यम्' । यतः—

तीर्थेति । पुण्येषु तीर्थस्थानेषु, जलाशयेषु, मुन्यादीनामाश्रमभुवि, देवस्थानेषु च । शास्त्रविज्ञानहेतुना = शास्त्राऽभ्यासज्ञान-विज्ञान-कलाकौशलचमत्कार-दिव्यसिद्धयादि-प्रदर्शन—तच्छिक्षण-पठनादिव्याजेन । तपस्विव्यञ्जनोपेतैः = तापस-संन्यासि-च्छात्र-ब्रह्मचार्यादिचिह्नधारिभिः । स्वचरैः = स्वगूढपुरुषैः सह । प्रणिधिः = राजप्रतिनिधिः, प्रधानगूढश्चारपुरुषश्च । संवसेत् = तिष्ठेत् । 'संवदेत्' इति मुद्रितपुस्तकपाठस्तु नाऽतीवाऽनुगुणः ॥ ३७ ॥

गूढचारश्च = प्रधानप्रणिधिश्च । 'स एव भवितुं योग्य' इतिशेषः । चरति = गच्छति । राजद्वारे = राजभवने । तिष्ठन्तु = प्रतिभूतया तिष्ठन्तु । (जामिन और बन्धक की तरह यहाँ रहे, जिससे वह प्रणिधि कुछ गड़बड़ व राज्य के साथ

जैसा कहा है कि प्रणिधि—तीर्थ, आश्रम और देवालय आदि में शास्त्र (विद्याध्ययन, कला कौशल शिक्षण आदि) जानने के हेतु, (छल) से, या तपस्वियों के चिह्नों से युक्त हो कर, अपने दूतों के साथ निवास करे ॥ ३७ ॥

और गूढदूत वही होने के योग्य है, जो जल में और स्थल में समान रूप से चल सकता हो । इसलिए यह बगला ही प्रणिधि के रूप में वहाँ नियत किया जावे, और इसके साथ ऐसा ही कोई दूसरा बगला जाय, और इन दोनों के घर के लोग (स्त्री पुत्र आदि) राजद्वार में जामिन के रूप से रहें । जिससे ये लोग राजा के साथ विश्वासघात न कर सकें और झूठी खबरें नहीं दे सकें । परन्तु ये सब बातें भी आप छिपा करही कीजिये । क्योंकि—

१. 'संवदेत्' । २. चः क्वाचित्कः । ३. 'नियुज्यलोकाश्च' पा० ।

'षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रस्तथा प्राप्तश्च वार्त्तया'।
इत्यात्मनाद्वितीयेन मन्त्रः कार्यो महीभृता' ॥ ३८ ॥

[1]पश्य—

'मन्त्रभेदेऽहि ये दोषा भवन्ति पृथिवीपतेः।
न शक्यास्ते समाधातु' मिति नीतिविदां मतम्' ॥ ३९ ॥

राजा विमृश्योवाच—'प्राप्तस्तावन्मयोत्तमः प्रणिधिः।' मन्त्री ब्रूते—'देव! तदा सङ्ग्रामे[2] विजयोऽपि प्राप्तः।'

विश्वासघात न कर सके)। एतदपि = प्रणिधिप्रेषणम् ॥ षट्कर्णः = त्रिभिः पुरुषैः कृतः। वार्त्तया प्राप्तः = पुरुषान्तरादिद्वारा, पत्रादिद्वारा वा दूरादेव सन्दिष्टः। (चिट्ठी पत्री से, या दूत द्वारा की गई मन्त्रणा एवं गुप्त सलाह)। इति = इति हेतोः। आत्मनाद्वितीयेन = आत्मना, मन्त्रिणा च एकाकिना। द्वाभ्यामेवेति यावत् ॥ ३८ ॥

मन्त्रभेदोत्थिता दोषाः समाधातुमपि न शक्यन्ते इति नीतिविदां मतमित्यर्थः। ॥ ३९ ॥ उत्तमः=सर्वगुणोपेतः। श्रेष्ठः। प्राप्तः=प्राप्त एवेत्यवेहीत्यर्थः। मया सुगूढ-रूपेण पूर्वमेव तत्र प्रणिधिः कश्चन नियुक्त एवेति यावत्।

छः कानों से की हुई संमति (मन्त्र, गुप्त बात चीत), कभी छिपी नहीं रहती है। तथा पत्र आदि से, अथवा दूसरे मनुष्य के द्वारा (दूत आदि से) बातचीत से प्राप्त हुआ मन्त्र भी छिपा नहीं रह सकता है। इसलिए राजा को उचित है कि वह इकला—अपने, और दूसरे जिससे मन्त्र करना हो वह, ये दो व्यक्ति ही एकान्त में बैठकर मन्त्रणा करें ॥ ३८ ॥

देखिये—मन्त्रभेद (गुप्त संमति के प्रगट होने) से राजा के लिए जो दोष होते हैं, (आपत्तियाँ आती है) उनका समाधान हो ही नहीं सकता है,—यह नीति जानने वालों (राजनीतिज्ञों) का मत है ॥ ३९ ॥

तब राजा सोचकर बोला कि—प्रणिधि तो मैंने उत्तम पा ही लिया है। (ठीक कर लिया है)। मन्त्री बोला कि—तो फिर आपने युद्ध में विजय भी पा ही

---

१. 'अपरञ्च'। २. 'जयोऽपि'।

अत्राऽन्तरे प्रतीहारः प्रविश्य प्रणम्योवाच—'देव ! जम्बूद्वीपादागतो द्वारि शुकस्तिष्ठति ।' राजा चक्रवाकमालोकते ।

चक्रवाकेणोक्तम्—'कृताऽऽवासे तावद् गत्वा तिष्ठतु, पश्चादानीय द्रष्टव्यः ।' 'यथाऽऽज्ञापयति देवः' इत्यभिधाय [1]प्रतीहारः शुकं गृहीत्वा-तमावासस्थानं गतः । राजाऽऽह–'विग्रहस्तावत्समुपस्थितः ।' चक्रवाको ब्रूते— देव ! [2]तथापि सहसा विग्रहो न विधिः' । यतः—

'स किंभृत्यः, स किंमन्त्री य आदावेव भूपतिम् ।
युद्धोद्योगं, स्वभूत्यागं निर्दिशत्यविचारितम्' ॥ ४० ॥

कृताऽऽवासे = दूताद्यर्थं कल्पिते आवासे । (अतिथिभवन में) । द्रष्टव्यः = उपस्थाप्यः । तं = दूतं शुकम् । विग्रहः = युद्धम् । तावत् = सर्वतोभावेन । सहसा = आदावेव । न विधिः = नोचितः ।

किंभृत्य = अयोग्यो भृत्यः । असदमात्यः । किंमन्त्री = कुत्सितोऽमात्यः । आदावेव = सर्वोपायपरित्यागेनाऽऽदावेव । स्वभूत्यागं = स्वराज्यपरित्यागम् , स्वस्थानत्यागं, पलायनञ्च । निर्दिशति = उपदिशति । अविचारितम् = विचारं विनैव ॥ ४० ॥

लिया है–यही समझिये । अर्थात्–जिस राजा के पास उत्तम प्रणिधि (जासूस) हैं, उस राजा की विजय निश्चित ही है ।

इसी बीच में द्वारपाल ने आकर प्रणाम कर कहा कि हे देव ! जम्बूद्वीप से आया हुआ एक सुग्गा (तोता) बाहर खड़ा है । तब राजा चकवे की तरफ देखने लगा ।

तब वह चकवा बोला कि–जाकर उसे (दूत शुक को) अतिथि-शाला में ठहरा दो, पीछे बुलाकर बात चीत की जाएगी । 'जैसी महाराज की आज्ञा' ऐसा कह कर द्वारपाल उसे निवासस्थान को ले गया । फिर राजा बोला कि— अब विग्रह (युद्ध) तो आ उपस्थित हुआ । चकवा बोला—हे देव ! पहले ही विग्रह (युद्ध) करना–यह कभी उचित नहीं है । यह शास्त्रीय विधि नहीं है ।

क्योंकि—वह कुत्सिक सेवक है, और वह कुत्सित मन्त्री है, जो बिना

१. 'प्रतीहारस्तमावासस्थानं नीत्वा गतः' । २. 'प्रागेव विग्रहे'

अपरंच—

'विजेतुं प्रयतेताऽरीन्न युद्धेन कदाचन ।
अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युध्यमानयोः' ॥ ४१ ॥

अन्यच्च—

'साम्ना, दानेन, भेदेन, समस्तैरथवा पृथक् ।
साधितुं प्रयतेताऽरीन्, न युद्धेन कदाचन' ॥ ४२ ॥

[1]अपरञ्च—

'सर्व एव जनः शूरो ह्यनासादितविग्रहः ।
अदृष्टपरसामर्थ्यः सदर्पः को भवेन्न हि' ? ॥ ४३ ॥

अरीन्=शत्रून्, युद्धेन विजेतु न प्रयतेत, यतः—युध्यमानयोर्द्वयोर्विजय.—अनित्यो लोके प्रायेण दृश्यते ॥ ४१ ॥

साम्ना=सान्त्वेन । एभिस्त्रिभिरुपायैः । पृथक् पृथग्वा, समस्तैर्वा । अरीन् =शत्रून् । साधयितुं=वश कर्त्तुं–प्रयतेत, परन्तु युद्धेन शत्रून् वशीकर्त्तुं कदापि न प्रयतेत ॥ ४२ ॥ अनासादितविग्रहः=अप्राप्तयुद्धः, सर्व एव जनः शूरः ।

विचारे पहले ही अपने राजा को युद्ध के उद्योग करने की अथवा अपनी भूमि (राज्य) का त्याग करने की (भाग जाने की) सलाह देता है ॥ ४० ॥

और भी—अपने शत्रुओं को युद्ध से ही जीतने का कभी भी प्रयत्न न करे । किन्तु जहाँ तक हो सके शान्तिमय उपायों से ही अपने शत्रुओं को दबाने का प्रयत्न करे । क्योंकि युद्ध करने वालों में से किसी का भी विजय निश्चित नहीं रहता है । न जाने, दोनों लड़ने वालों में से कौन सा जीते और कौन सा हारे ? ॥ ४१ ॥

और भी—साम (शान्ति) से, दान से, और भेद से, (फूट डालकर) इन प्रत्येक उपायों से, अथवा संमिलित इन तीनों उपायों से ही शत्रुओं को वश में करने का प्रयत्न करे, परन्तु युद्ध कभी न करे ॥ ४२ ॥

और भी—युद्ध प्राप्त होने के पहिले तो सभी मनुष्य शूर वीर होते हैं ।

१ 'यतः'

किञ्च—

'न तथोत्थाप्यते ग्रावा प्राणिभिर्दारुणा यथा ।
अल्पोपायान्महासिद्धिरेतन्मन्त्रफलं महत्' ॥ ४४ ॥

किन्तु विग्रहमुपस्थितं विलोक्य व्यवह्रियताम्' । यतः—

'यथा कालकृतोद्योगात्कृषिः फलवती भवेत् ।
तद्वन्नीतिरियं देव ! चिरात्फलति, न क्षणात्' ॥ ४५ ॥

अदृष्टपरसामर्थ्यः=अननुभूतशत्रुबलः, अनवलोकितपरसामर्थ्यः । कः—सदर्पः=सगर्वो-न भवेत् ?, सर्वोऽपि सगर्वो भवत्येवेत्यर्थः ॥४३॥ काष्ठादि साधनं विना ग्रावा=प्रस्तरः, तथा=अनायासेन नोत्थापयितुं शक्यते, यथा दारुणा=दण्डादिसाधनैरनायासेनोत्थापयितुं शक्यते, एवमेव अल्पोपायान्महत्कार्यसिद्धिरित्येव मन्त्रस्य फलम् । तत्रैव च मन्त्रिणां मन्त्रिता ॥ ४४ ॥

उपस्थितम्=उपस्थितमिव । विलोक्य=मत्वा । व्यवह्रियताम्=उपायः क्रियताम् । देव=हे राजन् । कालकृतोद्योगात्=कृषिसमुचितसमयकृतादुद्योगात् । कृषिः फलवती=सफला, भवेत्, एवमियं नीतिः=राजनीतिरपि, मन्त्रोऽपि च । चिरात्=कियता कालेनैव—फलति, न क्षणात्=न तु सद्य एव । यस्मिन्क्षणे बीजमुप्तं तस्मिन्नेव क्षणे तन्न फलति, किन्तु समुचितं कालमपेक्षते

क्योंकि शत्रु का सामर्थ्य (बल-पौरुष) देखने के पहले तो कौन पुरुष घमण्डी नहीं होता है ? ॥ ४३ ॥

और भी–जितनी सरलता से मनुष्य काष्ठ की सहायता से, थोड़े प्रयत्न से ही बड़े बड़े पत्थरों को उठा सकता है, वैसा बिना काष्ठ के नहीं उठा सकता है, इसी प्रकार थोड़े से प्रयत्न से भी बहुत बड़ा लाभ जिससे हो सके-वही मन्त्र (सलाह, उपाय) श्रेष्ठ है ।

परन्तु अब तो विग्रह (युद्ध) उपस्थित हो ही गया है-ऐसा समझ करके ही सब कार्य करना चाहिये । क्योंकि हे देव ! जैसे समय पर किये हुए उपाय से खेती फलती है, वैसे ही यह नीति (मन्त्र) भी कुछ काल के बाद ही

अपरं च—

'दूरे[1] भीरुत्वमासन्ने शूरता महतो गुणः ।
विपत्तौ[2] हि महाँल्लोके[3] धीरत्वमधिगच्छति' ॥ ४६ ॥

अन्यच्च—

'प्रत्यूहः सर्वसिद्धीनामुत्तापः प्रथमः किल ।
अतिशीतलमप्यम्भः किं भिनत्ति न [4]भूभृतः' ? ॥ ४७ ॥

इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

भये दूरे सति भीरुता, परन्तु भये समासन्ने तु—शूरता = शौर्यमास्थाय तन्निरासप्रयासः-अयमेव महतः = महात्मनां,-गुणः । लोके हि—यतो विपत्तौ सत्यां महान् धीरताम् अधिगच्छति = प्रतिपद्यते, आविष्करोति ॥ ४६ ॥

उत्तापः = अधैर्यम् , क्रोधः, क्षोभश्च, (घबड़ाना, जल्दी गरम होना) । सर्वसिद्धीनां-प्रथमः=मुख्यः, प्रत्यूहः=विघ्नः । किल = प्रसिद्धमेतत् । अम्भः= जलम् , अतिशीतलमपि, भूभृतः = पर्वतान् । भिनत्त्येव = विदारयत्येव । एवञ्च उत्तापविरहे एव कार्यं सिद्ध्यति, उत्तापेन तु कार्यहानिर्भवत्यतः क्रोधस्तन्मूलो विग्रहश्च त्याज्य इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

फलती हैं, न कि क्षणभर में ॥ ४५ ॥

और भी-बड़े लोगों का—विपत्ति दूर हो तो भीरुता रखना, और विपत्ति जब समीप में ही आ जावे तो शूरता दिखाना यही गुण है । क्योंकि बड़े लोग विपत्ति में धीरता रखते हैं—यह लोक प्रसिद्ध है ॥ ४६ ॥

और भी—धीरज छोड़ना और घबड़ा जाना-ही सम्पूर्ण सिद्धियों का विघ्न (बाधक) है । देखो—ठंडा भी जल क्या पहाड़ को नहीं फोड़ देता है ! । अवश्य ही फोड़ देता है । अतः शीतलता और शान्ति से ही बड़े से बड़े कार्य अनायास ही हो सकते हैं ॥ ४७ ॥

---

१. 'महतो दूरभीरुत्वमासन्ने शूरता गुणः' पा० । २. 'विपत्तौ च' । ३. धीरतामनुगच्छति' पा० । ४. 'भूतलम्' ।

विशेषतश्च देव ! महाबलोऽसौ[1] चित्रवर्णो राजा । यतः—

'बलिना सह योद्धव्य' मिति नाऽस्ति निदर्शनम् ।
तद्युद्धं हस्तिना सार्द्धं नराणां मृत्युमावहेत्' ॥ ४८ ॥

अन्यच्च—

'स मूर्खः कालमप्राप्य योऽपकर्त्तरि वर्त्तते ।
कलिर्बलवता सार्धं कीटपक्षोद्गमो यथा' ॥ ४९ ॥

किञ्च—

'कौर्मं सङ्कोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत् ।
[2]प्राप्तकाले तु नीतिज्ञ उत्तिष्ठेत्क्रूरसर्पवत्' ॥ ५० ॥

निदर्शनम् = प्रमाणम् । उदाहरणम् । पदचारिणो मनुष्यस्य हस्तिना युद्धे मनुष्यस्य मृत्युरेव न संशयः ॥ ४८ ॥ यः कालम् = अप्राप्य—अनवसरे एव—अपकर्त्तरि वर्त्तते = तेन सह कलहं करोति, स मूर्खः । बलवता सह कलिः = विवादः । कीटपक्षोद्गमो यथा = कीटानां पक्षोद्गम इव—स्वविनाशायैव भवति । (चीटियों के पङ्ख तो उनके जल मरने के लिये ही आते हैं) ॥ ४९ ॥

नीतिज्ञः = नीतिकुशलः । कौर्मं=कच्छपसम्बन्धिनं, सङ्कोचम् = अङ्गसङ्कोचम्,

और हे महाराज, विशेष करके यह बात भी है कि वह चित्रवर्ण राजा बड़ा बलवान् है ।

और—बलवान् के साथ लड़ना, यह शास्त्र और व्यवहार से संमत नहीं है । क्योंकि हाथी के साथ युद्ध करने (लड़ने) से तो मनुष्य की मृत्यु ही होती है ॥ ४८ ॥

और भी—वह मूर्ख है, जो विना उचित समय के (बेमौके) ही अपकारी एवं बलवान् शत्रुओं का सामना करता है । क्योंकि बलवान् शत्रु के साथ युद्ध करना तो पतङ्ग के पङ्ख निकलने के सदृश अपनी मृत्यु का ही कारण होता है ॥ ४९ ॥

अतः—नीतिज्ञ मनुष्य को चाहिये कि वह कछुवे के समान दबकर शत्रुओं

१. 'राजा चित्रवर्णः' । २ 'प्राप्तकालस्तु' ।

'महत्यल्पेऽप्युपायज्ञः सममेव भवेत्क्षमः ।
समुन्मूलयितुं वृक्षांस्तृणानीव नदीरयः' ॥ ५१ ॥

अतो [1]दूतोऽयं शुकोऽत्राऽऽश्वास्य तावद् ध्रियतां [2]यावद्दुर्गं सज्जीक्रियते । यतः—

'एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
शतं शतसहस्राणि, तस्माद् दुर्गं विशिष्यते' ॥ ५२ ॥

आस्थाय = आश्रित्य. प्रहारमपि परैर्दत्तं मर्षयेत् = सहेत । प्राप्तकालस्तु=प्राप्ताऽवसरस्तु । क्रूरसर्पवत् सहसा उत्तिष्ठेत् = शत्रौ प्रहरेत् ॥ ५० ॥

उपायज्ञः = उपायकुशलः, महति=बलवति । स्वल्पे = निर्बलेऽपि च, सममेव = तुल्यमेव, क्षमः = समर्थो भवति । उन्मूलयितुं क्षमः = विनाशयितुं शक्तो भवेत् । यथा नदीरयः = नदीवेगः, लघून तृणानीव, महतो वृक्षानपि उत्पाटयत्येवं नीतिविद्बलवन्तं, निर्बलञ्च परपुं नाशयितुं शक्त इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

आश्वास्य = सान्त्वबचनैराश्वास्य । ध्रियताम् = इहावस्थाप्यताम् । एकोऽपि धनुर्धरो दुर्गप्राकारस्थः शतं योधयति,—एवमेव प्राकारस्थाः शतं भटाश्च शतसहस्राणि =लक्षमपि परसेनाभटान् योधयन्ति, तस्मात् दुर्गं प्रशस्तम् । (प्राकार='किले का परकोटा' 'किले की दीवाल') ॥ ५२ ॥

के प्रहारों को भी सहन करे और अपना समय प्राप्त होने पर क्रूर सर्प के समान उठ खड़ा हो, और शत्रु पर आक्रमण कर दे ॥ ५० ॥

और उपाय का जानने वाला, बड़े और छोटे सभी शत्रुओं के दबाने में बराबर ही समर्थ होता है । जैसे नदी का वेग छोटे छोटे तिनकों के समान ही बड़े से बड़े वृक्षों के भी उखाड़ने में समर्थ होता ही है ॥ ५१ ॥

इसलिये जब तक हमारा किला लड़ाई के लिये सब सामग्रियों से सुसज्जित न हो जाए, तब तक इस दूत को भी आश्वासन दे करके (इधर उधर की चिकनी चुपड़ी बातों में अटका कर) ठहरा रखना चाहिये ।

क्योंकि—किले में स्थित एकही धनुर्धारी योद्धा एकसौ शूरों के साथ लड़ सकता है, और सौ योद्धा लाखों के साथ युद्ध कर सकते हैं । इस लिए राजाओं के लिये किले का बड़ा महत्त्व है ॥ ५२ ॥

---

१. 'अतस्तद्दूतोऽप्याश्वास्य' । २. 'दुर्गः' ।

किञ्च—

'अदुर्गविषयः कस्य नाऽरेः परिभवाऽऽस्पदम् ।
अदुर्गोऽनाश्रयो राजा पोतच्युतमनुष्यवत्' ॥ ५३ ॥
'दुर्गं कुर्यान्महाखातमुच्चप्राकारसंयुतम् ।
सयन्त्रं, सजलं, शैल-सरि-न्मरु-वनाऽऽश्रयम्' ॥ ५४ ॥
'विस्तीर्णताऽतिवैषम्यं, रसधान्येध्मसंग्रहः ।
प्रवेशश्चाऽपसारश्च सप्तैता दुर्गसम्पदः' ॥ ५५ ॥

अदुर्गविषयः=दुर्गमदेश-कोट्टादि-विरहितो राजा । कस्य अरेः=कस्य शत्रोः,परिभवाऽऽस्पदं = तिरस्कार्यः, विजेयः, न भवति । अपि तु स सामान्यस्यापि शत्रोर्वशं गच्छति । यतो हि-अदुर्गः=दुर्गरहितोऽत एव अनाश्रयो राजा पोतच्युतमनुष्यवत्=वहित्रपतितसांयात्रिकवत् । (जहाज से गिरे हुए यात्री की तरह) आश्रयविरहितो ऽत एव चाऽनाथो जले निमग्नो भवति ॥ ५३ ॥

महाखातं=महापरिखोपगतम् । प्राकारः=दुर्गभित्तिः । सयन्त्रं=युद्धोपयोगिकूटयन्त्रादिघटितम् । सजलं=जलाशयसनाथम् । **शैलेति** । पर्वत-नदी-मरु-कान्तारान्यतमदुर्गमभूमिसंस्थितमित्यर्थः ॥ ५४ ॥

विस्तीर्णता= विशालता । अतिवैषम्यम्=अतिदुर्गमत्वम् । रसधान्येध्म-

---

और भी—किले से रहित राजा का कौन शत्रु तिरस्कार नहीं कर देता है ? । क्योंकि किले से रहित होने से, सुदृढ़ आश्रय रहित राजा जहाज से गिरे हुए मनुष्य के तुल्य ही अनाथ होता है, और साधारण शत्रु से भी अनायास ही वह परास्त हो जाता है ॥ ५३ ॥

और किले के चारों ओर चौड़ी खाई तथा ऊँची दीवार होनी चाहिये और यंत्रों (तोप आदि) से और जल से किले को सुसज्जित रखना चाहिये । और पहाड़, नदी, निर्जल देश और वन इनसे युक्त दुर्गम स्थान में ही किला बनाना चाहिये ॥ ५४ ॥

और विस्तार (भूमि का फैलाव,) अतिविषमता (स्थानों का दुर्गम एवं ऊँचा नीचा होना) रस, अन्न एवं इन्धन आदि जो उपयोगी वस्तुएं हैं उनके संग्रह-

राजाऽऽह—'दुर्गाऽनुसन्धाने को नियुज्यताम्?।' चक्रवाको ब्रूते—

'यो यत्र कुशलः कार्ये तं तत्र विनियोजयेत्।
'कर्मस्वदृष्टकर्मा यः शास्त्रज्ञोऽपि विमुह्यति' ॥ ५६ ॥

तदाहूयतां सारसः।' तथाऽनुष्ठिते सति समागतं सारसमवलोक्य राजोवाच—'भोः सारस! त्वं सत्वरं दुर्गमनुसन्धेहि।'

सारसः प्रणम्योवाच—देव! दुर्गं तावदिदमेव चिरात्सुनिरूपित-

संग्रहः=लवण-जल-धान्य-काष्ठादिसंग्रहः। प्रवेशाः=निगूढनानाप्रवेशमार्गाः। अपसारः=नानाविधा गूढपलायनमार्गाः। एताः सप्त दुर्गसम्पदः=प्रशस्तदुर्गसम्पत्तयो ज्ञेयाः ॥ ५५ ॥

दुर्गानुसन्धाने=दुर्गभूमिनिरीक्षण-परीक्षणादौ, दुर्गसज्जीकरणे च। यः कार्येषु=कर्त्तव्यकर्मसु। अदृष्टकर्मा=अकृतकर्मा। स खलु शास्त्रज्ञोऽपि=अधीतविद्योऽपि, मुह्यति=कर्त्तव्ये कर्मणि व्याकुलो भवति ॥ ५६ ॥

सारसं=जलदुर्गरहस्यवेत्तारं सारसम्। सुनिरूपितं=सुपरीक्षितम्।

स्थान, और जाने और आने के गुप्त द्वार—ये किले की सात संपत्तियाँ हैं। अर्थात्—इन सात बातों से किला उत्तम कोटि का कहलाता है ॥ ५५ ॥

तब वह राजा बोला कि—दुर्ग (किले) के निश्चित करने और उसकी सुव्यवस्था में कौन व्यक्ति नियुक्त किया जाए?। तब चकवा बोला कि—

जो जिस कार्य में चतुर हो उसको उसी कार्य में लगाना चाहिए। क्योंकि जिसने काम न किया हो, और न देखा हो, तो वह यदि शास्त्र का जानने वाला भी हो तो भी उस काम में अवश्य गड़बड़ा जाता है ॥ ५६ ॥

इस लिये सारस को बुलवाइये। वैसा किये जाने (सारस को बुलवाने) पर आये हुए उस सारस को देखकर वह राजा बोला—हे सारस! तुम शीघ्र ही कोई दुर्गभूमि (किला) ठीक करो। सारस प्रणाम कर बोला—महाराज! दुर्ग (किले) के लिए तो यह बड़ा सरोवर ही उत्तम है, और यह दुर्ग बहुत काल

१. 'कार्येषु'।

मास्ते महत्सरः । किन्त्वेतन्मध्यद्वीपे[1] द्रव्यसंग्रहः क्रियताम्' । यतः—

'धान्यानां सङ्ग्रहो राजन्नुत्तमः सर्वसङ्ग्रहात् ।
निक्षिप्तं हि मुखे रत्नं न कुर्यात्प्राणधारणम्' ॥ ५७ ॥

किञ्च—

'ख्यातः सर्वरसानां हि लवणो रस उत्तमः ।
गृह्णीयात्तं, विना तेन व्यञ्जनं गोमयायते' ॥ ५८ ॥

राजाऽऽह—'सत्वरं गत्वा सर्वमनुष्ठीयताम्[2] ।' पुनः प्रविश्य प्रतीहारो ब्रूते—'देव ! सिंहलद्वीपादागतो मेघवर्णो नाम वायसः सपरिवारो द्वारि [3]वर्त्तते । स च देवपादान् द्रष्टुमिच्छति ।' राजाऽऽह-[4]काकः

एतन्मध्यद्वीपे=एतत्सरोवरमध्यवर्त्तिनि द्वीपे । प्राणधारणम्=उदरपूर्त्ति-द्वारा प्राणरक्षणम् ॥ ५७ ॥ ख्यातः=प्रसिद्धः । तं गृह्णीयात्=सङ्गृह्णीयात् । तं विना=लवणं विना । व्यञ्जनं=भक्ष्यभोज्यादिकं सर्वमपि । गोमय इवा-चरति—गोमयायते=गोमय इवाऽऽस्वादरहितं भवतीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

पहिले ही से अच्छी तरह से मेरा ठीक हुआ है । किन्तु इस सरोवर के बीच के द्वीप में आवश्यक अन्न रस आदि वस्तुओं का संचय कर लेना चाहिये ।

क्योंकि, हे राजन् ! अन्नों का संग्रह करना सब संग्रहों से उत्तम है । क्योंकि मुँह में रक्खा हुआ भी रत्न (हीरा पन्ना एवं सोना चाँदी) प्राणों को नहीं बचा सकता है ॥ ५७ ॥

और भी—सब रसों में लवण (निमकीन) रस सब रसों में उत्तम कहा गया है, क्योंकि निमक के विना सभी भोजन गोबर के समान स्वाद रहित ही होते है ॥ ५८ ॥

तब सारस से वह राजा बोला—तुम शीघ्र जाकर इन सब आवश्यक वस्तुओं का सङ्ग्रह करके दुर्ग को पूर्ण रूप से तैयार करो । फिर द्वारपाल आकर बोला कि—'देव ! सिंहलद्वीप से आया हुआ मेघवर्ण नाम का कौवा परिवार सहित बाहर उपस्थित है, वह आपके चरणों का दर्शन करना चाहता है । राजा बोला—

१. 'किन्त्वत्र मध्यद्वीपे' पा० । २. 'अनुतिष्ठ' । ३. 'तिष्ठति' । ४. 'काकाः पुनः सर्वज्ञाः, बहुद्रष्टारश्च' ।

प्राज्ञो, बहुदृश्वा च, तद्भवति स संग्राह्यः।

चक्रवाको ब्रूते—'देव ! अस्त्येवं, किन्तु अस्मद्विपक्षः काकः स्थलचरः। तेनाऽस्मद्विपक्षपक्षे नियुक्तः कथं [1]सङ्गृह्यते ? ! तथा चोक्तम्—

'आत्मपक्षं परित्यज्य, परपक्षेषु यो रतः।
स परैर्हन्यते मूढो, नीलवर्णशृगालवत्' ॥ ५६ ॥

राजोवाच—'कथमेतत् ?'। मन्त्री कथयति—

७. नीलवर्णशृगालकथा।

[[2]अस्त्यरण्ये] कश्चिच्छृगालः स्वेच्छया नगरोपान्ते [3]भ्राम्यन्नीलीभाण्डे निपतितः। पश्चात्तत उत्थातुमसमर्थः, प्रातरात्मानं मृत-

प्राज्ञः = पण्डितः। बहुदृश्वा = बहुश्रुतश्च।

विपक्षः = स्थलचरतया जलचराऽस्माद्विपक्षभूतः। रतः = अनुरक्तः। परैः = विपक्षैः ॥ ५६ ॥ स्वेच्छया = यदृच्छया। नगरोपान्ते = नगरसमीपे। नीलसन्धानभाण्डे = नीलीरागनिर्माणपात्रे। (नील रंग बनाने के बर्त्तन में 'नाँद में')।

कि—निश्चय ही कौवे सब कार्यों के जानने वाले और बहुश्रुत तथा दूरदर्शी एवं चतुर होते हैं। इसलिये इसको अपने आश्रय में रखना उचित ही है। तब चकवा बोला कि—हे देव ! यह तो ठीक है, परन्तु कौवा तो स्थल पर चलने वाला होता है, और हम लोग जलचर हैं, अतः यह तो हमारा विपक्षी है, अतः यह कैसे रखने योग्य हो सकता है ?। अर्थात् इसे यहाँ नहीं रखना चाहिये। ऐसा कहा भी है—

अपने पक्ष को छोड़कर जो परपक्ष में प्रीति करता है, वह मूर्ख नीले रङ्ग से रङ्गे हुए उस शृगाल के समान ही दूसरों से मारा जाता है ॥ ५९ ॥

राजा ने पूछा कि—यह कथा कैसे है ?। मन्त्री बोला कि—

एक वन में कोई सियार रहता था। वह अपनी इच्छा से नगर के पास घूमता-फिरता नील रंग से भरे हुए कुण्डे में गिर पड़ा। फिर जब वह उसमें

१. 'सङ्ग्राह्यः'। २. क्वाचित्कः पाठः। ३. 'भ्रमन्'।

वत्सन्दर्श्य स्थितः। अथ नीलीभाण्डस्वामिना 'मृत' इति ज्ञात्वा, तस्मात्समुत्थाप्य, दूरे नीत्वाऽसौ परित्यक्तः, तस्मात्पलायितः[१]।

ततोऽसौ वने गत्वा आत्मानं नीलवर्णमवलोक्याऽचिन्तयत्—'अहमिदानीमुत्तमवर्णः, [२]तदहं स्वकीयोत्कर्षं किं न साधयामि'—इत्यालोच्य शृगालानाहूय, तेनोक्तम्—'अहं भगवत्या वनदेवतया स्वहस्तेनाऽरण्यराज्ये सर्वौषधिरसेनाऽभिषिक्तः। [[३]पश्यन्तु मम वर्णम्]। तदद्यारभ्याऽस्मदाज्ञयाऽस्मिन्नरण्ये व्यवहारः कार्यः।'

शृगालाश्च तं विशिष्टवर्णमवलोक्य, साष्टाङ्गपातं प्रणम्योचुः—'यथाऽऽज्ञापयति देवः' इति। अनेनैव क्रमेण सर्वेष्वरण्यवासिष्वाधिपत्यं

ततः=नीलीभाण्डात्। नीलीभाण्डस्वामिना=रजकेन। (नीलगर ने) असौ=जम्बुकः। उत्तमवर्णः=श्रेष्ठवर्णः। (चटकीले नीले रंगवाला)। वनदेवतया=वनाधिकारिण्या देव्या। अभिषिक्तः=राज्ये स्थापितः। व्यवहारः=विवादपद (मुकद्दमा) निर्णयः,

से नहीं निकल सका, तब वह सुबह होने पर अपने को मरे हुए के समान दिखा कर पड़ गया। जब उस नील रङ्ग के कुण्डे के स्वामी नीलगर ने 'यह तो मर गया है' ऐसा जान कर उस कुण्डे में से उसे निकाल कर दूर लेजा कर कहीं फेंक दिया, तब वह वहाँ से उठकर भाग गया। फिर वह वन में जाकर अपने को नीला रंगा हुआ देखकर विचार करने लगा कि—'मैं तो अब उत्तम नील रङ्गवाला बन गया हूँ। अतः अब मैं अपनी प्रतिष्ठा क्यों न बढ़ाऊँ?। ऐसा विचार कर उसने दूसरे सब शृगालों को बुलाकर कहा, कि—भगवती वनदेवी ने अपने हाथों से वन के राज्य के लिए सब औषधियों के रस से मेरा अभिषेक कर दिया है। अतः आज से इस वन में मैं ही राजा हूँ और तुम सब लोग अब मेरी आज्ञा से ही सब काम किया करो।

यह सुन कर सब शृगाल उसको विचित्र, विशिष्ट चमकीले नीले रङ्गवाला देखकर, साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करके बोले कि—जैसी आपकी आज्ञा वैसे ही हम लोग

१. 'तस्मात्पलायित' इति क्वचिन्नास्ति। २. 'तदात्मनः किमुत्कर्षं न साधयामि' पा०। ३. क्वचिन्न।

तस्य बभूव । ततस्तेन स्वज्ञातिभिरावृतेनाऽऽधिक्यं साधितम् । ततस्तेन व्याघ्र सिंहादीनुत्तमपरिजनान्प्राप्य, सदसि शृगालानवलोक्य लज्जमानेनाऽवज्ञया[1] स्वज्ञातयः सर्वे दूरीकृताः । ततो विषण्णान् शृगालानवलोक्य केनचिद् वृद्धशृगालेनैतत्प्रतिज्ञातं—'मा विषीदत, यदनेनानीतिज्ञेन वयं [2]मर्मज्ञा [[1]स्वसमीपात्] परिभूतास्तद्यथाऽयं नश्यति तथा विधेयम् । यतोऽमी व्याघ्रादयो वर्णमात्रविप्रलब्धाः शृगालमज्ञात्वा राजानमिमं मन्यन्ते । तद्यथाऽयं [3]परिचीयते तथा कुरुत । [4]तत्र चैवमनुष्ठेयं, यथा वदामि—सर्वे सन्ध्यासमये तत्सन्निधाने महारावमेकदैव

कार्याऽकार्यनिर्णयश्च । आधिक्यं = स्वजातिश्रेष्ठत्वम् । साधितम् = कृतम्, अधिगतम् । उत्तमपरिजनान् = जात्या श्रेष्ठान् । अनुचरपरिचारकवर्गान् । तेन = शृगालेन । सदसि = सभायाम् । अवज्ञाय = तिरस्कृत्य ।

विषण्णान् = दुःखितान् । स्वज्ञातयः = स्वबान्धवाः शृगालाः । मर्मज्ञाः = स्वरहस्यविदोऽपि । परिभूताः = तिरस्कृताः । वर्णमात्रविप्रलब्धाः = रूपपरिवर्त्तनमात्रवञ्चिताः । परिचीयते = व्याघ्रादिभिः स्वरूपतो ज्ञायते । महाराव = महान्तं.

करेंगे । इसी क्रम से सिंह, व्याघ्र आदि सब वनवासियों पर भी उसका स्वामित्व हो गया ।

इस प्रकार अपने बन्धु-बान्धव शृगालों से घिरा हुआ वह नील शृगाल अपने को बहुत बड़ा आदमी समझने लगा । और उसने व्याघ्र, सिंहादि उत्तम परिजनों को पाकर सभा में शृगालों को देखकर लज्जा से दुखी होकर अपने जाति भाई सब शृगालों को अपमान करके सभा निकलवा दिया । फिर सभी शृगालों को अत्यन्त दुःखी देख कर किसी एक बूढ़े शृगाल ने यह प्रतिज्ञा की कि—तुम लोग खेद मत करो । क्योंकि इस अज्ञानी ने नीति और धर्म के जानने वाले हम लोगों को अपने पास से निकाल दिया है, अतः जैसे भी यह नष्ट होगा वैसा ही मैं करूंगा । क्योंकि—ये सिंह व्याघ्र आदि इसके नीले रङ्ग से ही वंचित होकर (भुलावे में आकर) इसको शृगाल नहीं जानकर ही राजा मान रहे हैं । सो जैसे यह सिंह व्याघ्र आदि से पहचाना जाए ऐसा

१. 'अवज्ञाय दूरीकृताः सर्वे स्वज्ञातयः' । २. 'अनभिज्ञेन नीतिविदो मर्मज्ञा वयम्' । ३. 'परिचितो भवति' । ४. 'तत्रैवमनुष्ठेयं यत्' ।

करिष्यथ। ततस्तं शब्दमाकर्ण्य जातिस्वभावात्तेनापि शब्दः कर्त्तव्यः'।
यतः—

'यः स्वभावो हि [1]यस्याऽस्ति स नित्यं दुरतिक्रमः।
श्वा यदि क्रियते राजा, [2]तत्किं नाऽश्नात्युपानहम्' ? ॥६०॥

ततः शब्दादभिज्ञाय स व्याघ्रेण हन्तव्यः। [[3]ततस्तथाऽनुष्ठिते सति तद् वृत्तम्]। तथा चोक्तम्—

'छिद्रं, मर्म च, वीर्यं च, सर्वं वेत्ति निजो रिपुः।
दहत्यन्तर्गतश्चैव शुष्कं वृक्षमिवाऽनलः' ॥ ६१ ॥

शब्दम्। जातिस्वभावात्=शृगालजातिस्वभावात्। दुरतिक्रमः=दुर्लङ्घ्यः। उपानहं=चर्मपादत्राणम् ॥ ६० ॥

ततः=शब्दे कृते सति। विज्ञाय=शृगालोऽयमिति ज्ञात्वा।

निजः=स्वजनः। रिपुः=शत्रुः। छिद्र=रन्ध्रम्। मर्म=रहस्यम्। वीर्यं=

ही उपाय करो। और इस विषय में ऐसा करना चाहिये कि तुम सब लोग सायङ्काल में उसके पास ही में जाकर एक साथ सब मिल कर चिल्लावो, तो उस शब्द को सुन कर जाति के स्वभाव के कारण वह भी शब्द जरूर करेगा।

इसके अनन्तर उन लोग शृगालों के एक साथ मिलकर चिल्लाने पर वैसा ही हुआ, अर्थात् उस नील शृगाल ने भी अपनी जातियों के साथ मिलकर चिल्लाना प्रारम्भ किया।

क्योंकि—जो जिसका स्वभाव है, वह कठिनता से भी बदला नहीं जा सकता है। क्योंकि यदि कुत्ता कभी राजा भी बना दिया जाए तो भी क्या वह जूता (सूखा चमड़ा, सूखी हड्डी आदि) नहीं चबावेगा ?। जरूर चबावेगा ॥ ६० ॥

फिर शब्द से पहचान कर उसे सिंह, व्याघ्र आदि सब मिल कर मार डालेंगे। ऐसा कहा भी है—

जो अपना शत्रु—अपने छिद्र और मर्म और पराक्रम (बल) आदि सब

१. 'यस्य स्यात्तस्याऽसौ'। २. 'स किं नाश्नात्युपानहम्'। ३. अयं पाठः क्वचिदत्र नास्ति।

'ततस्तथाऽनुष्ठिते सति तद् वृत्तम्। अतोऽहं ब्रवीमि—'आत्मपक्षं परित्यज्ये' त्यादि ॥ * ॥

राजाऽऽह—'यद्येवं, तथापि दृश्यतां तावदयं दूरादागतः। तत्सङ्ग्रहे विचारः कार्यः'। चक्रो ब्रूते—'देव! प्रणिधिस्तावत् प्रहितो, दुर्गञ्च सज्जीकृतम्। अतः शुकोऽप्यानीय प्रस्थाप्यताम्। किन्तु [2]योधबलसमन्वितो भूत्वा, दूरादेव तमवलोकय'। यतः—

बलञ्च वेत्ति=जानाति। अन्तर्गतश्चैव=अन्तःस्थित एव, शुष्कं वृक्षमन्तर्गतोऽनल इव दहति ॥ ६१ ॥

तथाऽनुष्ठिते=सम्भूय सर्वैः शब्दे कृते सति। तद्वृत्तं='जम्बूकोऽय'मिति निश्चित्य व्याघ्रेण हतोऽसौ वराको जम्बुकः। दृश्यतां=दर्शनं तावदस्य दीयताम्। सङ्ग्रहविषये पश्चाद्विचारं करिष्याम इत्यर्थः। प्रणिधिः=शत्रुराज्ये प्रधानो गूढश्चरः। आनीय=राजसभामानीय। प्रस्थाप्यतां=विसृज्यताम्। योधबलैः=स्वसैनिकबलेन सह, दूरादेव=विप्रकृष्टदेशस्थित एव। तं=दूतम्। चाणक्यः=

जानता है, वह भीतर प्रवेश कर के वैसे ही जला देता है, जैसे सूखे हुए वृक्ष को अग्नि जला देता है ॥ ६१ ॥

तब उन सियारों ने उसके पास जाकर चिल्लाना आरम्भ किया। तब वह शृगाल भी चिल्लाने लगा। तब सिंह, व्याघ्र आदि ने उसे शृगाल जानकर मार डाला।

इसलिए मैं कहता हूँ कि—अपने पक्ष को छोड़कर जो दूसरे पक्ष के लोगों से अनुराग करता है, वह उस शृगाल की तरह ही मारा जाता है—इत्यादि। तब राजा बोला कि-यद्यपि यह बात ऐसी ही है, तो भी इससे मिलना जरूर चाहिये, क्योंकि यह बहुत दूर से आया है। फिर इसको अपने पक्ष में रखने के विषय में विचार करेंगे। तब चकवा बोला कि—हे देव! दूत भेजा जा चुका है, और किला भी तैयार हो गया है। अब उस तोते को भी बुला भेजिये। परन्तु अपने मन्त्री आदि पूरे दलबल के साथ और सेना को सज्जित करके दूर से ही उससे आप बात करिये।

१. अयं पाठोऽत्र क्वचित्पुस्तके। २. 'योधबलैः सह दूरादेव'।

'नन्दं जघान चाणक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगतः ।
तद् दूरान्तरितं दूतं पश्येद्वीरसमन्वितः' ॥ ६२ ॥

ततः सभां कृत्वाऽऽहूतः शुकः, काकश्च[1] । शुकः किञ्चिदुन्नतशिरा दत्ताऽऽसने उपविश्य ब्रूते—'भो हिरण्यगर्भ ! त्वां महाराजाधिराजः श्रीमांश्चित्रवर्णः समाज्ञापयति—'यदि जीवितेन, श्रिया वा प्रयोजनमस्ति, तदा सत्वरमागत्याऽस्मच्चरणौ प्रणम । नोचेदवस्थातुं स्थानान्तरं परिचिन्तय' । राजा सकोपमाह—'आः, [2]सभायामस्माकं न कोऽपि विद्यते य एनं गलहस्तयति ? ।' तत उत्थाय मेघवर्णो ब्रूते—'देव !

कौटल्यः । तीक्ष्णदूतप्रयोगतः = छद्मवेशधारिबलिष्ठकूटदूतप्रयोगेण । नन्दं = पाटलिपुत्रस्थं तन्नामानं राजानम् । जघान = मारयति स्म । तत् = तस्मात् । दूरान्तरितं = दूरदेशस्थितम् । वीरसमन्वितः = योधपरिवृतः सन्नेव ॥ ६२ ॥

उन्नतशिराः = गर्वोन्नद्धमस्तकः । जीवितेन = प्राणैः । श्रिया = राजलक्ष्म्या, राज्येन । प्रयोजनं = कार्यम् । परिचिन्तय = गवेषय । इतो जलचरराज्यादपसरेति यावत् । एनं = दूतं । गलहस्तयति = गले हस्तं निवेश्य निष्कासयति । आज्ञा-

क्योंकि—चाणक्य ने पटने के राजा नन्द को तीक्ष्ण दूत (शस्त्र से सज्ज, कपट दूत, योद्धा) के प्रयोग से मार डाला था । इसलिये राजा को मन्त्रियों से युक्त होकर बहुत दूर ही से शत्रु के दूत से भेंट करनी चाहिये ॥ ६२ ॥

इसके बाद हिरण्यगर्भ राजा ने सभा (दर्बार) करके कौआ और तोता (दूत) को बुलवाया । तोता दिये हुए आसन पर बैठ करके और ऊँचा शिर करके बड़े घमण्ड से बोला कि—हे हिरण्यगर्भ ! महाराजाधिराज श्रीमान् चित्रवर्ण तुम्हें आज्ञा देते हैं, कि जो तुम्हें जीने की, या राजलक्ष्मी की इच्छा हो तो शीघ्र ही आकर हमारे चरणों को नमस्कार करो, नहीं तो रहने के लिए दूसरा स्थान ढूँढो । अर्थात् राज्य छोड़ कर हट जावो । तब वह राजा क्रोध करके बोला कि—अरे ! कोई हमारे सामने है, जो इसके गले में हाथ डाल कर इसे दर्बार से बाहर धक्के देकर निकाल दे । तब मेघवर्ण कौवा उठ कर बोला कि—हे

१. 'काकोऽपि' । २. 'कोऽप्यस्माकं पुरतो नास्ति, य एनं' ।

य, हन्मि चैनं दुष्टशुकम् ।' सर्वज्ञो राजानं, काकं च सान्त्वयन् ब्रूते—'भद्र ! मा मैवं । शृणु तावत्—

'न सा सभा, यत्र न सन्ति वृद्धा,
वृद्धा न ते, ये न वदन्ति धर्मम् ।
धर्मः स नो, यत्र न सत्यमस्ति,
सत्यं न [1]तद्यच्छलमभ्युपैति' ॥ ६३ ॥

यतो [2]राजधर्मश्चैषः—

'दूतो म्लेच्छोऽप्यवध्यः स्याद्राजा दूतमुखो यतः ।
उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नाऽन्यथा' ॥ ६४ ॥

पय=आज्ञां देहि । सर्वज्ञः=तन्नामा चक्रवाको मन्त्री । मा मैवं=मामैवं कुरु ।
नत्रेति । यस्यां सभायां वृद्धा न सन्ति, सा सभेति नोच्यते । ये च धर्मं वदन्ति ते 'वृद्धा' न । यत्र च सत्यं नास्ति स धर्मो न । छलं=व्याजम् । उपैति=तेन सहितो भवति । तत् सत्यं न, यत् छलेनोपेतमित्यर्थः ॥ ६३ ॥
म्लेच्छः=अश्लीलवाक, दुष्टभाषी, हीनजातिरपि च । किं पुनर्ब्राह्मणः । यतो दूतमुखा हि राजानो भवन्ति । अतः—शस्त्रेषूद्यतेषु=उत्थापितेष्वपि शस्त्रेषु, दूतोऽन्यथा=मिथ्या, नैव वदति ॥ ६४ ॥

देव ! आज्ञा दें तो मैं इस दुष्ट तोते को मार डालूँ ।' तब वह सर्वज्ञ (प्रधान मन्त्री चकवा) राजा और कौवे को शांत करता हुआ बोला कि—हे भद्र ! ऐसा मत करो । सुनो वह सभा—सभा नहीं है, जहाँ वृद्ध लोग नहीं है । और जो धर्म न बतावे, वे वृद्ध नहीं है । और जिसमें सत्य नहीं है, वह धर्म नहीं है । और वह सत्य नहीं है, जो छल से मिला हुआ है ॥ ६३ ॥

क्योंकि यह राजाओं का धर्म है, कि—दूत म्लेच्छ (कटुभाषी, दुष्ट, नीच) भी हो तो भी वह अवध्य है, क्योंकि दूत राजा का मुख है, अतः शस्त्रों के (नंगी तलवारों के) सामने भी दूत कभी झूठ नहीं बोलता है ॥ ६४ ॥

१. 'यद्भयमभ्युपैति' पा० ।   २. 'यतो धर्मश्चैषः' ।

[1]अन्यच्च—

'स्वाऽपकर्षं, परोत्कर्षं दूतोक्तैर्मन्यते तु कः ? ।
सदैवाऽवध्यभावेन दूतः सर्वं हि जल्पति' ॥ ६५ ॥

ततो राजा, काकश्च स्वां प्रकृतिमापन्नौ । शुकोऽप्युत्थाय चलितः । पश्चाच्चक्रवाकेणाऽऽनीय, प्रबोध्य, कनकाऽलङ्कारादिकं दत्त्वा, सम्प्रेषितः स्वदेशं ययौ । शुकोऽपि [2]विन्ध्याऽचलं गत्वा, स्वस्य राजानं चित्रवर्णं प्रणतवान् ।

तं विलोक्य [3]राजोवाच—'शुक ! का वार्त्ता ?, कीदृशोऽसौ देशः' ? । शुको ब्रूते—'देव ! संक्षेपादियं वार्त्ता,—सम्प्रति युद्धोद्योगः

दूतोक्तैः = दूतवाक्यैः । स्वापकर्षं = स्वन्यूनतां । परोत्कर्षं = शत्रोर्महत्त्वञ्च । कः = को विद्वान् मन्यते ? । न कोऽपीत्यर्थः । हि = यतः । सदैव = सर्वदैव । सर्वास्वपि दशासु । अवध्यभावेन = अवध्यतया, निर्भयः सन् । दूतः सर्वं = यथेच्छमुत्कृष्टमपकृष्टञ्च, (निन्दां, स्तुतिं वा) जल्पति = भाषते ॥ ६५ ॥

प्रकृतिमापन्नौ = शान्तिं जग्मतुः । प्रबोध्य = समाश्वास्य, सान्त्वयित्वा ।

और भी—अपनी नीचता और दूसरे (शत्रु) की उच्चता (बड़ाई) केवल दूत के कहने से ही भला कौन मानेगा ? । क्योंकि सदा अवध्य होने से दूत तो सभी कुछ कह सकता है ॥ ६५ ॥

यह सुन कर वह राजा और कौवा अपनी प्रकृति पर आगये (शांत हो गए) । और वह तोता भी क्रोध से उठ कर चल पड़ा, परन्तु चकवे ने उसे बुलाकर तथा समझा बुझाकर, सोने के आभूषण आदि देकर उसे प्रसन्न कर विदा किया । और वह अपने देश को चला गया । फिर तोते ने भी विन्ध्याचल के राजा को जाकर प्रणाम किया । राजा बोला कि—हे शुक ! कहो वहाँ का क्या हाल है ? । वह देश कैसा है ? । तोता बोला कि—हे देव ! संक्षेप में यही बात है, कि अब आप युद्ध

१. 'किञ्च' । २. 'विन्ध्याचलराजानं प्रणतवान् ।'
३. 'तमालोक्य चित्रवर्णो राजाऽऽह' ।

क्रियताम्। देशश्चाऽसौ कर्पूरद्वीपः स्वर्गैकदेशो, राजा च द्वितीयः स्वर्गपतिः कथं वर्णयितुं शक्यते।' ततः [1]सर्वाञ्छिष्टानाहूय राजा मन्त्रयितुमुपविष्टः। आह च तान्—'सम्प्रति[2] कर्त्तव्ये विग्रहे यथाकर्त्तव्यमुपदेशं ब्रूत। विग्रहः पुनरवश्यं कर्त्तव्यः'। तथा चोक्तम्—

'असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः, सन्तुष्टाश्च महीभुजः।
सलज्जा गणिका नष्टा, निर्लज्जाश्च[3] कुलाङ्गनाः' ॥ ६६ ॥

दूरदर्शी नाम गृध्रो मन्त्री ब्रूते—'देव! व्यसनितया विग्रहो न विधिः'। यतः—

'मित्राऽमात्यसुहृद्वर्गा यदा स्युर्दृढभक्तयः।
शत्रूणां विपरीताश्च, कर्त्तव्यो विग्रहस्तदा' ॥ ६७ ॥

प्रणतवान् = नमश्चक्रे। शिष्टान् = आप्तजनान्। मन्त्रणः। तान् = शिष्टान्प्रति ॥

द्विजाः = ब्राह्मणाः। नष्टाः = विनष्टप्राया एव। महीभुजः = राजानः ॥ ६६ ॥

व्यसनितया = प्रकृतिविरोधादिविपद्ग्रस्ततया। अर्थात्-स्वराष्ट्रे प्रकृतिविरोधे = अमात्यपौरजानपदमित्रकुमारादिविरोधे सति ॥ मित्रेति। यदा स्वस्य मित्रादयो स्वस्मिन् दृढमनुरक्ताः, शत्रोश्च मित्रादयो यदा ततो विपरीता = तत्र अननुरक्तास्तदा,

---

का उद्योग कीजिये। और वह कर्पूरद्वीप देश तो स्वर्ग का एक टुकड़ा ही है। और वहाँ का राजा भी दूसरा स्वर्ग का स्वामी इन्द्र ही है, उसका शब्दों से वर्णन असम्भव है। यह सुन कर सब श्रेष्ठों (मन्त्रियों) को बुला कर वह राजा सलाह करने बैठा और बोला—अब युद्ध में जो करना चाहिये, वह आप लोग उपदेश दीजिये। और युद्ध तो हमें अवश्य ही करना है। जैसा कि कहा है—

असंतुष्ट ब्राह्मण, सन्तुष्ट राजा और लज्जा वाली वेश्या एवं निर्लज्ज कुलाङ्गना—ये सब नष्ट हो जाते हैं ॥ ६६ ॥

तब दूरदर्शी नामक गृद्ध बोला कि—हे देव! अपनी प्रजा और अपने मित्र तथा मन्त्री-आदि जब अपने अनुकूल नहीं हो, तब कदापि युद्ध करना नहीं चाहिए। क्योंकि अपने मित्र, मन्त्री और सुहृद्जन जब अपने में दृढ़भक्त हों,

---

१. 'सचिवान्' पा०। २. 'सम्प्रति यत्कर्त्तव्यं तद् ब्रूत'। ३. 'कुलस्त्रियः'।

अन्यच्च—

'भूमिर्मित्रं, हिरण्यं च, विग्रहस्य फलं त्रयम् ।
यदैतन्निश्चितं भावि, कर्त्तव्यो विग्रहस्तदा' ॥ ६८ ॥

राजाऽऽह—'मद्बलं[1] तावदवलोकयतु मन्त्री । तदैतेषामुपयोगो ज्ञायताम् । एवमाहूयतां मौहूर्त्तिकः । स [2]यात्रार्थं शुभलग्नं निर्णीय ददातु' । मन्त्री[3] ब्रूते—देव[4] ! 'तथाऽपि सहसा यात्राकरणमनुचितम्'[5] । यतः—

'विशन्ति सहसा मूढा येऽविचार्य द्विषद्बलम् ।
खड्गधारापरिष्वङ्गं लभन्ते ते सुनिश्चितम्' ॥ ६९ ॥

विग्रहः=युद्धं कर्त्तव्यं, नाऽन्यथेत्यर्थः ॥ ६७ ॥ यदा एतत्=भूम्यादित्रयम् ॥ ६८ ॥

अवलोकयतु=परीक्षतामित्यर्थः । तदा=परीक्षानन्तरञ्च । उपयोगः=कार्यक्षमता । कर्त्तव्यानुष्ठानकौशलम् । मौहूर्त्तिकः=ज्यौतिषिकः । यात्राकरणं=युद्धयात्राकरणम् ।

ये मूढाः=मूर्खाः, अविचार्य=यथावत्पूर्वाऽपरमननुसन्धाय, द्विषद्बलं=शत्रुसेनां, विशन्ति=प्रविशन्ति, ते सुनिश्चितं=ध्रुवं, खड्गधारापरिष्वङ्गं=

और शत्रुओं के मित्र आदि इससे (शत्रुओं से) विपरीत हों, तभी राजा को युद्ध करना चाहिये ॥ ६७ ॥

और भी– पृथ्वी, (राज्य), मित्र व सुवर्ण (धन) ये तीन ही युद्ध के फल हैं। जब ये पूर्ण रूप से निश्चित हों, तभी युद्ध करना चाहिये ॥ ६८ ॥

राजा बोला कि—हे मन्त्रिन्! पहले आप मेरी सेना को देखिए और उसे देखकर उसकी सब व्यवस्था ठीक करिये। तथा मुहूर्त विचारने वाला ज्योतिषी बुलाया जावे जो निर्णय करके श्रेष्ठ लग्न बतावे। मंत्री बोला—तो भी सहसा युद्धार्थ यात्रा करना उचित नहीं है।

क्योंकि—जो मूढ़-शत्रु का बल विचारे बिना ही सहसा युद्धमें कूद पड़ते

१. 'मम बलानि'। २. 'स शुभलग्नं यात्रार्थं विदधातु'। ३. 'मन्त्री वदति'। ४. 'देवे' ति क्वचिन्नास्ति। ५. 'यात्राकरणमयुक्तम्'।

राजाऽऽह—'मन्त्रिन्! ममोत्साहभङ्गं सर्वथा मा कृथाः। विजिगीषुर्यथा परभूमिमाक्रामति[1] तथा कथय।' [2]गृध्रो ब्रूते—'देव[3]! तत्कथयामि। किन्तु तदनुष्ठितमेव फलप्रदम्'। तथा चोक्तम्—

'किं मन्त्रेणाऽननुष्ठाने शास्त्रवत्पृथिवीपतेः।
न ह्यौषधपरिज्ञानाद्व्याधेः शान्तिः क्वचिद्भवेत्' ॥ ७० ॥

राजाऽऽदेशश्चाऽनतिक्रमणीयः। —[4]इति यथाश्रुतं [5]निवेदयामि। शृणु—'देव[3]!

करवालधाराऽऽलङ्घनपूर्वकं मृत्युं, लभन्ते=प्राप्नुवन्ति ॥ ६९ ॥

सर्वथा=केनाऽपि कारणेन। (बिलकुल ही)। मा कृथाः=मा कार्षीः। (मत करो)। विजिगीषुः=दिग्विजयाद्यर्थी। तत्=परभूम्याक्रमणप्रकारमेव। अनुष्ठितमेव=कृतमेव। 'न श्रुतमात्र'मिति शेषः ॥

शास्त्रवत्=शास्त्रेणेव। पृथिवीपतेः=राज्ञः। मन्त्रेणाऽपि–अननुष्ठाने=तदुक्ताऽनाचरणे सति–किं=किं फलम्? । न किमपीत्यर्थः। नहि–शास्त्रपठनमात्रेण तदुक्तमनाचरन् कश्चित्कृती भवति। एवं दैवतामन्त्रो, राजनीतिकुशलसचिवादिदत्तश्च मन्त्रः=परामर्शोऽप्यनुष्ठानमपेक्षते। तदेवाह–नहीति ॥ ७० ॥ राजादेशः=राजाज्ञा। अनतिक्रमणीयः=अनुल्लङ्घनीयः। इति=अतो हेतोः। देव=राजन्।

हैं, वे अवश्य ही तलवार की धार पर कट मरते हैं ॥ ६९ ॥

राजा बोला कि—हे मन्त्रिन्, आप किसी प्रकार से भी मेरे उत्साह को भङ्ग मत करिये। किन्तु जीतने की इच्छा करने वाले राजा जैसे पराई भूमि को जीतते हैं, वही उपदेश कहिए। गृध्र बोला—हे देव! कहता हूँ, परन्तु वह करने से ही फल देगा। जैसा कहा भी है—

शास्त्र का जानने वाला भी राजा यदि मन्त्र का अनुष्ठान न करे तो उस मन्त्र से क्या होसकता है?। क्योंकि केवल औषधि के जानने ही से रोग और दुःख की शांति कभी नहीं होती है। किन्तु उस औषधि के सेवन से ही लाभ हो सकता है ॥ ७० ॥

और राजा की आज्ञा भी उल्लङ्घन नहीं करनी चाहिये, इस लिये जैसा मैंने गुरुजनों से सुना है, वैसा ही कहता हूँ, सुनिए—

१. 'तथोपदिश'। २. 'गृध्रोऽब्रवीत्'। ३. 'देवे' ति क्वाचित्कम्। ४. इतिः क्वचिन्न। ५. 'तन्निवेदयामि'।

'नद्य-द्रि-वन-दुर्गेषु यत्र यत्र भयं नृप ! ।
तत्र तत्र च सेनानीर्यायाद्व्यूहीकृतैर्बलैः' ॥ ७१ ॥
'बलाऽध्यक्षः पुरो यायात्प्रवीरपुरुषाऽन्वितः ।
मध्ये कलत्रं, स्वामी च, कोशः, फल्गु च यद्बलम्' ॥ ७२ ॥
'पार्श्वयोरुभयोर ा, अश्वानां 'पार्श्वतो रथाः ।
रथानां' पार्श्वतो नागा, नागानां च पदातयः' ॥ ७३ ॥
'पश्चात्सेनापतिर्यायात्खिन्नानाश्वासयञ्छनैः ।
मन्त्रिभिः सुभटैर्युक्तः प्रतिगृह्य बलं नृपः—॥ ७४ ॥

नदीति । नद्यद्रिवनदुर्गेषु = नदी-गिरि-वनादिदुर्गमभूप्रदेशेषु, भयप्रदेषु स्थानेषु । व्यूहीकृतैः=शास्त्रोक्तविधिना, आकृतिविशेषेण विन्यस्तैर्बलैः=सैन्यैः सह, सेनानीः= बलाध्यक्षः, यायात्=गच्छेत् ॥ ७१ ॥

बलाध्यक्षः=सेनापतिः । पुरः = अग्रे । प्रवीरपुरुषान्वितः = श्रेष्ठवीरयोधसमन्वितः । कलत्रं = राजान्तःपुरम् । स्वामी=राजा । च = पुनः । यद्बल फल्गु= निस्सारम्, स्वल्पबलं, तदपि मध्ये स्थाप्य मत्यर्थः ॥ ७२ ॥ नागा = गजाः । पदातयः=पत्तिबलम् । (पैदल सेना) ॥ ७३ ॥ खिन्नान्=श्रान्तान् । शनैराश्वासयन्=मृदुवाक्यैराश्वासयन् ॥ किञ्च—नृपः=राजा, मन्त्रिभिः, सुभटैः=

हे राजन् ! जहाँ जहाँ नदी, पहाड़, किला आदि डर के स्थान हों, वहाँ सेनापति सेना को पूर्ण रूप से सन्नद्ध करके और व्यूह बनाकर (दल बाँध कर) चले ॥ ७१ ॥

और विशिष्ट शूर वीरों से युक्त होकर सेनापति आगे चले और बीच में स्त्रियाँ और स्वामी (राजा) तथा खजाना और साधारण (निर्बल) सेना चले ॥७२॥

और उनके दोनों बगल में घोड़े और घोड़ों के बगल में रथ और रथों के बगल में हाथी, और हाथियों के बगल (दोनों ओर) में पदैल चलें ॥ ७३ ॥

और हे राजन ! फिर सेनापति, मन्त्रियों और शूरवीरों को साथ लेकर थके हुए

१. 'पार्श्वयोः' ।

समेयाद्विषमं नागैजलाऽऽढ्यं[1] समहीधरम् ।
सममश्वैर्जलं नौभिः, सर्वत्रैव पदातिभिः' ॥ ७५ ॥
'हस्तिनां गमनं प्रोक्तं प्रशस्तं जलदाऽऽगमे ।
तदन्यत्र तुरङ्गाणां, पत्तीनां सर्वदैव हि' ॥ ७६ ॥
'शैलेषु, दुर्गमार्गेषु विधेयं नृपरक्षणम् ।
स्वयोधै रक्षितस्याऽपि शयनं [2]'योगनिद्रया' ॥ ७७ ॥

सुयोधैश्च युक्तो बलं=सेनां, प्रगृह्य=समादाय, विषमं प्रदेशं, जलाढ्यं प्रदेशं, पर्वतं च (जलाढ्यमार्गं) गजैः, समेयात्=गच्छेत् । समप्रदेशश्च–अश्वैर्यायात् । जलं=नद्यादिप्रदेशं च–नौभिः समेयात् । पत्तिभिश्च सर्वत्र=समे, विषमे वा यायादित्यर्थः ॥ ७५ ॥ एतदेव विशदयति–हस्तिनामिति । तुरङ्गाणाम्=अश्वानाम् । सर्वदैव=सर्वकाले एव ॥ ७६ ॥ शैलादिषु, दुर्गमार्गेषु च राज्ञो रक्षणं सर्वथा विधेयम् स्वयोधै रक्षितस्याऽपि भूपालस्य च=विजिगीषोः, योगनिद्रया=अप्रगाढनिद्रयैव, शयनं=शयनमुचितम् । 'योगिनिद्रये'ति पाठेऽपि योगिजनवदप्रगाढनिद्रयेत्येवाऽर्थः ॥ ७७ ॥

लोगों को आश्वासन देता हुआ सेना को लेकर चले ॥ ७४ ॥

और ऊँचे नीचे, तथा जल से युक्त, और पर्वत वाले बीहड़ प्रदेश में हाथियों से, बराबर समतल प्रदेश में घोड़ों से, पानी में नाव से यात्रा करे । और पैदल सेना से सब जगह यात्रा करनी चाहिये ॥ ७५ ॥

और वर्षा के समय हाथियों से गमन करना अच्छा है, और अन्य समय में घोड़ों से यात्रा उत्तम होती है, और पैदलों का गमन तो सदा ही अच्छा है ॥७६॥

और पर्वतों और कठिन मार्गों में राजा की रक्षा करनी चाहिये । और अपने योद्धाओं से रक्षित होकर भी राजा को योगनिद्रा से ('क्षणभङ्गुर निद्रा से' सावधानी से') ही सोना चाहिये ॥ ७७ ॥

१. 'जलाढ्यञ्च महीधर' मिति पाठः । २. 'योगिनिद्रया' ।

'नाशयेत्कर्षयेच्छत्रून्'[1] दुर्ग-कण्टक-मर्दनैः[2] ।
परदेशप्रवेशे च कुर्यादाटविकान्पुरः ॥ ७८ ॥
'यत्र राजा तत्र[3] कोशो, [4]विना कोशं न राजता ।
[5]सुभटेभ्यस्ततो दद्यात्, को हि दातुर्न युध्यते' ॥ ७९ ॥

यतः—

'न नरस्य नरो दासो, दासस्त्वर्थस्य भूपते ! ।
गौरवं, लाघवं वाऽपि धनाऽधननिबन्धनम्' ॥ ८० ॥

शत्रुं नाशयेत्=हन्यादेव । अथवा दुर्गकण्टकमर्दनैः = दुर्ग—भूमि—कण्टक-विनाशनादिभिः, कर्षयेत्=क्लेशयेत् । निर्बलं कुर्यात् । तत्र कण्टकानि = विघ्नप्रद-शत्रुसेना-सहायादिकाः ॥ 'कटक' इति पाठे—कटकः = सेना । आटविकाः=वनस्थाः किरातादयः,वनरक्षका राजपुरुषाश्च । पुरः=अग्रे, तान् मार्गप्रदर्शकान् कुर्यात् ॥७८॥

यत्रेति । तत्र—कोशः—'स्थाप्य' इति शेषः । राजता=भूपतित्वं । न—'भवती'ति शेषः । ततः=कोशात् । दातुरर्थे को न युध्येत ?, अपि तु सर्वोऽपि युध्यते इत्यर्थः ॥ ७९ ॥

हे भूपते ! नरो न नरस्य दासः, अपि तु अर्थस्यैव नरो दासः । गौरवं= महत्त्वं च राज्ञो धननिबन्धनमेव । लाघवं = लघुत्वञ्च—अधननिबन्धनम् = धना-

---

और किले को तोड़कर और मार्ग की विघ्नबाधाओं को नष्टकर,शत्रुओं का नाश करे और नाना प्रकार से शत्रु को पीडित करे । और शत्रुओं के देश में प्रवेश करने के लिये पहले मार्ग शोधन करने वाले जङ्गली भील आदि को आगे करे ॥७८॥

और जहाँ राजा है, वहीं पर कोश—खजाना भी रहना चाहिये. क्योंकि खजाने के विना राजा का राजापन नहीं हो सकता है । और उस कोश में से अपने सेवकों को खूब धन देवे, क्योंकि देने वाले के निमित्त कौन युद्ध नहीं करता है ? । अर्थात्—धन पाकर सभी युद्ध करते हैं ॥ ७९ ॥

क्योंकि—हे राजन् ! मनुष्य का—मनुष्य दास नहीं होता है, किन्तु सब कोई धन के ही दास होते हैं । और मनुष्यों में बड़ाई और छोटाई भी धन

---

१. 'क्लेशयेच्छत्रुं' । २. 'कटकमर्दनैः' । ३. 'कोषो' । ४. 'विना कोषान्न' । ५. 'स्वभृत्येभ्यः' ।

'अभेदेन च युध्येत, रक्षेच्चैव परस्परम् ।
फल्गु सैन्यं च यत्किञ्चिन्मध्ये व्यूहस्य कारयेत्' ॥ ८१ ॥
'पदातींश्च महीपालः पुरोऽनीकस्य योजयेत् ।
उपरुध्याऽरिमासीत, राष्ट्रं चाऽस्योपपीडयेत्' ॥ ८२ ॥
'स्यन्दना-ऽश्वैः समे युध्येदनूपे नौ-द्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्माऽऽवृते चापैरसिचर्माऽऽयुधैः स्थले' ॥ ८३ ॥

ऽभावहेतुकमेव ॥ ८० ॥ अभेदेन=परस्परं मिलित्वा । अन्योन्यं संहत्य । परस्परं =स्वभटान्परस्परं-रक्षेच्च । फल्गु= असारं यत्किञ्चिदपि सैन्यं । (जो निर्बल सेना हो, उसे) । व्यूहस्य मध्ये कारयेत्=स्थापयेत् ॥ ८१ ॥

अनीकस्य=सेनायाः । 'अनीकोऽस्त्री रणे सैन्ये' इति मेदिनी । पुरः= अग्रतः । अरिं= शत्रुम् । उपरुध्य=पीडयित्वा । ('रोक कर, घेर कर) । आसीत=तिष्ठेत् । अस्य=रिपोः । राष्ट्रं= राज्यञ्च—उपपीडयेत्= कृष्यादि-नाशेन क्लेशयेत् ॥ ८२ ॥ स्यन्दनाः=रथाः । अश्वाः=घोटकाः, तैः । समे= समे भूप्रदेशे । अनूपे=जलबहुले । 'जलप्रायमनूपं स्या' दित्यमरः । नौद्विपैः= नौकाभिर्हस्तिभिर्वा यथायोग्यम् । वृक्षगुल्माऽऽवृते=तरुलतादिगहने देशे । चापैः=धनुर्भिः । स्थले=समभूमौ, असिचर्मायुधैः=खड्गचर्मपरश्वधादिभिः । युद्धयेत्—युधं=युद्धमिच्छेत्-कुर्यात् । (युधः क्यच्) ॥ ८३ ॥

के कारण से और निर्धनता के कारण से ही होती है ॥ ८० ॥

और सभी सैनिकों को आपुस में मिलकर ही युद्ध करना चाहिये और आपुस में रक्षा भी करनी चाहिये, और जो निर्बल सेना हो उसे व्यूह (दल) के बीच में रखना चाहिये ॥ ८१ ॥

और युद्ध में राजा पैदल सेना को और सेना के आगे करे । और शत्रु को चारों ओर से घेर कर सेना का पड़ाव डाले और उसके राज्य को भी पीड़ा दे ॥ ८२ ॥

और रथ और घोड़ों से सम देश में युद्ध करे और जलयुक्त देश में नाव और हाथियों से युद्ध करे, वृक्ष गुल्म से आच्छादित स्थानों में धनुषों से युद्ध करे और तलवार और ढाल आदि से स्थल पर युद्ध करे ॥ ८३ ॥

'दूषयेच्चाऽस्य सततं यवसा-ऽन्नो-दके-न्धनम् ।
भिन्द्याच्चैव तडागानि, प्राकारान्परिखास्तथा' ॥ ८४ ॥
'बलेषु प्रमुखो हस्ती, न तथाऽन्यो महीपते[1] ।
निजैरवयवैरेव मातङ्गोऽष्टायुधः स्मृतः' ॥ ८५ ॥
'बलमश्वश्च सैन्यानां, प्राकारो जङ्गमो [2]यतः ।
तस्मादश्वाधिको राजा विजयी स्थलविग्रहे' ॥ ८६ ॥

अस्य = शत्रोः । यवसान्नोदकं = तृणघासाऽन्नतोयादिकम् । दूषयेत् = विषादिना, उपायान्तरेण च दूषितंकुर्यात् । किञ्च शत्रोर्दुर्गप्राकारपरिखातडागादिकं भिन्द्याच्च ॥ ८४ ॥

बलेषु = सैन्येषु मध्ये । प्रमुखः = मुख्यः । मातङ्गः = गजः । निजैः = स्वीयैः । अष्टायुधः = शुण्डादण्ड–पुच्छ—दन्तयुगल—पादचतुष्टयैरष्टभिरङ्गैर्युध्यते ऽतोऽष्टायुधः । स्मृतः = उक्तः ॥ ८५ ॥ सैन्यानां मध्ये अश्वरूपं बलञ्च सैन्यानां जङ्गमः = चलः, प्राकारः = प्राचीरं, मतः = संमतः । अतः–अश्वाधिकः = अश्वसेना-बहुलबलाऽन्वितः, राजा स्थलविग्रहे = स्थलयुद्धे—विजयी भवति ॥ ८६ ॥

और शत्रु की रसद को (अन्न, जल और ईंधन आदि को) बराबर नष्ट करता रहे और सरोवरों को, किले की दीवारों को तथा परिखाओं को तोड़ डाले ॥८४॥

और हे राजन् ! सेनाओं में हाथी ही मुख्य है, हाथी के समान और कोई दूसरा नहीं है, क्योंकि अपने ही अवयवों से हाथी आठ शस्त्रोंवाला कहा गया है, यतः–सूंड, पोंछ, दो दाँत, चार पैर—इन आठ शस्त्रों से हाथी युद्ध में लड़ता है ॥ ८५ ॥

और घोड़ा भी सेनाओं का विशिष्ट बल है, क्योंकि वह एक चलने वाले प्राकार (दीवार) के समान ही है । इसलिए बहुत घोड़ोंवाला राजा स्थल के युद्ध में सदा विजय पाता है ॥ ८६ ॥

१. 'महीपतेः' । २. 'मतः' ।

[1]तथा चोक्तं—

'युध्यमाना हयाऽऽरूढा देवानामपि दुर्जयाः ।
अपि दूरस्थितास्तषां [2]वैरिणो हस्तवर्त्तिनः' ॥ ८७ ॥

'प्रथमं युद्धकारित्वं, समस्तबलपालनम् ।
दिङ्मार्गाणां विशोधित्वं, पत्तिकर्म प्रचक्षते' ॥ ८८ ॥

'स्वभावशूरमस्त्रज्ञमविरक्तं, जितश्रमम् ।
प्रसिद्धक्षत्रियप्रायं बलं श्रेष्ठतमं विदुः' ॥ ८९ ॥

'यथा प्रभुकृतान्मानाद्युध्यन्ते भुवि मानवाः ।
न तथा बहुभिर्दत्तैर्द्रविणैरपि भूपते' ! ॥ ९० ॥

हयारूढा;=अश्वाऽऽरूढाः । युद्धयमानाः=युद्धं कुर्वन्तो, देवानामपि दुर्जयाः, किं पुनर्मनुष्याणाम् । येषाम्=अश्वारूढानाम्, दूरस्थिता अपि वैरिणः—हस्तवर्त्तिनः=करस्थिता इव भवन्ति ॥ ८७ ॥

अथ पदातिकर्म निर्दिशति—प्रथममिति । प्रथमम्=अग्रतः । समस्तबलपालनं=सम्पूर्णसैन्यरक्षणम् । दिङ्मार्गशोधकत्वञ्च पदातीनां कर्मेत्यर्थः ॥ ८८ ॥

स्वभावशूरं=प्रकृतिशूरम् । अविरक्तम्=अनुरक्तम् । जितश्रमम्=श्रमसहम् । प्रसिद्धवीरक्षत्रियप्रायं=लोकप्रसिद्धक्षत्रियबहुलम् । बलं=सैन्यम् ॥ ८९ ॥

प्रभुकृतात्=राजकृतात् । मानात्=सत्कारात् । द्रविणैः=धनैरपि ॥ ९० ॥

ऐसा कहा भी है—घोड़े पर चढ़ कर युद्ध करने वालों को देवता भी जीत नहीं सकते हैं । और दूर देश में स्थित शत्रु भी मानों उनके हाथ में ही रहते हैं ॥८७॥

और सबसे आगे लड़ना, और सब सेना की रक्षा करना और चारों दिशाओं के मार्गों को शुद्ध करना—यह पैदल सेना का काम है ॥ ८८ ॥

और स्वभाव से शूर, अस्त्रविद्या के जानने वाले, राजा में अनुराग रखनेवाले, श्रम को जीतने (सहने) वाले, ऐसे प्रसिद्ध शूरवीर क्षत्रिय जिसमें अधिक हों, वही सेना अतिश्रेष्ठ कहलाती है ॥ ८९ ॥

और हे राजन् ! स्वामी के आदर करने से जगत् में शूर वीर मनुष्य जैसा

१ 'तथा ह्युक्तम्' । २ 'स्थिता येषां' ।

'वरमल्पबलं सारं, न [1]कुर्यान्मुण्डमण्डलीम् ।
कुर्यादसारभङ्गो हि सारभङ्गमपि स्फुटम्' ॥ ६१ ॥
'अप्रसादोऽनधिष्ठानं, देयांऽशहरणं च यत् ।
कालयापोऽप्रतीकारस्तद्वैराग्यस्य[2] कारणम्' ॥ ६२ ॥
'अपीडयन् बलं शत्रून् जिगीषुरभिषेणयेत् ।
सुखसाध्यं द्विषां सैन्यं दीर्घयानप्रपीडितम्' ॥ ६३ ॥

सारं=दृढम्, अल्पं बलमपि, वरम्=ईषत् श्रेष्ठम् । मुण्डमण्डली=असारनरमुण्डमण्डलम् । असारभङ्गः=निर्बलसैन्यपलायनम् । सारभङ्गं=श्रेष्ठबलभङ्गमपि । स्फुटं=ध्रुवं कुर्यात् ॥५१॥ अथ भटवैराग्यकारणमाह—अप्रसाद इति । पारितोषिकाऽदानम् । अनधिष्ठानम्=अनवस्थानम्, योग्यसेनापत्यभावः, अनवेक्षणं च । देयांशहरणं=देयवेतनादिसङ्कोचः । ('तनखाह काट लेना', 'वेतन कम देना') । कालयापः=वेतनादिदाने विलम्बः । अप्रतीकारः=सैन्यक्लेश-निरासाऽभावः । तद्वैराग्यकारणम्=राजनि सैन्यानां वैराग्यहेतवः ॥ ६२ ॥

विजिगीषुः–बलं=स्वसैन्यम् अपीडयन्=अनतिक्लेशयन्, अभिषेणयेत्=शत्रुं स्वसेनयाऽभियायात् । (चढाई करे) । यतः–दीर्घयानप्रपीडितं=दूराध्वयानपरि-

प्राणपन से युद्ध करते हैं, वैसा बहुत द्रव्य देने पर भी नहीं करते हैं ॥ ६० ॥

और बलवान् तो थोड़ी ही सेना बहुत श्रेष्ठ है, अतः बहुतसी मुण्डमण्डली (डरपोकों) को इकट्ठी न करे, क्योंकि निर्बल सेना के भङ्ग (भाग खड़ी) होने पर सबल सेना भी नष्ट हो जाती है । (भाग जाती है) ॥६१ ॥

और कार्य करने पर इनाम और तरक्की नहीं देना, योग्य सेनापति का अभाव, देय (दिए) धन को वापिस ले लेना, समय पर वेतन न देना, देने में समय बिताना और उनके कष्टों को दूर करने के उपाय न करना, ये सेनाओं के वैराग्य (असन्तोष) के कारण होते हैं ॥ ६२ ॥

और शत्रुओं के जीतने की इच्छा करने वाले राजा को चाहिये कि वह अपनी सेना को मार्ग में ज्यादा दूर चलने आदि से पीड़ा नहीं देता हुआ ही शत्रु

१. 'न बह्वीं मुण्डमण्डलीं' पा० । २. 'स्तत्र वैराग्य' । 'तच्च वैराग्य' ।

'दायादादपरो यस्मान्नास्ति भेदकरो द्विषाम् ।
तस्मादुत्थापयेद्यत्नाद्दायादं तस्य विद्विषः' ॥ ९४ ॥
'सन्धाय युवराजेन, यदि वा मुख्यमन्त्रिणा ।
अन्तःप्रकोपणं कुर्यादभियोक्ता[1] स्थिरात्मनः' ॥ ९५ ॥

श्रान्तं सैन्य–द्विषां = स्वशत्रुभिः–सुखसाध्यम् = अनायासविनाशनीयं भवति । (ज्यादा दूर चलने से थकी हुई सेना को शत्रु लोग अनायास ही मार गिराते हैं, अतः धीरे २ ही चले) ॥ ९३ ॥

यस्मात्–द्विषां=शत्रूणां, भेदकरः = विघटकः । दायादात्=सपिण्डात् । ('पट्टीदार' 'गोतिया') । अपरः=अन्यः । नास्ति=नैवास्ति । तस्मात्–तस्य= विजेयस्य । विद्विषः = शत्रोः । दायादम् = भागहरम् । यत्नात्=प्रयत्नात् । उत्थापयेत्=तेन सह विरोधयेत् ॥ ९४ ॥

अभियोक्ता = विजीगीषुः–युवराजेन, मुख्यमन्त्रिणा वा सन्धाय = गूढं सन्धि कृत्वा–स्थिरात्मनः=सुदृढस्य, अभियुज्यमानस्य बलवतः शत्रोः । अन्तःप्रकोपणं कुर्यात् । 'अन्तःप्रकोपणं कार्यमभियोक्तुः स्थिरात्मनः' इति पाठे तु–अभियोक्तुः = युद्धयमानस्य, स्थिरात्मनः = दुर्गाद्याश्रयस्य विजेयस्य, अन्तःप्रकोपणं = गृहयुद्धं, विद्रोहं वा कारयेदित्यर्थः । यद्वा–अभियोक्ता=विजिगीषुः, अभियुक्तस्य विजेयस्य रिपोरन्तःप्रकोपणं कुर्यादित्यर्थः ॥ ९५ ॥

पर चढ़ाई करे । क्योंकि ज्यादा दूर मार्ग को तै करके आई हुई शत्रुओं की थकी हुई सेना सुखसाध्य होती है, अर्थात् थकी हुई शत्रुसेना को जीतना सुगम होता है । अतः सेना को जिस प्रकार थकावट न आवे–उतना ही मार्ग चले ॥ ९३ ॥

और शत्रुओं में भेद (विनाश) करने वाला उनके हिस्सेदारों के सिवाय दूसरा अन्य नहीं होता है । इसलिये यत्न से शत्रु के बन्धु–बाँधवों को भड़काकर उनको अपने पक्ष में करे और उनमें झगड़ा खड़ा करा दे ॥ ९४ ॥

और विजिगीषु को चाहिये कि वह जिस पर चढ़ाई करे उस शत्रु के युवराज से या उसके मुख्य मन्त्री से ही मेल करके उस बैरी के घर में ही भीतरी झगड़ा उभाड़ दे ॥ ९५ ॥

१. 'कार्यमभियोक्तुः' पा० । 'अभियोक्ता स्थिरात्मनः' इति तु गौडाः पठन्ति ।

'क्रूराऽमित्रं[1] रणे चापि भङ्गं दत्त्वा विघातयेत् ।
[2]अथवा गोग्रहाऽऽकृष्ट्या, तन्मुख्याऽऽश्रितबन्धनात्' ॥९६॥
'स्वराज्यं वासयेद्राजा परदेशाऽपहरणात्[3] ।
अथवा दान-मानाभ्यां वासितं धनदं हि तत्' ॥ ९७ ॥

अथवा[4] किं बहुनोदितेन—
'आत्मोदयः, परग्लानिर्द्वयं नीतिरितीयती ।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते' ॥ ९८ ॥

क्रूरममित्रं रणे विजित्य तं हन्यात् । भङ्गः=पराजयः । अथवाऽऽश्रितबन्धनात्=शत्रुप्रियपुत्रादिबन्धनात् । गोग्रहाकृष्टया=वत्सबन्धनेन गोग्रहणवत् । यथा वत्से गृहीते गौः स्वयमेव तमनुयाति, तथा पराजितशत्रोः पुत्रादेर्ग्रहणेन शत्रोः स्थिरमानुकूल्यं, तद्बन्धनञ्च सम्पाद्यते । 'क्रूरं मित्र'मिति मुद्रितपाठस्तु चिन्त्यः ॥ ९६ ॥

परदेशाऽपहरणात् = शत्रुदेशमुद्वास्य । (उजाड़कर) । स्वराष्ट्रं = स्वदेशं, वासयेत् । अथवा—शत्रुप्रजामभयदानमानादिना वशीकृत्य स्वराष्ट्रे वास कारयेत् । तत्=दान-मानाभ्यां वशीकृत्य वासितं राष्ट्रम् ॥ ९७ ॥

उदितेन = जल्पितेन । आत्मोदयः = स्ववृद्धिः । परग्लानिः=शत्रुहानिः ।

और क्रूर अमित्र (दुष्ट शत्रु) को जीत करके उसे मरवा डाले । अथवा जैसे बछड़े को पकड़ लेने से गौ स्वयं पास में आ जाती है, वैसे ही उसके पुत्र आदि मुख्य बान्धवों को बन्धन में करके उसको पकड़े और उसे मारे या अपने अनुकूल कर ले ॥ ९६ ॥

और शत्रुओं के देश से मनुष्य आदिकों को जबरन लाकर राजा अपने राज्य में बसावे, अथवा शत्रु की प्रजा को दान और मान आदि से अपने अनुकूल करके अपने राज्य में ले जाकर बसावे । क्योंकि दान और संमान से बसाया हुआ देश निश्चय करके धन (लाभ) का देने वाला होता है ॥ ९७ ॥

[राजा (या मन्त्री) बोला—ओह !] बहुत कहने से क्या है ! ।
अपना उदय (वृद्धि), और शत्रु की हानि ये-दो ही तो राजनीति के प्रधान

१. 'क्रूरं मित्रं' । 'क्रूरमित्र' । २. श्लोकोऽयं नातीव स्फुटोऽतश्चिन्त्यः । ३'परदेशाऽवगाहनात्' । ४ अत्र—'राजाऽऽह—किं बहुनोदितेन—आत्मोदयः—' इति क्वचित्पाठः ।

राजा[1] विहस्योक्तं—'सर्वमेतद्विशेषतश्च्यते' । किन्तु—

'अन्यदुच्छृङ्खलं सत्त्वमन्यच्छास्त्रनियन्त्रितम् ।
सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः' ? ॥ ९९ ॥

तत उत्थाय राजा मौहूर्तिकाऽऽवेदितलग्ने प्रस्थितः ।

अथ [2]प्रणिधिप्रहितश्चरो हिरण्यगर्भमागत्य प्रणम्योवाच—'देव !

इति = इयमेव । इयती=एतावान्मात्रमेव । नीतिः=राजनीतितत्त्वमस्ति । तत् = राजनीतितत्त्वम् । ऊरीकृत्य = स्वीकृत्य । कृतिभिः=विद्वद्भिः । वाचस्पत्यं=वाग्मित्वम् । प्रतायते = प्रख्याप्यते ॥ ६८ ॥

उच्छृङ्खल=स्वेच्छाप्रवर्त्तितम् । बलिनः-सत्त्वं=तेजः । अन्यत्=अन्यविषम् । शास्त्रनियन्त्रितं=शास्त्रोदाहृतमार्गानुसारि । निर्बलैरादृतम्—सत्त्वं=तेजः । अन्यत् । तेजस्तिमिरयोः=विरुद्धयोरन्धकारप्रकाशयोः । सामानाधिकरण्यं= सहावस्थानं । कुतः=कथं भवेत् ? । नैव तथा सम्भवतीत्यर्थः । एवञ्च शास्त्रानुसारि त्वदुक्तं निर्बलविषयं, नास्माभिरादत्तुं शक्यमित्याशयः ॥ ६६ ॥

मौहूर्तिकावेदिते = ज्यौतिषिकोक्ते । प्रणिधिप्रहितः = प्रधानगुप्तचरप्रेषितः ।

सिद्धान्त हैं, इन्हें स्वीकार करके ही पण्डित (मन्त्री) जन अपनी पण्डिताई दिखलाते हैं । अर्थात्—सब राजनीतिका विस्तार इन दो सिद्धान्तों पर ही होता है । तत्त्व ये ही दो है ॥ ६८ ॥

मन्त्री (या राजा) हँस कर बोला कि—विशेष कर यह सब सत्य ही है—

किन्तु अपने मन से कार्य करना और बात है, और शास्त्र से नियत मार्ग पर चलना और काम करना और है । इन दोनों में बड़ा भेद है । क्योंकि प्रकाश और अन्धकार का एक स्थान में एक साथ रहना कैसे बन सकता है ? ॥ ६६ ॥

फिर सभा से उठ कर राजा ने ज्योतिषियों के बतलाये हुए शुभ लग्न में प्रस्थान किया (शत्रु पर चढ़ाई करदी) । और उधर गुप्तचर बगुले का भेजा हुआ दूत आकर राजा हिरण्यगर्भ से बोला कि—हे देव ! राजा चित्रवर्ण आ पहुँचा है । वह इस

१. 'राज्ञा विहस्योक्तं—सर्वं सत्यमेतत् । किन्तु' इति । 'मन्त्रिणा विहस्योक्तं' इति च—पा० । २. 'प्रहितः प्रणिधिर्हिरण्य' पा० ।

समागतप्रायो राजा चित्रवर्णः । सम्प्रति मलयपर्वताऽधित्यकायां समावासितकटको वर्त्तते । दुर्गशोधनं प्रतिक्षणमनुसन्धातव्यम् । यतोऽसौ गृध्रो महामन्त्री । किं च केनचित्सह तस्य विश्वासकथाप्रसङ्गेनैतदिङ्गितमवगतं मया, यत्—'अनेन कोऽप्यस्मद्दुर्गे प्रागेव नियुक्तः ।' चक्रवाको ब्रूते—'देव ! काक एवाऽसौ सम्भवति ।'

राजाऽऽह—'न कदाचिदेतत् । यद्येवं तदा कथं तेन शुकस्याऽभिभवोद्योगः कृतः ? । अपरञ्च शुकस्याऽऽगमनात्तस्य विग्रहोत्साहः । स च चिरादत्राऽऽस्ते ।' मन्त्री [2]ब्रूते—'तथाऽप्यागन्तुकः शङ्कनीयः ।' राजाऽऽह—'आगन्तुका अपि कदाचिदुपकारका दृश्यन्ते' । शृणु—

चरः = गूढपुरुषः । गुप्तचरः । मलयपर्वतोपत्यकायां = दक्षिणसमुद्रतीरवर्त्तिमलयपर्वतसमीपदेशे (मलायाके पास) । समावासितकटकः=स्थापितशिविरः । (पड़ाव डालरखा है) । महामन्त्री = महान् पटुर्मन्त्री । इङ्गितं = मनोभावः । नियुक्तः = गुप्तचरो नियुक्त आस्ते । असौ = शत्रुप्रणिधिः । विग्रहोत्साहः = युद्धोत्साहः । स च=काकश्च । चिरात् = दूतागमनात्पूर्वमेव । एवञ्च नासौ शत्रुपक्षीयः सम्भवतीत्याशयः ।

समय मलयगिरि (मलाया) की ऊँची भूमि में अपने कटक (सेना) सहित ठहरा हुआ है । इसलिये आप अपने किले की निरन्तर जाँच करते रहें । क्योंकि इस राजा का मन्त्री गृध्र बड़ा भारी राजनीतिज्ञ है, वह कोई चाल अवश्य चलेगा । और किसी के साथ उसकी गुप्त कथा वार्त्ता के प्रसङ्ग में यही उसका इशारा मैंने जाना है कि,–उसने कोई गुप्त दूत हमारे किले में नियुक्त भी कर दिया है । अतः आप इससे सावधान रहें । चकवा बोला कि—देव ! वह गुप्त दूत यह कौवा ही होगा । राजा बोला कि—यह कभी नहीं हो सकता है । जो ऐसा है, तो कैसे इसने तोते को मारने का उद्योग किया था । और तोते के आनेके समय से ही उस राजा का युद्ध का उत्साह हुआ है, और यह कौवा तो बहुत काल से ही यहां ठहरा हुआ है । मन्त्री बोला—तो भी आने वाले पर सन्देह होता ही है । राजा बोला कि–बाहर से आने वाले बहुत से उपकारी भी होते हैं ।

१. उपत्यकायां' पा० । २. 'मन्त्री वदति' ।

'परोऽपि हितवान्बन्धुर्बन्धुरप्यहितः परः ।
अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम्' ॥ १०० ॥

अपरञ्च—

'आसीद्वीरवरो नाम शूद्रकस्य महीभृतः ।
सेवकः, स्वल्पकालेन स ददौ सुतमात्मनः' ॥ १०१ ॥

चक्रवाकः पृच्छति—'कथमेतत् ? ।' राजा कथयति—

८. शूद्रक-वीरवर-कथा ।

अहं पुरा शूद्रकस्य राज्ञः क्रीडासरसि कर्पूरकेलिनाम्नो राजहंसस्य पुत्र्या कर्पूरमञ्जर्या सहाऽनुरागवानभवम् । तत्र वीरवरो नाम [महान्[1]] राजपुत्रः कुतश्चिद्देशादागत्य, राजद्वारमुपगम्य, प्रतीहारमुवाच—'अहं

परः=दूरतरोऽपि । हितवान्=हितकारकश्चेत्–बन्धुर्भवति । बन्धुरपि अहितश्चेत्परः शत्रुर्भवति । देहजोऽपि—अहितः = शत्रुः । आरण्यं = वने भवम् ॥ १०० ॥

स्वल्पकालेन = स्वल्पकालमात्रपरिचयेनैव । आत्मनः = स्वस्य सुतं=पुत्रं, राजहिताय बलिं ददौ ॥ १०१ ॥ अनुरागवान्=तस्यामनुरक्तः । प्रतीहारं=

सुनो—यदि शत्रु भी हित करने वाला हो तो वह भी बन्धु ही है, और अहित करने वाला यदि बन्धु भी है, तो भी वह शत्रु ही है । क्योंकि देह से उत्पन्न व्याधि (रोग) भी अहित (शत्रुता) करता है, और वन की औषधि भी हित करने वाली होती है ॥ २०० ॥

और भी सुनिए—शूद्रक राजा का वीरवर नाम का एक सेवक था । उसने नौकरी के थोड़े से ही समय में भी अपने स्वामी के लिए अपने पुत्र को भी बलि दे दिया था ॥ १०१ ॥

चकवे ने पूछा कि—यह कथा कैसे है ? । राजा कहने लगा—

पूर्व समय की बात है–मैं शूद्रक राजा के क्रीडा के सरोवर में रहने वाले कर्पूरकेलिनामक राजहंस की पुत्री कर्पूरमञ्जरी के ऊपर आसक्त (अनुरागी) हो रहा था । वहाँ वीरवर नाम का महान् राजपुत्र किसी देश से आकर राजद्वार

---

१. क्वचित्कः पाठः ।

'तावद्वर्त्तनार्थी राजपुत्रः, मां राजदर्शनं कारय ।' ततस्तेनाऽसौ राजदर्शनं कारितो ब्रूते-'देव ! यदि मया सेवकेन प्रयोजनमस्ति, तदाऽस्मद्वर्त्तनं क्रियताम्' ।

शूद्रक उवाच—किं ते वर्त्तनम् ? ।' वीरवरो[२] ब्रूते—'प्रत्यहं सुवर्ण-पञ्चशतानि देहि' । राजाऽऽह—'का ते सामग्री' ? ।' वीरवरो ब्रूते—'द्वौ बाहू, तृतीयश्च खड्गः ।' राजाऽऽह—'नैतच्छक्यम् ।'

तच्छ्रुत्वा वीरवरः प्रणम्य चलितः[३] । अथ मन्त्रिभिरुक्तम्—'देव ! दिनचतुष्टयस्य वर्त्तनं दत्त्वा ज्ञायतामस्य स्वरूपं, किमुपयुक्तोऽयमेतावद् वर्त्तनं गृह्णाति, अनुपयुक्तो वे'ति ? ।' ततो मन्त्रिवचनादाहूय[४] वीरवराय ताम्बूलं दत्त्वा पञ्चशतानि सुवर्णानि दत्तानि ।

द्वारपालम् । वर्त्तनार्थी = जीविकार्थी । (नौकरी के लिए उत्सुक) । राजपुत्रः = क्षत्रियपुत्रः । वर्त्तन = वेतनं, जीविकाम् । सामग्री=साधनम् । एतत्=एतावद्-वेतनम् । उपयुक्तः = योग्यः । स्वरूपं=तत्त्वम् । [ढंग] ।

पर उपस्थित होकर द्वारपाल से बोला—मैं जीविका (नौकरी) की इच्छा करने वाला एक राजपूत हूँ । अतः मुझे राजा का दर्शन कराओ । फिर जब उसने उसको राजा का दर्शन कराया, तब वह राजपुत्र राजा से बोला कि—हे देव ! जो मेरे ऐसे सेवक का आपको काम हो, तो मुझे नौकरी दीजिये । शूद्रक बोला कि—तुम क्या मासिक लोगे ? ।' वीरवर बोला—प्रतिदिन पांच सौ मोहर (अशर्फियाँ) मुझे दीजिये । राजा बोला—तुमारी क्या सामग्री है ? । वीरवर बोला—'दो भुजा और तीसरी तलवार । राजा बोला—इतना वेतन तो नहीं दिया जा सकता है । यह सुनकर वह वीरवर चल पड़ा । तब मन्त्रियों ने कहा—हे देव ! चार दिन का वेतन देकर इसका स्वरूप जानना चाहिये, कि यह इतना वेतन जो लेता है, इस के योग्य यह है या नहीं ।' तब राजा ने मन्त्रियों के कहने से उसे बुलाकर उस वीरवर को पान देकर पाँच सौ असर्फियाँ दे दी और उसका खर्चा छिपके

---

१. 'ताव'दिति क्वाचित्कम्' । २. 'वीरवरेणोक्तं-प्रत्यहं सुवर्णशतचतुष्टयम् । राजाऽऽह' । ३. 'वीरवरश्चलितः' । ४. 'दाहूय ताम्बूलं दत्वा तद्वर्त्तनं दत्तवान्' पा० ।

[[1]यतः—

'ताम्बूलं कटु, तिक्तमुष्णमधुरं, क्षारं, कषायान्वितं,
वातघ्नं, कफनाशनं, कृमिहरं, दौर्गन्ध्यदोषाऽपहम् ।
वक्त्रस्याऽऽभरणं, मलापहरणं, कामाग्निसन्दीपनं,
ताम्बूलस्य सखे ! त्रयोदश गुणाः स्वर्गेऽप्यमी दुर्लभाः'] ॥

वर्त्तनावनियोगश्च[2] राज्ञा सुनिभृतं निरूपितः । तदर्धं वीरवरेण देवेभ्यो, ब्राह्मणेभ्यो दत्तम् । स्थितस्याऽर्द्धं दुःखितेभ्यः, तदवशिष्टं भोज्य-विलासव्ययेन । एतत्सर्वं नित्यकृत्यं कृत्वा, राजद्वारमहर्निशं खड्गपाणिः सेवते । यदा च राजा स्वयं समादिशति तदा स्वगृहमपि[3] याति ।

अथैकदा कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ स राजा सकरुणक्रन्दनध्वनिं शुश्राव[4] । [5]तच्छ्रुत्वा राजा ब्रूते—'कः कोऽत्र द्वारि [6]तिष्ठति' ? ।

तदा तेनोक्तं—'देव ! अहं वीरवरः ।' राजोवाच—'क्रन्दनाऽनुसरणं क्रियताम् ।' वीरवरोऽपि—'यथाऽऽज्ञापयति देवः' इत्युक्त्वा चलितः ।

वर्त्तनविनियोगः = गृहीतवेतनव्ययप्रकारः । सुनिभृतं = गुप्तपुरुषैः प्रच्छन्नम् । तदर्द्धं = वेतनार्द्धम् । खड्गपाणिः = करधृतकरवालः । समादिशति=आज्ञापयति ।

छिपके देखने के लिए गुप्तचरों को नियुक्त कर दिया । तब उसने उस वेतन में से आधा तो देवता और ब्राह्मणों को अर्पण कर दिया । बचे हुए का आधा दीन दुःखियों को दे दिया । और शेष धन अपने भोजन और विलास की आवश्यक वस्तुओं में खर्च कर दिया । और अपना नित्य का कृत्य कर, रात दिन हाथ में खड्ग लिये वह राजद्वार पर बैठा रहता था । जब राजा स्वयं उसे घर जाने की आज्ञा देता था तभी वह अपने घर जाता था ।

एक समय कृष्णपक्ष की चौदस की अन्धेरी रात में राजा ने कहीं जोर से रोने का शब्द सुना । तब वह राजा शूद्रक बोला—द्वार पर कौन है ? । वह वीरवर बोला—हे देव ! मैं वीरवर उपस्थित हूँ । राजा बोला—इस रोने के शब्द का पता लगावो । वीरवर बोला—देव ! जो आज्ञा, मैं जाता हूँ । यह कह कर वह चल

१. क्वाचित्कः पाठः । २. 'तद्विनियोगश्च' । ३. 'स्वगृहमेव' । ४. 'सकरुणं क्रन्दनध्वनिं स राजा शुश्राव' । ५. शूद्रक उवाच' । ६. 'तिष्ठती'ति क्वचित् ।

राज्ञा च चिन्तितम्[1]—'अयमेकाकी राजपुत्रो मया सूचीभेद्ये तमसि[2] प्रहितः। नैतदुचितम्। तदहमपि गत्वा 'किमेत'दिति निरूपयामि[3]।'

ततो राजाऽपि खड्गमादाय तदनुसरणक्रमेण नगराद्बहिर्निर्जगाम। ततो गत्वा (च) वीरवरेण रुदती, रूपयौवनसम्पन्ना, सर्वालङ्कारभूषिता काचित्स्त्री दृष्टा, पृष्टा च—'का त्वम्?, किमर्थं रोदिषि'? इति। स्त्रियोक्तम्—'अहमेतस्य शूद्रकस्य राजलक्ष्मीः, चिरादेतस्य भुजच्छायायां महता सुखेन विश्रान्ता, इदानीमन्यत्र[4] गमिष्यामि।' वीरवरो ब्रूते—'यत्राऽपायः सम्भवति, तत्रोपायोऽप्यस्ति, तत्कथं[5] स्यात्पुनरिहाऽऽवासो भवत्याः?।'

लक्ष्मीरुवाच—'यदि त्वमात्मनः [6]पुत्रं शक्तिधरं द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतं

कथयति। क्रन्दनं=रोदनम्। सूचीभेद्ये=अतिघने घोरान्धकारे। प्रहितः=प्रेषितः। तदनुसरणक्रमेण=क्रन्दनध्वनिमनुसरन्। अपायः=विपत्तिः। द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतस्य=

पड़ा। पुनः राजा ने सोचा—यह योग्य नहीं कि अकेले इस राजपुत्र को मैं इस सूचीभेद्य घोर महा अन्धकार में भेजूँ। अतः मैं भी पीछे पीछे जाकर देखता हूँ कि यह क्या बात है?। ऐसा विचार करके राजा भी खड्ग लेकर उसके पीछे-पीछे नगर के बाहर निकला। वीरवर ने जाकर, रूप और यौवन से परिपूर्ण, सारे आभूषणों से शोभित, किसी एक रोती हुई स्त्री को देखा और पूछा—तू कौन है?, क्यों रोती है?। स्त्री बोली—मैं इस शूद्रक की राजलक्ष्मी हूँ, बहुत समय से इसकी भुजाओं छाया में मैं बड़े सुख से रही, अब मैं दूसरी जगह जाऊँगी। क्योंकि देवी दुर्गा (या कालीजी) के अपराध से तीसरे दिन यह राजा मर जाएगा। तब वीरवर बोला कि—जहाँ अपाय (हानि) होता है, वहाँ उसका उपाय भी रहता है। सो तुम्हारा पुनः यहाँ रहना कैसे हो सकता है?। लक्ष्मी बोली—जो तू सामुद्रिक शास्त्रोक्त बत्तीस लक्षणों (चिह्नों) से युक्त अपने पुत्र शक्तिधर को भगवती

१. 'राज्ञा चिन्तितं—नैतदुचितम्। अयमेकाकी'। २. 'प्रेषितः'। ३. 'अहमपि गत्वा निरूपयामि—किमेतदिति'। ४. 'देव्या अपराधेन तृतीये दिवसे राजा पञ्चत्वं यास्यति। (देव्याः=दुर्गायाः, भद्रकाल्या वा)। अहमनाथा भविष्यामि। इदानीं नाऽत्र स्थास्यामीति रोदिमि'। ५. 'तत्कथं पुनरिह आवासो भगवत्या भवति?'। ६. 'पुत्रस्य शक्तिधरस्य द्वात्रिंशल्लक्षणोपेतस्य मस्तकं स्वहस्तेनच्छित्वा भगवत्याः सर्वमङ्गलाया उपहारं करोषि, तदा राजा शतायुर्भविष्यति। अहञ्च सुचिरं सुखं निवसामि'।

भगवत्याः सर्वमङ्गलाया उपहारीकरोषि, तदाऽहं पुनरत्र सुचिरं निवसामि'। इत्युक्त्वाऽदृश्याऽभवत्।

ततो वीरवरेण स्वगृहं गत्वा, निद्रायमाणा[1] स्ववधूः प्रबोधिता, पुत्रश्च। तौ निद्रां परित्यज्योत्थायोपविष्टौ। वीरवरस्तत्सर्वं लक्ष्मीवचनमुक्तवान्। तच्छ्रुत्वा साऽऽनन्दः[2] शक्तिधरो ब्रूते-'धन्योऽहमेवंभूतः, स्वामिराज्यरक्षार्थं यस्योपयोगः। तात! [3]तत्कोऽधुना विलम्बस्य हेतुः?। एवंविधे कर्मणि देहस्य विनियोगः श्लाघ्यः। यतः—

महापुरुषलक्षणशालिनः। तानि च—नेत्रान्तभाग—करतल—पादतल—ताल्वोष्ठ—जिह्वा—नखानि सप्त रक्तानि, वक्षः—स्कन्ध—नख—नासिका—कटि—मुखानि षड् उन्नतानि, मस्तक—ललाटो—रः स्थलानि त्रीणि विस्तृतानि, ग्रीवा—जङ्घा—लिङ्गानि त्रीणि ह्रस्वानि, नाभि—कण्ठस्वर—स्वभावाः त्रयो गंभीराः, भुज—नासिका—नेत्र—जानु-कपोलानि पञ्चदीर्घाणि, त्वक् केश—लोम—दन्ता—ऽङ्गुलिसन्धयः पञ्च सूक्ष्मा भवन्तीति महापुरुषाणां द्वात्रिंशच्चिह्नानि सामुद्रिकशास्त्रोक्तानि बोध्यानि। सर्वमङ्गलायाः = दुर्गायाः, श्रीमहाकल्या वा। निद्रालसा = निद्राऽलसलोचना। स्ववधूः = स्वप्रिया। प्रबोधिता = उत्थापिता। पुत्रश्च उत्थापितः। उपयोगः = विनियोगः।

सर्वमङ्गला (कालीजी) की भेंट करे, तो मैं फिर यहाँ चिरकाल तक रह सकती हूँ। यह कह कर वह राजलक्ष्मी तो अन्तर्धान हो गई।

अनन्तर वीरवर ने अपने घर जा कर सोती हुई अपनी स्त्री को और अपने पुत्र को जगाया। वे दोनों भी नींद से जागकर उठ बैठे। तब वीरवर ने उनसे लक्ष्मी के उन सब वचनों को कहा। यह सुन कर शक्तिधर आनन्दित होकर बोला कि—हे पितः! मैं धन्य हूँ, स्वामी के राज्य की रक्षा के लिये मेरी मृत्यु भी श्लाघ्य है। सो अब देर का क्या काम है?। इस प्रकार के कार्य में देह का तो देना सर्वोत्तम कार्य है।

१. 'निद्राऽलसा'। २ 'शक्तिधरः सानन्दं ब्रूते'। ३ 'तात! कोऽधुना विलम्बः। कदाऽपि तावदेवंविधे'।

'धनानि, जीवितश्चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।
तन्निमित्तो वरं त्यागो, विनाशे नियते सति' ॥ १०२ ॥

शक्तिधरमातोवाच[1]-'यद्येतन्न कर्त्तव्यं, तत्केनाऽन्येन कर्मणा गृहीतस्य महावर्त्तनस्य निष्क्रयो भविष्यति ।' इत्यालोच्य सर्वे सर्वमङ्गलायाः[2]स्थानं गताः। तत्र सर्वमङ्गलां सम्पूज्य, वीरवरो ब्रूते—'देवि ! प्रसीद; विजयतां शूद्रको महाराजः,गृह्यतामयमुपहारः ।'—इत्युक्त्वा पुत्रस्य शिरश्चिच्छेद। ततो वीरवरश्चिन्तयामास-'गृहीतराजवर्त्तनस्य निस्तारः कृतः। अधुना निष्पुत्रस्य मे जीवनेनाऽलम्'[3] । इत्यालोच्याऽऽत्मनः शिरश्चिच्छेद ।

ततः स्त्रियाऽपि स्वामि-पुत्रशोकाऽऽर्त्तया तदनुष्ठितम्। तत्सर्वं [4]दृष्ट्वा

निस्तारः= आनृण्यम् । प्रसीद=प्रसन्ना भव । उपहारः=बलिः । गृहीत । गृहीतस्य महतो राजवेतनस्याऽऽनृण्यमित्यर्थः । तदनुष्ठितं = स्वशिरश्छेदेन कृतम् ।

क्योंकि—बुद्धिमान् पुरुष को उचित है, कि अपने धन और जीवन को पराये उपकार के लिये त्याग करे। क्योंकि जब वह अवश्य नाश होनेवाला ही है, तो उसका दूसरों के निमित्त त्याग करना ही श्रेष्ठ है ॥ १०२ ॥

और शक्तिधर की माता भी बोली कि—जो यह कार्य नहीं किया जावेगा, तो फिर कौन से बड़े कर्म के हमलोग राजा से बहुत लम्बे वेतन लेने का बदला चुकावेंगे ?। यह विचार कर वे सब सर्वमङ्गला (काली, दुर्गा) के स्थान पर गये। वहाँ सर्वमङ्गला (काली) की अच्छी प्रकार पूजा करके वीरवर बोला—हे देवि ! आप प्रसन्न होवे। महाराजा शूद्रक की सदा विजय हो। और यह उपहार आप ग्रहण करें। यह कह कर उसने अपने पुत्र का शिर काट डाला। फिर वीरवर ने सोचा कि—राजा की नौकरी में जो धन मैंने लिया था, उसका बदला तो मैंने चुका दिया, अब मेरा पुत्ररहित का संसार में जीना व्यर्थ ही है—यह सोच कर उसने अपना शिर भी काट डाला। फिर स्वामी और पुत्र के शोक से दुःखी होकर स्त्री ने भी वैसा ही किया। (अपना शिर काटकर भगवती को चढ़ा दिया)। यह सब

१. 'ब्रूते—अस्मत्कुलोचितं यद्येवं न कर्त्तव्य,तदा गृहीतराजवर्त्तनस्य निस्तारः कथं भविष्यति'। २ 'सर्वमङ्गलाऽऽयतनं'। ३ 'जीवनं विडम्बनम्'। ४ 'श्रुत्वा, दृष्ट्वा च'।

राजा साऽऽश्चर्यं चिन्तयामास—

''जायन्ते च, म्रियन्ते च मद्विधाः क्षुद्रजन्तवः ।
अनेन सदृशो लोके न भूतो, न भविष्यति' ॥ १०३ ॥

तदेतत्परित्यक्तेन मम राज्येनाऽपि किं प्रयोजनम्[2] ।' [3]ततः शूद्रकेणापि स्वशिरश्छेत्तुं खड्गः समुत्थापितः । अथ भगवत्या सर्वमङ्गलया [4]प्रत्यक्षभूतया राजा [5]हस्ते धृत, उक्तश्च—'पुत्र ! प्रसन्नाऽस्मि ते, [6]एतावता साहसेनाऽलम् । जीवनान्तेऽपि तव राजभङ्गो नास्ति ।'

राजा [7]च साष्टाङ्गपातं प्रणम्योवाच—'देवि ! [8]किं मे राज्येन ?,

मद्विधाः=मादृशाः ॥ १०३ ॥ एतत्परित्यक्तेन = वीरवरशून्येन । उत्थापितः =

देख कर राजा आश्चर्य से चकित होकर विचार करने लगा—

मेरे समान तुच्छ जीव तो बहुत से जन्मते हैं और मरते हैं । परन्तु इस वीरवर के समान महासत्त्व मनुष्य संसार में न तो कोई हुआ है और न आगे होना संभव ही है ॥ १०३ ॥

अतः इस वीरवर के विना मेरे को इस राज्य से भी क्या प्रयोजन है ! । ऐसा विचार कर उस शूद्रक राजा ने भी अपना शिर काटने के लिए खड्ग उठाया । तब भगवती सर्वमङ्गला (काली)ने प्रत्यक्ष होकर उस राजा का हाथ पकड़ कर कहा—हे पुत्र ! मैं तुझसे प्रसन्न हूँ । तूं ऐसा साहस मत कर । और तेरे जीवन के उपरान्त भी तेरा यह राज्य भङ्ग नहीं होगा। तब वह राजा साष्टाङ्ग प्रणाम कर बोला—हे देवि ! मुझे राज्य से क्या प्रयोजन है, और इस जीवन से

१ 'जीवन्ति च' । २ 'राज्येनाऽप्यप्रयोजनं' । ३ 'ततः स्वशिरश्छेत्तुमुद्भासितः खड्गः शूद्रकेणाऽपि' । ४. काचित्कः पाठः । ५. 'करे धृतः । उक्तश्च' । ६. 'अलमलं साहसेन । इदानीं ते राजभङ्गो (राज्यभङ्गो) नास्ति' । ७. 'राजा साष्टाङ्गं प्रणम्योवाच' । ८. 'न मे राज्येन, जीवितेन, श्रिया वा प्रयोजनमस्ति । यदि मयि अनुकम्पा क्रियते तदा' ।

जीवितेन वा किं प्रयोजनम्? । यद्यहमनुकम्पनीयस्तदा ममाऽऽयुःशेषेणाप्ययं सदारपुत्रो [1]वीरवरो जीवतु । अन्यथाऽहं यथाप्राप्तां गतिं गच्छामि ।' भगवत्युवाच—पुत्र! अनेन ते सत्त्वोत्कर्षेण, भृत्यवात्सल्येन [2]च सर्वथा संतुष्टाऽस्मि । गच्छ विजयी भव । अयमपि सपरिवारो राजपुत्रो जीवतु ।' इत्युक्त्वा देव्यदृश्याऽभवत् । ततो वीरवरः सपुत्रदारः[3] प्राप्तजीवनः स्वगृहं गतः । राजाऽपि तैरलक्षितः [4]सत्वरमन्तःपुरं प्रविष्टः ।

अथ [5]प्रभाते वीरवरो द्वारस्थः पुनर्भूपालेन पृष्टः [6]सन्नाह—'देव! सा रुदती मामवलोक्याऽदृश्याऽभवत् । न काऽप्यन्या वार्त्ता विद्यते । तद्वचनमाकर्ण्य सन्तुष्टो[7] राजा साश्चर्यं चिन्तयामास—'कथमयं

उत्तोलितः । (उठाया) । श्रिया = राजलक्ष्म्या । अनुकम्पा = दया । सदारपुत्रः = सकलत्रपुत्रः । यथाप्राप्तां = भाग्योपकल्पिताम् । गतिं = मृत्युम् । सत्त्वोत्कर्षेण = औदार्यातिशयेन । तैः = वीरवरादिभिः । अलक्षितः = अदृष्टः । अन्तःपुरं =

भी क्या प्रयोजन है? । जो मेरे ऊपर आपकी कृपा है, तो मेरी शेष आयु से भी यह वीरवर स्त्री-पुत्र सहित जीवित हो जाए, नहीं तो मैं भी यथाप्राप्त गति को प्राप्त होऊँगा, अर्थात् वीरवर की तरह मैं भी अपना शिर काट डालूंगा । तब भगवती बोली हे पुत्र! तेरे इस साहस के उत्कर्ष से, और अपने सेवक के ऊपर इस प्रकार प्रीति के दर्शन से मैं तुझ पर बहुत प्रसन्न हूँ । जा तूं विजयी होगा । और परिवार सहित यह वीरवर भी जी उठेगा । ऐसा कह कर देवी तो अदृश्य हो गई । फिर वीरवर भी स्त्री-पुत्र सहित अपने घर चला गया । राजा भी उनसे छिप कर शीघ्र ही अपने रनवास में चला गया ।

फिर प्रातः काल के समय ड्योढ़ी पर बैठे हुए वीरवर से राजाने रात का हाल जब पूछा तब उसने कहा कि—हे देव! वह रोती हुई स्त्री मुझे देख कर छिप (अन्तर्धान हो) गई । इससे अधिक और कुछ बात ज्ञात नहीं हुई । यह वचन सुन

१. 'राजपुत्रो' । २. 'तव तुष्टाऽस्मि' । ३. 'सपुत्रदारो गृहंगतः' । ४. सत्वरं प्रासादपृष्ठ गत्वा तथैव सुप्तः' । ५. 'प्रभाते' इति क्वचिन्न । ६. 'उवाच' । ७. 'माकर्ण्य राजाऽचिन्तयत्—कथमयं श्लाघतां महासत्त्वः' ।

श्लाघ्यो महासत्त्वः' । यतः—

'प्रियं ब्रूयादकृपणः, शूरः स्यादविकत्थनः ।

'दाता नाऽपात्रवर्षी च, प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः' ॥ १०४ ॥

एतन्महापुरुषलक्षणमेतस्मिन्सर्वमस्ति ।' ततः स राजा प्रातः शिष्टसभां कृत्वा, सर्ववृत्तान्तं प्रस्तुत्य, प्रसादात्तस्मै कर्णाटराज्यं ददौ ॥ ॐ ॥

तत्किमागन्तुको[2] जातिमात्राद्दुष्टः ? । तत्राऽप्युत्तमाऽधममध्यमाः सन्ति । चक्रवाको ब्रूते—

'योऽकार्यं कार्यवच्छास्ति स किंमन्त्री नृपेच्छया ।

वरं स्वामिमनोदुःखं, तन्नाशो न त्वकार्यतः ॥ १०५ ॥

स्वान्तःपुरम् । श्लाघ्यः=प्रशंसनीयः । महासत्त्वः= उन्नतचेताः । प्रियमिति । अकातरोऽपि—मधुरभाषी । शूरोऽपि—आत्मश्लाघाशून्यः । दाताऽपि—सत्पात्रप्रदः । प्रगल्भः=प्रतिभान्वितोपि । अनिष्ठुरः=अक्रूरः, अवञ्चकश्च ॥ १०४ ॥

सभां = पौरलोकसभाम् । (दर्बार) । तत्रापि=आगन्तुकेष्वपि ।

य इति । यो मन्त्री नृपेच्छया=राजप्रियचिकीर्षया, अकार्यमपि—कार्यवत्=

कर राजा ने सोचा कि—अहो ! यह कैसा प्रशंसायोग्य महापुरुष है ? ।

क्योंकि—उदार दानी को प्रिय बोलना उचित है, शूरवीर को आत्मश्लाघी नहीं होना चाहिये, दाता को अपात्रवर्षी नहीं होना चाहिए और प्रगल्भ को निष्ठुर नहीं होना चाहिए ॥ १०४ ॥

इसमें ये सभी महापुरुष के लक्षण विद्यमान हैं । फिर उस राजा ने प्रातःकाल शिष्ट पुरुषों (मन्त्रियों आदि) की सभा करके रात्रि का सब वृत्तान्त कह कर प्रसन्नता से उसे पारितोषिक में कर्णाटक देश का राज्य दे दिया ।

इतनी कथा सुनाकर वह राजा राजहंस बोला—क्या दूर से आया हुआ जातिमात्र से ही दुष्ट हो जाता है ? । उनमें भी उत्तम, मध्यम और अधम होते ही हैं । तब चकवा बोला कि—

जो मंत्री राजा की इच्छा से ही अकार्य को भी कार्य के समान बताता है, वह

१. 'दाता सत्पात्रवर्षी स्यात्' । २. 'किमागन्तुरेव विरुद्धः' ।

'वैद्यो, गुरुश्च, मन्त्री च, यस्य राज्ञः प्रियंवदाः[1] ।
शरीर-धर्म-कोशेभ्यः[2] क्षिप्रं स परिहीयते' ॥ १०६ ॥

शृणु—देव !

'पुण्याल्लब्धं यदेकेन तन्ममाऽपि भविष्यति ।
हत्वा भिक्षुं यतो मोहान्निध्यर्थी नापितो [3]हतः' ॥ १०७ ॥

राजा पृच्छति—'कथमेतत् ?' । मन्त्री कथयति—

कार्यमिदमित्युपदिशति, स किंमन्त्री=कुत्सितो मन्त्री । यतः-स्वामिमनोदुःखं=राजमनोदुःखं, वरं=किञ्चिच्छ्रेष्ठं । तु=परन्तु । अकार्यतः=अकार्याचरणात् । तन्नाशः=राजविनाशो, न=न वरम् ॥ १०५ ॥ प्रियंवदाः=चटुकाराः । प्रियचिकीर्षयाऽकार्यशंसिनः (खुशामदी) स्युः, स राजा क्रमशः शरीरेण, धर्मेण, धनेन च हीनो भवति । त्रयस्तस्य नश्यन्तीत्यर्थः ॥ १०६ ॥ यत्-एकेन पुण्यात् लब्धं तत् मयापि भविष्यतीति विचार्य भिक्षुं हत्वा, निध्यर्थी=निधिलोलुपः नापितो राजपुरुषैर्व्यापादितः ॥ १०७ ॥

अयोग्य मन्त्री है । क्योंकि स्वामी के मन में थोडी देर के लिए थोड़ा दुःख होना तो ठीक है, परन्तु अकार्य से उसका विनाश होना तो कथमपि अच्छा नहीं है ॥ १०५ ॥

और—जिस राजा के वैद्य, गुरु, और मन्त्री, ये तीनों प्रिय बोलने वाले होते हैं, अर्थात् हाँ में हाँ मिलाने वाले होते हैं, वह राजा शीघ्र ही क्रमशः शरीर धर्म व कोश से हीन हो जाता है । अर्थात् सचिव, वैद्य, गुरु ये जब खुशामदी होंगे तब राजा के हित की हानि ही होगी । इनको तो हित की सच्ची बात ही कहनी चाहिये, इसी में राजा का हित है ॥ १०६ ॥

और भी हे देव ! सुनिए, जो वस्तु किसी ने तपस्या, भाग्य और पुण्य से पाई है, वही वस्तु मुझे भी मिल जायगी, ऐसा कदापि नहीं सोचना चाहिये । देखिए, दूसरे की देखा देखी निधि का चाहने वाला वह लोभी नाई—भिक्षुक को मार कर स्वयं भी मारा गया था ॥ १०७ ॥

राजा ने पूछा कि—यह कथा कैसे है ? । मंत्री कहने लगा—

१. 'प्रियंवदः' । २. 'कोषेभ्यः' । ३. 'मृतः' ।

९. निधिलुब्धनापितकथा ।

अस्त्ययोध्यायां पुरि चूडामणिर्नाम क्षत्रियः । तेन धनाऽर्थिना महता क्लेशेन भगवाँश्चन्द्रार्धचूडामणिश्चिरमाराधितः । ततः क्षीणपापोऽसौ स्वप्ने दर्शनं दत्त्वा, भगवदादेशाद्यक्षेश्वरेणाऽऽदिष्टो[1] यत्-त्वमद्य प्रातः क्षौरं [2]कारयित्वा, लगुडहस्तः सन् स्वगृहद्वारि निभृतं स्थास्यसि, [3]ततो यमेवाऽऽगतं भिक्षुकं प्राङ्गणे पश्यसि, तं निर्दयं लगुडप्रहारेण हनिष्यसि । ततोऽसौ भिक्षुकस्तत्क्षणात् सुवर्णकलसो भविष्यति । तेन त्वया यावज्जीवं सुखिना भवितव्यम्[3] । ततस्तथाऽनुष्ठिते तद् वृत्तम् ।

तत्र[4] क्षौरकरणायाऽऽनीतेन नापितेन तत्सर्वमालोक्य[5] चिन्तितम्-'अये[6] निधिप्राप्तेरयमुपायः ! । [7]तदहमप्येवं किं न करोमि' ? । ततः

पुरि=पुर्याम् । चन्द्रार्धचूडामणिः=चन्द्रशेखरः शिवः । यक्षेश्वरेण=कुबेरेण । आदिष्टः=आज्ञप्तः । तथाऽनुष्ठिते=भिक्षुके हते सति । तद्वृत्तं=यथोक्त कुबेरेण तज्जातम् ।

अयोध्या नगरी में चूडामणि नाम का एक क्षत्रिय रहता था । उसने धन की इच्छा से बड़े क्लेश से चन्द्रार्द्धचूडामणि (जिन के शिरपर आधा चन्द्रमा है, ऐसे) भगवान् शिव जी की बहुत समय तक सेवा की । जब वह पापरहित और शुद्ध हो गया, तब भगवान् की आज्ञा से स्वप्न में दर्शन देकर यक्षों के पति कुबेर जी ने उसे आज्ञा दी कि—तू घर पर जा कर और क्षौर कराकर लकड़ी हाथ में लेकर, छिपकर बैठ रहना । तब तुम अपने घरके आङ्गन में आये हुए एक भिक्षुक को देखोगे तब उसे तुम निर्दय होकर लकड़ी से मार डालना । फिर वह सोने का घड़ा हो जायगा । उससे तू जीवन पर्यन्त सुखी होगा । कुबेर जी की आज्ञा से ऐसा करने पर वैसा ही हुआ । अर्थात् वह साधु दण्डे से मारने पर सोने से भरा हुआ खजाना बन गया । और वहाँ क्षौर करने को आये हुए नाई ने देख कर सोचा—अहो, खजाना मिलने का सर्वोत्तम उपाय यह है, मैं भी

१. 'य'दिति क्वचित् । २. 'क्षौरं कृत्वा लगुडं हस्ते कृत्वा निभृतं' । ३. 'ततोऽस्मिन्नेवाङ्गणे समागतं भिक्षुं पश्यसि, तं निर्दयं लगुडप्रहारेण हनिष्यसि । ततः स सुवर्णकलसो भविष्यति । तेन त्वं यावज्जीवं सुखी भविष्यसि' । ४. 'ततः क्षौर' । ५. 'नापितेनालोक्य' । ६. अहो, निधि' । ७. 'अहमप्येवं' ।

प्रभृति स नापितः [1]प्रत्यहं तथाविधो लगुडहस्तः सुनिभृतं भिक्षोरागमनं[2] प्रतीक्षते। एकदा तेन[3] प्राप्तो भिक्षुर्लगुडेन व्यापादितः। तस्मादपराधात्सोऽपि नापितो राजपुरुषैर्व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'पुण्याल्लब्धं यदेकेने'-त्यादि ॥ ❀ ॥

राजाऽऽह—

'पुरावृत्तकथोद्गारैः कथं निर्णीयते परः।
[4]स्यान्निष्कारणबन्धुर्वा, किं वा विश्वासघातकः' ? ॥१०८॥

[5]यातु, प्रस्तुतमनुसन्धीयताम्। [6]मलयाधित्यकायां चेच्चित्रवर्णस्तदधुना किं विधेयम् ? ।' मन्त्री वदति-'देव ! आगतप्रणिधिमुखान्मया

अपेक्षते=प्रतिपालयति।

पुरावृत्तकथोद्गारैः=पुराणचरितकथावाक्यजालोद्धरणादिभिः। परः=अन्यः। आगन्तुकः ॥ १०८ ॥ यातु=आस्तां तावत्। (जाने भी दो)।

यही क्यों न करूँ ?। तब से लेकर वह नाई प्रतिदिन वैसे ही लकड़ी हाथ में लिये हुए छिपकर भिक्षुक के आने का मार्ग देखता रहा। एक समय उसने अपने घर में आए हुए भिक्षुक को लकड़ी से मारा। तब वह भिक्षु मर गया। इस अपराध से उस नाई को राजपुरुष पकड़ कर ले गये और वह राजा की आज्ञा से मारा गया। इससे मैं कहता हूँ कि—'पुण्य विशेष से एक ने जो पाया वह हमको भी होगा—यह कभी नहीं समझना चाहिए' इत्यादि ॥

राजा बोला कि-पुरानी कथाओं के कहने मात्र से ही किसी का निर्णय कैसे हो सक्ता है, कि-यह निष्कारणबन्धु ही है, या विश्वासघाती है ॥ १०८ ॥

अस्तु, जाने दो, जो वर्त्तमान है, उसी का अनुसन्धान करो। मलयगिरि की ऊँची भूमि तक तो चित्रवर्ण आ गया है,अतः अब क्या उपाय करना चाहिये ?।

---

१. 'प्रभृति नापितः प्रतिदिनं'। २. 'भिक्षुकागमनमपेक्षते'। ३. 'तथा प्राप्तो भिक्षुको लगुडेन आहत्य व्यापादितः। तेनाऽपराधेन सोऽपि नापितो राजपुरुषैस्ताडितः पञ्चत्वं गतः'। ४ 'किं स्यान्निष्कारणो बन्धुः। ५. 'यातु-यातु, प्रस्तुतमनुष्ठीयतां'। ६. 'मलयाधित्यकायां समावासितो वर्त्तते चित्रवर्णो नाम राजा, तदधुना'।

श्रुतं, यत्—महामन्त्रिणो गृध्रस्योपदेशे चित्रवर्णेनाऽनादरः कृतः। ततोऽसौ मूढो जेतुं शक्यः'। तथा चोक्तम्—

'लुब्धः, क्रूरोऽलसोऽसत्यः, प्रमादी, भीरुरस्थिरः।
मूढो, योधाऽवमन्ता च सुखच्छेद्यो रिपुः स्मृतः' ॥ १०९ ॥

ततोऽसौ यावदस्मद्दुर्गद्वाररोधं[1] न करोति, तावन्नद्यद्रिवनवर्त्मसु तद्बलानि हन्तुं सारसादयः[2] सेनापतयो नियुज्यन्ताम्'। तथाचोक्तम्—

'दीर्घवर्त्मपरिश्रान्तं, नद्यद्रिवनसङ्कुलम्।
घोराऽग्निभयसन्त्रस्तं, क्षुत्पिपासाऽर्दितं तथा ॥ ११० ॥

चित्रवर्णेन = मयूरेण राज्ञा। मूढः = मूढत्वात्। योधावमन्ता = सैनिकतिरस्कर्त्ता। सुखोच्छेद्यः = अनायासेन विनाशयितुं शक्यः ॥ १०९ ॥ असौ = चित्रवर्णः। नद्यद्रिवनवर्त्मसु = दुर्गेषु सरित्पर्वतकान्तारमार्गेषु। तद्बलानि = चित्रवर्णबलानि। दीर्घवर्त्मपरिश्रान्तं = दूरवर्त्मागमनश्रान्तम्। नद्यादिव्याकुलं, भीषणवनाऽग्निभीतम्, क्षुत्पिपासापीडितं, प्रमत्तम् = असावधानम्, भोजनप्रसक्तं, व्याध्यादिपीडितम्,

मंत्री बोला कि—देव! आये हुए दूत के मुँह से मैंने सुना है, कि महामंत्री गृध्र के उपदेश पर उस चित्रवर्ण ने अनादर किया है, अतः (इस कारण से) वह मूढ़ अवश्य जीता जा सकता है।

जैसा कहा भी है कि—लोभी, क्रूर, आलसी, झूठा, प्रमादी, डरपोक, अस्थिर, मूर्ख और सैनिकों का अपमान और तिरस्कार करने वाला शत्रु सुख से नष्ट किया जा सकता है ॥ १०९ ॥

इसलिये वह जब तक हमारे किले के द्वार को आकर न रोके, तब तक ही नदी, पहाड़ तथा वन के मार्गों में उसकी सेना को मारने के लिये सारस आदि सेनापतियों को भेज देना चाहिये।

जैसा कहा भी है, कि—राजा को चाहिये, कि—लम्बा मार्ग चलने से थके हुए, नदी पहाड़ तथा दुर्गम वन में फंसे हुए, घोर अग्नि के भय से दुःखित और क्षुधा व तृषा से पीडित, एवं-प्रमत्त, भोजन बनाने, खाने आदि में फंसे

१. 'दुर्गावरोधं न विदधाति'। २. 'सारसादयो नियुज्यन्तां सेनापतयः'।

प्रमत्तं, भोजनव्यग्रं, व्याधिदुर्भिक्षपीडितम् ।
असंस्थितमभूयिष्ठं, वृष्टिवातसमाकुलम् ॥ १११ ॥
पङ्कपांशुजलाऽऽच्छन्नं, सुव्यस्तं, दस्युविद्रुतम् ।
एवम्भूतं महीपालः परसैन्यं विघातयेत्' ॥ ११२ ॥

अन्यच्च—

'अवस्कन्दभयाद्राजा प्रजागरकृतश्रमम्[१] ।
दिवा सुप्तं [२]समाहन्यान्निद्राव्याकुलसैनिकम्' ॥ ११३ ॥

अतस्तस्य प्रमादिनो बलं गत्वा यथावकाशं दिवानिशं घ्नन्त्वस्मत्सेनापतयः ।' तथाऽनुष्ठिते चित्रवर्णस्य सैनिकाः, सेनापतयश्च बहवो निहताः । ततश्चित्रवर्णो विषण्णः स्वमन्त्रिणं दूरदर्शिनमाह—'तात !

असंस्थितं=व्यूहरचनाविकलं, स्वल्पं, वृष्टिवातादिपीडितम्, जलपङ्क—धूल्यादिपीडितं, दस्युपराहतं (दस्यु=डाकू) च । परसैन्यं=शत्रुबलं,—महीपालः=राजा, विघातयेत्=विनाशयेत् ॥ ११२ ॥ अवस्कन्दभयात्=आकस्मिकाऽऽक्रमणशङ्कया । प्रजागरकृशं=निद्राविघातदुर्बलं । दिवासुप्तं=दिवसनिद्रितं । निद्रया व्याकुलाः सैनिका यस्मिंस्तत्—परसैन्यं—राजा हन्यात् ॥ ११३ ॥ प्रमादिनः=प्रमत्तस्य । अनवहितस्य । मन्त्रिवाक्याननुवर्तिनः । बलं=सैन्यम् । यथावकाशं=यथावसरम् ।

तथाऽनुष्ठिते=सहसाऽऽक्रमणे कृते सति । विषण्णः=दुःखितः । तात=

हुए, व्याधि और दुर्भिक्ष से पीडित, अस्थिर, संख्या में कम, तथा वर्षा और आँधी से व्याकुल—॥ १११ ॥

एवं कीच, धूली व जल आदि से घिरे हुए, बड़े व्याकुल, तथा डाकुओं से पीडित एवं सताए हुए शत्रु के सैनिकों का विनाश करे ॥ ११२ ॥

और भी—राजा को उचित है, कि यकायक चढ़ाई के भय से रात्रि में जागने के परिश्रम से दिन में सोई हुई और निद्रा से व्याकुल हुई शत्रु की सेना को अच्छी प्रकार से विनष्ट करदे ॥ ११३ ॥

इसलिये उस प्रमादी की सेना को हमारे सेनापति जाकर समय पाकर रात दिन पीडित करें और उन्हें मारें । ऐसा करने से चित्रवर्ण की सेना और बहुतेरे सेनापति भी मारे गये । तदनन्तर चित्रवर्ण ने दुःखी होकर अपने मंत्री दूरदर्शी से

१. 'प्रजागरकृशं तथा' । २. 'सदा हन्यात्' ।

[1]किमित्यस्मदुपेक्षा क्रियते ?। [2]किं क्वाप्यविनयो ममाऽस्ति ?।
तथा चोक्तम्—

'न राज्यं प्राप्त'मित्येव वर्त्तितव्यमसाम्प्रतम् ।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम्' ॥ ११४ ॥

[3]अपि च—

'दक्षः श्रियमधिगच्छति, पथ्याशी कल्यतां, सुखमरोगी ।
उद्युक्तो विद्याऽन्तं, धर्मार्थयशांसि च विनीतः' ॥ ११५ ॥

महोदय । तातेति—पितृतुल्येत्यर्थकं वा । किमिति=कुतो हेतोः । अविनयः=धाष्ट्र्यम् ।

नेति । मया राज्यमधिगतमित्येतावता, असाम्प्रतम्=अयुक्तं, न वर्त्तितव्यम् । 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः । हि=यतः । श्रियं=राजलक्ष्मीम् । अविनयः=औद्धत्यम् । हन्ति=विनाशयति । जरा=वार्धक्यम् ॥ ११४ ॥ दक्षः=कुशलः । कल्यतां=नीरोगताम् । 'कल्यो नीरोगदक्षयो'रिति कोशः । उद्योगी=

कहा कि—हे तात ! इस प्रकार आप हमारी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ?। क्या किसी बात में मैंने कोई अविनय (भूल, त्रुटि, गलती, उच्छृङ्खलता) किया है ?।

जैसे कहा है, कि—'मैंने राज्य पालिया है' ऐसा समझ कर राजा कभी अनुचित व्यवहार न करे, क्योंकि अविनय लक्ष्मी को ऐसे ही नष्ट कर देता है, जैसे सुन्दर रूप को वृद्धावस्था नष्ट कर देती है ॥ ११४ ॥

और भी—चतुर मनुष्य—लक्ष्मी को पाता है, पथ्य भोजन करने वाला—आरोग्यता को पाता है, निरोगी—सुख को पाता है, उद्योगी पुरुष—विद्या के पार को पाता है, और नम्र पुरुष—धर्म, अर्थ तथा यश को पाता है ॥ ११५ ॥

तब गिद्ध बोला कि—हे देव ! सुनिये—

१. 'किमिति त्वया' । २. 'किंवा काऽप्यस्माकमविनयोऽस्ति' । ३. 'अन्यच्च' ।

गृध्रोऽवदत्—'देव ! शृणु'

'अविद्वानपि भूपालो विद्यावृद्धोपसेवया ।
परां श्रियमवाप्नोति जलाऽऽसन्नतरुर्यथा' ॥ ११६ ॥

अन्यच्च—

'पानं, स्त्री, मृगया, द्यूतमर्थदूषणमेव च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्यं, व्यसनानि महीभुजाम्' ॥ ११७ ॥

किञ्च—

'न साहसैकाऽन्त-रसा-ऽनुवर्त्तिना,
न चाप्युपायोपहताऽन्तरात्मना ।
विभूतयः शक्यमवाप्तुमूर्जिता,
नये च, शौर्ये च वसन्ति सम्पदः' ॥ ११८ ॥

उद्योगशीलः । अन्तं=पर्यवसानम् ॥ ११५ ॥ अविद्वान्=मूर्खोऽपि । विद्यावृद्धानां=विदुषाम् । उपसेवया = सेवनेन, पराम्= उत्कृष्टाम् ॥ ११६ ॥

पानं = मद्यपानम् । अर्थदूषणम्= अर्थाऽशुद्धिः, प्रजाभ्यो बलादर्थग्रहणम् । अनुचितो वा व्ययः । वाक्पारुष्यं = क्रूरवाक्याभिधानम् । दण्डपारुष्यं = क्रूरो दण्डः । व्यसनानि=विपदः । 'व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे कामजकोपजे' इत्यमरः । ॥ ११७ ॥ साहसे य एकान्तो रसः=केवलोऽनुरागः, तमनुवर्त्तितुं शीलमस्य, तेन । सहासैकपरायणेन । साहसैकपक्षपातिना । उपायोपहताऽन्तरात्मना=उपायचिन्तो-

मूर्ख राजा भी विद्वान् पण्डितों की सेवा करने से, अर्थात् उनके मत के अनुसार कार्य करने से, जल के समीप में स्थित हुए वृक्ष के समान ही लक्ष्मी (शोभा और सम्पत्ति) को पाता है ॥ ११६ ॥

और भी—मद्यपान, स्त्री, मृगया (शिकार), जूआ, धन को व्यर्थ खर्च करना, क्रूर वचन बोलना, और दण्ड में कठोरता,—ये राजाओं के ७ दोष हैं ॥ ११७ ॥

और—जो मनुष्य केवल साहस करने वाला हो, पर वह उपाय करने में

१. 'भयताम्' ।

त्वया स्वबलोत्साहमवलोक्य, साहसैकरसिकेन मयोपन्यस्तेष्वपि मन्त्रेष्वनवधानं, वाक्पारुष्यं च कृतम्। अतो दुर्नीतेः फलमिदमनुभूयते। तथा चोक्तम्—

'दुर्मन्त्रिणं कमुपयान्ति न नीतिदोषाः, ?
सन्तापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगाः ? ।
कं श्रीर्न दर्पयति, कं न निहन्ति मृत्युः, ?
कं स्त्रीकृता न विषयाः परितापयन्ति' ? ॥ ११९ ॥

पहतचेतसा। केवलं नीतिनिर्धारण-तद्विचारादिमात्रपरायणेन। ऊर्जिताः = विपुलाः। विभूतयः = सम्पदः। अवाप्तुं=प्राप्तुं, न शक्यं = न शक्याः। 'शक्य'-मितिविभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम्। यतः—नये = नीतौ, शौर्ये=साहसे च। उभयत्र लक्ष्मीनिवासो, नत्वेकत्रेति भावः॥ ११८॥

मया=गृध्रेण मन्त्रिणा। मन्त्रेषु=नीतिविधिषु। अनवधानम्=अनादरः।

नीतिदोषाः=मन्त्रदोषा वध-बन्ध-विनाशादयः। अपथ्यभुजम्=अपथ्याशिनम्। दर्पयति=मदयति। स्त्रीकृताः=स्त्रीसम्बन्धिनः। विषयाः = कटाक्षादयः। परितापयन्ति = संक्षोभयन्ति॥ ११९॥

असावधान हो, तो वह कभी विपुल ऐश्वर्य को नहीं पा सकता है, क्योंकि संपत्तियां तो नीति और शूरता में ही निवास करती हैं॥ ११८॥

और आपने अपने बल और उत्साह के अनुसार साहस करके मेरी कही हुई सलाह में अनादर किया है, और मेरे प्रति आपने कठोर वचनों का भी प्रयोग किया है, अतः उसी दुर्नीति (भूल) का यह फल आप भोग रहे हैं। जैसा कहा भी है, कि—

किस दुष्ट मन्त्री को नीति के दोष नहीं प्राप्त होते हैं ?। किस अपथ्य भोजन करने वाले को रोग नहीं सताते हैं ?। और लक्ष्मी किसको घमण्डी नहीं बना देती है। और मृत्यु किसको नहीं मारती है ?। और स्त्री के सम्बन्ध से किए हुए विषयोपभोग किसे संताप (दुःख) नहीं देते है ?॥ ११९॥

अपरं च—

'मुदं विषादः, शरदं हिमागम-
स्तमो विवस्वान्, सुकृतं कृतघ्नता।
प्रियोपपत्तिः शुचमापदं नयः,
श्रियः[1] समृद्धा अपि हन्ति दुर्नयः' ॥ १२० ॥

ततो मयाऽप्यालोचितम्—'प्रज्ञाहीनोऽयं राजा, न चेत्कथं नीतिशास्त्रकथाकौमुदीं वागुल्कामिस्तिभिरयति'[2]। यतः—

'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ?।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति' ? ॥ १२१ ॥

मुदं=हर्षं, विषादो हन्ति। शरदं—हिमागमः=हेमन्तत्तुर्विहन्ति। तमः=अन्धकारं, विवस्वान्=सूर्यः। प्रियोपपत्तिः=प्रियप्राप्तिः। शुचं=शोकं हन्ति। आपदं=विपत्तिं, नयः=नीतिर्हन्ति। समृद्धामपि श्रियं—दुर्नयः=दुर्नीतिर्हन्ति ॥१२०॥

मया=गृध्रेणापि। नीतिशास्त्रकथाकौमुदीं=नीतिशास्त्रोपदेशचन्द्रिकाम्। वागुल्काभिः=यथेच्छाचरणपरायणवाक्पारुष्योल्काभिः। (उल्का='लुक' 'मुसाल')। तिमिरयति=आच्छादयति। तिरयतीति गौडैः शोधिते पाठे तु—दूरीकरोति, चन्द्रिकां विहायोल्कामाश्रयतीत्यर्थः।

यस्य पुंसः—स्वयम्=आत्मनः, प्रज्ञा=बुद्धिर्नास्ति, तस्य शास्त्रं किम् उप-

और भी—हर्ष को विषाद नष्ट कर देता है शरद् ऋतु की शोभा को—हिम ऋतु (जाड़ा) का आना नष्ट कर देता है, इसी प्रकार अँधेरे को सूर्य, सुकृत को कृतघ्नता, शोक को प्रिय की प्राप्ति, आपत्ति को नीति, और बढ़ी हुई लक्ष्मी को दुर्नीति (अनुचित मन्त्र) नष्ट कर देती है ॥ १२० ॥

और हे राजन्! तब मैंने भी यही सोचा कि—यह राजा निर्बुद्धि है, नहीं तो नीति शास्त्र की कथारूपी इस चाँदनी को अपनी वाणीरूपी उल्काओं से क्यों नष्ट (मलिन, आच्छादित तिरोहित,) करता ?

क्योंकि—जिसको स्वयं बुद्धि नहीं है, उसका शास्त्र क्या उपकार कर सकता

१. 'श्रियं समृद्धामपि'। २ 'स्तिरयति'।

—इत्यालोच्याऽहमपि तूष्णीं स्थितः[1]। अथ राजा बद्धाऽञ्जलिराह—'तात! अस्त्ययं ममाऽपराधः, इदानीं यथाऽहमवशिष्टबलसहितः प्रत्यावृत्त्य विन्ध्याचलं गच्छामि, तथोपदिश।' गृध्रः स्वगतं चिन्तयति—'क्रियतामत्र[2] प्रतीकारः'। यतः—

'देवतासु, गुरौ, गोषु, राजसु, ब्राह्मणेषु च।
नियन्तव्यः सदा कोपो, बाल-वृद्धा-ऽऽतुरेषु च' ॥ १२२ ॥

[3]मन्त्री प्रहस्य ब्रूते—'देव! मा भैषीः, समाश्वसिहि। शृणु देव!

'मन्त्रिणां भिन्नसन्धाने, भिषजां सांनिपातिके।
कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा, सुस्थे को वा न पण्डितः'? ॥१२३॥

करोति। नैव किमपीत्यर्थः। लोचनाभ्यां=नेत्राभ्यां, विहीनस्य=अन्धस्य, दर्पणः किं करिष्यति=किमुपकरिष्यति, न किमपीत्यर्थः ॥ १२१ ॥

बद्धाञ्जलिः—बद्धकरसम्पुटः। प्रतीकारः=उपायः। देवतासु=देवेषु। गुरौ=गुरुविषये। आतुरः=रोगी। नियन्तव्यः=निगृहीतव्यः। (रोकना चाहिए)। ॥ १२२ ॥ मन्त्रिणाम्=अमात्यानाम्। भिन्नसन्धाने=विकृतसमीकरणाऽवसरे।

है? । आँखों से रहित अंधे को भला दर्पण क्या उपकार करेगा? ॥ १२१ ॥

यह सोच कर मैं चुप हो रहा। इसके बाद वह राजा हाथ जोड़ कर बोला कि—हे तात! अवश्य ही यह मेरा एक अपराध है। अब जैसे भी हम बाकी बची थोड़ीसी सेना सहित लौट कर विन्ध्याचल को जासकें वैसा ही उपदेश आप करिये। तब गिद्ध मन में सोचने लगा कि—अब इसका उपाय करना ही उत्तम होगा।

क्योंकि—देवता, गुरु, गौ, राजा, ब्राह्मण, बालक, वृद्ध और आतुर, इन पर क्रोध को सदा रोकना ही चाहिये। अर्थात् इन पर क्रोध नहीं करना चाहिये ॥ १२२ ॥

तब मन्त्री हँस कर बोला कि—हे देव! आप डरिये मत। थोड़ा धैर्य धारण करिए। हे महाराज! सुनिये—

बिगड़ी बातों को बनाने में, अर्थात् शत्रुओं की नीति को (असाधारण चालों

---

१. 'तेनाऽहमपि तूष्णीं स्थितः'। 'इत्यालोच्य तूष्णीं स्थितः' पा०। २. 'कर्त्तव्योऽत्र प्रतीकारः'। ३. 'ब्रूते च विहस्य'।

अपरञ्च—

'आरभन्तेऽल्पमेवाऽज्ञाः, कामं व्यग्रा भवन्ति च ।
महाऽऽरम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः' ॥ १२४ ॥

'तदत्र भवत्प्रतापादेव[1] दुर्गं भङ्क्त्वा, कीर्तिप्रतापसहितं त्वामचिरेण[2] कालेन बिन्ध्याचलं नेष्यामि ।' राजाऽऽह—'कथमधुना स्वल्पबलेन तत्सम्पद्यते ? ।' गृध्रो वदति—'देव ! सर्वं भविष्यति । यतो विजिगीषो-

(बिगड़ी बात को पुनः बनाने में ही) । सान्निपातिके=सन्निपातरोगचिकित्सायाम् । भिषजां = वैद्यानाम् । कर्मणि = व्यापारे । व्यज्यते = ज्ञायते । सुस्थे = प्रकृतिस्थे तु । कः पण्डितो न ? । ननु सर्वोऽपि पण्डितः ॥ १२३ ॥

अज्ञाः = जडाः । अल्पमेवाऽऽरभन्ते, कामं=यथेच्छं, व्यग्राः=व्याकुलाश्च भवन्ति । कृतधियः=पण्डितास्तु, महारम्भा अपि—निराकुलाः = अव्याकुला एव तिष्ठन्तीत्यर्थः ॥ १२४ ॥

दुर्गं = राजहंसदुर्गम् । कीर्तिप्रतापाभ्यां सहितं=समन्वितं त्वां, विन्ध्याद्रिं = स्वावासभूतं विन्ध्यपर्वतं प्रति, आचिरादेव नेष्यामीत्यर्थः । स्वल्पबलेन=हतावशिष्टेनाल्पमेन सैन्येन । तत्=विजयादिकम् । सम्पद्यते=भवति । अदीर्घसूत्रता=

को) विफल करने में मन्त्रियों की बुद्धिमत्ता देखी जाती है, और सन्निपात रोग की चिकित्सा करने में ही वैद्यों की बुद्धिमत्ता देखी जाती है, नहीं तो स्वस्थावस्था (साधारण अवस्था) में कौन पण्डित नहीं होता है ? ॥ १२३ ॥

और भी—अज्ञानी लोग यद्यपि थोड़ा सा (छोटा सा) ही कार्य आरम्भ करते हैं, परन्तु व्याकुल बहुत होते हैं । और विद्वान् लोग बड़े बड़े कार्यों का आरम्भ करते हैं, तो भी वे बिलकुल घबड़ाते नहीं हैं ॥ १२४ ॥

अतः यहाँ आप के प्रताप से ही इस राजा का किला तोड़ कर थोड़े समय में ही मैं आपको कीर्ति और प्रताप (प्रतिष्ठा और कीर्ति) के साथ विन्ध्याचल ले जाऊँगा । तब राजा बोला कि—अब थोड़ी सी बची हुई इस सेना से ऐसा कैसे हो सकता है ? । गृद्ध बोला कि—हे देव ! सब कुछ होगा, क्योंकि जीतने की

१. 'देव ! ततो भवत्प्रतापादेव' । २. 'मचिरेणैव कालेन विन्ध्याद्रिं नयामि'

रदीर्घसूत्रता विजयसिद्धेरवश्यंभावि लक्षणम् । [1]तत्सहसैव दुर्गद्वाराऽवरोधः क्रियताम् ।'

[2]अथ (प्रहित—)प्रणिधिना बकेनाऽऽगत्य हिरण्यगर्भस्य [3]कथितं—'देव ! स्वल्पबल एवाऽयं राजा चित्रवर्णो गृध्रस्य [4]वचनोपष्टम्भादागत्य दुर्गद्वाराऽवरोधं करिष्यति ।' [5]राजहंसो ब्रूते—भोः सर्वज्ञ ! किमधुना विधेयम् ? । चक्रवाको ब्रूते-[6]''स्वबले साराऽसारविचारः क्रियताम् । तज्ज्ञात्वा सुवर्णवस्त्रादिकं यथाऽर्हं प्रसादप्रदानं च क्रियताम्' । यतः—

क्षिप्रकारिता । 'दीर्घसूत्रश्चिरक्रियः' इत्यमरः । दुर्गद्वारावरोधः=शत्रुदुर्गद्वारावरोधः ।

पाठान्तरे–प्रहितेन = पूर्वं प्रेषितेन, प्रणिधिना = प्रधानेन गुप्तचरेण बकेन । वचनोपष्टम्भात् = वाक्यबलात् । साराऽसारविचारः=योग्याऽयोग्यविमर्शः । तन्निर्णय इति यावत् । तज्ज्ञात्वा = योग्यमयोग्यञ्च ज्ञात्वा । यथाऽर्हं = यथायोग्यम् । प्रसादप्रदानं=पारितोषिकवितरणम् ॥

इच्छा करने वाले राजा को कालक्षेप विलम्ब नहीं करना चाहिये, यही विजय की सिद्धि का निश्चत लक्षण है, इस लिए अब शत्रु के किले को शीघ्र ही घेर लेना चाहिए ।

इसी समय पहिले से नियुक्त किए गए दूत (गुप्तचर) बगला ने आकर हिरण्यगर्भ से कहा कि—हे देव ! अब अपनी बची हुई थोड़ी सी सेना लेकर ही यह राजा चित्रवर्ण अपने मन्त्री गिद्ध की सम्मति से आप के किले को घेरेगा । राजा बोला—सर्वज्ञ ! अब क्या करना चाहिये ? । चकवा बोला—अपनी सेना में बली व दुर्बलों का विचार करना चाहिये । और जो शूरवीर हों उन्हें प्रसन्नता से धन वस्त्र आदि पुरस्कार यथायोग्य देकर उत्साहित करना चाहिये ।

१. 'तदद्य सहसैव दुर्गावरोधो विधीयतां' पा० । २. 'अथे'ति क्वाचित्कम्' । 'अथ प्रणिधिना' पा० । ३. 'तत्कथितं । ४. ''मन्त्रेनोपष्टम्भेन दुर्गावरोधं' 'दुर्गरोधनं' । ५. 'राजाऽऽह–'सर्वज्ञ' । ६ वक्ति–'देव' ।

'यः काकिणीमप्यपथप्रपन्नां
समुद्धरेन्निष्कसहस्रतुल्याम् ।
कालेषु[1] कोटिष्वपि मुक्तहस्त—
स्तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मीः' ॥ १२५ ॥

अन्यच्च—

'क्रतौ, विवाहे, व्यसने, रिपुक्षये,
यशस्करे कर्मणि, मित्रसंग्रहे ।
प्रियासु नारीष्वधनेषु [2]बान्धवे—
ष्वतिव्ययो नाऽस्ति नराधिपाऽष्टसु' ॥ १२६ ॥

य इति । यो राजा काकिणीमपि = एकां कपर्दिकामपि । (काकिणी='कौडी' या 'दुकडा' ¼ पैसा=२० कौडी) । अपथप्रपन्नाम् = अस्थानपतिताम्, निष्कसहस्रतुल्यामिव—मन्यमानः । (निष्क=सोने की मोहर या चांदी का रुपया) । समुद्धरेत् = उत्थापयेत् । कालेषु = सत्यवसरे च । कोटिष्वपि = सुवर्णरूप्यककोटिष्वपि (करोड़ों रुपयों को भी) । मुक्तहस्तः = तद्व्यये विचारं नाचरति । (खुले हाथ खर्च करता है) । तं राजसिंहं = राजश्रेष्ठं, राजलक्ष्मीर्न त्यजतीत्यर्थः ॥ १२५ ॥

हे नराधिप ! अष्टसु अवसरेषु अतिव्ययो न गण्यते इत्यर्थः । क्रतौ = यज्ञे । व्यसने = विपदि ।रिपुक्षये = शत्रुनाशे । यशस्करे = कीर्त्तिप्रदे । कर्मणि = कार्ये । अधनेषु = दरिद्रेषु ॥ १२६ ॥

क्योंकि—जो अनुचित मार्ग में खर्च होनी हुई एक दमड़ी को भी हजार अशर्फियों के समान ही बचाता है, और समय पड़ने पर करोड़ों रुपये भी पानी की तरह ही व्यय कर देता है, उस राजसिंह को लक्ष्मी कभी नहीं छोड़ती है ॥ १२५ ॥

और दूसरे—हे राजन् ! यज्ञ, विवाह, आपत्ति, शत्रुनाश, यश बढ़ाने वाला कर्म, मित्रसंग्रह, प्रिय स्त्री की प्रसन्नता, और निर्धन भाई बन्धु की सहायता, इन आठों कार्यों के विषय में द्रव्य लगाना (देना या खर्च करना) अतिव्यय नहीं है, अर्थात् वृथा खर्च नहीं कहलाता है ॥ १२६ ॥

---

१ 'काले तु' । २. 'ह्यधनेषु बन्धुषु, ह्यति' ।

यतः—

'मूर्खः स्वल्पव्ययत्रासात्सर्वनाशं करोति हि ।
कः सुधीः सन्त्यजेद्भाण्डं शुल्कस्यैवाऽतिसाध्वसात्' ॥१२७॥

राजाऽऽह—'कथमिह समयेऽतिव्ययो युज्यते ? ।' उक्तञ्च—'आपदर्थे धनं रक्षेत्' इति । मन्त्री ब्रूते—'श्रीमतां कथमापदः' । राजाऽऽह—'कदाचिच्चलिता[1] लक्ष्मीः ।' मन्त्री ब्रूते—'सञ्चिताऽपि[2] विनश्यति ।' तद्देव ! कार्पण्यं विमुच्य [3]स्वभटा दान-मानाभ्यां पुरस्क्रियन्ताम्' । तथा चोक्तम्—

स्वल्पव्ययत्रासात् = स्वल्पव्ययभीत्या । (थोडे से खर्च के डर से ही) । सर्वनाशं = विपुलधनविनाशम् । सुधीः = पण्डितः । भाण्डं = वित्तम् । (भाण्ड=माल) । शुल्कस्य = राजदेयकरस्य । (चुंगी) । त्रासात् = भयात् । (क्या 'चुङ्गी' व 'जकात' के डर से अपने बहुमूल्य माल को कोई समझदार मनुष्य फेंक देता है !) ॥१२७॥

इह = अस्मिन् विपत्तिसमये । श्रीमतां = धनिनां, भाग्यशालिनाञ्च । सञ्चिताऽपि = रक्षिताऽपीत्यर्थः । 'सञ्चितार्थ' इति पाठे—सञ्चिताऽर्थः = सञ्चितवित्तोऽपि । 'सञ्चितोऽर्थोऽपि नश्यती'ति तु गौडाः पठन्ति ॥

क्योंकि—मूर्ख तो थोड़े खर्च के डर से ही अपने सर्वस्व का भी नाश कर देता है । पर कौन पण्डित मनुष्य शुल्क अर्थात् राजदेय कर (चुंगी) के डर से अपनी बहुमूल्य वस्तुओं को फेंक देता है ? ॥१२७॥

राजा बोला कि—इस विपत्ति के समय बहुत खर्च करना कैसे उचित होगा ? । कहा भी है कि—आपत्ति के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए । मन्त्री बोला कि—श्रीमानों को (भाग्यशालियों को) आपत्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ? । तब राजा बोला—यदि कभी लक्ष्मी चली जाए तो ? । मन्त्री बोला—तब तो संचय किया हुआ धन भी नष्ट हो ही जायगा । अतः हे देव ! लोभ छोड़कर इस समय दान और मान आदि से अपने शूर वीरों का सत्कार करना चाहिये ।

---

१ 'कुपिता' । २ 'सञ्चितार्थो विनश्यति' । ३ 'दानमानाभ्यां स्वसुभटाः' ।

'परस्परज्ञाः, संहृष्टास्त्यक्तुं प्राणान् सुनिश्चिताः ।
कुलीनाः, पूजिताः सम्यग्विजयन्ते [1]'द्विषद्बलम्' ॥ १२८ ॥

अपरञ्च—

'सुभटाः, शीलसम्पन्नाः, संहताः, कृतनिश्चयाः ।
अपि पञ्चशतं शूरा मृद्नन्ति [2]'रिपुवाहिनीम्' ॥ १२९ ॥

किञ्च—

'शिष्टैरप्यविशेषज्ञ, उग्रश्च, कृतनाशकः ।
त्यज्यते, किं पुनर्नाऽन्यैर्यश्चाप्यात्मम्भरिर्नरः[3]' ॥ १३० ॥

कार्पण्यं = कदर्यताम् । विमुच्य=विहाय । (कञ्जूसी छोड़ कर) । परस्परज्ञाः = संहताः, परस्परहितैषिणः । संहृष्टा = प्रसन्नाः । प्राणत्यागे कृतनिश्चयाः । कुलीनाः = सत्कुलप्रसूताः । सम्यक्पूजिताः = सत्कृताश्च भटाः शत्रुबलं नूनं विजयन्ते इत्यर्थः ॥ १२८ ॥

सुभटा इति । वीरश्रेष्ठाः, सुशीलाः परस्परं मिलिताः, प्राणपरित्यागे कृतनिश्चयाः पञ्चशतमपि शूराः रिपुवाहिनीं=शत्रुपृतनामपि,मृद्नन्ति=मर्दयन्ति ॥१२९॥

अविशेषज्ञः = योग्याऽयोग्यविचारशून्यः । उग्रः = क्रूरः । कृतनाशनः = अकृतज्ञः । आत्मम्भरिः = स्वोदरमात्रपूरकः । नरः = राजादिः । 'नृप' इति केचित्पठन्ति । शिष्टैरपि—साधुसमाचारैरपि । त्यज्यते = परिहीयते । किं पुनः—अन्यैः = अशिष्टैः, सामान्यैश्च—न = नैव त्यज्यते । अपि तु सुतरामेव त्यज्यते ॥ १३० ॥

जैसा कहा भी है—परस्पर के जानने वाले, (एक मत रखने वाले), प्रसन्न, प्राणों को छोड़ने का निश्चय किए हुए, कुलीन, सत्कृत शूरवीर लोग—शत्रु की सेना को अच्छी तरह से (बात की बात में) जीत लेते हैं ॥ १२८ ॥

और भी—शीलयुक्त, अच्छे लड़ने वाले, परस्पर मिले हुए, स्थिर बुद्धिवाले, ऐसे पाँच सौ शूरवीर भी शत्रु की पूरी की पूरी सेना को भी मार सकते हैं ॥१२९॥

और भी—जो मनुष्य विशेषता का न जाननेवाला अर्थात् मूर्ख, तथा क्रोधी, कृतघ्नी और अपना ही पेट पालने वाला है, उसे शिष्ट पुरुष भी त्याग देते हैं, फिर और साधारण मनुष्यों का तो कहना ही क्या है ? ॥ १३० ॥

१. द्विषां बलं' । २ 'निघ्नन्ति रिपुवाहिनीः' । ३ 'नृपः'

यतः-

'सत्यं, शौर्यं, [1]दया, त्यागो नृपस्यैते महागुणाः[2] ।
[3]तैस्त्यक्तो[3] महीपालः प्राप्नोति खलु वाच्यताम्' ॥१३१॥

[4]ईदृशि प्रस्तावेऽमात्यास्तावदवश्यमेव पुरस्कर्त्तव्याः । तथा चोक्तम्-

'यो येन प्रतिबद्धः स्यात्सह [5]तेनोदयी, व्ययी ।
स विश्वतो नियोक्तव्यः, प्राणेषु च, धनेषु च' ॥ १३२ ॥

यतः—

'धूर्त्तः, स्त्री वा, शिशुर्यस्य मन्त्रिणः स्युर्महीपतेः ।
अनीतिपवनक्षिप्तः [6]'कार्याऽब्धौ स निमज्जति' ॥ १३३ ॥

त्यक्तः = शून्यः । वाच्यतां = निन्दनीयताम् ॥१३१॥ तावत्=प्रथमम् । यः= अमात्यादिः । येन=राजादिना । प्रतिबद्धः । तेन=राजादिना सह च । उदयी= वृद्धिशाली, व्ययी=हानियुक्तश्च भवति, स सचिवः, प्राणेषु=स्वशरीररक्षादिषु च, नियोक्तव्यः=अधिकारी कर्त्तव्यः ॥ १३२ ॥ धूर्त्तः=वञ्चकः । अनीतिपवनक्षिप्तः=अनीतिवायुक्षिप्तः । अनीतिपरवशः सन् । अकार्याब्धौ=अकृत्यमहार्णवे । 'कार्याब्धौ' इति पाठे-कृत्यसंशयसागरे । निमज्जति=मग्नो भवति । (डूब जाता है) ॥ १३३ ॥

क्योंकि—सत्य, शूरता, दया और उदारता पूर्वक दान—ये चार राजा के बड़े गुण हैं । इन गुणों के विना राजा अवश्य निन्दा को प्राप्त होता है ॥ १३१ ॥

और ऐसे प्रसङ्ग में (ऐसे मौके पर) मन्त्रियों को भी अवश्य पुरस्कार देना चाहिए । क्योंकि—

ऐसा कहा है, कि—जो जिसके साथ संबद्ध है, और जिसकी उन्नति या अवनति उसी के साथ होती है, वही सच्चा विश्वासपात्र है, इसलिए उसी को अपने प्राणों की रक्षा में और धन की रक्षा के कार्य में लगाना चाहिये ॥१३२॥

और जिस राजा के स्त्री, या बालक, या धूर्त ही मन्त्री हो, वह राजा अनीति रूपी वायु से फेंका हुआ कार्य संशय के समुद्र में डूब जाता है ॥ १३३ ॥

१ 'तथा त्यागो' । २ 'त्रयो गुणाः' । ३ 'एभिर्मुक्तो' । ४ 'ईदृशि प्रस्तावे' इति क्वचिन्न । ५ 'येनोदयी' । ६ 'क्षिप्तोऽकार्याब्धौ' ।

शृणु देव !

'हर्ष-क्रोधौ यतौ यस्य, [1]कोषः स्वल्पव्ययेन च ।
नित्यं भृत्याऽन्ववेक्षा[2] च, तस्य स्याद्धनदा धरा' ॥१३४॥
'येषां राज्ञा सह स्यातामुच्चयाऽपचयौ ध्रुवम् ।
'अमात्या' [3]इति तान् राजा नाऽवमन्येत्कदाचन' ॥१३५॥
'महीभुजो मदान्धस्य [4]सङ्कीर्णस्येव दन्तिनः ।
[5]स्खलतो हि कराऽऽलम्बः [6]सुशिष्टैरेव दीयते' ॥ १३६ ॥

यतौ = संयतौ, स्वाधीनौ । 'समौ' इति क्वचित्पाठः । कोषः–स्वल्पव्ययेन–संयतः = स्वाधीनः । नित्यं च यो भृत्यान् पर्यवेक्षते, तस्य राज्ञो धरा = पृथिवी, धनदा = वित्तदा भवति ॥ १३४ ॥

येषाम् = अमात्यानाम् । उच्चयापचयौ = वृद्धिह्रासौ । ध्रुवं = नूनम् । नीतिमान् = नीतिनिपुणः । कर्हिचित् = कदाचिदपि, नावमन्येत = न तिरस्कुर्यात् ॥ १३५ ॥

मदान्धस्य = राज्यमदोन्मत्तस्याऽन्धस्येवाऽसमीक्ष्यकारिणः । सङ्कीर्णस्य = मद-

और भी सुनिए महाराज ! जिस के हर्ष और शोक संयत हैं, और कम खर्च करने से जिसका कोष (खजाना) भी भरा पूरा है (और जिसे शास्त्र के अर्थ में विश्वास है), और जिसे सदा सेवकों की चिन्ता है, उसको यह पृथ्वी सदा धन देनेवाली होती है ॥ १३४ ॥

और जिनकी राजा के साथ ही वृद्धि और हानि होती है, वे ही अमात्य कहाते हैं । अतः राजा उनका अनादर और उनकी उपेक्षा कभी न करे ॥ १३५ ॥

क्योंकि—मतवाले हाथी के समान गिरते हुए मद से अन्धे राजा को

१. शास्त्रार्थे प्रत्ययस्तथा' । २ 'भृत्यानुपेक्षा च' । ३ 'अमात्यान् नीतिमान् राजा' । ४ 'मज्जतोऽकार्यसागरे' । 'प्रकीर्णस्येव दन्तिनः' पा० । तत्र-प्रकीर्णः = मदभिन्नगण्डस्थलः । प्रवहन्मदः । 'प्रकीर्णस्येव दन्तिनः' इत्येव साम्प्रदायिकः पाठः । ५ 'स्खलतो हि करालम्बः सचिवैरेव दीयते' इति च पा० । ६ 'सुहृत्सचिवचेष्टितम्' पा० ।

अथाऽऽगत्य प्रणम्य मेघवर्णो ब्रूते—'देव! दृष्टिप्रसादं कुरु। [1]इदानीं विपक्षो दुर्गद्वारि वर्त्तते। तद्देवपादादेशाद्बहिर्निःसृत्य स्वविक्रमं दर्शयामि। तेन[2] देवपादानामानृण्यमुपगच्छामि।'

चक्रवाको ब्रूते—'मैवं, यदि बहिर्निःसृत्य योद्धव्यं, तदा दुर्गाऽऽश्रयणमेव निष्प्रयोजनम्'। अपरञ्च—

'विषमोऽपि[3] यथा नक्रः सलिलान्निःसृतोऽवशः[4]।
[5]वनाद्विनिर्गतः शूरः सिंहोऽपि स्याच्छृगालवत्' ॥ १३७ ॥

मत्तस्य, स्खलतः=विपन्नस्य, पङ्कादिमग्नस्य, दन्तिनः=हस्तिन—इव, सुशिष्टैः=अमत्तैः, सहचरैर्हस्तिभिः, शिष्टैरमात्यैश्च, करालम्बः=हस्तालम्बः–दीयते इत्यर्थः। पाठान्तरे अकार्यसागरे=अकृत्याऽब्धौ निमज्जतः, महीभुजः=राज्ञः। स्थलतः=भूमितः,–तटस्थलात्, सुशिष्टैः=साधुसमाचारैरमात्यादिभिरेव। करालम्बः=हस्तावलम्बः। दीयते=वितीर्यते। अन्यस्यापि जले निमज्जतस्तीरवर्त्तिभिः सज्जनैर्हस्तावलम्बो दीयते एव ॥ १३६ ॥

मेघवर्णः=शत्रुप्रणिधिर्वायसः। दृष्टिप्रसादं=दर्शनानुग्रहम्। विपक्षः=शत्रुवर्गः। विषमः=भीषणः। नक्रः=मकरादिः ('नाका' 'मगर')। सलिलात्=जलात्।

सुहृत्, सज्जन अमात्य आदि मित्र वर्ग ही हाथ का सहारा देते हैं, और उन मित्र (सहायक अमात्य) आदि का समुचित सामयिक कर्त्तव्य ही उस राजा के लिये हाथ के सहारे के समान है ॥ १३६ ॥

इसके बाद आकर प्रणाम कर मेघवर्ण कौवा बोला कि—हे देव! दयादृष्टि करिए (कृपाकर सुनिए)। अब शत्रु किले के द्वार पर आ गया है, अतः आप की आज्ञा हो तो बाहर निकल कर मैं अपना पराक्रम दिखाऊँ, जिससे आप के उपकार के ऋण छूटूँ। ऐसा सुन कर प्रधान मन्त्री चकवा बोला कि—ऐसा कभी मत करना। जो बाहर निकल कर ही युद्ध करना होता तो फिर किले का आश्रय ही क्यों करते?। अर्थात् किले में फिर क्यों आकर बैठते?।

और भी—जैसे विषम (भयंकर) नाका (मगर मच्छ, ग्राह, घड़ियाल)

---

१. 'एष युद्धार्थी विपक्षो दुर्गद्वारि तिष्ठति'। २ 'तेन देवप्रसादस्याऽऽनृण्यं'। ३ 'विषमो हि'। ४ 'निर्गतोऽवशः'। ५ 'वनात्तु प्रच्युतः सत्यम्' इति तु सुन्दरं–पाठान्तरम्।

[[1]वायसो ब्रूते—] 'देव ! स्वयं गत्वा दृश्यतां युद्धम्' । यतः—

'पुरस्कृत्य बलं राजा योधयेदवलोकयन् ।
स्वामिनाऽधिष्ठितः श्वाऽपि किं न सिंहायते ध्रुवम्' ॥१२८॥

[2]अथ ते सर्वे दुर्गद्वारं गत्वा महाऽऽहवं कृतवन्तः । [3]अपरेद्युश्चित्रवर्णो राजा गृध्रमुवाच-'तात ! स्वप्रतिज्ञातमधुना[4] निर्वाहय ।'

गृध्रो ब्रूते—'देव ! शृणु तावत्'—

निःसृतः = बहिर्निर्गतः । अवशः=स्वरक्षणेऽप्यसमर्थो भवति । वनान्निर्गतः शूरः = सिंहोऽपि—शृगालवत्-कातरतां गच्छति, लोकैर्निगृह्यते च, तथैव दुर्गनिर्गतो वीरो, राजाऽप्यवशः स्यादित्यर्थः ॥ १३७ ॥

बलं=सेनाम् । पुरस्कृत्य = सत्कृत्य, अग्रतः कृत्वा च । अवलोकयन् = भटान् पश्यन् । योधयेत् = युद्धे नियोजयेत् । स्वामिना = प्रभुणा । अधिष्ठितः = सनाथः । श्वाऽपि = कुक्कुरोऽपि । सिंहायते = सिंह इवाचरति ॥ १३८ ॥

ते=राजहंसादयो, चक्रवाकादयश्च । अपरेद्युः=अपरदिने । पाठान्तरे-परेद्यवि=

जल से निकलने पर पराधीन और निर्बल हो जाता है, और जैसे वन से निकला हुआ परम शूरवीर सिंह भी शृगाल (गीदड़) के समान ही निर्बल हो जाता है, वैसे ही किले से निकला हुआ शूरवीर योद्धा भी निर्बल और परवश हो जाता है ॥ १३७ ॥

तब कौवा बोला हे देव ! आप स्वयं चलकर युद्ध को देखिये, क्योंकि—

राजा को चाहिए कि वह आप स्वयं देखता हुआ सेना को आगे करके युद्ध करावे । क्योंकि स्वामी से अधिष्ठित होने पर और उत्साहित किए जाने पर कुत्ता भी क्या सिंह की तरह पराक्रम नहीं दिखाता है ? । अवश्य दिखलाता है ॥ १३८ ॥

इसके बाद वे राजा मन्त्री आदि सब किले के द्वार पर जाकर घनघोर युद्ध करने लगे । दूसरे दिन चित्रवर्ण राजा गिद्ध से बोला कि—हे तात ! अपनी प्रतिज्ञा को अब निबाहिए । तब गिद्ध बोला कि—हे देव ! पहले दुर्ग (किले) के दोषों (त्रुटियों) को सुनिये—

१ 'काचित्कः पा० । २. 'अनन्तरं' । ३ 'परेद्यवि' । ४'मधुना विधीयताम्' ।

'अकालसहमत्यल्पं, मूर्ख-व्यसनि-नायकम् ।
अगुप्तं, भीरुयोधं च दुर्गव्यसनमुच्यते' ॥ १३६ ॥

तत्तावदत्र नास्ति ।

'उपजापश्चिराऽऽरोधोऽवस्कन्दस्तीव्रपौरुषम् ।
दुर्गस्य लङ्घनोपायाश्चत्वारः कथिता इमे' ॥ १४० ॥

अत्र यथाशक्ति क्रियते यत्नः । [1]'कर्णे कथयति—[2]एवमेवम् ।' ततोऽनुदित एव भास्करे चतुर्ष्वपि दुर्गद्वारेषु प्रवृत्ते युद्धे, दुर्गाभ्यन्तरगृहेष्वेकदा[3]

परस्मिन्नहनि—इत्यर्थः । अकालसहम्=कालविलम्बाऽसहम् । अत्यल्पं=स्वल्पम् । मूर्खनायकं, द्यूतमद्यपानप्रमदादिव्यसनाऽऽसक्तरक्षकम्, अगुप्तम्=अरक्षितम्, भीरुयोधं=कातरभटश्चेति—दुर्गविपद उच्यन्ते ॥ १३६ ॥ अत्र=शत्रुदुर्गे । उपजापः=भेदः । चिरारोधः=बहुकालावरोधः । अवस्कन्दः=सहसा आक्रमणम् । (धावा) । तीव्रपौरुषम्=अतिपराक्रमः । लङ्घनोपायाः=विजयोपायाः ॥ १४० ॥ अत्र=दुर्गलङ्घने । अनुदिते=अनभ्युदिते । एकदा=एककालमेव, युगपत् ।

बहुत समय तक घिरे रहने में असमर्थ हो, अतिक्षुद्र (छोटा) हो, और मूर्ख (ज्ञानसे हीन) तथा व्यसनी (द्यूत खेलने वाला, मद्य पीने वाला) जिस किले का स्वामी हो, और जिस किले की ठीक रक्षा न की गई हो, तथा जिसमें डरपोक योद्धागण रहते हों, वह दुर्ग शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि ये सब दुर्ग के दोष हैं ॥१३६॥

परन्तु ये दोष तो यहाँ हैं नहीं । अतः ऐसे समय में किले को लेने के ये उपाय हैं—किले की भीतरी फौज में किसी प्रकार जासूसों द्वारा फूट करा देना, चिरकाल तक किले को घेरे रहना, तथा चारों ओर से एक साथ धावा बोल देना और प्रचण्ड सामर्थ्य दिखाना,—ये चार ही किले को जीतने के उपाय है ॥ १४० ॥

अतः इस विषय में यथायोग्य यत्न किया जा रहा है । (फिर कान में बोला-)मैंने कौवे को भेजकर पहिले से ही ऐसा गुप्त प्रबन्ध कर दिया है । फिर सूर्य के उदय होने के पहिले ही किले के चारों द्वारों में सहसा घनघोर युद्ध छिड़ गया ।

१. 'चित्रवर्णः कथयति—एवमेव' । २ 'मया प्रथममेव शत्रुदुर्गे स्थापितो वायसो नूनमस्माकं कार्यसाधको भविष्यतीत्यर्थः । ३ 'दुर्गाऽभ्यन्तरे गृहे काकैरेकदाऽग्निर्निक्षिप्तः' ।

काकैरग्निर्निक्षिप्तः । ततः 'गृहीतं गृहीतं दुर्गम्' इति कोलाहलं श्रुत्वा[1] सर्वतः प्रदीप्ताऽग्निमवलोक्य, राजहंससैनिका,[2] बहवो दुर्गवासिनश्च सत्वरं ह्रदं प्रविष्टाः । यतः—

'सुमन्त्रितं, सुविक्रान्तं, सुयुद्धं, सुपलायितम् ।
कार्यकाले यथाशक्ति कुर्यान्न तु विचारयेत्' ॥ १४१ ॥

[3]राजा हंसश्च स्वभावान्मन्दगतिः, [4]सारसद्वितीयश्चित्रवर्णस्य सेनापतिना कुक्कुटेनाऽऽगत्य वेष्टितः । हिरण्यगर्भः सारसमाह—'सेनापते !

कोलाहलं = शत्रुसेना-स्वपक्षबालवृद्धादि-कलकलम् । पावकं = वह्निम् । ह्रदं = सरोवरं, जलदुर्गम् । प्रविष्टाः = पलाय्य प्रविष्टाः ।

प्राप्तकाले = अवसरे सम्प्राप्ते । यथाशक्ति त्वरितमेव यथायोग्यमेतानि कुर्यात् । सुमन्त्रितं = सुष्ठु मन्त्रणाम् । सुविक्रान्तं = पराक्रमातिशयदर्शनम् । सुपलायितं = द्रागेव पलायनम् । एषु यस्य यस्याऽवसरः समागतस्तमुपायं झटिति कुर्यात्, कालक्षेपो नाऽत्रोचित इत्यर्थः ॥ १४१ ॥

सारसद्वितीयः = दुर्गनायकेन सेनाधिपतिना सारसेन सहितः । वेष्टितः =

और इतने में ही किले के भीतरी घरों में कौवों ने अवसर पाकर एक साथ अग्नि लगादी ।। तदनन्तर 'किला ले लिया, किला ले लिया' ऐसा कोलाहल सुन कर और चारों ओर जलती हुई अग्नि को देखकर राजहंस की सेना और किले के निवासी शीघ्र ही बड़ी बड़ी झीलों और तालाबों में भागकर घुस गये ।

क्योंकि—कार्य के समय—अच्छी सम्मति, अच्छा पराक्रम, अच्छा युद्ध और मौका आ पड़ने पर अच्छी तरह से भागना, ये चार बातें समय पर यथाशक्ति करे, इसमें विचार (आगा पीछा) बिलकुल न करे ॥ १४१ ॥

और वह राजा राजहंस तो स्वभाव ही से मन्दगामी था और सारस ही अकेला उसका सहायक उसके साथ था । अतः उस समय चित्रवर्ण के सेनापति कुक्कुट ने आकर उसे घेर लिया । तब वह हिरण्यगर्भ सारस से बोला कि—हे सेनापते

---

१ 'अनेकगृहेषु च पावकं प्रदीप्तं प्रत्यक्षेणाऽवलोक्य' । २ क्वचिन्न । ३. 'राजहंसः स्वभावात्' । ४ 'सारसद्वितीयश्च चित्र' ।

सारस'! ममाऽनुरोधादात्मानं कथं व्यापादयसि। ([1]अधुनाऽहं गन्तुमसमर्थः), त्वं गन्तुमधुनाऽपि समर्थः। तद्गत्वा जलं प्रविश्याऽऽत्मानं परिरक्ष। [3]अस्मत्पुत्रं चूडामणिनामानं सर्वज्ञस्य संमत्या राजानं करिष्यसि'।

सारसो ब्रूते—'देव! न वक्तव्यमेवं दुःसहं वचः, यावच्चन्द्रार्कौ[4] दिवि तिष्ठतस्तावद्विजयतां देवः। अहं देव! दुर्गाधिकारी। [5]तन्मम मांसाऽसृग्विलिप्तेन द्वारवर्त्मना तावत्[6] प्रविशतु शत्रुः'। अपरञ्च-देव!

'दाता, क्षमी, गुणग्राही स्वामी दुःखेन लभ्यते'।

राजाऽऽह—[7]'सत्यमेवैतत्'। किन्तु—

'शुचिर्दक्षोऽनुरक्तश्च जाने भृत्योऽपि दुर्लभः'॥ १४२॥

आक्रान्तः। (घेर लिया गया)। अनुरोधात्=अपेक्षणात्। अनुवर्त्तनात्। दुःसहं=सोढुमशक्यम्। देवः=महाराजः। भवान्। दुर्गाधिकारी=दुर्गपतिः। मांसासृग्विलिप्तेन=रुधिरमांसकर्दमलिप्तेन। द्वारवर्त्मना=दुर्गद्वारमार्गेण।

क्षमी=क्षमावान्। गुणग्राही=गुणानुरक्तः। शुचिः=शुद्धः। दक्षः=

सारस! मेरे कारण से अपने को क्यों विपत्ति में डालते हो, तुम तो अभी भी भागने में समर्थ हो। अतः जल में (सरोवर, झील आदि में) घुसकर तुम तो अपनी रक्षा कर लो। और चूड़ामणि नामक मेरे पुत्र को सर्वज्ञ मन्त्री की संमति से राजा बना देना। सारस बोला कि—हे देव! आप ऐसा दुःसह वचन मत कहिए, जब तक चन्द्र और सूर्य आकाश में रहें, तब तक आपकी विजय हो (आप राज्य करें)। और हे देव! मैं दुर्ग का अधिकारी हूँ, अतः मेरे मांस और रक्त से लिप्त द्वार के मार्ग से ही शत्रु किले में प्रवेश कर सकते हैं, ऐसे नहीं। अर्थात् मेरे मरने पर ही शत्रु यहाँ आ सकते हैं, इसके पहले तो मैं शत्रुओं को कभी नहीं आने दूँगा।

और भी—दाता क्षमावान् और गुणों का ग्रहण करने वाला स्वामी बड़े भाग्य से मिलता है, इस लिये उसे छोड़कर अपनी रक्षा करना कभी उचित नहीं है।

तब राजा बोला—यह तो सत्य (ठीक) है। परन्तु—

पवित्र, (सच्चा), चतुर, और अनुरागी (भक्त, प्यारा) भृत्य भी दुर्लभ

---

१ काचित्कः पाठः। २ 'त्वमधुना गन्तुं शक्तः'। ३ 'मत्पुत्रं'। ४ 'चन्द्रार्कौ विद्येते'। ५ 'मन्मांसा। ६ तावदिति काचित्कम्। ७ 'अस्त्येवं, किन्तु'।

सारसो ब्रूते—'शृणु देव !

'यदि समरमपास्य नास्ति मृत्यो-
र्भय, मिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम् ।
अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः,
किमिति मुधा[1] मलिनं यशः क्रियेत' ? ॥ १४३ ॥

अन्यच्च—

'भवेऽस्मिन्पवनोद्भ्रान्तवीचिविभ्रमभङ्गुरे ।
जायते पुण्ययोगेन परार्थे जीवितव्ययः' ॥ १४४ ॥

कुशलः । अनुरक्तः=भक्तः । जाने=अहमेवं मन्ये, जानामि ॥ १४२ ॥

समरं=युद्धम् । अपास्य=परित्यज्य, पलायने कृते सति । मृत्योर्भयं नास्तीति यदि भवेत्, तर्हि–इतः=समरभूमेः, अन्यतः=अन्यत्र । प्रयातुं=गन्तुं, पलायितुं, युक्तम्=उचितं भवेदपि कथञ्चित् । अथ=यदि । जन्तोर्मरणम्–अद्य वाऽब्दशतान्ते वा–अवश्यंभावि, तर्हि–किमिति=कुतः, स्वयशः–मुधा=वृथैव, मलिनं=म्लानं, क्रियेत । तथाकरणं नोचितमित्याशयः ॥ १४३ ॥

पवनोद्भ्रान्तवीचिविभ्रमभङ्गुरे=पवनान्दोलिततरङ्गविलासचञ्चले । अस्मिन्=इह, भवे=संसारे । पुण्ययोगेन=पुण्यसंपर्केणैव । परार्थे=अन्योपकारप्रसङ्गेन । जीवितव्ययः=प्राणोत्सर्गः । जायते=भवति ॥ १४४ ॥

है,–ऐसा मैं समझता हूँ ॥ १४२ ॥

तब सारस बोला कि—हे देव ! सुनिये—

यदि युद्ध स्थल को छोड़ कर भागने पर अन्यत्र जाने से मृत्यु का भय कभी नहीं होता हो तब तो कथंचित् दूसरी जगह भागकर जाना योग्य भी हो सकता है । पर जब आज या कल–मरना अवश्य है, तो फिर वृथा भागकर अपने निर्मल यश को भी क्यों मलिन करें ? ॥ १४३ ॥

और—जैसे वायु के वेग से समुद्र की तरङ्गें उठती और नष्ट होती हैं, ऐसे ही नष्ट होने वाले इस संसार में बड़े ही पुण्य से परोपकार के लिये जीवन का त्याग होता है ॥ १४४ ॥

---

१. 'किमिति बुधा ! मलिनं यशः कुरुध्वे' पा० ।

[1]'स्वाम्यमात्यश्च, राष्ट्रं च, दुर्गं, कोशो, बलं, सुहृत् ।
राज्याऽङ्गानि प्रकृतयः, पौराणां श्रेणयोऽपि च' ॥ १४५ ॥

देव ! त्वं च स्वामी, सर्वथा रक्षणीयः । यतः—

[2]'प्रकृतिः स्वामिनं त्यक्त्वा समृद्धाऽपि न जीवति ।
अपि धन्वन्तरिर्वैद्यः, किं करोति गताऽऽयुषि' ? ॥ १४६ ॥

[3]अपरञ्च—

'नरेशे जीवलोकोऽयं निमीलति, निमीलति ।
उदेत्युदीयमाने च रवाविव सरोरुहम्' ॥ १४७ ॥

स्वामी=राजा । राष्ट्रं=राज्यम् । पौराणां = पुरनिवासिनाम् । श्रेणयः= मण्डलानि-एतानि अष्टौ राज्याङ्गानि-'प्रकृति'पदेनोच्यन्ते ॥ १४५ ॥

समृद्धाऽपि = धनधान्यादिसम्पन्नाऽपि, प्रकृतिः=राष्ट्रादिरूपा पूर्वोक्ताऽष्टाङ्गा प्रकृतिः । स्वामिनं=राजानं—विहाय न जीवति । यतः—गतायुषि = क्षीणायुषि पुंसि । प्राणेषु च गतेषु । मृते वा रोगिणि । धन्वन्तरिरपि किंकरोति ? । न किमपीत्यर्थः ॥ १४६ ॥

नरेशे=नृपे । निमीलति=सङ्कुचति सति, मृते, विपन्ने च सति । जीवलोकोऽयं=

स्वामी, मन्त्री राज्य, किला, खजाना, सेना, सुहृद् और नगरवासी (प्रजा) जनों का समूह ये आठ राज्य के अङ्ग हैं । ये आठों प्रकृति कहलाते हैं ॥१४५॥

हे देव ! (इन आठों प्रकृतियों में भी मुख्य) आप स्वामी हो, इसलिये पहले आप की ही रक्षा सब प्रकार से करनी चाहिये ।

क्योंकि—यदि प्रकृति (मन्त्री, राष्ट्र, प्रजा आदि) समृद्ध होने पर भी स्वामी को छोड़ दे, तो वह जी नहीं सकती है । जैसे आयु व्यतीत होने पर धन्वन्तरि वैद्य भी क्या कर सकता है, अर्थात् कुछ नहीं । अतः राज्य में राजा ही मुख्य है ॥ १४६ ॥

और भी—राजा के नेत्र मूँदने पर सारा संसार (प्रजा) भी आँख मूँद लेता है,

१. 'देव ! त्वं च स्वामी सर्वथा रक्षणीयः । यतः—स्वाम्यमात्यश्च' । २ अपि च—'प्रकृतिः स्वामिनं त्यक्त्वा' । ३ क्वचित्र ।

[1]अत्राऽपि प्रधानाऽङ्गं राजा ।

अथ कुक्कुटेनाऽऽगत्य राजहंसस्य शरीरे खरतरनखाऽऽघातः कृतः । [2]तदा सत्वरमुपसृत्य सारसेन स्वदेहाऽन्तरितो राजा जले क्षिप्तः[3] ।

[4]अथ कुक्कुटनखप्रहारजर्जरीकृतेनाऽपि सारसेन कुक्कुटसेना बहुशो हता । पश्चात्सारसोऽपि बहुभिः पक्षिभिः समेत्य[5] चञ्चुप्रहारेण विभिद्य व्यापादितः । अथ चित्रवर्णो दुर्गं प्रविश्य, दुर्गाऽवस्थितं द्रव्यं ग्राहयित्वा, बन्दिभिर्जयशब्दैरानन्दितः[6] स्वस्कन्धाऽऽवारं जगाम ।

प्राणिसङ्घातोऽयम् । निमीलति=म्रियते । उदीयमाने=प्रकाशमाने, अभ्युदयभाजि च नृपे, रवौ—सरोरुहमिव = कमलमिव, उदेति = वर्द्धते, विकसति च । यथा सूर्योदये कमलानां विकासः, तदस्तगमने च तेषां सङ्कोचो भवति, तथैव राज्ञोऽभ्युदये हि प्रजासमृद्धिः, तन्नाशे च प्रजानाश इत्याशयः ॥ १४७ ॥

खरतरनखाऽऽघातः=प्रखरनखराऽऽघातः । स्वदेहान्तरितः=स्वशरीरेणाऽऽच्छादितः । विभिद्य=विदार्य । व्यापादितः=हतः । समेत्य=समागत्य । पाठान्तरे–सम्भूय =मिलित्वा । दुर्गं=राजहंसहिरण्यगर्भदुर्गम् । ग्राहयित्वा=आदाय । स्वस्कन्धावारं=

अर्थात् राजा के नष्ट होने पर प्रजा भी नष्टप्राय हो जाती है । और राजा के उदय (सुखी, प्रसन्न) होने पर (प्रजा) उदयवाली (सुखी) होती है । जैसे सूर्य के उदय तथा अस्त होने से कमल खिलता और बन्द होता है ॥ १४७ ॥

इसके बाद कुक्कुट ने आकर राजहंस के शरीर में अपने बड़े बड़े तीक्ष्ण नखों से प्रहार किया । तब शीघ्रता करके सारस ने अपने देह से छिपाकर राजा को जल में फेंक दिया । कुक्कुट के नख के प्रहार से पीडित होकर भी उस सेनापति सारस ने बहुत सी कुक्कुटों की सेना को मार गिराया । फिर सारस को भी बहुत से पक्षियों ने अपनी चोंचों के प्रहार से छेद कर मार डाला । उसी समय चित्रवर्ण किले में घुस कर वहाँ की सब धन सम्पत्ति को लेकर बन्दीजनों के जय जयकार शब्दों से आनन्दित होता हुआ अपने सेनानिवेश (पड़ाव, छावनी, खेमा) को चला गया ।

---

१. क्वाचित्कः पाठोऽयम् । २ 'ततः सत्वर' । ३ । 'अनन्तरं कुक्कुटेन नखमुखप्रहारैर्जर्जरीकृतेन सारसेन स्वाङ्गेनाच्छाद्य राजा जले क्षिप्तः' । ४ कुक्कुटोऽपि सेनापतिना सारसेन स्वचञ्चुप्रहारेण विभिद्य व्यापादितः' । ५ 'सम्भूय व्यापादितः' । ६ 'जयशब्देनानन्दितः' ।

अथ राजपुत्रैरुक्तम्—'तस्मिन्राजहंसबले[1] पुण्यवान् स सारस[2] एव, येन स्वदेहत्यागेन स्वामी रक्षितः'। [3]यतः—

'जनयन्ति सुतान् गावः सर्वा एव[4] गवाऽऽकृतीन्।
विषाणोल्लिखितस्कन्धं [5]काचिदेव गवां पतिम्' ॥१४८॥

विष्णुशर्मोवाच—'स [6]तावत्सत्त्वक्रीतानक्षयलोकान् विद्याधरीपरिवृतो[7]ऽनुभवतु महासत्त्वः'। तथा चोक्तम्—

'आहवेषु च ये शूराः [8]स्वाम्यर्थे त्यक्तजीविताः।
भर्तृभक्ताः, कृतज्ञाश्च, ते नराः स्वर्गगामिनः' ॥ १४९ ॥

स्वसेनासंनिवेशं। पुण्यवान्=पुण्यात्मा। स्वामी=राजहंसो राजा। गवाकृतीन्=स्वसमानाकृतीन्। बलीवर्दान्। विषाणोल्लिखितस्कन्धं=शत्रुवृषभसन्दर्शनसंजातरोषावेशेन स्वशृङ्गविदारितवृक्षस्कन्धम्। गवां विषाणैरुल्लिखितौ स्कन्धौ यस्येति वा। एतेन तस्य सौभाग्यातिशयः सूचितः। गवां पतिं=गोसङ्घमुख्यम्। (सांड को) ॥१४८॥

सत्त्वक्रीतान्=स्वसत्त्वबल-पौरुष क्रीतान्। अक्षयलोकान्=अक्षयस्वर्गादिलोकान्। विद्याधरीपरिवृतः=विद्याधरसुन्दरीगणपरिवृतः। महासत्त्वः=महानु-

इसके बाद यह कथा सुन कर राजपुत्रों ने विष्णुशर्मा से कहा कि—'उस राजहंस की सेना में तो वह सारस ही बड़ा पुण्यात्मा था, जिसने अपने देह को त्याग कर भी अपने स्वामी की रक्षा की। जैसे कहा भी है—

यद्यपि सभी गायें बैलों के समान ही पुत्रों को पैदा करती हैं, परन्तु जिसके कन्धे (युद्ध में) सींगों से क्षत-विक्षत हों ऐसे गोपति (साँड) को तो कोई कोई गाय ही उत्पन्न करती हैं। सब गौ नहीं ॥ १४८ ॥

तब विष्णुशर्मा बोले कि—वह महापुरुष (सारस) तो अब विद्याधरियों के समूहों साथ स्वर्ग का अनुपम आनन्द भोग रहा है।

जैसे कहा भी है कि—स्वामी के भक्त और किये उपकार को मानने वाले जो शूरवीर संग्राम में स्वामी के लिये अपना जीवन छोड़ते हैं (प्राणत्याग करते हैं) वे मनुष्य सीधे स्वर्ग में जाते हैं ॥ १४९ ॥

१ 'तस्मिन् राजबले'। २ 'पुण्यवान् सारस एव'। 'स पुण्यवान् सारस एव'। ३ 'उक्तंचैतत्'। ४ 'सर्वानेव'। ५ 'कश्चिदेव' पा०। ६. 'स तावद्विद्याधरीपरिवृतः स्वर्गसुखमनुभवति महासत्त्वः'। ७ 'विद्याधरीपरिजनोऽनुभवतु'। ८ 'स्वाम्यर्थं'।

'यत्र तत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवेष्टितः ।
अक्षयाँल्लभते लोकान्यदि क्लैब्यं न गच्छति' ॥ १५०

अथ विष्णुशर्मा प्राऽऽह—

विग्रहः श्रुतो भवद्भिः । राजपुत्रैरुक्तम्—'श्रुत्वा सुखिनो भूता वयम् ।' विष्णुशर्माऽब्रवीत्—'अपरञ्चैवमस्तु—

'विग्रहः करितुरङ्गपत्तिभि—
नों कदापि भवतान्महीभुजाम् ।
नीतिमन्त्रपवनैः समाहताः
संश्रयन्तु गिरिगह्वरं द्विषः' ॥ १५१ ॥

इति श्रीनारायणपण्डितकृते हितोपदेशे—
नीतिशास्त्रे विग्रहो नाम तृतीयः कथासंग्रहः ॥३॥

भावः । आहवेषु = युद्धेषु । यत्रतत्र = यत्र कुत्रापि स्थाने । परिवेष्टितः=आक्रान्तः । हतः = मृतश्चेत् । अक्षयान् = नित्यान् । लोकान् = ब्रह्मादिलोकान् । लभते = प्राप्नोति । क्लैब्यं = कातरभावम् ॥ १५० ॥

करितुरङ्गपत्तिभिः = हस्त्यश्वपादातैः सह, कदाचिदपि विग्रहः = युद्धं, नो=नहि, भवतात् = भवतु । नीतिमन्त्रपवनैः = नीतिसुमन्त्रप्रचण्डपवनैः—आहताः । विद्विषः =राजविद्विषश्च । भवच्छत्रवश्च । गिरिगह्वरं=पर्वतकन्दराणि समाश्रयन्तु ॥ १५१ ॥

इति श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिविरचितायां हितोपदेशाऽभिनवराजलक्ष्म्यां
विग्रहो नाम तृतीयं तन्त्रम् । इति शिवम् ।

और जो शूरवीर योद्धा चारों ओर से शत्रुओं से घिरा हुआ जहाँ कहीं भी मारा जाता है, वह यदि कायरता न करे (पीठ न दिखावे), तो अवश्य ही वह अक्षय पुण्य लोकों को पाता है ॥ १५० ॥ पुनः विष्णुशर्मा बोले—

आप लोगों ने ये 'विग्रह' की कथाएं सुन ही ली हैं । तब राजपुत्र बोले—इन कथाओं को सुनकर हमलोग बहुत ही प्रसन्न और कृतार्थ हुए हैं ।

तब विष्णुशर्मा बोले—अच्छा तो फिर यह और भी हो कि—राजाओं का परस्पर में हाथी घोड़े और पैदलों से युद्ध कभी न हो, किन्तु नीति और संमति (उत्तम सलाह) रूपी वायु से पीड़ित होकर शत्रु गण पहाड़ की गुफाओं का आश्रय लें । अर्थात् अपनी नीतिकुशलता से ही सब शत्रुओं को राजा लोग परास्त करें ॥१५१॥

हितोपदेश का विग्रहनामक तीसरा कथासंग्रह समाप्त ।

अथ सन्धिः ।

पुनः कथाऽऽरम्भकाले राजपुत्रैरुक्तम्—'आर्य ! विग्रहः श्रुतोऽस्माभिः । सन्धिरधुनाऽभिधीयताम् ।' विष्णुशर्मणोक्तम्—'श्रूयताम्, सन्धिमपि कथयामि । यस्याऽयमाद्यः श्लोकः—

'वृत्ते महति संग्रामे राज्ञोर्निहतसेनयोः ।
स्थेयाभ्यां गृध्र-चक्राभ्यां वाचा सन्धिः कृतः क्षणात्' ॥१॥

राजापुत्रा ऊचुः—'कथमेतत् ?' । विष्णुशर्मा कथयति—

'ततस्तेन राजहंसेनोक्तं—केनाऽस्मद्दुर्गे निक्षिप्तोऽग्निः? । किं पारक्येण ?, किं वाऽस्मद्दुर्गवासिना केनापि[1] विपक्षप्रयुक्तेन ?।' चक्रवाको

* श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिकृता अभिनवराजलक्ष्मीः *

कथाऽऽरम्भकाले = पुनः कथाप्रारम्भसमये । आर्य=हे पूज्य । विग्रहः = युद्धम् । सन्धिः = मेलनम् । तदनुबन्धी कथाप्रसङ्ग इति यावत् । वृत्ते इति । महति संग्रामे= भीषणे युद्धे । वृत्ते = निष्पन्ने । सञ्जाते सति । निहतसेनयोः = हतसेनयोः । राज्ञोः=चित्रवर्ण-राजहंसयोः । स्थेयाभ्यां = मध्यस्थाभ्याम् । 'स्थेयो विवादस्थानस्य निर्णेतरि, पुरोहिते' इत्यमरः । गृध्रचक्राभ्यां = गृध्र-चक्रवाकाभ्यां मुख्यमन्त्रिभ्याम् । क्षणादेव—वाचा = वाङ्मात्रेणैव । सन्धिः = सन्धानम् । कृतः=निष्पादितः ॥१॥

अथ तेन = हतसेनेन कथञ्चिद्रक्षितेन हिरण्यगर्भेण । पारक्येण = परकीयेण,

फिर पुनः कथा के आरम्भ समय में वे राजा के पुत्र बोले कि—हे आर्य ! हम लोगों ने विग्रह तो आप से सुना, अब सन्धि अर्थात् मेल का भी आप वर्णन कीजिये । तब विष्णुशर्मा बोले कि—'सुनिये, सन्धि भी कहता हूँ । जिसका पहला श्लोक यह है—

उन दोनों राजाओं में बड़ा युद्ध हो जाने पर और उसमें दोनों पक्षों की बहुत सी सेनाओं के मारे जाने पर प्रधानमन्त्री गिद्ध और चकवे ने मध्यस्थ होकर क्षण भर में बात चीत करके मेल कर लिया ॥ १ ॥

राजपुत्र बोले कि—यह कथा कैसे है ? । विष्णुशर्मा बोले—

इसके बाद उस राजहंस ने मन्त्री चकवे से पूछा कि—हमारे किले में किसने

1. 'केनचित्' ।

ब्रूते[1]-'देव ! भवतो निष्कारणबन्धुरसौ मेघवर्णः सपरिवारो न[2] दृश्यते। तन्मन्ये तस्यैव विचेष्टितमिदम्।'

राजा क्षणं विचिन्त्याऽऽह—'अस्ति तावदेवं, मम [3]दुर्दैवमेतत्'। तथा चोक्तम्—

'अपराधः स दैवस्य, न पुनर्मन्त्रिणामयम्।
कार्यं [4]सुचरितं क्वापि दैवयोगाद्विनश्यति' ॥ २ ॥

मन्त्री ब्रूते-'उक्तमेवैतत्—

'विषमां हि दशां प्राप्य दैवं गर्हयते नरः।
आत्मनः कर्मदोषांश्च[5] नैव जानात्यपण्डितः ॥ ३ ॥

शत्रुभटादिना। विपक्षप्रयुक्तेन = शत्रुप्रणिधिना। निष्कारणबन्धुः=अकारणसुहृत्। विचेष्टितं = व्यापारः। अस्ति तावदेवम् = युक्तमेतत्। दुर्दैवं=दुर्भाग्यम्।

अयं = मत्पराजयः। दैवस्यापराधः = दैवदुर्विलसितम्। नात्र मन्त्रिणां दोषः। सुचरितं = सुनिष्पन्नमपि,कार्यं-दैवयोगाद्विनश्यति=दैवापराधाद्विनाशं गच्छति ॥२॥

विषमां=विपत्तिगहनाम्। दशां = दुर्दशाम्। दैवं = भाग्यम्। गर्हयते = निन्दति। आत्मनः = स्वस्य। कर्मदोषान् = विपरीताचरणाद्यपराधान्।

अग्नि फेंकी थी ?। क्या शत्रुपक्ष के किसी व्यक्ति ने,या हमारे दुर्ग में ही रहने वाले किसी वैरी से मिले हुए ने ?।' चकवा बोला कि—देव ! आपका अकारण बन्धु वह मेघवर्ण (कौवा) ही परिवार सहित कहीं नहीं दीखता है ?। अतः मैं तो उसी की यह कारवाई जानता हूँ। तब राजा क्षणमात्र सोचकर बोला कि—यही सच है। यह सब मेरा ही दुर्भाग्य और अपराध है।

जैसे कहा भी है—बना-बनाया (ठीक ठीक किया हुआ) काम भी भाग्य के वश से ही नष्ट हो जाता है। इसमें भाग्य का ही अपराध है, मन्त्रियों का नहीं ॥ २ ॥

तब वह मन्त्री बोला—ऐसा कहा भी है—

मूर्ख मनुष्य विपत्ति में पड़कर, बुरी दशा को प्राप्त होकर, भाग्य की निन्दा करता है, परन्तु वह अपने किये हुए कार्य के दोषों को नहीं जानता है ॥ ३ ॥

१. 'वदति'। २ 'नाऽत्र दृश्यते'। ३ 'दुर्भाग्यमेतत्'। ४ 'कार्यं सुघटितं यत्नात्' पा०। ५ 'दोषांस्तु'।

अपरञ्च—

'सुहृदां हितकामानां यो वाक्यं नाऽभिनन्दति ।
स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद्भ्रष्टो विनश्यति' ॥ ४ ॥

[1]अन्यच्च—

'रक्षितव्यं सदा वाक्यं, वाक्याद्भवति नाशनम् ।
हंसाभ्यां नीयमानस्य कूर्मस्य पतनं यथा' ॥ ५] ॥

राजाऽऽह—'कथमेतत् ?' । मन्त्री कथयति—

१ हंस-कूर्म-कथा ।

अस्ति मगधदेशे फुल्लोत्पलाभिधानं सरः । तत्र[2] चिरं सङ्कटविकट-नामानौ हंसौ निवसतः । तयोर्मित्रं कम्बुग्रीवनामा कूर्मश्च प्रतिवसति ।

अपण्डितः = अविमृश्यकारी, मूर्खः ॥ ३ ॥

हितकामानां=हितैषिणाम् । सुहृदां=मित्रबन्धुबान्धवानाम् । न अभिनन्दति= न शृणोति, न तदनुकूलमाचरति च । कूर्मः = कच्छपः । दुर्बुद्धिः = दुष्टमतिः । काष्ठात्=काष्ठफलकात् । भ्रष्टः=पतितः । विनश्यति = विनाशमुपयाति । म्रियते ॥ ४ ॥ वाक्यं=वचनं । रक्षितव्यं=न वृथा वक्तव्यम् । केनाऽपि सह वृथा कलहोऽपि न कार्यः । नाशनं = विनाशः ॥ ५ ॥

और भी—हित चाहने वाले अपने मित्रों के वचनों को जो नहीं मानता है, वह उस दुर्बुद्धि (खोटी बुद्धिवाला) कछुए की तरह ही लकड़ी (अपने आश्रयस्थान) से गिर कर नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

और भी—मनुष्य को ज्यादा नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि अधिक बोलने से विनाश (हानि) ही होता है, जैसे दो हंसों से ले जाया जाता हुआ वह कछुआ वृथा बोलने से ही गिर कर मर गया था ॥ ५ ॥

राजा बोला कि—'यह कथा कैसे है ?' । मन्त्री कहने लगा—

मगधदेश में फुल्लोत्पल नाम का एक सरोवर है । वहाँ बहुत समय से संकट और विकट नाम के दो हंस रहते थे । और उन दोनों का एक मित्र कम्बुग्रीव

---

१. अयं ग्रन्थः क्वचिन्नैव दृश्यते । २ 'चिरात्' ।

अथैकदा धीवरैरागत्य तत्रोक्तं, यत्—'अत्राऽस्माभिरद्योषित्वा प्रातर्मत्स्यकूर्मादयो व्यापादयितव्याः'। तदाकर्ण्य कूर्मो हंसावाह–'सुहृदौ ! श्रुतोऽयं धीवराऽऽलापः। अधुना किं मया कर्तव्यम् ? ।' हंसावाहतुः—"१ ज्ञायतान्तावत्, पुनस्तावत्प्रातर्यदुचितं तत्कर्तव्यम्'। कूर्मो ब्रूते—'मैवम्। यतो दृष्टव्यतिकरोऽहमत्र'। तथा चोक्तम्—

'अनागतविधाता च, प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा।
द्वावेतौ सुखमेधेते, यद्भविष्यो विनश्यति' ॥ ६ ॥

तावाहतुः—'कथमेतत् ?'। कूर्मः कथयति—

धीवरैः=मत्स्यवधाऽऽजीवैः। (धीमर)। तत्र=अस्मिन्सरसि। उषित्वा=स्थित्वा। व्यापादयितव्याः=हन्तव्याः। आकर्ण्य=श्रुत्वा। हंसौ=हंसौ प्रति। द्वितीयान्तमेतत्। तावत्=आदौ। ज्ञायतां=किमेते कुर्वन्ति, तत्प्रतीक्ष्यतान्तावत्। उचितं=योग्यं प्रतिविधानम्। दृष्टव्यतिकरः=उपेक्षणे भाविनी या हानिः—सा यद्भविष्यमत्स्यविनाशरूपा मया दृष्टा।

व्यतिकरमेवाह—अनागतेति। एतौ=एतन्नामानौ मत्स्यौ। सुखं यथा स्यात्तथा। एधेते=सुखं जीवतः, वर्द्धेते च ॥ ६ ॥

नाम का कछुआ भी वहीं रहता था। एक समय धीवरों (मछुवों) ने वहाँ आकर कहा, कि—हम लोग यहाँ रह कर प्रातः काल मछली, कछुवे आदि मारेंगे और उनका शिकार करेंगे। यह सुन कर वह कच्छप हंसों से बोला कि—हे मित्रों ! तुमने धीवरों का यह कहना सुन ही लिया होगा। कहिए अब हम क्या उपाय करें ?। तब वे हंस बोले कि—इनको कहने दीजिये, फिर प्रातःकाल जो योग्य होगा सो करेंगे। कच्छप बोला कि—ऐसा न कहो, क्योंकि ऐसे मामले में उपेक्षा करने से जैसी विपत्ति आती है, वह मैं देख चुका हूँ।

जैसा कि कहा भी है—अनागतविधाता (अग्रसोची,) और प्रत्युत्पन्नमति (समय के अनुसार कार्य करने वाला) ये दोनों तो सुख से रहते हैं, परन्तु यद्भविष्य (होनहार पर विश्वास करने वाला) नष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥

तब उन दोनों ने पूछा कि—यह कथा कैसे है ?। कच्छप कहने लगा कि—

---

१. 'ज्ञायतां पुनस्तावत्'।

२. अनागतविधात्रादिमत्स्यत्रयकथा।

पुराऽस्मिन्नेव[1] सरस्येवंविधेष्वेव[2] धीवरेषूपस्थितेषु मत्स्यत्रयेणाऽऽलोचितम्। तत्राऽनागतविधाता नामैको मत्स्यः। तेनोक्तम्—'अहं तावज्जलाशयाऽन्तरं गच्छामि'। इत्युक्त्वा स ह्रदान्तरं गतः। अपरेण प्रत्युत्पन्नमतिनाम्ना मत्स्येनाऽभिहितं—'भविष्यदर्थे प्रमाणाऽभावात्कुत्र मया गन्तव्यम्?। [3]तदुत्पन्ने यथाकार्यं तदनुष्ठेयम्'। तथा चोक्तम्—

'उत्पन्नामापदं यस्तु समाधत्ते स बुद्धिमान्।
वणिजो भार्यया जारः प्रत्यक्षे निह्नुतो यथा' ॥ ७ ॥

यद्भविष्यः पृच्छति—'कथमेतत्?'। प्रत्युत्पन्नमतिः कथयति—

पुरा=पूर्वकाले। (पहिले भी)। एवंविधेषु=ईदृशेषु। उपस्थितेषु=मत्स्याभिधार्थमागतेषु। भविष्यदर्थे=आगामिनि विषये। प्रमाणाभावात्=निश्चयाभावात्। तत्=तस्मात्। उत्पन्ने=भये समापतिते। यथाकार्यं=कार्यमनुसृत्य। प्रतिविधानं करणीयम्। समाधत्ते=दूरीकरोति। वणिजः=वैश्यस्य। प्रत्यक्षे=स्वपत्युः पुरतोऽपि। निह्नुतः=अपनीतः। (छिपा लिया)॥ ७॥

पहले भी इसी सरोवर में ऐसे ही धीवरों के आनेपर, यहाँ रहनेवाली तीन मछलियों ने भी विचार किया था। उनमें से अनागतविधाता नामकी एक मछली थी। उसने कहा कि—मैं अभी दूसरे जलाशयको जाती हूँ। ऐसा कह कर वह तो दूसरे तालाब में चली गई। दूसरी प्रत्युत्पन्नमति नाम की मछली ने विचार किया कि—होने वाले भावी कार्य में प्रमाण (निश्चय) न होने से अभी मैं कहा जाऊँ?। अतः समय पड़ने पर जैसा करना योग्य होगा वैसा ही करूँगी।

ऐसा ही कहा भी है—बुद्धिमान् वह है, जो आई हुई आपत्ति का तत्काल प्रतिकार करके उसे मिटा देवे। जैसे बनिये की स्त्री ने अपने पति के प्रत्यक्ष में भी जार (उपपति) को छिपा लिया था॥ ७॥

यद्भविष्य ने पूछा कि—यह कथा कैसे है?। प्रत्युत्पन्नमति कहने लगा कि—

---

१ 'एतस्मिन्नेव'। २ 'एवंविधेषु'। ३. 'तदुत्पन्ने कार्ये यथाकार्यमनुष्ठेयम्'।

३. वणिग्भार्याजारकथा ।

'पुरा[1] विक्रमपुरे समुद्रदत्तो नाम वणिगस्ति । तस्य[2] रत्नप्रभा नाम गृहिणी स्वसेवकेन सह सदा रमते । यतः—

'न स्त्रीणामप्रियः कश्चित्, प्रियो वाऽपि न विद्यते ।
गावस्तृणमिवाऽरण्ये प्रार्थयन्ते नवं नवम्' ॥ ८ ॥

अथैकदा सा रत्नप्रभा तस्य सेवकस्य मुखे चुम्बनं ददती समुद्रदत्तेनाऽवलोकिता[3] । ततः सा बन्धकी सत्वरं भर्तुः समीपं [4]गत्वाऽऽह—'नाथ ! एतस्य सेवकस्य महती निकृतिः । [5]यतोऽयं 'चौरिकां कृत्वा कर्पूरं खादती'ति मयाऽस्य मुखमाघ्राय ज्ञातम । तथा चोक्तम्—

गृहिणी = भार्या । रमते=सुरतसुखमनुभवति । नवं = नवीनं युवानम् । प्रार्थयन्ते=वाञ्छन्ति ॥ ८ ॥ बन्धकी=असती । ('छिनाल' 'कुलटा') । सत्वरं=त्वरितमेव । निकृतिः=शाठ्यम् (बड़ी दुष्टता है) । 'निर्वृत्ति'रिति मुद्रितः पाठस्तु

पहले विक्रमपुर में समुद्रदत्त नाम का एक वैश्य था, उसकी रत्नप्रभा नाम की स्त्री अपने सेवक से फंसी थी, और उसके साथ सदा रतिक्रीडा किया करती थी।

क्योंकि—स्त्रियों का न तो कोई सच्चा प्रिय है, और न कोई अप्रिय ही है। किन्तु जैसे गाय वनमें नई नई घास को ढूंढ ढूढ कर चरती है, वैसे ही स्त्रियाँ भी सदा नए नए पुरुषों को चाहती रहती हैं ॥ ८ ॥

कुछ काल बीतने पर किसी समय अपनी स्त्री उस रत्नप्रभा को किसी सेवक के मुख में चुम्बन देते हुए समुद्रदत्त ने देख लिया। तब वह कुलटा स्त्री झट अपने स्वामी के समीप जाकर बोली कि—हे नाथ ! देखिए, आपका यह सेवक बड़ा ही शठ (दुष्ट) है। क्योंकि—यह चोरी करके नित्य कपूर खाता है। मैंने अभी इसका मुँह सूँघकर यह बात जानी है।

१ 'अस्ति विक्रमपुरे' । २ 'तस्य रत्नप्रभानाम्नी वधूः केनाऽपि स्वसेवकेन समं सर्वदा रमते' । ३. 'आलोकिता' । ४ समीपमुपगम्य' । ५ 'यतोऽयं युष्मदर्थं नीयमानं कर्पूरमश्नाति । कर्पूरगन्धोऽस्य मुखे प्रत्यक्षं मयाऽऽघ्रातः' ।

'आहारो द्विगुणः स्त्रीणां, बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा ।
षड्गुणो व्यवसायश्च, कामश्चाऽष्टगुणः स्मृतः' ॥ ९ ॥

[1]तच्छ्रुत्वा सेवकेनापि [2]प्रकुप्योक्तं—'नाथ! यस्य स्वामिनो गृहे एतादृशी भार्या तत्र सेवकेन कथं स्थातव्यम्? । यत्र च प्रतिक्षणं गृहिणी सेवकस्य मुखं जिघ्रति !' । ततोऽसावुत्थाय चलितः । साधुना च यत्नात्प्रबोध्य धृतः । अतोऽहं ब्रवीमि-'उत्पन्नामापदम्' इत्यादि ॥ ॥

ततो यद्भविष्येणोक्तम्—

'यदभावि न तद्भावि, भावि चेन्न तदन्यथा' ।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते' ? ॥ १० ॥

न प्रकृतानुगुणः । (निर्वृतिः=सुखम् । सौख्यम्) । व्यवसायः= उद्यमः ॥९॥

जिघ्रति=गन्धमुपादत्ते । असौ=सेवकः । यदिति । 'यन्न भविष्यति, तन्नैव भविष्यति, यच्च भविष्यति, तन्नैव केनापि दूरीकर्तुं शक्यते' इत्ययं चिन्ता-व्याधिहरः-अगदः=भेषजम्, कुतो न लोकैः पीयते ? । अवश्यमिदं पेयम् ॥१०॥

जैसे किसी ने कहा भीहै—स्त्रियों का आहार पुरुषों से द्विगुण होता है, उनकी बुद्धि पुरुषों से चौगुनी होती है, पराक्रम उनका (उद्योग) छै गुना होता है और काम पुरुषों से आठ गुना होता है ॥ ९ ॥

यह सुन कर वह सेवक भी क्रोध करके बोला कि—हे स्वामिन्! जिस स्वामी के घर में ऐसी स्त्री है, जो प्रतिक्षण सेवकों का मुख ही सूँघती रहती है, वहाँ सेवकों का निर्वाह कैसे हो सकता है। ऐसा कहकर वह सेवक उठकर जाने लगा। तब उसवैश्य ने उसे बड़े यत्न से समझा-बुझाकर किसी तरह रक्खा। इसलिये मैं कहता हूँ कि-'विपत्ति आने पर जो उसका तत्काल समाधान कर सके, वही बुद्धि-मान् है' इत्यादि। यह सुनकर पुनः वह यद्भविष्य बोला कि—

जो नहीं होनेवाला है, वह कभी हो नहीं सकता है, और जो होनेवाला है, वह कभी टाला नहीं जा सकता है, अर्थात् वह होता ही है।—चिन्तारूप विष को मारने वाली यह औषधि क्यों नहीं पीते हो! ॥ १० ॥

१'तदाकर्ण्य' । २ 'उपक्रश्योक्तं'—यस्य गृहे ईदृशी' ।

ततः प्रातर्जालेन बद्धः प्रत्युत्पन्नमतिर्मृतवदात्मानं सन्दर्श्य स्थितः। ततो जालादपसारितो [1]यथाशक्त्युत्प्लुत्य गभीरं नीरं प्रविष्टः। यद्भविष्यश्च धीवरैः प्राप्तो, व्यापादितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'अनागतविधाता च' इत्यादि ॥ * ॥

तद्यथाऽहमन्यं ह्रदं प्राप्नोमि तथा[2] क्रियताम्।' हंसावाहतुः—'जलाशयाऽन्तरे प्राप्ते तव कुशलम्। स्थले गच्छतस्ते को विधिः?।' कूर्म आह—'यथाऽहं भवद्भ्यां सहाऽऽकाशवर्त्मना यामि, तथा[3] विधीयताम्। हंसौ ब्रूतः—'कथमुपायः सम्भवति'?। कच्छपो वदति—'युवाभ्यां चञ्चुधृतं काष्ठखण्डमेकं मया मुखेनाऽवलम्बितव्यम्। [4]ततश्च युवयोः पक्षबलेन मयाऽपि सुखेन गन्तव्यम्।' हंसौ ब्रूतः—'सम्भवत्येष उपायः'। किन्तु—

अपसारितः=धीवरैर्निष्कासितः। प्राप्ते=लब्धे सति तु। स्थले=भूमौ। विधिः=उपायः। आकाशवर्त्मना=गगनमार्गेण। सम्भवति=अस्त्ययमुपायः।

फिर प्रातःकाल जब वह प्रत्युत्पन्नमति जाल में फंस गया तो वह अपने को मरा हुआ सा दिखाता हुआ श्वास खींचकर पड़ गया। तब मछुवों ने उसे मरा हुआ जानकर जाल से निकालकर बाहर फेंक दिया। इसके बाद जाल से निकलने पर वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार वेग से उछलकर गहरे जल में जा घुसा और बच गया। परन्तु यद्भविष्य धीवरों से पकड़ा जाकर मारा गया। इसलिये मैं कहता हूँ कि—'अनागत विधाता और प्रत्युत्पन्नमति ये दोनों तो सुख से रहे, और यद्भविष्य मारा गया' इत्यादि। अतः जैसे मैं दूसरे तालाब में पहुँचूं, ऐसा कोई उपाय करो। तब हंस बोले दूसरे जलाशय में पहुँच जाने पर तो आपका कुशल है, पर भूमिमें चलते हुए पकड़े जाओगे तो आप के बचने का क्या उपाय है?। कच्छप बोला कि—'जैसे मैं भी आपके साथ आकाशमार्ग से जा सकूँ वैसा ही करो। हंस बोले कि—ऐसा क्या उपाय हो सकता है?। कछुआ बोला कि—तुम दोनों चोंच में काष्ठ का एक टुकड़ा पकड़ लेना और मैं उसको मुँह में ले लूँगा और इस प्रकार तुम्हारे पक्षों के बलसे मैं भी सुखसे चला जाऊँगा।' हंस बोले कि—यह उपाय हो तो सकता है।

१. 'अपसारितः स्थलादुत्प्लुत्य'। २ 'तदद्य'। ३. 'स उपायो विधीयताम्'। ४ 'अतो भवतोः पक्ष'।

'उपायं चिन्तयन्प्राज्ञो, [1]ह्यपायमपि चिन्तयेत् ।
पश्यतो बकमूर्खस्य नकुलैर्भक्षिताः प्रजाः[2]' ॥ ११ ॥

कूर्मः पृच्छति—'कथमेतत् ? ।' तौ कथयतः—

४. बक-नकुल-कथा ।

अस्त्युत्तरापथे [3]गृध्रकूटनाम्नि पर्वते महान्पिप्पलवृक्षः । तत्राऽनेके बका निवसन्ति । तस्य[4] वृक्षस्याऽधस्ताद्विवरे सर्पस्तिष्ठति । स च बकानां बालाऽपत्यानि खादति । अथ[5] शोकार्त्तानां विलापं श्रुत्वा, [6]केनचिद्वृद्ध-बकेनाऽभिहितम्[7]—'भो एवं कुरुत, यूयं मत्स्यानुपादाय[8], नकुलविवरा-दारभ्य सर्पविवरं यावत्पङ्क्तिक्रमेण [9]एकैकशो विकिरत । ततस्तदा-हारलुब्धैर्नकुलैरागत्य सर्पो द्रष्टव्यः, स्वभावद्वेषाद्व्यापादयितव्यश्च ।'

(हाँ, यह उपाय है तो, परन्तु) । प्राज्ञः = विद्वान् । अपायं=हानिमपि । प्रजाः= अपत्यानि । 'सुता' इति, 'बका' इति च बहुत्र पाठः ॥ ११ ॥ विवरे = बिले । विकिरत = विक्षिपत । (बखेर दो) । तदाहारलुब्धैः=मत्स्याऽऽमिषभोजनलुब्धैः ।

परन्तु-विद्वान् मनुष्य उपाय को सोचता हुआ अपाय (हानि) को भी पहिले ही सोचे । अपाय का विचार न करने से ही उस मूर्ख बगले के देखते हुए ही देखते नेवलों ने उनकी प्रजा (सन्तान) खा डाली थी ॥ ११ ॥

कछुए ने पूछा कि—यह कथा कैसे है ? । वे दोनों कहने लगे—

उत्तर दिशा में गृध्रकूट नामक पर्वत पर एक बड़ाभारी पीपल का वृक्ष है । उसपर बहुत से बगुले रहते थे । और उस वृक्ष के नीचे बिल में एक काला साँप भी रहता था । और वह सदा उनके बच्चों को खा जाता था । एक दिन उन दुःखी बगुलों का रोना सुन कर किसी बगुले ने कहा कि—ऐसा उपाय करो, तुम लोग मछलियों को लाकर नेवले के बिल से लेकर यहाँ साँप के बिल तक कतार बाँध-कर रख दो । फिर उसके खाने के लोभ से नेवलों यहाँ तक आ जाएंगे । और यहाँ साँप को देख कर स्वाभाविक वैर के कारण उसे मार डालेगें । तब बगुलों

१ 'स्वपायमपि' । २ 'बकाः' इति, 'सुताः' इति च पा० । ३ 'गृध्रकूटो नाम पर्वतः । तत्रैव रेवातीरे न्यग्रोधपादपे बका निवसन्ति' । ४. 'तस्य वटस्या' । ५ 'ततः शोका' । ६ 'केनचिद्बकेना' । ७ 'भिहितम्—एवं' । ८ 'मत्स्यानानीय' । ९ कचिन्न ।

तथाऽनुष्ठिते सति[1] तद् वृत्तम् ।

अथ नकुलैर्वृक्षोपरि बकशावकानां रावः श्रुतः । पश्चात्तैर्वृक्षमारुह्य, बकशावकाः खादिताः । अत आवां ब्रूवः—'उपायं चिन्तयन्'—इत्यादि ॥ * ॥

आवाभ्यां नीयमानं त्वामवलोक्य[2] लोकैः किञ्चिद्वक्तव्यमेव । यदि त्वमुत्तरं [3]दास्यसि, तदा त्वन्मरणम् । तत्सर्वथाऽत्रैव स्थीयताम् ।'

कूर्मो वदति—'किमहमप्राज्ञः[4], नाऽहमुत्तरं दास्यामि । न किमपि मया वक्तव्यम् ।' [5]तथाऽनुष्ठिते तथाविधं कूर्ममालोक्य, सर्वे गोरक्षकाः पश्चाद्धावन्ति, वदन्ति च । अहो ! [6]महदाश्चर्यं ! पक्षिभ्यां कूर्मो नीयते ।

तद्वृत्तं=नकुलैः सर्पभक्षणं कृतम् । पक्षिशावकानां=पक्षिडिम्भानाम् । रावः=आरवः । शब्दः । तैः=नकुलैः ।

किञ्चित्=उचितमनुचितं, प्रियमप्रियं वा । सर्वथा=सर्वतोभावेन । (चुप

के ऐसा करने पर वैसा ही हुआ । अर्थात् मछलियाँ रखने पर नेवले वहाँ आए और साँप को वहाँ देखकर उन्होंने उसे मार डाला । परन्तु उसी वृक्ष पर नेवलों ने बगुलों के बच्चों का शब्द भी सुन लिया । पीछे उन्होंने वृक्ष पर चढ़ कर उन बगुलों के बच्चों को भी खा लिया । इसीलिये मैं कहता हूँ कि—'पण्डित को चाहिए कि वह उपाय को सोचता हुआ अपाय (हानि) को भी सोचे' इत्यादि ।

अतः हम लोगों (हंसों) के साथ आकाश मार्ग से जाते हुए तुमको देख कर लोग कुछ जरूर ही कहेंगे । उसे सुनकर जो तुम उत्तर दोगे, तो उसी समय गिर पड़ोगे और मर जाओगे । अतः सब प्रकार से तुम्हारा यहीं रहना ही ठीक है । कछुआ बोला कि—'क्या मैं मूर्ख हूँ, जो उत्तर दूँगा । मैं उत्तर ही नहीं दूँगा । मैं कुछ भी न बोलूँगा । तब वे कछुवे को उसी प्रकार (काष्ठ द्वारा) ले जाने लगे । कछुए को वैसे ले जाते हुए देखकर, सब ग्वाले नीचे से उसके

१ क्वचिन्न । २ 'त्वां दृष्ट्वा' । ३ 'त्वमुत्तरं ददासि, तदा तव मरणं भविष्यति' । ४ 'तत्किमहमज्ञः' । ५. 'तत एवमनुष्ठिते' । ६ 'महदेवाश्चर्यं, पक्षिभ्यां कूर्मः समुह्यते' ।

[1]कश्चिद्वदति—'यद्ययं कूर्मः पतति, तदाऽत्रैव पक्त्वा खादितव्यः'। [2]कश्चिद्वदति—'सरसस्तीरे दग्ध्वा खादितव्योऽयम्।' कश्चिद्वदति—'गृहं नीत्वा भक्षणीयः' इति। [3]तद्वचनं श्रुत्वा स कूर्मः कोपाऽऽविष्टो विस्मृतपूर्वसंस्कारः प्राह—'युष्माभिर्भस्म भक्षितव्यम्'।—इति [4]वदन्नेव पतितस्तैर्व्यापादितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'सुहृदां हितकामानाम्' इत्यादि ॥ * ॥

अथ प्रणिधिर्बकस्तत्राऽऽगत्योवाच—'देव! प्रागेव मया निगदितं, 'दुर्गशोधनं हि प्रतिक्षणं कर्त्तव्य'मिति। तच्च युष्माभिर्न कृतं, तदनवधानस्य [5]फलमिदमनुभूतम्। [6]दुर्गदाहो मेघवर्णेन वायसेन गृध्रप्रयुक्तेन कृतः।' राजा निःश्वस्याऽऽह—

चाप होकर)। अज्ञः = मूर्खः। तद्वचनं = परुषवचनं, क्रूरवाक्यानि। विस्मृतसंस्कारः = विस्मृतस्वदशः, विस्मृतस्वप्रतिज्ञो वा।

दुर्गशोधनं = दुर्गपरीक्षणम्। तदनवधानस्य = मदुक्तोपेक्षणस्य। इदं = राज्यभङ्गादिकम्।

पीछे-पीछे दौड़ते हुए यों बात करने लगे। किसी ने कहा कि—'जो यह कछुआ गिर पड़े तो यहाँ ही हम इसे पका कर खा जावें। कोई बोला—'इसे हम इसी सरोवर पर भून कर खायेंगे। कोई बोला—इसे घर ले जाकर खाना चाहिये'।

उनकी ये सब बातें सुनकर वह कछुवा क्रोध में भरकर पहली बात भूलकर बोला कि—तुम सब खाक खाओ। यों कहते ही मुख में से लकड़ी छूट जाने से वह गिर पड़ा और उनसे मारा गया। इसीलिये मैं कहता हूँ कि—'जो मनुष्य हितचाहनेवाले मित्रों का वचन नहीं सुनता है, वह काष्ठ से गिरे कछुए के समान ही नष्ट हो जाता है' इत्यादि।

फिर गुप्तदूत बगुले ने वहाँ आकर कहा कि—हे देव! पहले ही मैंने कहा था, कि किले का शोधन प्रतिक्षण करना चाहिये। सो आपने नहीं किया, उसी अविचार का यह फल (पराजय) हुआ है। गिद्ध के भेजे हुए मेघवर्ण नामक कौवे

---

१ 'तत्र कश्चिदाह'। २ 'कोऽपि निगदति—गृहं नेतव्यः। कश्चिद्वदति—सरसःसमीपे पक्त्वा'। ३ 'तत्परुषवचनमाकर्ण्य क्रोधाद्विस्मृतसंस्कारः कूर्मोऽवदत्'। ४ 'वदन्नेव काष्ठात्पतितो गोरक्षकैः व्यापादितश्च'। ५ फलमनुभूतं'। ६ 'दुर्गदाहश्चायं मेघवर्णनाम्ना वायसेन'।

'प्रणयादुपकाराद्वा यो विश्वसिति शत्रुषु ।
स सुप्त इव वृक्षाऽग्रात्पतितः प्रतिबुध्यते' ॥ १२ ॥

अथ प्रणिधिरुवाच—इतो दुर्गदाहं विधाय, यदा गतो मेघवर्णस्तदा चित्रवर्णेन प्रसादितेनोक्तम्-'अयं मेघवर्णोऽत्र कर्पूरद्वीपराज्येऽभिषिच्यताम्' । तथा चोक्तम्—

'कृतकृत्यस्य भृत्यस्य कृतं नैव प्रणाशयेत् ।
फलेन, मनसा, वाचा, दृष्ट्या चैनं प्रहर्षयेत्' ॥ १३ ॥

प्रणयात्=स्नेहात् । उपकारात्=हिताचरणाद्वा, भ्रान्तः सन् यः शत्रुषु विश्वसिति, स पूर्वं वृक्षाग्रे सुप्तः-पश्चाच्च वृक्षाग्रात्पतितः सन् प्रतिबुध्यते । वृक्षाग्रे सुप्तस्य पतनमिव तस्य विनाशो ध्रुव इत्यर्थः ॥ १२ ॥ **प्रसादितेन**=परितोषितेन । अभिषिच्यतां=राज्ये स्थाप्यताम् । **कृतकृत्यस्य**=सम्पादितस्वाभिकार्यस्य । कृतम् =उपकारम् । न प्रणाशयेत्=न विस्मरेत् । किन्तु फलेन=पारितोषिकादिना । मनसा=हृदयेन, सौहार्देन । वाचा=प्रशंसावाक्यैश्च । प्रहर्षयेत्=तं कृतकार्यं भृत्यं सन्तोषयेत् ॥ १३ ॥

ने ही किले में अग्नि लगाई थी ।

तब वह राजा (राजहंस) लम्बी सांस लेकर बोला कि—

स्नेह से या उपकार करने से जो शत्रुओं पर विश्वास करता है, वह वृक्ष की शाखा पर सोने वाले की तरह वहाँ (वृक्ष) से गिर जाने पर ही जागता है । अर्थात् हानि उठाने के पीछे ही वह सावधान होता है ॥ १२ ॥

इसके अनन्तर वह गुप्तदूत बोला—जब मेघवर्ण यहाँ से दुर्ग जलाकर चित्रवर्ण के पास गया तब प्रसन्न होकर चित्रवर्ण ने कहा कि इस मेघवर्ण को यहाँ कर्पूरद्वीप के राज्य पर राजतिलक कर देना चाहिये ।

क्योंकि ऐसा कहा भी है—जिसने अपना काम अच्छी तरह से पूरा किया है, उस श्रेष्ठ सेवक के कार्य की उपेक्षा कभी नहीं करनी चाहिये । किन्तु उसे धन, प्रशंसावाक्य और कृपादृष्टि आदि से पूर्ण सन्तुष्ट करना चाहिए ॥ १३ ॥

चक्रवाको ब्रूते-'देव ! श्रुतं यत्प्रणिधिः कथयति' ? । राजा '[1]प्राऽऽह-ततस्ततः ? ।' प्रणिधिरुवाच-'ततः प्रधानमन्त्रिणा गृध्रेणाऽभिहितम्-'देव ! नेदमुचितं, प्रसादाऽन्तरं किमपि क्रियताम्' । यतः—

'[2]अविचारयतो युक्तिकथनं तुषखण्डनम् ।
नीचेषूपकृतं राजन्वालुकास्विव [3]मूत्रितम्' ॥ १४ ॥

महतामास्पदे नीचः कदाऽपि न कर्त्तव्यः । तथा चोक्तम्—

ततस्ततः=अग्रे किं जातं, यज्जातं तद्वद । प्रसादान्तरम्=अभिषेकातिरिक्तमनुग्रहान्तरम् । तुषखण्डनं=तुषावघातः, वृथा प्रयास इति यावत् । वालुकासु मूत्रितमिवाऽचिरविनाशीत्याशयः । अत्र-'अधिकारेण यो युक्तः कथं तस्यास्तस्यास्ति खण्डनम् । नीचेषूपकृतं राजन् बालुकास्विव मुद्रितम्' । इति क्वचित्पाठः । तत्र यः=पूर्वो राजादिः । तस्य-खण्डनं=प्रत्याख्यानम् । राज्यादवरोपणम् । मुद्रितम्=स्थापितम् । मुद्राप्रदानम् । बालुकायां मुद्राचिह्नं नैव स्थायि भवति, विशीर्णत्वात्तस्याः ॥ १४ ॥ आस्पदे=स्थाने ।

तब वह प्रधान मन्त्री चक्रवाक राजहंस से बोला—महाराज ! आपने गुप्त दूत बगुले की बात (मेघवर्ण की करतूत आदि) सुन ली जो यह गुप्तदूत कह रहा है ।

तब वह राजा बगुले से बोला-हाँ हाँ, कहो—फिर क्या हुआ ? । तब वह गुप्तदूत बोला—तब प्रधान मन्त्री गिद्ध ने फिर कहा कि—हे देव ! यह उचित नहीं है । इस मेघवर्ण को आप कोई दूसरा ही पुरस्कार दीजिये ।

क्योंकि-विचार रहित पुरुष के लिये कोई युक्तिसङ्गत बात कहना तुष (भुस्सी) के पीसने के समान ही निरर्थक है, और नीच पुरुष पर उपकार करना भी बालू में मूत्र करने से समान ही निष्फल (अस्थायी) है ॥ १४ ॥

और बड़ों के स्थान में नीच को कभी नहीं स्थापित करना चाहिये । अर्थात् बड़े का स्थान नीच पुरुष को कभी नहीं देना चाहिये ।

१. 'राजाऽऽह' । २ 'अधिकारेण यो युक्तः कथं तस्याऽस्ति खण्डनम्' । ३ 'मुद्रितम्' ।

'नीचः श्लाघ्यपदं प्राप्य स्वामिनं हन्तुमिच्छति ।
मूषिको व्याघ्रतां प्राप्य मुनिं हन्तुं गतो यथा' ॥ १५ ॥

चित्रवर्णः पृच्छति—'कथमेतत् ?' । मन्त्री कथयति—

५. मुनि-मूषिक-कथा ।

अस्ति गौतमस्य[1] महर्षेस्तपोवने महातपा नाम मुनिः । तत्र तेन[2] आश्रमसंनिधाने मूषिकशावकः काकमुखाद् भ्रष्टो दृष्टः । ततो [3]दयायुक्तेन तेन मुनिना नीवारकणैः संवर्द्धितः । [4]ततो बिडालस्तं मूषिकं

स्वामिनम् = उपकारप्रसक्तमपि राजादिकम् ॥ १५ ॥

शावकः = शिशुः । भ्रष्टः = पतितः । दयायुक्तेन = कारुणिकेन । पाठान्तरे स्वभावदयात्मना = स्वाभाविकदयालुनेत्यर्थः । नीवारकणैः = श्यामाकादितृण-

जैसा कहा भी है—नीच पुरुष उत्तम पद (प्रशंसा के योग्य पद) को पाकर भी अपने स्वामी को ही मारना चाहता है । जैसे वह चूहा व्याघ्र बनकर अपने को व्याघ्र बनाने वाले उस मुनि को ही मारने गया था ॥ १५ ॥

चित्रवर्ण बोला कि—यह कथा कैसे है ? । मन्त्री कहने लगा कि—

गौतम महर्षि के तपोवन में महातपा नाम के मुनि रहते थे । वहाँ उस आश्रम के पास मुनि ने कौवे के मुख से गिरे हुए एक चूहे के बच्चे को देखा । फिर स्वभाव ही से दयालु उस मुनि ने मुनियों के अन्न (तिन्नि के चावल आदि) के दानों से उसे पाला । उसके अनन्तर एक दिन एक बिलाव उस चूहे को खाने

१ 'अस्ति गौतमारण्ये महातपा नाम मुनिः । तेन आश्रम' । २. 'तेन मुनिना काकेन नीयमानो मूषिकशावको दृष्टः' । ३ 'स्वभावदयात्मना' । ४ 'तं च मूषिकं खादितुमनुधावन् बिडालो मुनिना दृष्टः । पश्चात् तपःप्रभावात्तेन मुनिना स मूषिको बलिष्ठो बिडालः कृतः । स बिडालः कुक्कुराद्बिभेति । ततोऽसौ कुक्कुरः कृतः । कुक्कुरस्य व्याघ्रान्महद्भयम् । तदनन्तरं स व्याघ्रः कृतः । अथ तं व्याघ्रमपि मुनिर्मूषिकनिर्विशेषं पश्यति । अतः सर्वे तत्रस्था जनास्तं व्याघ्रं दृष्ट्वा वदन्ति-अनेन मुनिना मूषिकोऽयं व्याघ्रतां नीतः ।' पाठा० ।

खादितुमुपधावति । तमवलोक्य मूषिकस्तस्य मुनेः क्रोडे प्रविवेश । ततो मुनिनोक्तम्–'मूषिक ! त्वं मार्जारो भव ।' ततः स बिडालः कुक्कुरं दृष्ट्वा पलायते । ततो मुनिनोक्तम्–'कुक्कुराद्बिभेषि, त्वमेव कुक्कुरो भव' । स च कुक्कुरो व्याघ्राद्बिभेति । ततस्तेन मुनिना कुक्कुरो व्याघ्रः कृतः ।

अथ तं व्याघ्रं मुनिर्मूषिकोऽयमिति पश्यति । अथ तं मुनिं, व्याघ्रञ्च दृष्ट्वा सर्वे वदन्ति—'अनेन मुनिना मूषिको व्याघ्रतां नीतः' ।

एतच्छ्रुत्वा [1]सव्यथो व्याघ्रोऽचिन्तयत्–'यावदनेन मुनिना स्थीयते, तावदिदं मे स्वरूपाऽऽख्यानमकीर्तिकरं न पलायिष्यते' ।—[2]इत्यालोच्य मूषिकस्तं मुनिं हन्तुं गतः । ततो मुनिना तज्ज्ञात्वा 'पुनर्मूषिको भवे'-त्युक्त्वा मूषिक एव कृतः । अतोऽहं ब्रवीमि–'नीचः श्लाघ्यपदं प्राप्य'

धान्यकणैः । संवर्द्धितः = पालितः । सः=मूषकः । सव्यथः=दुःखितः । स्वरूपाख्यानं= मत्स्वरूपपरिचायकमाख्यानम् । अकीर्तिकरं = अयशस्करम् । चिकीर्षितं=

दौड़ा । यह देखकर वह चूहा डरके मारे उस मुनि की गोद में जा घुसा । तब मुनि बोले कि—अरे चूहे ! तूं बिलाव हो जा । तब वह बिडाल हो गया । बिलाव होते ही वह कुत्ते को देखकर डरके मारे भागने लगा । तब मुनि बोले कि—'जो तूं कुत्ते से डरता है, तो तूं भी कुत्ता हो जा' । तब वह कुत्ता हो गया । तब वह कुत्ता व्याघ्र (बाघ) से डरने लगा । तब फिर मुनि ने उस कुत्ते को व्याघ्र बना दिया । परन्तु मुनिकी दृष्टिमें तो वह व्याघ्र चूहा ही था । इसके बाद उस मुनि को और उस व्याघ्र को देखकर सब लोग कहते थे कि–देखो, इस मुनि ने इस चूहे को व्याघ्र बना दिया है । यह सुनकर उस व्याघ्र (चूहे) ने व्यथित होकर सोचा कि—जब तक यह मुनि जीते रहेंगे तब तक मेरे इस व्याघ्र रूप का अपयश करने वाला यह अपवाद भी कभी दूर नहीं होगा । यह सोचकर वह चूहा (जो अब मुनि की कृपा से व्याघ्र योनि में था) उस मुनि को ही मारने दौड़ा । तब मुनि ने यह जान कर–'तूं फिर चूहा हो जा' ऐसा कहकर उसे फिर चूहा ही बना दिया । इसी लिए मैं कहता हूँ कि–'नीच पुरुष प्रशंसनीय पद पाकर भी अपने स्वामी को

१ 'स व्याघ्रः स व्यथोऽचिन्तयत्–'यावदनेन मुनिना 'जीवितव्यं तावदिदं मम' । २ 'इति समालोच्य मुनिं हन्तुं समुद्यतः । मुनिस्तस्य चिकीर्षितं ज्ञात्वा पुनर्मूषिको भव' पा० ।

इत्यादि ॥ ॥

अपरञ्च देव[1]—'सुकरमिद'मिति न मन्तव्यम् । शृणु—

'भक्षयित्वा बहून्मत्स्यानुत्तमाऽधममध्यमान् ।
[2]अतिलोभाद्बकः पश्चान्मृतः कर्कटकग्रहात्' ॥ १६ ॥

चित्रवर्णः पृच्छति—'कथमेतत् ?' । मन्त्री कथयति—

६. बक-कर्कट-कथा ।

अस्ति[3] मालवविषये पद्मगर्भाऽभिधानं सरः । तत्रैको[4] वृद्धो बकः सामर्थ्यहीन उद्विग्नमिवाऽऽत्मानं दर्शयित्वा स्थितः । स च केनचित्कुलीरेण दूरादेव[5] दृष्टः, पृष्टश्च—'किमिति भवानत्राऽऽहारत्यागेन तिष्ठति' ? ।

मनोरथम् । इदं=मेघवर्णस्य राज्ये स्थापनम् । उत्तमाः=महान्तः । अधमाः=क्षुद्राः । पाठान्तरे—अतिलौल्यात्=अतिलोभादित्यर्थः । कर्कटकग्रहात्=कर्कटग्रहणात् । (केकड़े को पकड़ने से) । पाठान्तरे—कर्कटसंग्रहात्=कर्कटाऽऽदानात्—इत्यर्थः ॥ १६ ॥

विषये=देशे । पद्मगर्भाऽभिधानं=पद्मगर्भनामधेयम् । सरः=सरोवरः ।

ही मारना चाहता है' इत्यादि । और भी 'इसको राजा बना देना यह बात सहज है',—ऐसा कभी नहीं मानना चाहिए । क्योंकि सुनिए, ऐसा करने पर हमारा वही हाल होगा जैसे एक बगुला बड़ी छोटी एवं मध्यम प्रकार की बहुत सी मछलियों को खाकर भी अतिलोभ से केकड़े के हाथ से मारा गया था ॥ १६ ॥

चित्रवर्ण ने पूछा कि—'यह कथा कैसे है ?' । मन्त्री कहने लगा ।

मालव देश में पद्मगर्भ नाम का एक सरोवर है । वहाँ एक बूढ़ा बगुला सामर्थ्यरहित होने से दुःखी के समान उदास होकर चुपचाप ढंग बनाकर बैठा था । उसे किसी केकड़े ने दूर से ही देखा और पूछा कि—आप यहाँ इस तरह

---

१. 'कच्चिन्न । २ 'अतिलौल्याद्बको मूर्खो मृतः कर्कटसंग्रहात्' । ३ 'मालवदेशे पद्मगर्भनामधेयं' । ४ 'वृद्धबकः' । ५ 'कुलीरेण दृष्टः' ।

बकेनोक्तम्—'मत्स्या मम जीवनहेतवः। [1]ते 'कैवर्तैरागत्य व्यापाद-यितव्या'-इति वार्त्ता नगरोपान्ते मया श्रुता। [2]अतो 'वर्त्तनाऽभावादेवाऽस्मन्मरणमुपस्थितमिति ज्ञात्वाऽऽहारेऽप्यनादरः कृतः। [3]ततो मत्स्यैरालोचितम्—इह समये तावदुपकारक एवाऽयं [4]लक्ष्यते, तदयमेव यथा-कर्त्तव्यं पृच्छ्यताम्। तथा चोक्तम्—

'उपकर्त्राऽरिणा सन्धिर्न मित्रेणाऽपकारिणा।
उपकारा-ऽपकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः' ॥ १७ ॥

(झील)। समार्थ्यहीनः=भोजनोपार्जनशक्तिरहितः। कुलीरकः = कर्कटः। कैवर्त्तैः= धीवरैः। वर्त्तनाऽभावात्=जीविकाविच्छेदात्। उपकारकः = सहायकः। यथाकर्त्तव्यम् = अवसरोचितं करणीयम्।

अरिणा = शत्रुणा। सन्धिः = मेलनम् (मेल)। हि = यतः, एतयोः= शत्रुमित्रयोः। लक्षणं=चिह्नम्। लक्ष्यं=ज्ञेयम्। उपकर्त्ता हि—मित्रापदाभिधेयः, अपकर्त्ता च शत्रुरित्याशयः ॥ १७ ॥

भोजन छोड़कर क्यों बैठे हैं ?। तब वह बगुला बोला कि-'मछली ही मेरे जीवन का आधार हैं, और उन्हें धीवर लोग कल यहाँ आकर मारेंगे, यह बात मैंने नगर के पास मछुवों की बातों से सुनी है। इसलिए वृत्ति के (मछलियों के) न रह जाने से मेरी भी मृत्यु उपस्थित हुई है, यही जानकर मैंने अभी से भोजन छोड़ दिया है। तब मछलियों ने सोचा कि—'इस समय तो यह उपकारी ही दीखता है, इसलिये इसी से हम पूछें कि—हमें क्या करना चाहिए।

जैसा कहा है भी कि—उपकारी शत्रु से भी सन्धि करे परन्तु अपकारी मित्र से भी कभी सन्धि न करे। क्योंकि इन दोनों (मित्र और शत्रु) के उपकार और अपकार ये ही दो वास्तव में लक्षण हैं ॥ १७ ॥

---

१ 'मत्स्याश्चाऽत्राऽवश्यमेव कैवर्तैर्व्यापादयितव्या इति नगरोपान्ते कैवर्त्तालाप आकर्णित'। २ 'तदितो वर्तना'। ३. 'ततः सर्वैर्मत्स्यैः'। ४ 'लक्ष्यतेऽस्माकम्'।

मत्स्या ऊचुः—'भो बक ! कोऽत्र [1]'अस्माकं रक्षणोपायः' ? । बको ब्रूते—'अस्ति रक्षणोपायो जलाऽऽशयान्तराऽऽश्रयणम् । तत्राऽहमेकैकशो युष्मान्नयामि' । [2]मत्स्या आहुः—'एवमस्तु ।' ततोऽसौ [3]दुष्टबकस्तान्मत्स्यानकैकशो नीत्वा[4] खादति । अनन्तरं कुलीरस्तमुवाच—'भो बक, मामपि तत्र नय ।' ततो बकाऽप्यपूर्वकुलीरमांसार्थी साऽऽदरं तं नीत्वा स्थले धृतवान् । कुलीरोऽपि मत्स्यकण्टकाऽऽकीर्णं [5]तत्स्थलमालोक्याऽचिन्तयत्—'हा हतोऽस्मि मन्दभाग्यः । भवतु । इदानीं समयोचितं [6]व्यवहरिष्यामि' । यतः—

'तावद्भयेन[7] भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतन्तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्त्तव्यमभीतवत्' ॥ १८ ॥

स्थले=वध्यस्थले । मत्स्यकण्टकाकीर्णां=मीनाऽस्थिकण्टकपरिपूर्णाम् । मन्दभाग्यः=हतभाग्यः । अभीतवत्=निर्भयोभूत्वा । प्रहर्त्तव्यं=प्रतीकारःकरणीयः ॥

तब मछलियाँ बोलीं—'हे बक ! इस विपत्ति से हमारी रक्षा का उपाय कौन सा है ? । तब वह बगला बोला कि—'रक्षा का उपाय तो यहाँ से किसी दूसरे जलाशय में जाना ही है । और मैं तुम में से एक एक को वहाँ पहुँचा भी दूँगा ।' तब सब मछलियाँ बोलीं कि—अच्छा, ऐसा ही करो । फिर वह बगला उन मछलियों में से एक एक को ले जाकर मार्ग में कहीं खाजाता था ।

कुछ समय के बाद एक दिन केकड़ ने भी उससे कहा कि—'हे बक ! मुझे भी वहाँ ले चलो ।' तब—पहले कभी न खाया ऐसे केकड़े के मांस को चाहनेवाले उस बगले ने आदरपूर्वक उसे ले जाकर उस वध्य भूमि में रक्खा । केकड़ा भी उस भूमि में मछलियों के काँटों (हड्डियों) को इधर उधर पड़े हुए देखकर सोचने लगा कि—'हाय ! मैं मन्दभागी मारा गया । अच्छा जो हो सो हो, अब समय के अनुसार ही कार्य (उपाय) करूँगा । क्योंकि तभी तक भय से डरना

१ 'कोऽत्र रक्षणोपायः' । २ 'मत्स्यैरपि मयादुक्तम्—'एवमस्तु' इति' । ३ 'ततोऽसौ बक' । ४ नीत्वा कस्मिंश्चिद्देशे खादित्वा पुनरागत्यवदति—ते मया जलाशयान्तरे स्थापिताः ('प्रापिताः') । ५. 'कीर्णां भूमिं दृष्ट्वाऽचिन्तयत्' । ६ 'व्यवहरामि' । ७ 'भयात्तु' ।

[1]किञ्च—

'अभियुक्तो यदा पश्येन्न किञ्चिद्गतिमात्मनः[2] ।
युध्यमानस्तदा प्राज्ञो म्रियेत रिपुणा सह' ॥ १९ ॥

—इत्यालोच्य स कुलीरकस्तस्य [3]बकस्य ग्रीवां चिच्छेद । [4]अथ स बकः पञ्चत्वं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि—'भक्षयित्वा बहून्मत्स्यान्' इत्यादि ॥ ॐ ॥

[5]ततश्चित्रवर्णोऽवदत्—'शृणु तावन्मन्त्रिन् ! मयैतदालोचितम्—(-अस्ति[6]-) यद्—अत्राऽवस्थितेनाऽनेन मेघवर्णेन राज्ञा यावन्ति वस्तूनि कर्पूरद्वीपस्योत्तमानि तावन्त्यस्माकमुपनेतव्यानि । [7]तेनाऽस्माभिर्महासुखेन विन्ध्याचले स्थातव्यम्' । दूरदर्शी विहस्याऽऽह—'देव !

अभियुक्तः=परैराक्रान्तः ॥ १९ ॥ आलोचितं = विचारितम् । अत्र = कर्पूरद्वीपे । उपनेतव्यानि = उपढौकितव्यानि । ('भेंट दिया करेगा', 'भेजता रहेगा') ।

चाहिए, जब तक भय आवे नहीं । परन्तु भय को सिर पर आया हुआ देखकर तो पुनः निर्भय चित्त होकर उस पर प्रहार (प्रतीकार) ही करना चाहिए ॥१८॥

और भी—जब आक्रान्त मनुष्य अपनी दूसरी गति न देखे तो शत्रु से लड़ता हुआ ही अपने प्राण त्याग करे—इसी में बुद्धिमानी है ॥ १९ ॥

यह सोच कर केकड़े ने उस बगले की गर्दन काट डाली, जिससे वह बगला मर गया । इसलिये मैं कहता हूँ कि—'बहुत सी मछलियों को खाकर भी लोभ से वह बगला केकड़े के हाथ से मारा गया' इत्यादि ।

तब वह चित्रवर्ण बोला कि—हे मन्त्रिन् ! सुनिये, मैंने तो यह सोचा है कि—यह मेघवर्ण यहाँ का राज्य करता हुआ जितनी उत्तम उत्तम वस्तु कर्पूरद्वीप की होंगी, उन सबको हमारे पास पहुँचाया करेगा, इससे हम विन्ध्याचल में बड़े सुख से रहेंगे । तब दूरदर्शी हँसकर बोला कि—हे देव !

१ 'अपरंच' । २ 'किञ्चिद्धितमात्मनः' । ३ 'तस्य ग्रीवां' । ४ 'अथे'ति क्वचिन्न' । ५ 'ततः पुनरपि स राजा चित्रवर्णोऽब्रवीत्—शृणु तावन्महामन्त्रिन् !' । ६ क्वचिन्न । ७. 'तेन महता विलासेन अस्माभिर्विन्ध्याचले' ।

'अनागतवतीं चिन्तां कृत्वा यस्तु प्रहृष्यति ।
स तिरस्कारमाप्नोति भग्नभाण्डो द्विजो यथा' ॥ २० ॥

राजाऽऽह—'कथमेतत् ?' । [1]मन्त्री कथयति—

७ ब्राह्मण—सक्तु शराव—कथा ।

अस्ति[2] देवीकोट्टनाम्नि नगरे देवशर्मा नाम ब्राह्मणः । तेन महाविषुवत्सङ्क्रान्त्यां [3]सक्तुपूर्णशराव[4] एकः प्राप्तः । [5]ततस्तमादायाऽसौ [6]कुम्भकारस्य भाण्डपूर्णमण्डपैकदेशे रौद्रेणाऽऽकुलितः सुप्तः । ततः सक्तुरक्षार्थं हस्ते [7]दण्डमेकमादायाऽचिन्तयत्—'यद्यहं सक्तुशरावं विक्रीय दश कपर्दकान्प्राप्स्यामि, [8]तदाऽत्रैव तैः कदर्पकैर्घटशरावादिक-

अनातगवतीम्=अनागतविषयिणीम् । प्रहृष्यति=मोदते ॥ २० ॥ 'देवकोटे'ति पाठान्तरम् । महाविषुवसङ्क्रान्तौ=प्रायो वैशाखमासे, मेषसङ्क्रान्तिदिने । (सतुवा-सङ्क्रान्ति)। शरावः=वर्धमानकः । ('सरइ' 'परइ' 'पुरवा') । भाण्डपूर्णमण्डपैकदेशे = भन्द्राण्डपूर्णगृहकोणे । रौद्रेण = घर्मेण । 'रौद्रो घर्मे रसे, चण्ड्यां स्त्री, तीव्रे भीषणे त्रिषु' इति मेदिनी । (रौद्र='रौंदा' 'घाम' 'धूप') । कपर्द-

जो मनुष्य भविष्य की चिन्ता करके मनोमोदकों से ही प्रसन्न होता है, वह उसी तरह अनादर और क्लेश पाता है, जैसे कुम्हार के वर्तन फूट जाने से उस ब्राह्मण ने अनादर पाया था ॥ २० ॥

राजा बोला कि—यह कथा कैसे है ? । मन्त्री कहने लगा—

देवीकोट्ट नामक नगर में देवशर्मा नाम का एक ब्राह्मण रहता था । उसने मेष की संक्रान्ति को सत्तू से भरा हुआ एक मिट्टी कसोरा पाया । वह उसे लेकर एक बर्तनों से भरे हुए कुम्हार के घर के एक कोने में धूप से व्याकुल होकर आकर सो गया । फिर सत्तू की रक्षा के लिए हाथ में डण्डा लेकर वह सोचने लगा कि—जो मैं इस सत्तू के सिकोरे को बेचकर दश कौड़ी पाऊँगा, तो उन कौड़ियों

१ 'दूरदर्शी कथयति' । २ 'देवकोट्ट' । ३ 'सङ्क्रान्तौ' । ४ 'शरावः प्राप्तः' । ५ 'तमादायासौ' । ६ 'भाण्डपूर्ण—कुम्भकारमण्डपिकायां' । ७ 'दण्डमादाय' । ८ प्राप्नोमि' ।

मुपक्रीयाऽनेकधा वृद्धैस्तद्धनैः[१] पुनः पुनः पूगवस्त्रादिकमुपक्रीय, विक्रीय, [२]लक्षसङ्ख्यानि धनानि कृत्वा, विवाहचतुष्टयं करिष्यामि[३] । [४]अनन्तरं तासु स्वपत्नीषु या रूपयौवनवती तस्यामधिकाऽनुरागं [३]करिष्यामि । [५]सपत्न्यो यदा द्वन्द्वं करिष्यन्ति, तदा कोपाऽऽकुलोऽहं ताः[६] सर्वा लगुडेन ताडयिष्यामी'त्यभिधाय तेन लगुडः प्रक्षिप्तः । तेन सक्तुशरावश्चूर्णितो, भाण्डानि च बहूनि भग्नानि । [७]ततस्तेन शब्देनाऽऽगतेन कुम्भकारेण तथाविधानि भाण्डान्यवलोक्य, ब्राह्मणस्तिरस्कृतो, मण्डपाद्बहिष्कृतश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—'अनागतवतीं चिन्ताम्' इत्यादि ॥ ३६ ॥

कान् = काकिणीः । (कौडी) । अनेकधा = वारं वारं-क्रयविक्रयादिव्यवहारेण । तद्धनैः = तन्मूल्यलब्धैर्धनैः । पूगवस्त्रादिकं = द्वीपान्तरानीतपूगीफलवस्त्रादिकम् । समुदितं वस्त्रादिकमिति वार्थः । द्वन्द्वं = कलहम् । चूर्णितः = भग्नः । भाण्डानि = कुलालभाण्डानि । (वर्त्तन) । तेन शब्देन = भग्नभाण्डशब्देन । क्वचित्तथैव पाठः । तथाविधानि = भग्नानि । तिरस्कृतः = कटुवाक्यं श्रावितः । धिक्कृतः ।

से यहाँ ही से घड़े, सकोरे आदि खरीद लूँगा, और उन्हें बेच-बेचकर उससे अनेक प्रकार से बढ़े हुए द्रव्य से बारबार सुपारी, कपड़े आदि लेकर, उसे बेचकर लाखों रुपये कमाकर चार विवाह करूँगा । फिर उन चारों स्त्रियों में से जो रूपवती तथा युवती होगी, उससे ही मैं अधिक प्रेम करूँगा । और जब वे सब सपत्नियाँ (सौत) आपुस में लड़ाई करेंगी, तब मैं क्रोध में भरकर उन्हें लाठी से मारूँगा, ऐसा विचारकर ज्यों ही उसने लाठी मारी, त्यों ही वह सत्तू का कसोरा चूर चूर हो गया और कुम्हार के बहुत से बर्तन भी फूट गये । इसके बाद उस शब्द को सुनकर कुम्हार भी वहाँ आ गया और इस प्रकार अपने बर्तनों को टूटा हुआ देख कर उस ब्राह्मण का अनादर कर उसे मण्डप से बाहर निकाल दिया । इसलिये मैं कहता हूँ कि—'भविष्य की वृथा चिन्ता को जो करता है—इत्यादि ।

१. 'तैर्धनैः' । २ 'वाणिज्यं कृत्वा लक्षसङ्ख्यकधनान्युत्पाद्य' । ३ 'करोमि' । ४ 'ततस्तासु या' । ५ 'तदनन्तरं सञ्जातेर्ष्यास्ताः सपत्न्यो यदाऽन्योन्यं' । ६ 'ता लगुडेन' । ७ 'ततो भग्नभाण्डशब्दश्रवणादागत्य कुम्भकारेण गले हस्तं दत्वा ब्राह्मणस्तिरस्कृतो, मण्डपिकाया बहिष्कृतश्च' ।

ततो राजा रहसि गृध्रमुवाच—'तात ! यथा कर्त्तव्यं तथोपदिश।' गृध्रोब्रूते[1]—

'मदोद्धतस्य नृपतेः प्रकीर्णस्येव दन्तिनः।
गच्छन्त्युन्मार्गयातस्य नेतारः खलु वाच्यताम्' ॥ २१ ॥

'शृणु देव ! किमस्माभिर्बलदर्पाद् दुर्गं भग्नम् ?, उत[2] तव प्रतापाऽधिष्ठितेनोपायेन ? ।' राजाऽऽह—'भवतामुपायेन।' गृध्रो ब्रूते—'यद्यस्मद्वचनं क्रियते, तदा स्वदेशे गम्यताम्। अन्यथा [3]वर्षाकाले प्राप्ते [4]पुनस्तुल्यबलेन विग्रहे सत्यस्माकं परभूमिष्ठानां स्वदेशगमनमपि दुर्लभं

रहसि = एकान्ते। उपदिश = वद। मदोद्धतस्य = उन्मत्तस्य। प्रकीर्णस्य = मदाकुलस्य, मदप्रभिन्नगण्डस्थलस्य। मदोन्मत्तस्य। उन्मार्गयातस्य=कुपथप्रवृत्तस्य। दन्तिनः=हस्तिनः। नेतारः=उपदेष्टारो मन्त्रिणो, महामात्राश्च (महावत)। वाच्यतां= निन्दनीयताम् ॥ २१ ॥ बलदर्पात्=पराक्रमोपष्टम्भात्। प्रतापाधिष्ठितेन = प्रतापोद्दलितेन। तुल्यबलेन = समानबलेन। विग्रहे = युद्धे। परभूमिष्ठानां =

तब राजा एकान्त में गिद्ध से बोला—हे तात ! तो फिर यहाँ जैसा करना चाहिये, वैसा आप ही उपदेश करिए। तब वह गिद्ध बोला कि—

मदसे मतवाले गज के उपद्रव करने पर जैसे उसके महावत ही दोषी होते हैं, उसी तरह मत्त हाथी के समान मद से उद्धत, कुमार्ग में जाने वाले राजा के भी नायक (मन्त्री आदि) जगत् में निश्चय ही निन्दा को पाते हैं ॥ २१ ॥

और हे देव ! सुनिये। क्या हमने अपने बल के घमण्ड से ही इस किले को तोड़ा है ?, या आपके प्रताप से अधिष्ठित उपाय से ही तोड़ा है ?। राजा बोला कि—'आपके उपाय से ही यह किला टूटा है।' तब गिद्ध बोला यदि हमारा वचन आप मानते हैं, तो इस राजा से सन्धि करके स्वदेश (अपने नगर) को चलिए। नहीं तो वर्षा समय में समानबल शत्रु से युद्ध होने पर पराई भूमि में

१ 'वदति'। २. 'किं वा भवतः प्रतापा'। ३ 'आसन्ने वर्षाकाले'। ४क्वचिन्न।

भविष्यति। 'तत्सुखशोभार्थं सन्धाय गम्यताम्। दुर्गं भग्नं, कीर्त्तिश्च लब्धैव'। मम संमतं तावदेतत्'। यतः—

'यो हि धर्मं पुरस्कृत्य हित्वा भर्त्तुः प्रियाऽप्रिये[2]।
अप्रियाण्याह [3]पथ्यानि, तेन राजा सहायवान्' ॥ २२ ॥

[4]अन्यच्च—

'सुहृद्बलं, तथा राज्यमात्मानं, कीर्त्तिमेव च।
युधि सन्देहदोलास्थं को हि कुर्यादबालिशः' ? ॥ २३ ॥

शत्रुप्रदेशस्थितानाम्। सुखशोभार्थम्=आत्मनः सुखाय, कीर्त्यै च। 'मुखशोभार्थं'-मिति तु गौडाः पठन्ति। सन्धाय = सन्धिं कृत्वा। एतत् = पूर्वोक्तम्।

'भर्त्तुरिदं प्रियम्' इति, 'भर्त्तुरिदमप्रिय'मिति च। विचारं त्यक्त्वा। धर्मं=नीतिं, न्यायम्। पुरस्कृत्य = आश्रित्य, अप्रियाण्यपि = कटून्यपि। पथ्यानि = हितावहानि,वाक्यानि य आह–तेन–अमात्यादिना, राजा–सहायवान्=सहायान्वितो भवति, न तु चाटुकारेण, राजप्रियेणामात्यादिना॥ २२ ॥

सुहृद्बलं = मित्रराजबलम्। राज्यं = स्वराज्यम्। कीर्त्तिं = स्वकीर्त्तिम्। सन्देह-दोलास्थं = संशयदोलारूढम्। (दोला = झूला)। अबालिशः=पण्डितः ॥२३॥

रहनेवाले हम लोगों को अपने देश में जाना भी कठिन हो जाएगा, इसलिये अपने मुख की लाली और अपनी प्रतिष्ठा को ध्यान में रखते हुए यहाँ से सन्धि करके शीघ्र ही अपने देश को लौट चलना चाहिये। गढ़ तो तोड़ ही लिया और कीर्ति भी मिल गई। अतः मेरी तो अब यही सलाह है।

क्योंकि—जो धर्म को आगे रख करके, स्वामी के प्रिय को छोड़ कर, अप्रिय होने पर भी, यथार्थ ही वचन कहे, उस मन्त्री से ही राजा सहायवाला होता है। अर्थात् ऐसे मंत्री से ही राजा को बड़ा सहारा मिलता है, जो नीति युक्त सच्ची बात कहे ॥ २२ ॥

और—युद्ध में पड़कर—मित्र, सेना, राज्य, कीर्ति और अपने आप को कौन बुद्धिमान् पण्डित सन्देहरूप दोला (डोला) में डालेगा ? ॥ २३ ॥

---

१ 'मुखशोभा'। २ 'प्रियाऽप्रियम्'। ३ 'तथ्यानि'। ४. अपरञ्च–सन्धि-मिच्छेत्। २१। अन्यच्च– सुहृद्बलं तथा। २४।' पा०।

अपरञ्च—

'सन्धिमिच्छेत्समेनाऽपि, सन्दिग्धो विजयो युधि ।

नहि संशयितं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः' ॥ २४ ॥

अपिच—

'युद्धे विनाशो भवति कदाचिदुभयोरपि ।

सुन्दोपसुन्दावन्योन्यं 'नष्टौ तुल्यबलौ न किम्' ? ॥ २५॥

राजोवाच—'कथमेतत् ?' मन्त्री कथयति—

८. समबलसुन्दोपसुन्ददैत्यकथा ।

पुरा दैत्यौ [२]सहोदरौ सुन्दोपसुन्दनामानौ महता [३]कायक्लेशेन त्रैलोक्यराज्यकामनया[४] चिराच्चन्द्रशेखरमाराधितवन्तौ । ततस्तयोर्भगवान्-

समेन=तुल्यबलेनापि, न तु अधिकबलेनैव । यतः—युधि विजयः—सन्दिग्धः—अनिश्चितः । सन्दिग्धं कर्म न कुर्यादिति च बृहस्पतेर्नीतिः ॥ २४ ॥

उभयोः=युध्यमानयोर्द्वयोरपि । किं न हतौ । किन्तु हतावेव ॥२५ ॥ सहोदरौ=भ्रातरौ । कायक्लेशेन = तपसा । कामना = इच्छा । चन्द्रशेखरं = शशिशेखरं ।

और भी—युद्धमें विजय संदिग्ध होने के कारण अपने बराबर वाले से भी सन्धि (मेल) करे, क्योंकि सन्दिग्ध कार्य कभी नहीं करना चाहिए—यही बृहस्पति का मत है ॥ २४ ॥

और भी—युद्ध में कभी कभी दोनों पक्ष भी मारे जाते हैं । क्या एक दूसरे के तुल्य बलवाले सुन्द और उपसुन्द नामक दैत्य आपस में लड़कर नष्ट नहीं हुए थे । अर्थात् जैसे वे दोनों मेल न करने से बराबर बली होने के कारण युद्ध में नष्ट हो गये थे वैसे ही वह भी नष्ट हो जाता है ॥ २५ ॥

राजा बोला कि—यह कथा कैसे है ? । मन्त्री कहने लगा—

प्राचीन समय में सहोदर भाई सुन्द और उपसुन्द नाम के दो दैत्यों ने त्रिलोकी के राज्य की इच्छा से बड़े कष्ट से बहुत समय तक शिवजी की पूजा

१ 'समवीर्यौ हता न किम्' । २. 'महोदरौ' । ३ 'महता क्लेशेन' । ४, त्रैलोक्यकामनया' ।

परितुष्टः [1]सन् 'वरं वरयतम्' इत्युवाच । अनन्तरं तयोः [2]कण्ठाऽधिष्ठितायाः सरस्वत्याः प्रभावात्तावन्यद्वक्तुकामावन्यदभिहितवन्तौ- 'यद्यावयोर्भवान्परितुष्टस्तदा स्वप्रियां पार्वतीं परमेश्वरो ददातु ।'

अथ भगवता क्रुद्धेन वरदानस्याऽऽवश्यकतया, [3]विचारमूढयोः पार्वती प्रदत्ता । ततस्तस्या रूपलावण्यलुब्धाभ्यां, जगद्घातिभ्यां, मनसोत्सुकाभ्यां, पापतिमिराभ्यां, 'ममे'त्यन्योन्यं कलहायमानाभ्यां 'प्रमाणपुरुषः कश्चित्पृच्छ्यता' मिति मतौ कृतायां, स एव भट्टारको वृद्धद्विजरूपः

शिवम् । भगवान्=परमेश्वरः । वरयतं=गृह्णीतम् । याचेथामिति वा । स्वप्रियां=स्वभार्याम् । मूढतया=किङ्कर्त्तव्यविमूढतया । विचारमूढयोरितिपाठे—मूर्खयोरित्यर्थः । जगद्घातिभ्यां=जगत्पीडकाभ्यां दैत्याभ्याम् । उत्सुकाभ्यां=स्त्रीरत्नलाभोत्सुकाभ्याम् । पापतिमिराभ्यां=पापान्धकारहृतलोचनाभ्याम् । पापमतिभ्यामिति तु परे पठन्ति । 'ममेयं', 'ममेय'मित्यन्योन्यं कलहायमानाभ्याम् । प्रमाणपुरुषः=आप्तः पुरुषः कश्चिन्मध्यस्थः । पृच्छ्यतां=निर्णयार्थं पृच्छ्यताम् । सः=भगवान् शिव एव । भट्टारकः=परमेश्वरः । 'राजा भट्टारको देवः' इत्यमरः । स्वबलेन—

(तपस्या) की । उससे उन दोनों के ऊपर भगवान् शङ्कर ने प्रसन्न हो कहा कि—'वर माँगो ।' तब उनके वाणी में स्थित सरस्वती ने उनकी बुद्धि को फेर दिया और अन्य ही कुछ कहने की इच्छा करने वालों से भी और ही कुछ कहला दिया कि—'जो भगवान् आप हम पर प्रसन्न हैं, तो अपनी प्रिया भार्या पार्वतीजी को ही हमें दे दीजिये ।' ऐसी बात सुन कर क्रोधित हो कर भी भगवान् शिवजी ने वरदान के अपने वचन के पालन के लिए उन दोनों मूर्खों को पार्वती दे दी । फिर उसके रूप लावण्य के लोभी, जगत् घाती और मन से उत्सुक वे दोनों पापी दैत्य 'यह मेरी है' 'यह मेरी है' ऐसे आपुस में कलह (झगड़ा) करने लगे । और इस प्रकार लड़ते हुए उन्होंने 'किसी प्रमाणित पुरुष से पूछना चाहिये'—ऐसा निश्चय किया । उस समय वे ही शिवजी बूढ़े ब्राह्मण के रूप में उनके पास आए । तब उन

---

१ 'परितुष्टो वरं' । २ 'समधिष्ठितया सरस्वत्या तावन्यद्' । ३ 'तया मूढतया च' ।

समागत्य तत्रोपस्थितः। अनन्तरम्–'आवाभ्यामियं स्वबललब्धा, कस्ये-यमावयोर्भवति'–इति ब्राह्मणमपृच्छताम्। ब्राह्मणो ब्रूते–

'ज्ञानश्रेष्ठो द्विजः पूज्यः, क्षत्रियो बलवानपि।
धनधान्याऽधिको वैश्यः, शूद्रस्तु द्विजसेवया' ॥ २६ ॥

तद्युवां [1]क्षत्त्रधर्मानुगौ। [2]युद्ध एव युवयोर्नियमः।' इत्यभिहिते सति, 'साधूक्तमनेने'ति कृत्वाऽन्योन्यतुल्यवीर्यौ, समकालमन्योन्यघातेन विनाश-मुपगतौ। अतोऽहं ब्रवीमि—'सन्धिमिच्छेत्समेनापि' इत्यादि ॥ ॐ ॥

लब्धा = उपार्जिता। सा चेयमावयोर्मध्ये कस्य धनं भवतीत्यर्थः।

ज्ञानश्रेष्ठः = ज्ञानाधिकः। बलवान्=बलाधिकः। द्विजसेवया=द्विजाति-ब्राह्मणादिसेवया स्वजातौ पूज्यते इत्यर्थः ॥ २६ ॥ क्षत्रियधर्माणौ = ब्राह्मणावपि युद्धादिपरत्वेन क्षत्रियधर्मानुरक्तौ। नियमः=निर्णायकः। अभिहिते = उक्ते सति। साधु=युक्तम्। इति कृत्वा=इत्थमवधार्य। समकालम् = तुल्यकालमेव। घातः = खड्गमुष्ट्यादिप्रहारः।

दोनों ने वृद्ध ब्राह्मण उन रूपी शिवजी से पूछा कि–'हमने इस स्त्री को अपने बल से प्राप्त किया है, सो यह स्त्री हम दोनों में से किसीकी होनी ' तब वह ब्राह्मण बोला कि—

ज्ञान में श्रेष्ठ होने से ब्राह्मण, बलवान् होने से क्षत्रिय, बहुत धनधान्य वाला होने से वैश्य, और द्विजों की सेवा करने से शूद्र-श्रेष्ठ होता है ॥ २६ ॥

और आप दोनों भी क्षत्रियों के धर्म के अनुसार चलने वाले हो, इससे युद्ध ही तुम दोनों का निर्णायक हो सकता है। ऐसा कहने पर 'इन्होंने सत्य कहा'–यह कह कर वे युद्ध करने लगे और आपुस में बराबर बलवाले होने से एक ही समय में एक दूसरे के घात से (अर्थात् शस्त्र या मुक्की आदि लगने से) वे दोनों दैत्य नष्ट हो गये। इसलिये मैं कहता हूँ कि—'बराबर वाले से भी मेल कर लेना चाहिये'

१. 'क्षत्रधर्माणौ' पा०। २ 'युद्धमेव'।

राजाऽऽह—'तत्[1] प्रागेव किं नेदमुपदिष्टं भवद्भिः ? ।' [2]मन्त्री ब्रूते—'तदा[3] मद्वचनं किमवसानपर्यन्तं श्रुतं भवद्भिः ? । तदाऽपि मम संमत्या नाऽऽयं विग्रहाऽऽरम्भः । यतः—[4]'साधुगुणयुक्तोऽयं हिरण्यगर्भो, न विग्राह्यः' । तथा चोक्तम्—

'सत्या-ऽऽर्यौ, धार्मिकोऽनार्यो, भ्रातृसङ्घातवान्बली ।
अनेकयुद्धविजयी, सन्धेयाः सप्त कीर्तिताः' ॥ २७ ॥

(१) 'सत्योऽनुपालयन् सत्यं सन्धितो नैति विक्रियाम् ।
(२) प्राणबाधेऽपि सुव्यक्तमार्यो नाऽऽयात्यनार्यताम्' ॥२८॥

इदं = युद्धं नोचितमिति । प्रागेव = युद्धात्पूर्वमेव । तदा = युद्धात्पूर्वम् । अवसानपर्यन्तं = समाप्तिपर्यन्तं । सम्पूर्णम्, सकलम् । विग्रहारम्भः = युद्धाऽऽरम्भः ।

सत्याऽऽर्यौ=सत्यपरायणः, आर्यश्च=महाकुलप्रसूतः । अनार्यः = नीचः । भ्रातृसंघातवान्=बहुभ्रातृबलान्वितः ॥ २७ ॥ सत्यः=सत्यपरः । सत्यं=सत्यधर्मम् । सन्धितः=कृतसन्धानः । प्राणबाधेऽपि=जीवितसंशयेपि । विक्रियां = विकारम् । व्याजेन सन्धिभङ्गादिकं न करोतीत्याशयः । आर्योऽपि–प्राणसङ्कटेऽपि–अनार्यतां=

इत्यादि । तब वह राजा बोला—आपने यह बात पहिले ही क्यों नहीं कही ? । मन्त्री ने कहा कि—क्या उस समय आपने मेरी पूरी २ बातें सुनी थीं ? । उस समय भी मेरे परामर्श (सलाह) से इस युद्ध का प्रारम्भ नहीं हुआ था । क्योंकि श्रेष्ठ गुणवान् यह हिरण्यगर्भ राजा युद्ध करने योग्य नहीं है ।

ऐसा कहा भी है—सच्चा, श्रेष्ठ, धर्मात्मा, अनार्य, भ्राताओं का समूह रखने वाला, बलवान् और अनेक युद्ध में विजय पाने वाला, ये सात राजा सन्धि (मेल) करने के ही योग्य हैं, ये युद्ध के योग्य नहीं हैं ॥ २७ ॥

क्योंकि–सच्चा मनुष्य सदा ही सत्य का पालन करता रहता है, वह सन्धि करने पर कभी विकृत नहीं होता है । किन्तु सन्धि की शर्त्तों का वह ठीक ठीक पालन करता है । और आर्य (श्रेष्ठ) मनुष्य भी—प्राण की बाधा उपस्थित होने पर भी

---

१. 'तत्किं प्रागेव नेदमुपदिष्टं' । 'किं नोक्तं' । २ 'वदति—तदा किं मम वचनमवसान' । ३ 'तदा' इति क्वाचित्कम् । ४ 'सन्धेयगुण' ।

(३) 'धार्मिकस्याऽभियुक्तस्य सर्व एव हि युध्यते ।
प्रजाऽनुरागाद्धर्माच्च दुःखोच्छेद्यो हि धार्मिकः' ॥२९ ॥
(४) 'सन्धिः कार्योऽप्यनार्येण विनाशे समुपस्थिते ।
विना तस्याऽऽश्रयेणाऽऽर्यो न कुर्यात्कालयापनम्' ॥ ३० ॥
(५) संहतत्वाद्यथा वेणुर्निबिडैः कण्टकैर्वृतः ।
न शक्यते समुच्छेत्तुं, भ्रातृसङ्घातवांस्तथा' ॥ ३१ ॥

नीचताम् । नायाति = न प्रयाति ॥ २८ ॥ अभियुक्तस्य=आक्रान्तस्य । सर्व एव = सकलोऽपि लोकः । प्रजानुरागात्=प्रजारञ्जनात्, धर्मात् = धर्माश्रयत्वाच्च । दुःखोच्छेद्यः = दुरुद्धरः ॥ २१ ॥

विनाशे = राज्यादिनाशे । अनार्येण=म्लेच्छादिनाऽपि । तस्य=अनार्यस्य । आश्रयेण = सन्धानेन । कालयापनं = समययापनम् । (दिन बिताना) ॥३० ॥

संहतत्वात्=मिलितत्वात् । निबिडः = घनः । कण्टकैः = पर्वाङ्कुरकण्टकैः, सहायकैर्वा । वेणुः = वंशः । (बांस) । तथा = दुरुद्धरः ॥ ३१ ॥

अनार्यता (नीचपने) को प्राप्त नहीं होते हैं, यह बात स्पष्ट है ॥ २८ ॥

और धार्मिक राजा पर शत्रु की चढ़ाई होने पर उस के लिये सभी प्रजा निश्चय करके प्राणपणसे लड़ती है, अतः प्रजा के प्रेम से और धर्म के बल से वह धार्मिक राजा बड़ी कठिनाई से ही वश में होता है ॥ २६ ॥

और अपना विनाश उपस्थित होते देखकर अनार्य (नीच) से भी मेल करे, क्योंकि उसके आश्रय के विना आर्य (सज्जन राजा) भी कालक्षेप (अपना निर्वाह) नहीं कर सकता है ॥ ३० ॥

और जैसे अनेक बांसों के पास पास एक साथ ही उगने वाला और कांटों के समूह से लदा हुआ बांस, अन्यान्य बांसों से आपुस में मिले रहने के कारण, शीघ्र उखाड़ा और काटा नहीं जा सकता है, वैसे ही भ्राताओं का समूह रखने वाला राजा भी शीघ्र ही मारा नहीं जा सकता है ॥ ३१ ॥

(६) 'बलिना सह योद्धव्य'मिति नास्ति निदर्शनम् ।
प्रतिवातं न हि घनः कदाचिदुपसर्पति' ॥ ३२ ॥
(७) 'जमदग्नेः सुतस्येव सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।
अनेकयुद्धजयिनः प्रतापादेव भज्यते' ॥ ३३ ॥
'अनेकयुद्धविजयी सन्धानं यस्य गच्छति ।
तत्प्रतापेन तस्याऽऽशु वशमायान्ति शत्रवः' ॥ ३४ ॥

[1]तत्र तावद्बहुभिर्गुणैरुपेतः सन्धेयोऽयं राजा[2] ।' चक्रवाकोऽवदत्—'प्रणिधे ! [3]सर्वमवगतम् । व्रज । पुनरागमिष्यसि' ।

निदर्शनम्=दृष्टान्तः । प्रतिवातं=विपरीतं पवनम्प्रति । घनः=मेघः । न उपसर्पति=नोपगच्छति । नोपधावति ॥ ३२ ॥

जमदग्नेः=तन्नामकस्य भृगुवंश्यस्य महर्षेः, सुतस्य=पुत्रस्य—परशुरामस्य । प्रतापादेव=प्रभावादेव । सर्वः=सर्वोऽपि रिपुवर्गः । सर्वदा=सर्वस्मिन्नपि काले, सर्वसमये च । भज्यते=पराजितो भवति । पलायते च ॥३३॥ सन्धानं=सन्धिम् । गच्छति=आयाति । तत्प्रतापेन=अनेकयुद्धविजयिप्रभावेण ॥ ३४ ॥ गुणैः=

और बलवान् के साथ युद्ध करना उचित है, ऐसा दृष्टान्त कहीं भी नहीं मिलता है, क्योंकि वायु के सन्मुख मेघ (बादल) कभी नहीं चढ़ते हैं ॥३२॥

और जैसे जमदग्नि के पुत्र परशुरामजी की तरह ही अनेक युद्धों में जीतने वाले राजा के प्रताप (नाम) से ही सर्वत्र सब लोग वश में आ जाते हैं ॥ ३३ ॥

क्योंकि—अनेक युद्धों में जीतने वाला राजा जिस राजा से सन्धि कर लेता है, उसके तेज से उस राजा के (जिससे अनेक युद्ध विजयी ने सन्धि की है, उसके) शत्रु शीघ्र ही उसके वश में हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

और यह राजा राजहंस तो बहुत गुणों से युक्त है, इसलिये इससे सन्धि (मेल) ही करना योग्य है ।

तब चकवा दूत से बोला कि—'हे दूत ! तुम्हारी बात हमने सब सुन ली है ।

---

१. 'तदत्र बहुभिः' । २ 'राजहंसः' । ३ 'सर्वत्राऽवव्रजे'ति पाठोऽत्र मुद्रितपुस्तकेषु दृश्यते ।

[1]अथ राजा हिरण्यगर्भश्चक्रवाकं पृष्टवान्—'मन्त्रिन् ! असन्धेयाः कति ?, तान्छ्रोतुमिच्छामि ।' मन्त्री ब्रूते—'देव ! कथयामि' । शृणु—

'बालो, वृद्धो, दीर्घरोगी, तथा ज्ञातिबहिष्कृतः ।
भीरुको, भीरुकजनो, लुब्धो, लुब्धजनस्तथा ॥ ३५ ॥
विरक्तप्रकृतिश्चैव, विषयेष्वतिसक्तिमान् ।
अनेकचित्तमन्त्रस्तु,[2] देव-ब्राह्मण-निन्दकः ॥ ३६ ॥
दैवोपहतकश्चैव, तथा[3] दैवपरायणः ।
दुर्भिक्षव्यसनोपेतो, बलव्यसनसङ्कुलः ॥ ३७ ॥

सन्धेयगुणैः । उपेतः = सहितः । अवव्रज=पुनर्याहि । असन्धेयाः=सन्धानाऽनर्हाः । ज्ञातिबहिष्कृतः = बन्धुबान्धवपरित्यक्तः । जातिबहिष्कृतः । भीरुक =भीरुस्वभावः । भीरुकजनः=भीरुसैन्यः । भीरुभटः । लुब्धः=लोभी । लुब्धजनः=लुब्धानुचरः ॥३५॥

विरक्तप्रकृतिः = अननुरक्तप्रजः । विषयेषु=कामिन्यादिभोगेषु । अतिसक्तिमान् = आसक्तचित्तः । स्त्रीव्यसनी । अनेकचित्तमन्त्रः = चञ्चलचित्तः, चञ्चलचित्तमन्त्रि-परिवृतश्च । दैवोपहतकः=दुर्भाग्योपहतः । दैवपरायणः = दैववादी । अनुत्साही ।

अब तो तुम जाओ । अपना कार्य करो । फिर आना ।' उस दूत के जाने के बाद राजा ने चकवे से पूछा कि हे मन्त्री ! कितने मनुष्य सन्धि करने के योग्य नहीं हैं ? । उन्हें भी मैं सुनना चाहता हूँ । मन्त्री बोला कि—हे देव ! मैं कहता हूँ, सुनिये—

(१) बालक, (२) बूढ़ा, (३) बहुत दिनों का रोगी, (४) जाति भाई और बान्धवों से बाहर निकाला हुआ, (५) डरपोक, (६) भीरु (डरपोक) सैनिक मुसाहब आदि पुरुषों वाला, (७) लोभी, (८) लोभी पुरुषों वाला । अर्थात् जिसके सेवक लोभी हों ॥ ३५ ॥

और (९) जिसके मन्त्री आदि उससे विरक्त हों, (१०) विषयों में बहुत फँसा हुआ, (११) चञ्चल चित्त वाला, चञ्चल मन्त्र (अस्थिर) वाला, (१२) देवता और ब्राह्मणों की निन्दा करने वाला ॥ ३६ ॥

और (१३) दैव अर्थात् भाग्य का मारा हुआ, (१४) भाग्य ही को मुख्य मानने

१ 'अथ हिरण्यगर्भः' । २. 'मन्त्रश्च' । ३ 'दैवचिन्तक एव च' ।

अदेशस्थो, बहुरिपुर्युक्तः कालेन यश्च न ।
सत्यधर्मव्यपेतश्च, विंशतिः पुरुषा अमी ॥ ३८ ॥
एतैः सन्धिं न कुर्वीत, विगृह्णीयात्तु केवलम् ।
एते विगृह्यमाणा हि क्षिप्रं यान्ति रिपोर्वशम्' ॥ ३९ ॥
(१) बालस्याऽल्पप्रभावत्वान्न लोको योद्धुमिच्छति ।
युद्धा-ऽयुद्धफलं[1] यस्माज्ज्ञातुं शक्तो न बालिशः' ॥४०॥

अलसश्च । दुर्भिक्षव्यसनोपेतः = दुर्भिक्षोपहतराष्ट्रः । बलव्यसनसङ्कुलः = सेनाविरोधव्याकुलः ॥ ३७ ॥ अदेशस्थ इति । दूरदेशस्थितः । बहुशत्रुः, अनुपयुक्तदेशकालविपन्नः, सत्यधर्माभ्यां रहितश्चेत्यमी पुरुषा न सन्धेयाः, किन्तु एभिर्युद्धमेव वरम् । यत एते विगृह्यमाणाः = युद्ध्यमानाः सन्तः । क्षिप्रं=त्वरितमेव, शत्रुवशगा भवन्ति ॥ ३९ ॥

'कथमेते क्षिप्रं पराजिता भवन्ती'ति विशदं प्रदर्शयति—बालस्येति । लोकः = प्रजा । यस्मात्=यतः । बालिशः = बालो, मूर्खश्च । युद्धाऽयुद्धफलं=युद्धाऽयुद्ध-

---

वाला, (१५) जिसके राज्य में दुर्भिक्ष पड़ा हुआ हो, (१६) तथा सेना जिसको न चाहती हो ॥ ३७ ॥

और (१७) अयोग्य स्थान में रहने वाला, (१८) बहुत शत्रुओं वाला, (१९) असमय पर युद्ध करने वाला और (२०) सत्य व धर्म से विमुख रहनेवाला, ये जो बीस पुरुष (राजा) हैं—॥ ३८ ॥

—इनसे कभी मेल न करे, किन्तु इनसे तो केवल युद्ध ही करे, क्योंकि ये बीस पुरुष (राजा) युद्ध करने से शीघ्र शत्रु के वश में हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

अब पूर्वोक्त असन्धेय बीस पुरुष असन्धेय क्यों है, और इनका पराजय किस कारण से होता है, यह कहते हैं—

(१) बालक अल्पतेज (अल्प पराक्रम) होने से उसके सहायक लोग उसके लिए ठीक-ठीक युद्ध करना नहीं चाहते हैं, क्योंकि युद्ध और अयुद्ध के फल को जानने की बालक में सामर्थ्य ही नहीं होती है ॥ ४० ॥

---

१. 'योद्धुं स्वयमशक्तस्य परार्थे को हि युद्ध्यते' इति तु कामन्दकीये पाठः ।

(२) 'उत्साहशक्तिहीनत्वाद्वृद्धो, दीर्घाऽऽमयस्तथा ।
(३) स्वैरेव परिभूयेते द्वावप्येतावसंशयः'[1] ॥४१॥
(४) 'सुखोच्छेद्यो हि भवति सर्व-ज्ञाति-बहिष्कृतः ।
त एवैनं विनिघ्नन्ति ज्ञातयस्त्वात्मसात्कृताः' ॥४२॥
(५) 'भीरुर्युद्धपरित्यागात्स्वयमेव प्रणश्यति' ।
(६) तथैव[2] भीरुपुरुषः[3] संग्रामे तैर्विमुच्यते' ॥४१॥
(७) 'लुब्धस्याऽसंविभागित्वान्न युध्यन्तेऽनुजीविनः[4] ।
(८) 'लुब्धाऽनुजीवी तैरेव दानभिन्नैर्निहन्यते' ॥४४॥

प्रसक्तभटतारतम्यं ज्ञातुमसमर्थः ॥ ४० ॥ उत्साहशक्तिहीनत्वात् = उत्साह-शक्ति-विकलत्वात् । दीर्घाऽऽमयः = दीर्घरोगी । स्वैः = आत्मीयैरमात्यादिभिः । परिभूयेते= तिरस्क्रियेते ॥ ४१ ॥ सुखोच्छेद्यः = सुखमुन्मूलनीयः । आत्मसात्कृताः= आत्मवशं, नीताः, स्वपक्षे स्थापिताः । एनं = जातिबहिष्कृतम् । विनिघ्नन्ति = उच्छेदयन्ति ॥ ४२ ॥ युद्धपरित्यागात्=युद्धकातरतया । तैः = भीरुभिः सैनिकैः ॥ ४३ ॥

असंविभागित्वात् = उचितसंविभागकारित्वाऽभावात्, पारितोषिकदानाद्युचित-

(२, ३) 'वृद्ध' उत्साहशक्ति के न होने से, और बहुत दिनों का रोगी-ये दोनों ही अपने ही मनुष्यों से आप ही अनादर (पराजय) पाते हैं—यह निश्चित है ॥४१॥

(४) अपनी जाति से बाहर निकला हुआ पुरुष भी सुख से नाश किया जा सकता है, क्योंकि शत्रु यदि उसके जाति भाइयों को अपने पक्ष में करले तो वे शत्रु से मिलकर स्वयं ही उसे मार देते हैं ॥ ४२ ॥

(५) भीरु पुरुष—युद्ध के डर से अपने ही नष्ट हो जाता है। (६) ऐसे ही जिसके सैनिक भी डरपोक हैं, वह राजा भी संग्राम के समय अपने भीरु उन डरपोक सैनिकों से (साथियों से) छोड़ दिया जाता है ॥ ४३ ॥

(७) लोभी के अनुयायी (सेवक)-अच्छी प्रकार सबका हिस्सा न देने से (दूसरों को कम धन देने, आप अधिक ले लेने से) ठीक-ठीक युद्ध नहीं करते हैं।

१. 'वाऽवसीदति' । २. 'धीरोऽप्यवीरपुरुषः' । ३. 'भीरुकजनः' ।
४. 'अनुयायिनः' । ५. 'लुब्धानुजीवकैरेष दानहीनैर्निहन्यते' ।

(९) 'सन्त्यज्यते प्रकृतिभिर्विरक्तप्रकृतिर्युधि ।
(१०) सुखाऽभियोज्यो भवति विषयेष्वतिसक्तिमान् ' ॥४५॥
(११) 'अनेकचित्तमन्त्रस्तु द्वेष्यो' भवति मन्त्रिणाम् ।
अनवस्थितचित्तत्वात्कार्यतः[२] स उपेक्ष्यते' ॥४६॥

सत्कारकारित्वविकलत्वात् । अनुजीविनः = सैनिकाः । तैः=लुब्धैरनुजीविभिः, दान-भिन्नैः = शत्रुदत्तोत्कोचवशीभूतैः । पाठान्तरे—एषः = लुब्धः ॥ ४४ ॥

प्रकृतिभिः = अमत्यादिभिः । अतिसक्तिमान् = विषयासक्तः । कामिन्यादि-व्यसनी । सुखाभियोज्यः=अनायाससाध्यः ॥४५॥ अनेकचित्तमन्त्रः=चञ्चलचित्तः । मन्त्राऽपरायणः । शत्रुणा सह सन्धाय मन्त्रिभिरेव, स भेद्यः = उच्छेद्यः । यतः—सः=राजा, उपेक्ष्यते–मन्त्रिभिरिति शेषः । यद्वा—सः = मन्त्री । कार्यतः=कार्या-ऽवसरे, कार्यदशायाम् । उपेक्ष्यते–तदुक्तमन्त्राननुष्ठानादुपेक्ष्यते राज्ञा । अतो मन्त्रि-भिरेवाऽसन्तुष्टैः स राजा भेद्यो विनाश्यश्च भवति ।

---

(८) जिस राजा के सेवक लोभी हैं, वह राजा भी उनके मन लायक धन उन्हें अच्छी प्रकार न देने से उन्हीं लोगों से मारा जाता है ॥ ४४ ॥

(९) जिस राजा से मन्त्रिगण तथा प्रजा अप्रसन्न हैं, उस राजा को मन्त्री अथवा प्रजा आदि ही युद्ध में छोड़ देते हैं। (१०) और जो विषयों में बहुत फँसा हुआ है, वह भी सुख से पराजित हो सकता है, क्योंकि वह व्यसनों में फँसा होने के कारण ठीक-ठीक युद्ध नहीं कर सकता है ॥ ४५ ॥

(११) और जिसका चित्त चञ्चल हो, और जिसकी सलाह अनिश्चित हो, वह राजा अपने मन्त्रियों से ही परित्याग कर दिया जाता है, या उसकी अपने मन्त्रियों से फूट हो जाती है । क्योंकि—अनवस्थित (चञ्चल) चित्त होने से मन्त्री लोग उसकी कार्य के समय उपेक्षा ही करते हैं ॥ ४६ ॥

१. 'दूष्यो भवति मन्त्रिणाम्', 'भेद्यो भवती'ति च पा० । २. 'कार्ये तैः' ।

(१२) 'सदा धर्मबलीयस्त्वाद्देव-ब्राह्मण-निन्दकः ।
(१३) 'विशीर्यते स्वयं [1]ह्येष, दैवोपहतकस्तथा' ॥ ४७ ॥
(१४) 'सम्पत्तेश्च, विपत्तेश्च दैवमेव हि कारणम्' ।
इति दैवपरो ध्यायन्नात्मना[2] न विचेष्टते' ॥ ४८ ॥
(१५) 'दुर्भिक्षव्यसनी चैव स्वयमेव[3] विषीदति ।
(१६) 'बलव्यसनसक्तस्य[4] योद्धुं शक्तिर्न जायते' ॥ ४९ ॥
(१७) 'अदेशस्थो हि रिपुणा स्वल्पकेनाऽपि हन्यते ।
ग्राहोऽल्पीयानपि जले गजेन्द्रमवकर्षति'[5] ॥ ५० ॥

अधर्मबलीयस्त्वात् = पापस्य बलवत्त्वात् । विशीर्यते = स्वयमेव नश्यति ॥४७॥ स हि संपत्ति-विपत्त्योर्भाग्यमेव हेतुरिति चिन्तयन्न कर्त्तव्ये कर्मणि प्रयतते ॥ ४८ ॥ विषीदति=विनश्यति । व्याकुलो भवति ॥ ४९ ॥ अदेशस्थः = अदुर्गदेशस्थितः, अनुचितस्थानस्थितश्च । स्वल्पकेन=तुच्छेन, सामान्येन । अल्पीयान् = स्वल्प-

(१२) अधर्म के बलवान् होने से ही देवता और ब्राह्मणों की निन्दा करनेवाला राजा आप ही नष्ट हो जाता है ।

(१३) ऐसे ही प्रारब्ध से मारा हुआ हतभाग्य पुरुष भी स्वयं भाग्यदोष से ही नष्ट हो जाता है ॥ ४७ ॥

(१४) 'सम्पत्ति और विपत्ति का कारण भाग्य ही है' ऐसा सदा सोचनेवाला, भाग्य को मुख्य माननेवाला मनुष्य भी ठीक ठीक प्रयत्न नहीं करता है, इसलिये वह भी नष्ट हो जाता है ॥ ४८ ॥

(१५) दुर्भिक्ष में पड़ा हुआ राजा भी आप ही दुःखी रहता है ।

(१६) और बिगड़ी हुई सेना वाले राजा में युद्ध करने की सामर्थ्य ही नहीं होती है ॥ ४९ ॥

(१७) अयोग्य और अरक्षित स्थान में रहने वाला पुरुष भी छोटे से शत्रु से भी मारा जाता है । क्योंकि स्थान ही प्रधान होता है, स्थान के बल से जैसे छोटा

१. 'ह्येव' । २. 'नात्मानमपि चेष्टयेत्' पा० । ३. मेवाऽवसीदति' । ४. 'व्यसनयुक्तस्य' । ५. 'अपि कर्षति' ।

(१८) 'बहुशत्रुस्तु सन्त्रस्तः श्येनमध्ये कपोतवत् ।
येनैव गच्छति पथा तेनैवाऽऽशु[1] विपद्यते' ॥५१॥
(१९) 'अकालयुक्तसैन्यस्तु हन्यते कालयोधिना ।
कौशिकेन हतज्योतिर्निशीथ इव वायसः' ॥५२॥
(२०) 'सत्यधर्मव्यपेतेन[2] सन्दध्यान्न कदाचन ।
स सन्धितोऽप्यसाधुत्वादचिराद्याति विक्रियाम्' ॥५३॥

कायोऽपि, महाकायं हस्तिराजमपि आकर्षति ॥ ५० ॥

संत्रस्तः=शत्रुगणसत्रस्तः सन् । येनैव मार्गेण गच्छति तेनैव गच्छन् स हन्यते। श्येनः=पक्षी । (बाज-पक्षी) ॥ ५१ ॥ अकालयुक्तसैन्यः=यानाऽनुचितावसरेऽभियोक्ता । कालयोधिना = अनुकूलावसरेण शत्रुणा-हन्यते । कौशिकेन = उलूकेन । हतज्योतिः = हतनेत्रशक्तिः । निशीथे=मध्यरात्रे । वायसः = काक इव । 'अकालसैन्ययुक्त' इत्यपि क्वचित् पाठः ॥ ५२ ॥ सत्येति । असत्यशीलेन, अधार्मिकेण च । न सन्दध्यात् = सन्धि न कुर्यात् । असाधुत्वात् = दुष्टत्वात् । विक्रियां = विकारं, विरोधम् ॥ ५३ ॥

ग्राह (मगर) भी जल में बड़े बड़े हाथियों को भी खींच लेता है ॥ ५० ॥

(१८) बहुत शत्रुवाला पुरुष भी अनेक बाजों के बीच में पड़े हुए कबूतर की तरह ही डरता हुआ जिस मार्ग से जिधर भी जाता है, वहीं वह शीघ्र ही मारा जाता है ॥ ५१ ॥

(१९) जो राजा असमय में ही दूसरे पर चढ़ाई करता है वह राजा समय पर युद्ध करनेवाले अपने उस शत्रु से उसी प्रकार से मारा जाता है, जैसे अर्धरात्रि में नहीं दीखने के कारण उल्लू से कौवा मारा जाता है ॥ ५२ ॥

(२०) जो सत्यधर्म से विरुद्ध हो उससे भी कभी सन्धि नहीं करे, क्योंकि वह मेल करने पर भी असज्जन होने के कारण ही थोड़े ही समय में बिगड़ जाता है । (की हुई सन्धि को तोड़ देता है) ॥ ५३ ॥

१. 'तेनै वाऽसौ' । २. 'न सन्दध्यात्' ।

अपरमपि कथयामि,—सन्धि-विग्रह-याना-ऽऽसन-संश्रय-द्वैधीभावाः-षाड्गुण्यम्। (१) कर्मणामारम्भोपायः, (२) पुरुष-द्रव्य-सम्पत्, (३) देशकालविभागः, (४) विनिपातप्रतीकारः, (५) कार्यसिद्धिश्च (इति) पञ्चाङ्गो मन्त्रः। साम-दान-भेद-दण्डाश्चत्वार उपायः। (१) उत्साहशक्तिः, (२) मन्त्रशक्तिः (३) प्रभुशक्तिश्चेति शक्तित्रयम्। एतत्सर्वमालोच्य नित्यं विजिगीषवो भवन्ति महान्तः। यतः—

'या हि प्राणपरित्यागमूल्येनाऽपि न लभ्यते।
सा श्रीर्नीतिविदं पश्य चञ्चलाऽपि प्रधावति' ॥ ५४ ॥

सन्धिः=सन्धानम्। विग्रहः=युद्धम्। यानं=शत्रुं प्रति यानम् (चढ़ाई)। आसनं=दुर्गादौ सम्यगवस्थितिः। संश्रयः=बलवत आश्रयणम्। द्वैधीभावः=द्विधा भवनम्। एते नीतेः षड्गुणा भवन्ति। आरम्भोपायः=कार्यप्रारम्भस्य उपायः। पुरुषाणां=सहायकानां सैन्यादीनां, द्रव्यस्य=धनधान्यादेश्च, सम्पत्=समृद्धिः। देशकालविभागः=कदा, कुत्र, किं कार्यं करणीयमिति देशकालभेदेन कर्त्तव्यविनिर्णयः। विनिपातप्रतीकारः=कार्यविपत्तिनिरासः। विजिगीषवः=विजयोत्सुकाः।

पश्य—या हि=या खलु। लक्ष्मीः—श्रीः। प्राणपरित्यागमूल्येनापि=स्वाम्यर्थं युद्धे प्राणपरित्यागादिनाऽपि। नीतिविदं=नीतिकुशलम्। प्रधावति=स्वयमेवोपतिष्ठते।

हे राजन्! राजनीति की और भी मुख्य २ बातें मैं आपसे कहता हूँ कि—मेल, लड़ाई, गमन (चढ़ाई), समय की प्रतीक्षा में बैठना, दूसरे का आश्रय लेना और द्वैधीभाव (दुरङ्गी चाल,) ये राजनीति के छः गुण हैं। और मन्त्र के भी पांच अङ्ग होते हैं। जैसे कार्यों के आरम्भ का उपाय, सहायक मनुष्यों का और आवश्यक धन (द्रव्य) का संग्रह, देश और काल का विभाग, तथा व्यसनादिक का उपाय अर्थात् विपत्ति का प्रतीकार, और कार्य की सिद्धि, इन पाँच अङ्गोंवाला मन्त्र (सलाह) होता है। साम, दान, भेद और दण्ड ये चार उपाय हैं। उत्साहशक्ति, मन्त्रशक्ति, और प्रभुशक्ति ये तीन राजा की शक्तियाँ हैं। इन सब को अच्छी तरह से विचार कर ही महापुरुष किसी पर चढ़ाई करते हैं और अपने शत्रुओं के जीतने की इच्छा करते हैं।

क्योंकि देखिए—जो लक्ष्मी प्राणत्यागरूप मूल्य से भी, अर्थात् अपने प्राण देने

तथा चोक्तम्—

'वित्तं सदा[1] यस्य समं विभक्तं,
गूढश्चरः,[2] संनिभृतश्च मन्त्रः ।
न चाऽप्रियं प्राणिषु यो ब्रवीति,
स सागरान्तां पृथिवीं प्रशास्ति' ॥५५॥

किन्तु देव[3] ! यद्यपि महामन्त्रिणा गृध्रेण सन्धानमुपन्यस्तं, तथापि तेन राज्ञा सम्प्रति भूतजयदर्पान्न मन्तव्यम् । (देव[4] !) तदेवं क्रियतां—"सिंहलद्वीपस्य महाबलो नाम सारसो राजाऽस्मन्मित्रं जम्बुद्वीपे कोपं जनयतु । यतः—

पश्य = विलोकय ॥ ५४ ॥

यस्येति । यस्य राज्ञो वित्तं=धनं, सेवकेषु समं=तुल्यं विभक्तम् । यस्य च कुशलाः चराः सर्वत्र गूढं चरन्ति । यस्य मन्त्रश्च निभृतः=सुगूढः, यश्च स्वयं प्रियवाक् । स समुद्रान्तां पृथ्वीं शास्ति = स चक्रवर्त्ती राजा भवति ॥ ५५ ॥

सन्धानं = सन्धिः । उपन्यस्तं=कर्त्तव्यत्वेनोक्तम् । भूतजयदर्पात्=पूर्वं लब्धस्य विजयस्य गर्वेण । न मन्तव्यं = स न मंस्यते । (वह नहीं मानेगा) ।

से भी जल्दी किसी को नहीं मिलती है, वही लक्ष्मी—चञ्चल होने पर भी नीति जाननेवालों के पास तो स्वयं दौड़कर आती है ॥ ५४ ॥

किसी ने कहा भी है—जिसका धन सदा अपने भृत्यों में यथायोग्य बराबर २ बाँटा गया हो, जिसका गुप्तदूतविभाग दक्ष हो, जिसका मन्त्र अत्यन्त गुप्त होता हो, और जो प्राणीमात्र को कभी अप्रिय वचन नहीं कहता हो, वह राजा समुद्र पर्यन्त संपूर्ण पृथ्वी का शासन कर सकता है । अर्थात् उसके पास राजलक्ष्मी स्वयं चली आती है ॥ ५५ ॥

परन्तु हे देव ! यद्यपि महामन्त्री गिद्ध ने अपने राजा चित्रवर्ण से सन्धि करने को कहा है, तो भी वह राजा विजयी होने के घमण्ड से उस बात को कभी नहीं मानेगा । अतः हे देव ! ऐसा उपाय कीजिये कि सिंहलद्वीप का राजा महाबल नाम का सारस जो हमारा मित्र है, वह जम्बूद्वीप पर चढ़ाई कर दे ।

१. 'यदा यस्य' । २ 'गूढश्च चारो, निभृतश्च मन्त्रः' पाठा० । ३. 'किन्तु—यद्यपि' । ४ क्वचिन्न । ५ 'अस्मन्मित्रं सिंहलद्वीपस्य' ।

'सुगुप्तिमाधाय, सुसंहतेन
बलेन वीरो विचरन्नरातिम् ।
सन्तापयेद्येन समं सुतप्त-
स्तप्तेन सन्धानमुपैति तप्तः' ॥ ५६ ॥

राज्ञा[1] 'एवमस्तु' [2]इति निगद्य विचित्रनामा बकः सुगुप्तलेखं दत्त्वा सिंहलद्वीपं प्रहितः[3] ।

अथ[4] प्रणिधिः पुनरागत्योवाच—'देव ! श्रूयतां [5]तावत्तत्रत्यप्रस्तावः ।

कोपं = युद्धादिनोपद्रवम् ॥ सुगुप्तिमाधाय = सुगुप्तां विधाय । नितरां प्रच्छन्नभावेनेत्यर्थः । सुसंहतेन = परस्परमनुरक्तेन, अभेद्येन, बलेन = सैन्येन, विचरन् = इतस्ततः प्रचरन् । (लुक छिपकर छापा मारता हुआ) । अरातिं = शत्रुं । सन्तापयेत् = पीडयेत् । येन स समं = तुल्यमेव । स्वात्मवत्स्वशत्रुरपि । सन्तप्तः = दुःखितो भवेत् । यतः—तप्तेन लोहादिना सह तप्तमेव लोहादिकं सन्धानमेति । सन्धानकुशला हि तप्तमेव पात्रादिकं तप्तेन लोहादिना सन्धानं नयन्ति ॥ ५६ ॥

सुगुप्तलेखं = गूढं पत्रं दत्त्वा । प्रहितः = प्रेषितः । प्रणिधिः = गुप्तचरप्रधानः । तत्रत्यप्रस्तावः = शत्रुशिबिरमन्त्रितम् ।

क्योंकि—तेजस्वी वीर—अपनी गुप्ति (रक्षा) सुदृढ़ करके, अनुरक्त सेना के समूह को लेकर शत्रु की सेना में विचरता हुआ, अच्छे प्रकार से अपने शत्रु को बराबर दुःख देता रहे । अर्थात् शत्रुपर इधर उधर से हमला करता रहे और उसे सदा सन्तापित करे कि जिससे वह भी अपने ही बराबर सन्तप्त हो जाय । क्योंकि संतप्त ही संतप्त के साथ अच्छी तरह से मिल सकता है । गर्म लोहा ही गर्म लोहे से मिलाया जा सकता है, ठण्डा लोहा कभी नहीं जुड़ता है । अर्थात् घबड़ाया हुआ शत्रु ही सहज में सन्धि करता है ॥ ५६ ॥

तब राजा ने भी 'यह बहुत ठीक है' ऐसा कहकर विचित्रनामक बगुले को गुप्त पत्र देकर सिंहलद्वीप को भेज दिया ।

उसके बाद शत्रु के यहाँ से गुप्तदूत ने आकर कहा कि—'देव ! शत्रुपक्ष का आगे का

१. 'राजाऽऽह—'एवमस्तु' । २ 'इति निगद्य तेन विचित्रो नाम बकः' । ३ 'प्रस्थापितः' । ४ 'अथ प्रणिधिरागत्योवाच' । 'पुनरागत्योक्तवान्' पा० । ५ 'श्रूयतां तत्रत्यः' ।

—एवं तत्र गृध्रेणोक्तं—'देव ! [1]मेघवर्णस्तत्र चिरमुषितः, स वेत्ति किं सन्धेयगुणयुक्तो हिरण्यगर्भो राजा, न वा' ?–इति । ततोऽसौ मेघवर्णश्चित्रवर्णेन राज्ञा समाहूय पृष्टः—'वायस ! कीदृशोऽसौ हिरण्यगर्भो [2]राजा, ? । चक्रवाको मन्त्री वा कीदृशः' ? । [3]वायस उवाच–'देव ! [4]स हिरण्यगर्भो राजा युधिष्ठिरसमो महाशयः, [5]सत्यवाक् । चक्रवाक[6]समो मन्त्री न काऽप्यवलोक्यते ।' राजाऽऽह—'यद्येवं तदा कथमसौ त्वया वञ्चितः ? । [7]विहस्य मेघवर्णः प्राह–'देव !

'विश्वासप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता ? ।
अङ्कमारुह्य सुप्तं हि हत्वा किं नाम पौरुषम्' ! ॥ ५७ ॥

तत्र=शत्रुदुर्गे । कीदृशः = कीदृशगुणकः । महाशयः = उदाराशयः । एवम्=ईदृशगुणशाली, महापटुः ।

विश्वासं प्रतिपन्नानाम्=विश्वासमुपगतानाम् । वञ्चने = प्रतारणे । किं नाम =का खलु । विदग्धता = कौशलम् । अङ्कं = क्रोडम् । आरुह्य = आसाद्य ।

हाल भी सुनिये—तब गृध्र ने कहा कि—'देव ! मेघवर्ण भी वहाँ बहुत समय तक रह चुका है । अतः वह भी जानता है कि–हिरण्यगर्भ राजा सन्धि करने के योग्य गुणों से युक्त है, या नहीं । तब राजा ने उस मेघवर्ण को बुलाकर पूछा कि—अरे कौवे ! वह हिरण्यगर्भ राजा कैसा है ? । और उसका मन्त्री कैसा है ? । कौवा बोला कि—'देव ! हिरण्यगर्भ राजा युधिष्ठिर के समान सत्यवादी और श्रेष्ठ है, और चकवे के समान मन्त्री भी अन्यत्र कहीं नहीं देख पड़ता है ।' यह सुन कर राजा बोला कि—जो ऐसी बात है, तो तूंने उसे कैसे ठगा ? । मेघवर्ण हँस कर बोला कि—हे देव !

१. विश्वास दिलाए हुए लोगों का ठगना क्या बड़ी बात है ? । क्योंकि गोद में शिर रखकर सोते हुए को मारने में क्या पुरुषार्थ है ? । अर्थात् वह तो बड़ी सरलता से ही मारा जा सकता है ॥ ५७ ॥

---

१ 'यन्मेघवर्णः' । २ राजेति क्वचिन्न । ३ 'मेघवर्णो ब्रूते' । ४ 'देव ! हिरण्यगर्भो' । ५ 'क्वचिन्न' । ६ 'सदृशः' । ७ 'मेघवर्णो विहस्य ब्रूते' ।

शृणु देव ! तेन मन्त्रिणाऽहं प्रथमदर्शने एव विज्ञातः। किन्तु महाशयोऽसौ राजा, तेन मया विप्रलब्धः'। तथा चोक्तम्—

'आत्मौपम्येन यो वेत्ति दुर्जनं सत्यवादिनम्।
[1]स तथा वञ्च्यते धूर्तैर्ब्राह्मणश्छागतो यथा' ॥ ५८ ॥

राजोवाच—'कथमेतत् ?। मेघवर्णः कथयति—

९ ब्राह्मण–च्छाग–धूर्त्तत्रय–कथा।

अस्ति गौतमस्याऽरण्ये प्रस्तुतयज्ञः कश्चिद् ब्राह्मणः। स च यज्ञार्थं [2]ग्रामान्तराच्छागमुपक्रीय, स्कन्धे नीत्वा, गच्छन्धूर्तत्रयेणाऽवलोकितः।

(गोद में)। सुप्तं जनं हत्वा किं नाम पौरुषम्, न किमपीत्यर्थः ॥ ५७ ॥ तेन= चक्रवाकेण। प्रथमदर्शने=आदावेव दर्शने। (देखते ही)। विज्ञातः=तत्त्वतो ज्ञातः। महाशयः=उदारप्रकृतिः। विप्रलब्धः=वञ्चितः। आत्मौपम्येनेति। आत्मवत् (अपनी ही तरह), यो दुर्जनमपि सत्यवादिनं जानाति, स धूर्तैर्वञ्च्यते। यथा छागप्रसङ्गेन स सरलो ब्राह्मणो धूर्तैर्वञ्चितः ॥ ५८ ॥

प्रस्तुतयज्ञः=विततयज्ञः, उपस्थितयज्ञो वा। छागम्=अजम् (बकरा)।

और सुनिये महाराज ! उस प्रधान मन्त्री ने तो पहले ही दर्शन में (देखते ही) मुझको पहिचान लिया था, परन्तु वह राजा बड़ा उदार हृदय और सीधा है, इसी कारण से मेरे से वह ठगा गया।

ऐसा कहा भी है—जो दुष्टों को अपने समान ही सच्चा जानता है, वह धूर्तों से ऐसे ही ठगा जाता है, जैसे उन धूर्तों ने बकरे के विषय में एक ब्राह्मण को ठग लिया था ॥ ५८ ॥

राजा ने कहा—यह कथा कैसे है ?। मेघवर्ण कहने लगा—

गौतम महर्षि के वन में किसी ब्राह्मण ने यज्ञ करने का विचार किया। और उस यज्ञ के लिए दूसरे ग्राम से बकरा मोल लेकर कन्धे पर लिये आते हुए उसे तीन धूर्तों (ठग) ने देखा। तब उन धूर्तों ने सोचा कि—इस बकरे को

१. 'स एव वञ्च्यते तेन'। २. 'ग्रामान्तरं गत्वा च्छाग'

ततस्ते धूर्ताः—'यद्येष च्छागः केनाप्युपायेन लभ्यते, तदा मतिप्रकर्षो[1] भवती'ति समालोच्य, [2]वृक्षत्रयतले क्रोशान्तरेण तस्य ब्राह्मणस्याऽऽगमनं प्रतीक्ष्य, [3]पथि स्थिताः।

तत्रैकेन धूर्तेन गच्छन्स ब्राह्मणोऽभिहितः—'भो ब्राह्मण! किमिति त्वया कुक्कुरः स्कन्धेनोह्यते'?। विप्रेणोक्तं-'नाऽयं श्वा, किन्तु यज्ञच्छागः।' [4]अथाऽनन्तरस्थितेनाऽन्येन धूर्तेन तथैवोक्तम्। तदाकर्ण्य ब्राह्मणश्छागं भूमौ निधाय, मुहुर्निरीक्ष्य, पुनः स्कन्धे कृत्वा, दोलायमानमतिश्चलितः। यतः—

'मतिर्दोलायते [5]सत्यं सतामपि खलोक्तिभिः।
ताभिर्विश्वासितश्चाऽसौ[6] म्रियते चित्रकर्णवत्' ॥ ५९ ॥

उपक्रीयः=मूल्येन गृहीत्वा। मतिप्रकर्षः=बुद्धिकौशलम्। (हम लोगों की बुद्धिमानी प्रकट हो। 'तभी हमारी किम्मत हो)। वृक्षत्रयतले=क्रमशस्त्रयाणां वृक्षाणां तले। (कोश २ भर के अन्तर पर वे तीनों ठग वृक्षों के नीचे खड़े हो कर उसकी बाट देखने लगे)। ऊह्यते=नीयते। अनन्तरस्थितेन=निकटस्थितेन। द्वितीयेनापि। मुहुः=पुनः। दोलायमानमतिः=संशयाऽऽकुलचित्तः। खलोक्तिभिः=दुष्टोक्तवाक्यैः। सतामपि सत्यं—मतिः दोलायते=नूनं चञ्चला भवति। ताभिः=खलोक्तिभिः।

हम लोग किसी उपाय से इससे छीन सकें तो हमारी बुद्धि की कुशलता सिद्ध होगी।

यह सोचकर वे तीनों ठग तीन वृक्षों के नीचे कोस कोस भर के अन्तर पर अलग अलग उस ब्राह्मण की बाट देखते मार्ग में बैठ गये। तब एक धूर्त ने जाते हुए उस ब्राह्मण से पूछा कि—हे ब्राह्मण, आपने यह कुत्ता कन्धेपर क्यों रख लिया है?। ब्राह्मण बोला कि—भाई! यह कुत्ता नहीं है, किन्तु यह तो यज्ञ का पशु बकरा है। फिर दूसरे दूर बैठे हुए धूर्त ने भी यों ही कहा। यह सुन कर ब्राह्मण बकरे को रख कर, बारबार देखकर, फिर उसे कन्धे पर रखकर, मन ही मन सन्देह करता हुआ आगे चल दिया।

क्योंकि—दुष्टों के कहने से सज्जनों की बुद्धि भी सचमुच विचलित हो जाती

१ 'गतिप्रकर्षः' पा०। २ 'प्रान्तरवृक्षत्रये'ति पाठान्तरे-प्रान्तरं=दूरशून्यो मार्गः। ३ 'वर्त्मनि उपविश्य स्थिताः'। ४ 'अनन्तरं पुनर्द्वितीयेन धूर्तेन क्रोशमात्रस्थितेन तदेवोक्तम्'। ५ 'नूनं'। ६ 'विश्वासितो योऽसौ'।

[1]राजाऽऽह—कथमेतत् ? । स कथयति—

१०. चित्रकर्ण-काकादि-कथा ।

अस्ति कस्मिंश्चिद्वनोद्देशे मदोत्कटो नाम सिंहः । तस्य सेवकास्त्रयः[2] काको, व्याघ्रो, [3]जम्बुकश्च । अथ तैर्भ्रमद्भिः [4]सार्थभ्रष्टः कश्चिदुष्ट्रो दृष्टः, पृष्टश्च—'कुतो भवानागतः सार्थाद् भ्रष्टः' ? । स चाऽऽत्मवृत्तान्तमकथयत् । ततस्तैर्नीत्वा सिंहायाऽसौ समर्पितः । तेन चाऽभयवाचं दत्त्वा, 'चित्रकर्ण' इति नाम कृत्वा, स्थापितः ।

[5]अथ कदाचित्सिंहस्य शरीरवैकल्याद्भूरिवृष्टिकारणाच्चाऽऽहारमलभमानास्ते व्यग्रा बभूवुः । [6]ततस्तैरालोचितम्—'चित्रकर्णमेव यथा

विश्वासितः=विश्वास ग्राहितः ॥ ५६ ॥

वनोद्देशे=वनप्रदेशे । सार्थात्=वणिक्सङ्घात् ।

स च=उष्ट्रश्च । शरीरवैकल्यात्=शरीराऽस्वास्थ्यात् । आहारं=भोज्यं । (शिकार) । ते=व्याघ्रादयः । व्यग्राः=चिन्तिताः, व्याकुलाश्च । व्यापादयति=

है । और उन पर विश्वास करके उनसे भरोसा दिया हुआ मनुष्य भी उस चित्रकर्ण की तरह ही विनष्ट हो जाता है ॥ ५६ ॥

तब राजा बोला कि—'यह कथा कैसे है ? ।' वह कौवा कहने लगा—

किसी वन में मदोत्कट नाम का एक सिंह रहता था । उसके कौवा, व्याघ्र और शृगाल ये तीन सेवक थे । एक समय घूमते हुए उन्होंने किसी ऊँट को देखा और उससे पूछा कि—तुम अपने समूह से छूट कर यहाँ कहाँ से आये हो ? । तब उस ऊँट ने अपना सब वृत्तान्त कहा । फिर उन्होंने उसे ले जाकर सिंह को सौंप दिया । उसने उसे अभय वचन दे, चित्रकर्ण नाम रखकर, अपनेपास रख लिया । अनन्तर किसी दिन सिंह का शरीर अस्वस्थ होने के कारण और बहुत वृष्टि होने के कारण भोजन न मिलने से वे तीनों बहुत दुःखित हुए । तब उन्होंने सोचा कि जैसे स्वामी सिंह इस चित्रवर्ण को मारे, ऐसा ही उपाय करना चाहिये ।

१. 'राजा पृच्छति' । २ 'अनुचरास्त्रयः' । ३ 'शृगालश्च' । ४ कश्चित् । ५ 'एवं काले गच्छति कदाचित्' । ६ 'ततः काकव्याघ्रगोमायुभिः' ।

स्वामी व्यापादयति तथाऽनुष्ठीयताम्। किमनेन [1]'कण्टकभुजाऽस्माकम्?।

व्याघ्र उवाच—'स्वामिनाऽभयवाचं दत्त्वाऽनुगृहीतोऽयं, तत्कथमेवं सम्भवति'?। काको ब्रूते—'इह समये परिक्षीणः स्वामी पापमपि करिष्यति'। यतः—

'त्यजेत्क्षुधाऽऽर्त्ता महिला[2] स्वपुत्रं,
खादेत्क्षुधार्त्ता भुजगी स्वमण्डम्।
बुभुक्षितः किं न करोति पापं,
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति' ॥ ६० ॥

अन्यच्च—

'मत्तः, प्रमत्तश्चोन्मत्तः, श्रान्तः, [3]क्रुद्धो, बुभुक्षितः।
लुब्धो, भीरुस्त्वरायुक्तः, कामुकश्च न धर्मवित्' ॥ ६१ ॥

हन्ति। कण्टकभुजा=बदर्यादिकण्टकभोजिना। किं=किमस्माकं प्रयोजनम्। न किमपीत्यर्थः। अनुगृहीतः=अनुकम्पितः। इह=भोजनाऽलाभावसरे। क्षीणः=विपन्नः। पापम्=अनुचितमपि।

क्षुधार्त्ता=बुभुक्षिता सती। महिला=स्त्री। त्यजेत्=जह्यात्। भुजगी=सर्पी। अण्डम्=स्वाण्डं, स्वपुत्रम्। क्षीणाः=विपद्ग्रस्ताः। निष्करुणाः=निर्दयाः ॥ ६० ॥

मत्तः=गर्वितः। प्रमत्तः=अनवहितः। (असावधान)। उन्मत्तः=विक्षिप्तः,

क्योंकि इस काँटों के खाने वाले से हमारा लाभ ही क्या है!'। व्याघ्र बोला–'स्वामी सिंह ने अभय वचन देकर इस पर कृपा की है, अतः वह अब ऐसा कैसे कर सकता है!'। कौवा बोला कि–इस समय दुःखी और भूखा स्वामी पाप भी कर सकेगा।

क्योंकि—भूखी स्त्री अपने पुत्र को भी छोड़ देती है, भूखी सर्पिणी अपने अण्डों को भी खा जाती है, भूखा आदमी कौनसा पाप नहीं करता है!। क्योंकि दुःखी व क्षीण (भूखा, दरिद्र) मनुष्य निर्दयी हो जाते हैं ॥ ६० ॥

और भी—मत्त (घमण्डी), प्रमत्त (असावधान), उन्मत्त (पागल),

१ 'कण्टकभुजा। व्याघ्रो ब्रूते'। २. 'महिलाऽपि'। ३ 'क्रोधी'।

—इति [1]सञ्चिन्त्य सर्वे सिंहाऽन्तिकं जग्मुः। सिंहेनोक्तम्—'आहाराऽर्थं किञ्चित्प्राप्तम्[2], ?। तैरुक्तम्—'देव ! यत्नादपि न प्राप्तं किञ्चित् !'। सिंहेनोक्तम्—'कोऽधुना जीवनोपायः ? ।' काको वदति—'देव ! स्वाधीनाऽऽहारपरित्यागात्सर्वनाशोऽयमुपस्थितः' ?। सिंहेनोक्तम्—'अत्राऽऽहारः कः स्वाधीनः ? ।' काकः कर्णे कथयति—'चित्रकर्णः' इति। सिंहो भूमिं स्पृष्ट्वा, कर्णौ स्पृशति । [4]अब्रवीच्च—'अभयवाचं दत्त्वा धृतोऽयमस्माभिः, तत्कथमेवं सम्भवति' ?। [5]तथा हि—

(पागल)। श्रान्तः=परिश्रान्तः (थका हुआ)। क्रुद्धः = कुपितः। बुभुक्षितः = क्षुधातुरः। भीरुः=भयातुरः। त्वरायुक्तः=त्वरावान्। कामुकः = कामी। एते धर्मं न पालयन्तीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

सिंहान्तिकं=सिंहसमीपम्। जीवनोपायः=प्राणरक्षणोपायः। स्वाधीनाऽऽहारपरित्यागात्=स्वायत्तभोजनत्यागात्। सर्वनाशः=सर्वेषामस्माकं विनाशसमयः। आहारः= भक्ष्यम्। भूमिमिति। एतद्विचारस्यात्यन्तमनौचित्यं दर्शयितुं भूम्यादिस्पर्शः। अभयवाक्=अभयवचनम्। तत्=तस्मात्। एवं = तद्वधः।

थका हुआ, क्रोधी, भूखा, लोभी, डरपोक, त्वरायुक्त, (जल्दबाज) और कामी, ये लोग धर्म को नहीं जानते (देखते) हैं ॥ ६१ ॥

यह विचार कर वे सब सिंह के पास गये। उन्हे देखकर सिंह बोला कि—'भोजन के लिये कुछ मिला ?'। वे बोले कि—'यत्न करनेपर भी कुछ नहीं मिला'। सिंह बोला कि—तो अब जीने का क्या उपाय है ?। कौवा बोला कि—देव ! अपने अधीन जो भोजन है, उसको छोड़ देने से ही यह सब कष्ट उपस्थित हुआ है।' सिंह बोला कि-यहाँ अपने अधीन भोजन क्या है ?। कौवे ने कान में कहा कि—यह चित्रकर्ण है। सिंह ने भूमि छूकर कान छूआ और कहा कि—राम, राम, हमने इसे अभय वचन देकर रक्खा है, अतः ऐसा कैसे हो सकता है ?।

१. 'निश्चित्य'। २ 'प्राप्तं किञ्चित्'। ३ कश्चिन्न। ४ 'अन्ते च—मयाऽस्मै अभयवाग्दत्ता'। ५ 'तथा च'।

'न भूप्रदानं, न सुवर्णदानं,
न गोप्रदानं, न तथाऽन्नदानम् ।
यथा वदन्तीह महाप्रदानं,
सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम्' ॥ ६२ ॥

अन्यच्च—

'सर्वकामसमृद्धस्य अश्वमेधस्य यत्फलम् ।
तत्फलं लभते सम्यग् रक्षिते शरणाऽऽगते' ॥ ६३ ॥

काको ब्रूते—'नाऽसौ स्वामिना व्यापादयितव्यः, किन्त्वस्माभिरेव तथा कर्त्तव्यं, यथाऽसौ स्वदेहदानमङ्गीकरोति' ।

सिंहस्तच्छ्रुत्वा तूष्णीं स्थितः । ततोऽसौ लब्धाऽवकाशः कूटं कृत्वा,

---

यथेति । सर्वोत्कृष्टस्वर्णभूम्यादिदानापेक्षयाऽपि अभयप्रदानं महाप्रदानं वदन्ति विद्वांसः ॥ ६२ ॥

सर्वकामसमृद्धस्य = सर्वाभीष्टप्रदानोपपन्नस्य । शरणागते=शरणमागते । रक्षिते= परित्राते सति । सम्यक् = परिपूर्णम् ॥ ६३ ॥ असौ=उष्ट्रः । तूष्णीमिति । अनुमतिसूचनार्थं मौनम् । 'मौनं संमतिलक्षण'मित्युक्तेः ।

असौ = काकः । कूटं=कपटं । (षड्यन्त्र) । सर्वान् = व्याघ्रजम्बूकोष्ट्रादीन् ।

और किसी ने कहा भी है कि—न ऐसा पृथ्वी का दान है, न सुवर्ण का दान है, न गौ का दान है, और न ऐसा अन्न का दान ही है, जैसा कि सब दानों में बड़ा अभय दान है ॥ ६२ ॥

और भी—सब कामनाओं को पूर्ण करने वाले अश्वमेध यज्ञ से जो फल होता है, वही फल शरण में आये हुए की अच्छी प्रकार रक्षा करने से भी प्राप्त होता है ॥ ६३ ॥

कौवा बोला कि—आप उसे मत मारिये । परन्तु हमलोग ही ऐसा उपाय करेंगे कि जिससे वह ऊँट अपने शरीर को स्वयं ही आपको देना स्वीकार कर लेगा ।' सिंह यह सुन चुप हो रहा । इसके उपरान्त वह कौआ अवसर पाकर छल करके

सर्वानादाय[1] सिंहाऽन्तिकं गतः। अथ काकेनोक्तं—'देव ! यत्नादप्याहारो न प्राप्तः, अनेकोपवासक्लिष्टश्च[2] स्वामी, तदिदानीं मदीयमांसमुपभुज्यताम्'। यतः—

'स्वामिमूला भवन्त्येव[3] सर्वाः प्रकृतयः खलु।
समूलेष्वपि वृक्षेषु प्रयत्नः सफलो नृणाम्' ॥ ६४ ॥

सिंहेनोक्तम्—'भद्र[4] ! वरं प्राणपरित्यागो, [5]न पुनरीदृशे कर्मणि प्रवृत्तिः।' जम्बुकेनाऽपि तथोक्तम्। ततः सिंहेनोक्तं–'मैवम्'। अथ [6]व्याघ्रेणोक्तं—'मद्देहेन जीवतु स्वामी।' सिंहेनोक्तं—'न कदाचिदेवमुचितम्'।

अथ=तदनन्तरम्। यत्नात्=कृतेऽपि। आहारः=भोज्यं वस्तु। अनेकोपवासक्लिष्टः = अनेकदिनकृतोपवासः, कृशश्च। स्वामी = देवः। स्वामीति। अमात्यादिरूपाः सर्वा अपि प्रकृतयो राजाश्रितास्तन्मूला एव भवन्ति। समूलेषु च वृक्षेषु सत्स्वेव ततः फलाशा भवति, तद्वर्धनार्थं प्रयत्नश्च सफलो भवति ॥ ६४ ॥

वरं = किञ्चिच्छ्रेष्ठः। ईदृशे = आश्रितपिशितभोजनप्रवृत्तिरूपे। जम्बूकेन = शृगालेन। तथोक्तं = मद्देहेन प्राणयात्रा करणीयेत्युक्तम्। जीवतु = प्राणान् धार-

सबको लेकर सिंह के पास गया और बोला कि–हे देव ! यत्न करने से भी भोजन (शिकार) नहीं मिला। और आप भी बहुत दिनों से भोजन किये बिना दुर्बल हो रहे है, अतः अब आप मेरे ही माँस को खाकर अपना प्राण बचाइए।

क्योंकि अष्टाङ्ग राज्य (राष्ट्र) की भी जड़ तो स्वामी (राजा) ही होता है। और मूल (जड़) वाले वृक्ष में ही मनुष्योंका यत्न सफल होता है। (उसी से फल की आशा की जा सकती है) ॥ ६४ ॥

तब सिंह बोला कि—'मरना अच्छा है, पर ऐसा काम करना (अपने आश्रित को मारना, काक मांस खाना) तो कभी अच्छा नहीं है'। तब शृगाल ने भी यों ही कहा। सिह बोला कि–ऐसा मत कहो। मैं ऐसा कभी नहीं कर सकता हूँ। फिर

१. 'सिंहसमीपमागतः'। २ 'खिन्नः'। ३ 'भवन्त्येताः'। ४. क्वचिन्न। ५ 'न च पुनः'। ६ 'व्याघ्र उवाच'।

अथ चित्रकर्णोऽपि [1]जातविश्वासस्तथैवाऽऽत्मदेहदानमाह[2]। [3]ततस्तद्वचनात्तेन व्याघ्रेणाऽसौ कुक्षिं विदार्य्य, व्यापादितः, सर्वैर्भक्षितश्च। अतोऽहं ब्रवीमि—'मतिर्दोलायते सत्यम्' इत्यादि ॥ ❀ ॥

[4]ततस्तृतीयधूर्त्तवचनं श्रुत्वा,[5] स्वमतिभ्रमं निश्चित्य, छागं त्यक्त्वा, ब्राह्मणः स्नात्वा, गृहं ययौ। [6]छागश्च तैर्धूर्तैर्नीत्वा भक्षितः। अतोऽहं ब्रवीमि—'आत्मौपम्येन यो वेत्ति'—इत्यादि ॥❀॥

राजाऽऽह—'मेघवर्ण! कथं शत्रुमध्ये त्वया सुचिरमुषितम्?, कथं वा तेषामनुनयः कृतः!'। मेघवर्ण उवाच—'देव! स्वामिकार्योऽर्थितया,

यतु। जातप्रत्ययः = 'स्वामी न मां भक्षयिष्यती'ति जातविश्वासः। तथैव=काकादिवदेव। तद्वदन्नेव=स्वदेहदानवार्त्तां कथयन्नेव। द्वीपिना=व्याघ्रेण। निश्चित्य= 'कुक्कुरोऽयं, न तु च्छाग' इति निश्चित्य। खादितः=भक्षितः।

सुचिरं=बहुकालम्। उषितं=निवासः कृतः। अनुनयः=अनुवर्त्तनम्।

व्याघ्र ने भी कहा कि—हे स्वामी, मेरे शरीर से ही आप अपना जीवन धारण कीजिए।' सिंह बोला कि—'यह कभी उचित नहीं है।' यह सुनकर विश्वास पाकर वह चित्रकर्ण भी ऐसे ही अपना शरीर देने को कहने लगा। उसके कहने पर तुरन्त ही उस व्याघ्र ने उस ऊँट का पेट फाड़ कर उसको मार डाला और सबने खा लिया। इसलिए मैंने कहा कि—'दुष्टों के कहने से विश्वास में आकर बुद्धिमानों की बुद्धि भी चलित हो जाती है' इत्यादि ॥ आगे कुछ दूर जाने पर तीसरे धूर्त ने भी वही बात कही। तब उसका वचन सुन, अपनी बुद्धि का ही भ्रम जानकर (अर्थात् 'यह कुत्ता ही है' ऐसा निश्चय कर), उस बकरे को छोड़कर, स्नान कर वह ब्राह्मण अपने घर चला गया। तब उस बकरे को ले जाकर उन धूर्तों ने खा लिया। इसलिए मैंने कहा कि—'जो दुष्टों को भी अपने समान सच्चा ही समझता है, वह धूर्तों से ठगा जाता है' इत्यादि ॥

राजा बोला कि—हे मेघवर्ण! तूं बहुत दिनों तक शत्रुओं के बीच में कैसे रहा?। और किस प्रकार तूंने उनसे मेल-मिलाप किया?। मेघवर्ण बोला कि—

१ 'जातप्रत्ययः'। २. 'आत्मदानमाह'। ३. 'तद्वदन्नेवाऽसौ व्याघ्रेण'। ४'तदनन्तरं पुनस्तृतीय'। ५'श्रुत्वा स विप्रो भ्रमं निश्चित्य,छागं त्यक्त्वा, स्नात्वा'। ६ 'छागस्तैर्धूर्त्तैर्नीत्वा खादितः'।

स्वप्रयोजनवशाद्वा किं किं न क्रियते'। पश्य—

'लोको वहति किं राजन्न मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनम् ।
[1]क्षालयन्त्यपि वृक्षाङ्घ्रिं नदीवेला निकृन्तति' ॥ ६५ ॥

तथा चोक्तम्—

'स्कन्धेनाऽपि [2]वहेच्छत्रून् कार्यमासाद्य बुद्धिमान् ।
यथा वृद्धेन सर्पेण मण्डूका विनिपातिताः' ॥ ६६ ॥

राजाऽऽह—'कथमेतत् ?'। मेघवर्णः कथयति—

११. मन्दविष–मण्डूक–कथा ।

अस्ति जीर्णोद्याने मन्दविषो नाम सर्पः। सोऽतिजीर्णतया [3]स्वा-

(खुशामद)। स्वामिकार्यार्थितया=राजकार्यसिद्ध्यर्थं प्रयतमानेन। स्वप्रयोजनवशात्=स्वार्थवशात्। हे राजन्=हे नृप। लोकः–इन्धनं=काष्ठं, दग्धुं=प्रज्वालयितुं, विनाशयितुञ्च, किं मूर्ध्ना=शिरसा न वहति ?, किन्तु वहत्येव। वृक्षाङ्घ्रिं=वृक्षमूलं, तत्पादञ्च। क्षालयन्ती=स्पृशन्ती, प्रक्षालयन्ती च। नदीवेला=नदीपूरः। (वेला=बाढ)। वृक्षाङ्घ्रिं निकृन्तति=उन्मूलयत्येव ॥ ६५ ॥ कार्यमासाद्य=कार्यगौरवेण। स्वकार्यमनुरुद्ध्य ॥ ६६ ॥

जीर्णोद्याने=पुरातने आक्रीडे। (पुराने बगीचे में)। अतिजीर्णतया=

देव! स्वामी के काम के लिए और अपने प्रयोजन के वश से क्या २ नहीं किया जाता है ?। देखिए—हे राजन्! क्या जलाने के लिए इन्धन को मनुष्य अपने सिर पर नहीं रखता है ?। और नदी की धारा भी वृक्षों के पैरों (जड़) को धोकर भी उन्हें काट देती है ॥ ६५ ॥

और कहा भी है—बुद्धिमान् मनुष्य काम पड़ने पर अपने शत्रुओं को कन्धे पर भी चढ़ावे, जैसे उस बूढ़े सांप ने मेढकों को कन्धे पर चढ़ाकर ही मारा था ॥६६॥
राजा ने पूछा कि–'यह कथा कैसे है ?। 'मेघवर्ण कहने लगा—

एक पुराने बगीचे में मन्दविष नाम एक साँप रहता था। वह बहुत वृद्ध हो

१. 'क्षालयन्नपि वृक्षाङ्घ्रिं नदीवेगः' पा०। २. 'शत्रुं'। ३. 'आहारं'।

ऽऽहारमप्यन्वेष्टुमक्षमः सरस्तीरे पतित्वा स्थितः। ततो दूरादेव केनचिन्मण्डूकेन दृष्टः, पृष्टश्च—'किमिति [1]त्वमाहारं नाऽन्विष्यसि'?। [2]सर्पोऽवदत्—'गच्छ भद्र! किन्ते मम मन्दभाग्यस्य वृत्तान्तप्रश्नेन'? ततः सञ्जातकौतुकः स च भेकः 'सर्वथा कथ्यताम्' [3]इत्याह। [4]सर्पोऽप्याह—भद्र! [5]ब्रह्मपुरवासिनः श्रोत्रियस्य कौण्डिन्यस्य पुत्रो विंशतिवर्षदेशीयः, सर्वगुणसम्पन्नो, दुर्दैवान्मया नृशंसेन दष्टः[6]। ततस्तं[7] सुशीलनामानं पुत्रं मृतमवलोक्य, शोकेन मूर्छितः कौण्डिन्यः पृथिव्यां लुलोठ[8]। अनन्तरं ब्रह्मपुरवासिनः सर्वे बान्धवास्तत्राऽऽगत्योपविष्टाः। तथा चोक्तम्—

अतिवृद्धतया। अन्वेष्टुम्=अर्जयितुम्। मन्दभाग्यस्य=मन्दप्रारब्धस्य। सञ्जातकौतुकः=आश्चर्याविष्टः। सर्वथा=अवश्यमेव। श्रोत्रियस्य=वेदाध्यायिनः। विंशतिवर्षदेशीयः=ईषदसमाप्तविंशतिवर्षः। दुर्दैवात्=दुर्भाग्यात्। नृशंसेन=क्रूरेण। लुलोठ=पपात। ('पछाड़ खाकर गिरा' 'जमीन पर लोटने लगा')। तत्र=

जाने से अपने लिए भोजन ढूँढने में भी असमर्थ होकर नदी के किनारे पर आकर पड़ा हुआ था। उसे दूर से ही किसी मेढक ने देखा और पूछा कि—'तुम अपना भोजन क्यों नहीं ढूँढते हो'?। साँप बोला कि—भाई! जाओ, मुझ मन्दभागी के वृत्तान्त को पूछने से भी तुमको क्या लाभ है?। तब कौतुकपूर्वक उस मेढक ने पुनः पूछा कि—'नहीं २ जरूर कहिए, क्या बात है।' साँप बोला—भाई! ब्रह्मपुर के निवासी विद्वान् कौण्डिन्य नामक वेदपाठी के प्रायः बीस वर्ष की अवस्था वाले जवान पुत्र को अपने दुर्भाग्य से और अपने स्वभाव की कठोरता से ही मैंने काट लिया। तब सुशील नामक अपने पुत्र को मरा हुआ देख कर मूर्छित होकर वह कौण्डिन्य पृथ्वी पर लोट गया। अनन्तर ब्रह्मपुर के रहने वाले उसके सब बन्धु-बान्धवजन वहाँ आए।

१ 'भवानाहारं नाऽन्विष्यति'। २ 'सर्पो ब्रूते—भद्र! गच्छ मम मन्दभाग्यस्य वृत्तान्तप्रश्नेन किम्'। ३ 'इति तं सर्पमाह'। ४ 'सर्पो ब्रूते'। ५ 'अत्र ब्रह्मपुरे कौण्डिन्यनाम्नः श्रोत्रियस्य पुत्रो विंशतिवर्षीयः'। ६ 'नृशंसस्वभावाद्दष्टः'। ७ 'तं पुत्रं सुशीलनामानं मृतमालोक्य'। ८ 'पृथिवीतले'।

'उत्सवे, व्यसने, युद्धे, दुर्भिक्षे, राष्ट्रविप्लवे ।
राजद्वारे, श्मशाने च यस्तिष्ठति, स बान्धवः' ॥ ६७ ॥

[1]तत्र कपिलो नाम स्नातकोऽवदत्—'अरे कौण्डिन्य ! मूढोऽसि, येनैवं विलपसि' । शृणु—

'क्रोडीकरोति प्रथमं यदा जातमनित्यता ।
धात्रीव, जननी पश्चात्, तदा शोकस्य कः क्रमः' ? ॥६८॥

[2]तथा च—

'क्वः गताः पृथिवीपालाः ससैन्यबलवाहनाः ।
वियोगसाक्षिणी येषां भूमिरद्यापि तिष्ठति' ! ॥ ६९ ॥

कौण्डिन्यगृहे । व्यसने = विपदि । राष्ट्रविप्लवे = राज्यविपर्यये । (राज्यक्रान्ति में) । राजद्वारे=राजगृहे । (कचहरी में) । तिष्ठति=उपस्थितो भवति ॥६७॥ स्नातकः= ब्रह्मचर्येण व्रतेन समाप्तवेदः, सद्गृहस्थः । मूढः=मूर्खः । एवम् = इत्थम् । विलपसि= रोदिषि ॥ यदा-जातम् = उत्पन्नं बालकम्, धात्रीव=उपमातेव । अनित्यता प्रथमं क्रोडीकरोति = आदौ तमङ्के धारयति, आश्रयति । पश्चात् जननी = माता, तं क्रोडीकरोति । तदा शोकस्य अवसर एव कः ? ॥ ६८ ॥

पृथिवीपालाः=राजानः । ससैन्यबलवाहनाः=सेना–पराक्रम-वाहनादिसहिताः ।

कहा भी है—उत्सव में, विपत्ति और सङ्कट में, युद्ध में, दुर्भिक्ष में, राज्य के उथल पुथल में, राजद्वार (कचहरी) में और श्मशान (मरघट) में जो साथ दे, वही सच्चा बन्धु है ॥ ६७ ॥

और वहाँ कपिल नामका एक गृहस्थ भी आया था, वह बोला कि—'अरे कौण्डिन्य ! तूं बड़ा मूर्ख है, इसीलिए तो तूं इस तरह रोता है ।

सुन—भाई ! उत्पन्न हुए बालक को प्रथम तो धाय की तरह अनित्यता ही अपनी गोद में लेती है और पीछे से उसकी माता उसको गोद में लेती है, इसलिए इसमें (अनित्यवस्तु के जाने में) शोक का कौन अवसर है ? ॥ ६८ ॥

और बड़ी सेना, पलटन और हाथी तथा घोड़ोंवाले वे सब बड़े २ राजा

---

१. 'ततः कपिलो' । २ कचिन्न ।

[1]तथा च-

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
अद्य वाऽब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः' ॥७०॥

अपरञ्च—

'कायः संनिहितापायः, सम्पदः पदमापदाम् ।
समागमाः साऽपगमाः, सर्वमुत्पादि भङ्गुरम्' ॥ ७१ ॥
'प्रतिक्षणमयं कायः क्षीयमाणो न लक्ष्यते ।
आमकुम्भ इवाऽम्भःस्थो विशीर्णः सन्विभाव्यते' ॥७२॥

येषां वियोगसाक्षिणी=वियोगं सूचयन्ती । यैर्वियुक्ता । भूः=पृथिवी । अद्यापि=इदानीमपि ॥ ६९ ॥ ध्रुवः=निश्चितः । वै-इति निश्चये । प्राणिनां=जन्मिनाम् ॥ ७० ॥ कायः=शरीरम् । सन्निहिताऽपायः=सन्निकटविनाशः । विनाशोन्मुख एव । आपदां=विपदाम् । पदं=स्थानम् । समागमाः=सुहृदादिभिः सङ्गमाः, संयोगाः । सापगमाः=सवियोगाः, वियोगपर्यवसायिनः । उत्पादि=उत्पद्यमानम् । भङ्गुरं=विनश्वरम् ॥ ७१ ॥

प्रतिक्षणं=प्रतिपलम् । आमकुम्भः=अपक्वो घटः । अम्भःस्थः=जलस्थितः ।

महाराज कहाँ गये ?, जिनके वियोग की साक्षिणी यह भूमि आज भी स्थित है ॥६९॥

और भी—जन्मे हुए प्राणी की मृत्यु निश्चित है, और मरे हुए का पुनः जन्म भी निश्चित है । और आज, या सौ वर्ष के बाद भी प्राणियों की मृत्यु निश्चित ही है ॥ ७० ॥

और—शरीर तो प्रतिक्षण नाशमान् है, सम्पत्तियाँ भी आपत्तियों का ही स्थान है, मिलाप भी वियोग के साथ है, और उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ नष्ट होने ही वाले हैं ॥ ७१ ॥

और—यह शरीर प्रतिक्षण क्षीण होता हुआ भी दीख नहीं पड़ता है, परन्तु जल में रक्खे हुए कच्चे घड़े के समान गल जाने पर ही दिखाई देता है ॥ ७२ ॥

१. कश्चिन्न ।

'आसन्नतरतामेति मृत्युर्जन्तोर्दिने-दिने ।
आघातं नीयमानस्य [illegible] पदे-पदे' ॥ ७३ ॥

यतः—

'अनित्यं यौवनं, रूपं, जीवितं, द्रव्यसञ्चयः ।
ऐश्वर्यं, प्रियसंवासो, मुह्येत्तत्र न पण्डितः' ॥ ७४ ॥

'यथा काष्ठञ्च काष्ठञ्च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां, तद्वद्भूतसमागमः' ॥ ७५ ॥

'यथा हि पथिकः कश्चिच्छायामाश्रित्य तिष्ठति ।
विश्रम्य च पुनर्गच्छेत्तद्वद्भूतसमागमः' ॥ ७६ ॥

विशीर्णः = भग्नः (फूटने पर ही मालूम होता है) ॥ ७२ ॥ आसन्नतरताम् = अतिसान्निध्यम् । आघातं = वध्यस्थानम् । नीयमानस्य = प्राप्यमाणस्य ॥ ७३ ॥

अनित्यमिति । यौवनादिकं सर्वमनित्यं, तत्र पण्डितो न मोहं गच्छेत् ॥७४॥ यथा काष्ठञ्च नद्यादौ काष्ठेन सह सङ्गच्छते, पुनश्च कियता समयेन ततो वियुज्यते, एवमेवायं सर्वोऽपि भूतसमागमः = प्राणिसमागमो वियोगपर्यवसायीत्यर्थः ॥ ७५ ॥

पथिकः = पान्थः । छायां = वृक्षादिच्छायाम् ॥ ७६ ॥

और मृत्यु शरीरधारियों के समीप दिन प्रतिदिन उसी तरह निकट आती रहती है, जैसे वधस्थान में लेजाया जाता हुआ वध्य जीव पद २ में मृत्यु के पास ही पहुँचता है ॥ ७३ ॥

क्योंकि—यौवन (जवानी), रूप, जीवन, धन का सञ्चय, ऐश्वर्य और प्रियजनों के साथ समागम—ये सभी अनित्य हैं, इसलिये इनमें पण्डित को कभी मोह नहीं करना चाहिए ॥ ७४ ॥

जैसे—नदी और समुद्र आदि में एक काष्ठ से अन्य काष्ठ मिलता है, और मिलकर भी वह फिर अलग हो जाता है, ऐसे ही मनुष्यों का भी यह संयोग है। (उनका भी कभी संयोग और कभी वियोग स्वयमेव होता रहता है) ॥ ७५ ॥

जैसे कोई मार्ग मे चलने वाला यात्री (मुसाफिर) वृक्षकी छाया के आसरे

अन्वय—

'पञ्चभिर्निर्मिते देहे, पञ्चत्वं च पुनर्गते।
स्वां स्वां योनिमनुप्राप्ते, तत्र का परिदेवना'? ॥ ७७ ॥
'यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः' ॥ ७८ ॥
'नाऽयमत्यन्तसंवासो लभ्यते येन केनचित्।
अपि स्वेन शरीरेण, किमुताऽन्येन केनचित्' ॥ ७९ ॥

पञ्चभिः=पृथिव्यादिपञ्चभूतैः। पञ्चत्वं=विनाशम्। स्वां=स्वकीयाम्। योनिं=कारणं,-पृथिव्यादिकम्। अनुप्राप्ते=गते सति। परिदेवना=विलापः, शोकः ॥७७॥

जन्तुः=प्राणी। मनसः प्रियान्=हृद्यान्। शोकशङ्कवः=शोककीलकाः। निखन्यते=आरोप्यन्ते। प्रियविप्रयोगे शोकस्याऽवश्यम्भावित्वात् ॥ ७८ ॥

स्वशरीरेणापि सह स्वस्य अत्यन्तसंवासः = स्थिरसम्बन्धः, न लभ्यते, अन्येन

से कहीं बैठता है, और फिर विश्राम करके आगे चला जाता है, इसी प्रकार इस संसार में भी प्राणियों का यह समागम है ॥ ७६ ॥

और भी—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच भूतों से ही यह शरीर बना है। और फिर अपनी २ योनि में अर्थात् ५ तत्त्वों में तत्त्वोंके मिल जाने पर (मरजाने पर) इसमें शोक क्या करना है? ॥ ७७ ॥

और यह शरीरधारी जीव मन को प्रिय वस्तुओं (बन्धु-बान्धओं) से जितना भी सम्बन्ध स्थापित करता है, उतनी ही शोक की कीलें इसके हृदय में गड़ती हैं। अर्थात्-एकदिन उन्हीं प्रियबान्धवों के लिए उसे शोक भी करना पड़ेगा। क्योंकि एक दिन वे सब नष्ट होंगे ही ॥ ७८ ॥

और किसी के साथ भी इस प्राणी का समागम (मेल) बहुत दिन तक नहीं रह सकता है। इतना ही नहीं, किन्तु कोई भी प्राणी अपने शरीर से भी बहुत समय तक संमिलित नहीं रह सकता है, यह शरीर भी नष्ट होगा ही, फिर दूसरों से सदा मिलाप की बात का तो कहना ही क्या है? ॥ ७९ ॥

१. 'तावन्तोऽपि'।

अपि च—

'संयोगो हि वियोगस्य संसूचयति सम्भवम् ।
अनतिक्रमणीयस्य जन्म मृत्योरिवाऽऽगमम्' ॥ ८० ॥
'आपातरमणीयानां संयोगानां प्रियैः सह ।
अपथ्यानामिवाऽन्नानां परिणामोऽतिदारुणः' ॥ ८१ ॥

अपरञ्च—

'व्रजन्ति, न निवर्त्तन्ते स्रोतांसि सरितां यथा ।
आयुरादाय मर्त्यानां [1]तथा रात्र्यहनी [2]सदा' ॥८२ ॥

सह तु किमुत = सुतरामेव न लभ्य इत्यर्थः ॥ ७९ ॥ संयोगः = सम्बन्धः । सम्भवम् = उत्पत्तिम् । यथा जन्म—अनुल्लंघनीयमृत्युसूचकम् ॥ ८० ॥ प्रियैः सह—आपातरमणीयानां = तत्कालमात्रमधुराणां, पर्यन्ते क्लेशप्रदानाम् । अतिदारुणः = भीषणः, क्लेशदः ॥ ८१ ॥

सरितां=नदीनाम् । स्रोतांसि=प्रवाहाः । व्रजन्त्येव=गच्छन्त्येव । न निवर्त्तन्ते= न प्रत्यायान्ति । (कभी वे वापिस नहीं लौटते हैं) । तथा मनुष्याणामायुः = जीवितकालम्, आदाय, रात्रिरहश्च गच्छतः, न च ते पुनर्निवर्त्तेते ॥ ८२ ॥

और भी—जब संयोग (मिलना) होता है, तभी वह जुदाई के होने की सूचना भी करता है । जैसे मनुष्य का जन्मही उसकी अवश्यम्भावी मृत्यु के आगमन को भी सूचित करता है ॥ ८० ॥

और प्रियजनों के साथ मिलाप यद्यपि ऊपर से देखने में तो बहुत रमणीय होता है, परन्तु अपथ्य अन्न के भोजन के समान उसका परिणाम अन्तमें बड़ा ही दारुण (कष्टप्रद) होता है ॥ ८१ ॥

और भी—जैसे नदियों के प्रवाह आगे आगे जाते रहते हैं, पर वे कभी पीछे नहीं फिरते हैं, (वापिस पुनः कभी नहीं आते हैं), वैसे ही ये रात और दिन भी नित्य आते हैं, और मनुष्यों की आयु को लेकर चले जाते हैं । अर्थात् प्रतिदिन आयु घटती ही जाती है ॥ ८२ ॥

१ 'यथा' । २. 'तथा' ।

'सुखाऽऽस्वादपरो यस्तु संसारे सत्समागमः ।
स वियोगाऽवसानत्वाद् दुःखानां धुरि युज्यते' ॥ ८३ ॥
'अत एव हि नेच्छन्ति साधवः सत्समागमम् ।
यद्वियोगाऽसिलूनस्य मनसो नास्ति भेषजम्' ॥ ८४ ॥
'सुकृतान्यपि कर्माणि राजभिः सगरादिभिः ।
अथ तान्येव कर्माणि, ते चाऽपि, प्रलयं गताः' ॥ ८५ ॥

यः सतां=सज्जनानां समागमः=मेलनम्,-स एव सुखास्वादपरः-सुखास्वादस्य परं परायणं । नितरां सुखास्वादप्रद इति यावत् । स एव च वियोगावसानतया नितरां दुःखजनक इत्यर्थः । धुरि=अग्रे ॥ ८३ ॥

साधवः=सज्जनाः । सत्समागममपि नेच्छन्ति । यतस्तैर्वियोग एव-असिः=खड्गः, तेन लूनस्य छिन्नस्य मनसो,-भेषजम्=औषधमेव नास्ति ॥ ८४ ॥

सगरादिभिः पुण्यकर्मभिर्यज्ञादीनि बहूनि सुकृतानि कृतानि,परं कियता कालेन ते सुकृतिनस्तानि च तेषां कर्माणि सर्वाण्यपि नष्टानि । प्रलयः=विनाशः ॥ ८५ ॥

और संसार में जो उत्कृष्ट सुखास्वाद का देने वाला सज्जनों का समागम है, वह भी अन्त में वियोगप्रद ही होने से, दुःखों की कोटि में सबसे आगे ही गिना जाता है ॥ ८३ ॥

इसलिए साधु लोग श्रेष्ठों के मिलाप को भी नहीं चाहते हैं, क्योंकि उनके वियोग रूपी तलवार से घायल हुए मन के आराम के लिए संसारमें कोई भी औषधि नहीं है ॥ ८४ ॥

और राजा सगर, नहुष, ययाति आदि ने यज्ञ, दान आदि बहुत से पुण्यकर्म किये, परन्तु वे राजा और उनके वे सब कर्म भी शीघ्र ही नष्ट हो गये । आज उनका जाननेवाला भी कोई नहीं है ॥ ८५ ॥

'सञ्चिन्त्य सञ्चिन्त्य तमुग्रदण्डं,
मृत्युं मनुष्यस्य विचक्षणस्य ।
वर्षाऽम्बुसिक्ता इव चर्मबन्धाः,
सर्वे प्रयत्नाः शिथिलीभवन्ति' ॥ ८६ ॥

'यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति
गर्भे निवासं नरवीरलोकः ।
ततः प्रभृत्यस्खलितप्रयाणः,
स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति' ॥ ८७ ॥

अथ संसारं विचारय, शोकोऽयमज्ञानस्य प्रपञ्चः । पश्य—

'अज्ञानं कारणं न स्याद्, वियोगो यदि कारणम् ।
शोको दिनेषु गच्छत्सु वर्द्धतामपयाति किम्' ॥ ८८ ॥

उग्रदण्डं = तीक्ष्णदण्डं । विचक्षणस्य = विदुषः । चर्मबन्धाः = चर्मवरत्राग्रन्थिबन्धनानि । प्रयत्नाः = मनोरथाः । प्रयासाश्च ॥ ८६ ॥ गर्भागमनरात्रिमारभ्य प्रत्यहं मनुष्यो मृत्युसमीपमेवैति । अस्खलितप्रयाणः = अनवरुद्धगतिः ॥ ८७ ॥

संसारं = संसारदशाम् । अज्ञानस्य = अविद्यायाः । मोहजन्मा शोकः = यदि शोको मोहजन्मा न स्यात्किन्तु वियोगजन्मा स्यात्तर्हि प्ररूढे (जीर्णे, पुरातने)—

और विद्वान् मनुष्यों के सारे यत्न उस उग्रदण्ड मृत्यु (काल) को याद करके, वर्षा के जलमें भीगे हुए चमड़े के बन्धनों की तरह ही, शिथिल (ढीले) हो जाते हैं । अर्थात् किसी के भी साथ रियायत नहीं करने वाली उस भयङ्कर मृत्यु को स्मरण करके ही विद्वानों के सभी प्रयत्न शिथिल हो जाते हैं, और वे भगवद्भजन को ही सार समझ कर उसकाही आश्रय लेते हैं ॥ ८६ ॥

और हे नरवीर ! मनुष्य जिस पहिली रात्रि को गर्भ में आता है, (माता के पेट में आता है), तभी से वह प्रतिदिन, विना रुके हुए ही, मृत्यु के समीप ही चलता जाता है ॥ ८७ ॥

इसलिये तुम इस संसार की अनित्यता को विचारो । और यह शोक भी अज्ञान का ही प्रपञ्च है ।

क्योंकि देखो—यदि अज्ञान शोक का कारण न हो, और वियोग ही उसका

'तद् भद्र ! तद् आत्मानमनुसन्धेहि, शोकचर्चां च परिहर'। यतः–

'अकाण्डपातजातानां, गात्राणां मर्मभेदिनाम्'।
गाढशोकप्रहाराणामचिन्तैव महौषधम्' ॥ ८९ ॥

ततस्तद्वचनं निशम्य, प्रबुद्ध इव कौण्डिन्य उत्थायाऽब्रवीत्— तदलमिदानीं गृह-नरक-वासेन, वनमेव गच्छामि ।'

वियोगे शोकोऽयं वर्द्धेता, किं तु न वर्द्धते, अतो मोहजन्मैवाऽयं शोको, न तु वियोग-प्रभव इत्याशयः ॥ ८८ ॥

अनुसन्धेहि=समाहितं कुरु। अकाण्डपातजातानाम्=अचिन्तिताऽनवसरापतितानाम्। गात्राणां = शरीराणां, मर्मभेदिनाम् = अरुन्तुदानाम्। गाढशोकप्रहाराणाम्= गुरुशोकप्रदानामाघातानाम् । अचिन्तैव = चिन्ताऽभाव एव। महौषधम् = अव्यर्थमौषधम् ॥ ८९ ॥

तद्वचनं=कपिलाख्यस्नातकवाक्यम्। निशम्य=श्रुत्वा। अलं=न प्रयोजनम्। गृहमेव नरकं, तत्र वासेन=स्थित्या।

कारण हो तो फिर कुछ दिन बीतने पर, पुराना पड़ने पर, यह शोक घटता क्यों है, बढ़ता क्यों नहीं है ? । क्योंकि वियोग तो उस समय भी है ही ॥ ८८ ॥

अतः अपने आत्मा का अनुसन्धान करो । अर्थात् विचार करो, और पुत्र शोक की इस विशेष चर्चा को दूर करो।

क्योंकि—बिना समय में अकस्मात् आए हुए और मर्मस्थल का भेदन करने वाले बड़े २ शोक के प्रहारों की भी ओषधि–उनकी चिन्ता नहीं करना ही है ॥ ८९ ॥

इस प्रकार उस कपिल के वचन सुनकर उस कौडिन्य को कुछ प्रबोध हुआ और वह उठकर बोला कि–अच्छा, तो अब इस गृहरूपी नरक में रहना ही उचित नहीं है, अतः अब मैं वन को ही जाता हूँ।

१. 'तदत्रात्मानमनु'। २ चकारः क्वचिन्न। ३ 'जातानामस्त्राणां'।

कपिलः [1]पुनराह—

'वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां,
गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्त्तते,
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्' ॥ ९० ॥

यतः—

[2]दुःखितोऽपि चरेद्धर्मं, यत्र कुत्राऽऽश्रमे रतः ।
समः सर्वेषु भूतेषु, न लिङ्गं धर्मकारणम्' ॥ ९१ ॥

रागिणाम् = विषयाऽऽसक्तचेतसाम् । वनेऽपि दोषाः = कामक्रोधादयो दोषाः । प्रभवन्ति = सम्प्रवर्त्तन्ते एव । जायन्ते एव । गृहेऽपि पुनः–पञ्चेन्द्रियनिग्रहः= चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां, निग्रहः=संयम एव तपः–कर्त्तुं शक्यते । यः किल–अकुत्सिते =अनिन्दिते, शास्त्राऽनिषिद्धे, विधिबोधिते, शिष्टाऽविगीते, कर्मणि रागं विहाय प्रवर्त्तते, तस्य गृहमपि तपोवनमेवेत्यर्थः ॥ ९० ॥

दुःखितोऽपि = विपन्नोऽपि । 'दुःस्थितोऽपी' ति पाठान्तरम् । शोभनतपोवनादिस्थानमप्राप्तोऽपीति तदर्थः । यत्र कुत्राश्रमे=यस्मिन्कस्मिन्नप्याश्रमे । रतः=निवसन्, सर्वभूतेषु समो भूत्वा धर्मं चरेत्=आचरेदेव । लिङ्गम् = आश्रमादीनि चिह्नानि ।

तब वह कपिल बोला कि—'रागियों को (राग–द्वेष रखने वालों को) वन में भी दोष (शोक, दुःख आदि क्लेश) होते ही हैं, और घर में भी रहकर अपनी पाँचो इन्द्रियों का जीतना भी तप ही है । अतः जो अच्छे कामों में लगा हुआ है, और जिसने राग (ममत्व) को जीत लिया है, उस विरक्त के लिए तो घर भी तपोवन के ही समान है ॥ ९० ॥

क्योंकि—मनुष्य को चाहिए कि वह चाहे जिस आश्रम में रत होकर (रहकर) भी, और सब सुविधाएं नहीं मिलने पर भी, तथा नाना क्लेशों के रहते हुए भी, सब जीवों में समान वर्ताव करता हुआ धर्म करता रहे । क्योंकि वेष (साधु संन्यासी बनना, वन में जाना आदि) ही धर्म का कारण नहीं है ।

---

१ 'पुनरपि कपिलो ब्रते' । २. 'दुःस्थितोऽपि'

उक्तञ्च—

'वृत्त्यर्थं भोजनं येषां, सन्तानार्थं च मैथुनम् ।
वाक्सत्यवचनार्थाय,[1] दुर्गाण्यपि तरन्ति ते' ॥ ६२ ॥

तथा हि—

'आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था,
सत्योदका, शीलतटा, दयोर्मिः ।
तत्राऽभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र !
न वारिणा शुध्यति चाऽन्तरात्मा' ॥ ६३ ॥

न धर्मकारणं=नैव धर्महेतुः ॥ ६१ ॥

वृत्त्यर्थं = प्राणधारणार्थम् । सन्तानार्थं = सन्तानोत्पत्तये एव,–नतु रागेण—येषां मैथुनं=सुरतम् । सत्यवाक्यार्थञ्च येषां वाक् प्रचलति ते, महान्तो जनाः—महान्त्यपि दुर्गाणि—कृच्छ्राणि । तरन्ति = समुत्तरन्ति । तत्पारं गच्छन्ति ॥ ९२ ॥

संयम एव पुण्यं तीर्थं यत्रासौ–संयमपुण्यतीर्था=मनोवाक्कायसंयमरूपपवित्रतीर्थ-युता । 'तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु । योनौ जलावतारे चे'त्यमरः । (तीर्थ =सीढी) । सत्यमेव उदकं = जलं यस्यां सा । शीलं=सत्स्वभावः-सदाचारश्च, तटं यस्याः सा तथा । दयैव–उर्मयः=तरङ्गा यस्यां सा तथाभूता । अभिषेकं=स्नानम् । मनोनियोगश्च । हे पाण्डुपुत्र = युधिष्ठिर । केवलेन वारिणा=प्राकृतेन जलेन ।

धर्म तो चाहे जहाँ रहकर भी किया जा सकता है ॥ ६१ ॥

क्योंकि कहा भी है— केवल जीवन (शरीर धारण) के लिए ही जिनका भोजन है, सन्तान के लिए ही जिनका मैथुन (स्त्रीसङ्गम) है, और सत्य बोलने के लिए ही जिनकी वाणी है, वे महापुरुष दुर्गम विपत्तियों से भी अनायास ही पार हो जाते हैं ॥६२॥

भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर से कहा है, कि—यम, नियमरूप पुण्य तीर्थवाली, सत्यरूप जलवाली, शीलरूप लहरवाली, इस आत्मारूपी नदी में स्नान करो । हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! केवल जल के स्नान से ही आत्मा शुद्ध नहीं होता है ।।६३॥

---

१ 'वचनार्थञ्च' ।

विशेषतश्च—

'जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-वेदनाभिरुपद्रुतम्'[1] ।
संसारमिममुत्पन्नमसारं त्यजतः सुखम्' ॥ ९४ ॥

यतः—

'दुःखमेवाऽस्ति, न सुखं, यस्मात्तदुपलक्ष्यते ।
दुःखार्त्तस्य प्रतीकारे सुखसंज्ञा विधीयते' ॥ ९५ ॥

कौण्डिन्यो ब्रूते—'एवमेव' । ततोऽहं तेन शोकाऽऽकुलेन ब्राह्मणेन शप्तो, यद्–'अद्यारभ्य मण्डूकानां वाहनं भविष्यसि'–इति । कपिलो ब्रूते–

अन्तरात्मा = आन्तर आत्मा । न शुध्यति ॥९३ ॥

जन्मादिपीडाव्याकुलमसारमिमं संसारं त्यजन्नेव सुखी भवति ॥ ९४ ॥

संसारे सुखनामकं वस्तु नास्त्येव, यतः तत् = दुःखमेव, सर्वत्र उपलक्ष्यते = उपलभ्यते । यच्च लोके सुखं, सुखमिति व्यवह्रियते जनैः, तत्तु— दुःखप्रतीकारः = दुःखस्य किञ्चिदपनयमात्रमेव । एवञ्च सुखं नाम किमपि वस्तु नैवाऽस्ति संसारे इति भावः । दुःखार्त्तस्य=दुःखपीडितस्य । प्रतीकारः= दुःखाऽपनयः, स्वल्पो दुःखस्य व्यपगम एव ॥ ९५ ॥

एवमेव = सत्यमेवैतत् । तेन = कौण्डिन्येन । शोकाकुलेन = शोकसन्तप्तेन ।

और विशेष करके–जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, व्याधि और पीड़ा आदि नानाविध-क्लेशों से युक्त, उत्पन्न (प्राप्त) हुए इस असार संसार को छोड़ने वाला ही सुखी हो सकता है ॥ ९४ ॥

क्योंकि इस संसार में केवल दुःख ही देख पड़ता है, सुख कहीं नहीं है, इससे यह संसार दुःखरूपी ही है, परन्तु दुःख से पीडित के दुःख के प्रतीकार (दुःख के थोड़े से दूर होने) को ही लोग सुख कहते हैं ॥ ९५ ॥

तब कौण्डिन्य बोला कि—आपका कहना बहुत ठीक है, इस संसार में सुख कहाँ है ? । फिर शोक से व्याकुल हुए उस ब्राह्मण कौण्डिन्य ने मुझे शाप दे दिया कि—तूं आज से लेकर मेढकों का वाहन (सवारी) होगा । इसके अनन्तर

१. 'रभिप्लुतम्' ।

'सम्प्रत्युपदेशाऽसहिष्णुर्भवान्, शोकाऽऽविष्टं ते हृदयम्। तथापि कार्यं शृणु'

'सङ्गः सर्वाऽऽत्मना त्याज्यः, स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
स सद्भिः सह कर्त्तव्यः, सतां सङ्गो हि भेषजम्' ॥ ९६ ॥

अन्यच्च—

'कामः सर्वाऽऽत्मना हेयः, स चेद्धातुं न शक्यते।
स्वभार्यां प्रति कर्त्तव्यः, सैव तस्य हि भेषजम्' ॥ ९७ ॥

एतच्छ्रुत्वा स कौण्डिन्यः, कपिलोपदेशाऽमृतप्रशान्तशोकाऽनलो, यथाविधि दण्डग्रहणं कृतवान्। अतो[1] ब्राह्मणशापान्मण्डूकान्वोढुमत्र

वाहनं=वहनोपकरणम्। उपदेशाऽसहिष्णुः=उपदेशग्रहणेऽक्षमः। यतः शोकाऽऽविष्टं=शोकसन्तप्तम्। हृदयं=मानसम्। सङ्गः=सम्बन्धः। सर्वात्मना=सर्वथैव। सः=सङ्गः। हि=यतः। भेषजं=संसाररोगमहौषधम्॥ ९६॥

कामः=विषयाऽभिलाषः। सः=कामः। सहसा हातुं=त्यक्तुम्। सैव=स्वभार्यैव। तस्य=कामस्य। भेषजं=शमनौषधिः॥ ९७॥

कपिलोपदेश एव अमृतं=पीयूषं, जलञ्च, तेन प्रशान्तः शोक एवाऽनलो

वह कपिल पुनः बोला कि—यद्यपि इस समय आप उपदेश के ग्रहण करने के योग्य नहीं हैं, क्योंकि इस समय आपका हृदय शोक से व्याप्त है, तो भी अवश्य कर्त्तव्य इस कार्य को सुनिए—

बुद्धिमान् पुरुष को सङ्ग सर्वथा छोड़ देना चाहिए। परन्तु यदि वह सर्वथा नहीं छूट सके, तो वह (सङ्ग) केवल सज्जनों से ही करना चाहिये, क्योंकि श्रेष्ठों का सङ्ग ही ओषधि (हितकारक) है॥ ९६॥

और बुद्धिमान् पुरुषों को काम (विषयभोग) भी छोड़ देना चाहिए। परन्तु यदि वह सर्वथा छोड़ा नहीं जा सके, तो वह (विषयभोग) केवल अपनी स्त्री से ही करना चाहिए। क्योंकि वही उस कामवासना की ओषधि है॥ ९७॥

यह सुनकर उस कौण्डिन्य की शोकाग्नि कपिल के उपदेशरूपी अमृत (जल)

१. 'ततोऽहं ब्राह्मणशापं भोक्तुं मण्डूकान् वोढुमत्र तिष्ठामि'।

तिष्ठामि'। अनन्तरं तेन मण्डूकेन गत्वा मण्डूकनाथस्य जालपाद्-नाम्नोऽग्रे तत्कथितम्। ततोऽसावागत्य मण्डूकनाथस्तस्य[1] सर्पस्य पृष्ठमारूढवान्। स च सर्पस्तं पृष्ठे कृत्वा चित्रपदक्रमं बभ्राम।

परेद्युश्चलितुमसमर्थं तं मण्डूकनाथोऽवदत्–'किमद्य[2] भवान्मन्दगतिः'? सर्पो ब्रूते–'देव! आहारविरहादसमर्थोऽस्मि[3]।'

मण्डूकनाथोऽवदत्–'अस्मदाज्ञया मण्डूकान्भक्षय।' ततः 'गृहीतोऽयं महाप्रसादः' इत्युक्त्वा, क्रमशो[4] मण्डूकान् खादितवान्। अथ निर्मण्डूकं

यस्यासौ तथाभूतः। यथाविधि = विधिपूर्वकम्। दण्डग्रहणं = सन्यासग्रहणम्। वोढुं = स्थानात्स्थानान्तरं नेतुम्। अत्र = सरस्तटे। मण्डूकनाथस्य = मण्डूकराजस्य। अधिष्ठितवान् = आरुरोह। तं = मण्डूकराजम्। आरोप्य = पृष्ठे संस्थाप्य। (पीठ पर चढ़ाकर)। चित्रपदक्रमं = विचित्राभिर्गतिभिः।

परेद्युः = अन्यस्मिन्नहनि। आहारविरहात् = भोजनाऽलाभात्। महाप्रसादः = महाननुग्रहः। भवदाज्ञां स्वीकरोमीति यावत्। निर्मण्डूकं = मण्डूकरहितम्।

से कुछ शान्त हो गई (उसका पुत्रशोक कुछ कम हो गया)। और वह शास्त्रोक्त विधि के अनुसार दण्ड ग्रहण करके संन्यासी हो गया। इसलिये अब उस ब्राह्मण के शाप से मैं मेंढकों को अपने ऊपर चढ़ाकर ले जाने के लिए ही यहाँ आकर पड़ा हुआ हूँ।

तब यह बात सुनकर उस मेंढक ने यह बात जालपाद नामक मेंढकों के राजा के आगे जाकर कहदी। तदनन्तर वह मेंढकों का राजा वहाँ आकर उस साँप की पीठ पर चढ़ गया। वह साँप भी उसे पीठ पर चढ़ाकर अद्भुत नाना प्रकार की गतियों से उसे घूमाने लगा। दूसरे दिन मेंढकों के राजा ने उस सर्प को शीघ्रता से चलने मे असमर्थ देखकर उस (साँप) से पूछा कि—'तुम आज धीरे धीरे क्यों चल रहे हो?'। साँप बोला कि—देव! भोजन न मिलने से मैं निर्बल हो गया हूँ। तब वह मेंढकों का राजा बोला कि–'मेरी आज्ञा से तुम इन मेंढकों को पकड़ पकड़ कर खाया करो'। 'यह आपकी बड़ी कृपा है, मैंने इस प्रसाद को स्वीकार किया'–यह कहकर वह सर्प क्रम से मेंढकों को खाने लगा। और

१. 'नाथः सर्पमधिष्ठितवान्'। २ 'किमिति भवानद्य'। ३ 'विरहाद्दुर्बलोऽस्मि'। ४ 'स मण्डूकान् खादति'।

सरो विलोक्य मण्डूकनाथोऽपि तेन खादितः' । अतोऽहं ब्रवीमि—'स्कन्धेनाऽपि वहेच्छत्रून्' इत्यादि ॥ * ॥

'देव ! यात्विदानीं पुरावृत्ताऽऽख्यानकथनं, 'सर्वथा' सन्धेयोऽयं हिरण्यगर्भो राजा, सन्धीयता'मिति मे मतिः । राजोवाच—'कोऽयं भवतो विचारः ? । यतो जितस्तावदयमस्माभिः । ततो यद्यस्मत्सेवया वसति, तदाऽऽस्ताम्, नो चेद्विगृह्यताम्' ।

अत्राऽन्तरे जम्बूद्वीपादागत्य शुकेनोक्तं-'देव ! सिंहलद्वीपस्य सारसो राजा सम्प्रति जम्बूद्वीपमाक्रम्याऽवतिष्ठते । राजा "ससम्भ्रमं ब्रूते—'किं किम्' ? । शुकः पूर्वोक्तं कथयति ।

यातु=आस्तां तावत् (जाने दीजिए) । पुरावृत्ताख्यानं=पूर्वकथाप्रसङ्ग-वचनम् । जितः=पराजितः । सेवायाम्=अस्मद्दास्ये । आस्तां=तिष्ठतु स्वदेशे । विगृह्यतां=युद्ध्यताम् । अवतिष्ठते=सन्तिष्ठते । ससम्भ्रमं=सत्वरम् । (जल्दी से) ।

धीरे धीरे उसने उस सरोवर को मेंढकों से रहित कर दिया । फिर मेंढक रहित सरोवर को देखकर मेंढकों के स्वामी को भी वह खा गया । इसीलिए मैंने कहा कि 'काम पड़ने पर शत्रु को कन्धे पर भी चढ़ाया जाता है' इत्यादि ।

और हे देव ! अब पिछली बातों के कहने से क्या प्रयोजन है ? । राजा हिरण्यगर्भ सब प्रकार से सन्धि करने योग्य है, अतः उससे सन्धि अवश्य कीजिये' यही मेरी भी राय है । तब राजा बोला कि—तुम्हारा यह विचार ठीक नहीं है । क्योंकि इस राजहंस को तो हमने पहले ही जीत लिया है । इसलिये अब यह हमारी सेवा करके रहे तो रहे, नहीं तो इसके साथ युद्ध ही करना चाहिये, इससे सन्धि करने की तो कोई आवश्यकता नहीं है ।

इसी बीच में जम्बूद्वीप से आकर एक तोता बोला कि—देव ! सिंहलद्वीप के राजा सारस ने अब जम्बूद्वीप को घेर लिया है । और सेना सहित पड़ाव डालकर वह वहाँ पड़ा हुआ है । तब राजा घबड़ा कर बोला कि—हैं, हैं क्या कहा, क्या

---

१ 'सर्वदा' । २. 'तं स सम्भ्रममाह' ।

गृध्रः स्वगतमुवाच–'साधु रे चक्रवाक मन्त्रिन्! [सर्वज्ञ[1]!, साधु] साधु।' राजा सकोपमाह–'आस्तां तावदयं, गत्वा तमेव समूलमुन्मूलयामि'। दूरदर्शी विहस्याऽऽह—

'न शरन्मेघवत्कार्यं वृथैव घनगर्जितम्।
परस्याऽर्थमनर्थं वा प्रकाशयति नो महान्' ९८॥

अपरञ्च—

'एकदा न विगृह्णीयाद्बहून् राजाऽभिघातिनः[2]।
सदर्पोऽप्युरगः कीटैर्बहुभिर्नाश्यते ध्रुवम्'॥९९॥

'देव! किमितो विना सन्धानं गमनमस्ति?। [3]यतस्तदाऽस्माकं

अयं=हिरण्यगर्भः। आस्तां=तिष्ठतु तावत्। (इसे छोड़ो)। तमेव=सारसमेव। वृथैव=निरर्थकम्। घनगर्जितं=गुरुतरो ध्वनिः। परस्य=शत्रोरपि। अर्थम्=उचितम्। अनर्थम्=अनुचितं, महान्=मनस्वी। न प्रकाशयन्ति=न स्ववाचा प्रकटीकरोति॥ ९८॥ एकदा=एककाले। बहून् विवादिनः=रिपून्। न विगृह्णीयात्। सदर्पः=सबलः। उरगः=भुजङ्गः॥ ९९॥ इतः=अस्मात्-

कहा'?। तब तोते ने पहले कहा हुआ वचन फिर भी कह दिया। तब गीध ने अपने मन में कहा कि—वाह सर्वज्ञ मन्त्री चक्रवाक, वाह! तुमने अच्छा काम किया।' राजा क्रोध कर बोला कि तब तक यहाँ युद्ध बन्द रहे, पहले जाकर उस सारस को ही मैं जड़ से उखाड़ता हूँ। तब वह दूरदर्शी गृध्र हँस कर बोला कि—

बुद्धिमान् मनुष्य को शरदृतु के मेघों की तरह वृथा ही गंभीर गर्जना कभी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि बड़े लोग पराये अर्थ वा अनर्थ को (गुण और दोषों को) अपने मुख से कभी प्रकट नहीं करते है॥ ९८॥

और—एक ही समय घात करनेवाले अनेक शत्रुओं से राजा को कभी लड़ना नहीं चाहिये। क्योंकि बलवान् भयङ्कर साँप भी बहुत सी चींटियों से एक साथ लड़कर अवश्य मारा जाता है॥ ९९॥

और हे देव! यहाँ से सन्धि किये बिना आप अन्यत्र जा ही नहीं सकते हैं,

१ क्वाचित्कः पाठोऽयम्। २. 'विवादिनः'। ३ 'यतोऽस्माकं'।

पश्चात्प्रकोपोऽनेन कर्त्तव्यः'। अपरञ्च—

'योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय क्रोधस्यैव वशं गतः।
स तथा तप्यते मूढो, ब्राह्मणो नकुलाद्यथा' ॥१००॥

राजाऽऽह—'कथमेतत् ?'[1]। दूरदर्शी कथयति—

ब्राह्मण-नकुल-कथा।

अस्त्युज्जयिन्यां माधवो नाम विप्रः[2]। तस्य ब्राह्मणी प्रसूता[3], [सा[4]] बालाऽपत्यस्य रक्षाऽर्थं ब्राह्मणमवस्थाप्य, स्नातुं गता। अथ ब्राह्मणाय राज्ञः पार्वणश्राद्धं दातुमाह्वानमागतम्। तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणोऽपि सहजदारिद्र्यादचिन्तयत्—'यदि सत्वरं न गच्छामि, तदाऽन्यः कश्चिच्छ्रुत्वा[5] श्राद्धं ग्रहीष्यति। यतः—

देशात्। सन्धानं = सन्धि—विना। अस्ति=किं सम्भवति। न सम्भवति। पश्चात्= पश्चाद्भागे। प्रकोपः = आक्रमणम्। अर्थतत्त्वं=वस्तुतत्त्वं, परिस्थितिश्च। तप्यते= सन्तापं लभते ॥१००॥

ब्राह्मणी = भार्या। प्रसूता = कुमारं सुषुवे। बालापत्यस्य रक्षाऽर्थं=स्वबालक-

अन्यथा यह राजहंस हमारे ऊपर पीछे से आक्रमण कर देगा।

और भी—जो अर्थ के तत्त्व को न जानकर केवल क्रोध के ही वश में हो जाता है, वह मूर्ख उसी प्रकार दुःखी होता है कि—जैसे वह ब्राह्मण नेवले के लिये दुःखी हुआ था॥ १०० ॥

राजा बोला कि—यह कथा कैसे है ?। दूरदर्शी कहने लगा कि—

उज्जयिनी नगरी में माधव नाम का एक ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री को एक पुत्र उत्पन्न हुआ। और वह स्त्री बालक की रक्षा के लिये उस ब्राह्मण को बिठाकर स्नान करने के लिये नदी पर गई। उसी समय राजा के यहाँ से उस ब्राह्मण को पार्वण श्राद्ध की वस्तुएँ देने के लिये बुलावा आया। उसे सुनकर वह ब्राह्मण स्वाभाविक अपनी दरिद्रता के वश होकर यों सोचने लगा कि—यदि मैं शीघ्र ही वहाँ

१ 'राजा पृच्छति'। २ ब्राह्मणः'। ३ 'प्रसूता। सा'। ४. कश्चिन्न। ५ 'अन्यः कश्चिच्छ्राद्धं'।

'आदेयस्य, प्रदेयस्य, कर्त्तव्यस्य च कर्मणः ।
क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः, पिबति तद्रसम्' ॥१०१॥

किन्तु [1]बालकस्याऽत्र रक्षको नास्ति । तत्किं करोमि ? । [2]यातु । चिरकालपालितमिमं [3]नकुलं अनिर्विशेषं बालकरक्षायां व्यवस्थाप्य, गच्छामि । तथा[4] कृत्वा गतः । [5]ततस्तेन नकुलेन बालकसमीपमागच्छन्[6] कृष्णसर्पो दृष्टो, व्यापाद्य कोपात्खण्डं खण्डं कृत्वा, भक्षितश्च । [7]ततो-

पुत्रस्य रक्षार्थम् । पार्वणश्राद्धं = पर्वणि भवं सपात्रिकं पितृश्राद्धम् । श्राद्धं=श्राद्धे देयं धनादिकम् ।

आदेयस्य = ग्राह्यस्य । प्रदेयस्य = दातव्यस्य । क्षिप्रं = त्वरितम् , तद्रसं = कर्मणः सारम्, तत्त्वं, महत्त्वं, सौभाग्यञ्च । पिबति = आकर्षति । नाशयति । विलम्बे कार्यहानिरेवेत्याशयः । 'आदानस्य, प्रदानस्ये'ति पाठान्तरम् ॥ १०१ ॥

शिशोः = बालकस्य । पुत्रनिर्विशेषं=पुत्रतुल्यं, चिरं पालितं । व्यवस्थाप्य= नियुज्य । इति = इत्थं विचार्य । तथा=तथैव कृत्वा । नकुलन्तत्र नियुज्य ।

नहीं जाऊँगा तो कोई दूसरा ब्राह्मण आकर श्राद्ध की वस्तुओं को ले लेगा ।

क्योंकि—लेना, देना और करने योग्य कर्म, इनके शीघ्र न करने से इनका रस (तत्त्व) काल (समय) पी जाता है, अर्थात् देरी करने से वह काम बिगड़ जाता है ।

परन्तु यहाँ बालक की रक्षा करनेवाला भी कोई नहीं है । क्या करूँ ? । अच्छा, बहुत समय से पुत्र से भी अधिक प्रेम से पाला हुआ यह नेवला तो यहाँ इसका रक्षक है ही । इसे ही बालक की रक्षा में यहाँ बैठाकर मैं राजा के यहाँ जाता हूँ । ऐसा विचार करके वह ब्राह्मण उस नकुल को वहाँ बैठा (छोड़) कर, बाहर चला गया । पीछे उस नेवले ने बालक के समीप में आते हुए एक काले साँप को देखकर, क्रोध से उसके टुकड़े टुकड़े कर दिए और उसको खा गया । फिर

१ 'शिशोरत्र रक्षकः कोऽपि नास्ति' । २ 'भवतु तावत्' । ३ 'ममुं सुतनिर्विशेषं नकुलं बालकरक्षार्थं । ४ 'इति तथा कृत्वा' । ५ 'ततस्तत्र नकुलेन' । ६ 'आगच्छन् तूष्णीं कृष्णसर्पो व्यापादितः, खण्डितश्च' । ७ 'अथासौ' ।

ऽसौ नकुलो ब्राह्मणमायान्तमवलोक्य, रक्तविलिप्तमुखपादः, सत्वरमुपगम्य, तच्चरणयोर्लुलोठ । [1]ततः स विप्रस्तथाविधं तं दृष्ट्वा 'मम [2]बालकोऽनेन खादित' इत्यवधार्य नकुलं व्यापादितवान्[3] । अनन्तरं यावदुपसृत्याऽपत्यं[4] पश्यति ब्राह्मणस्तावद्बालकः सुस्थः स्वपिति, सर्पश्च व्यापादितस्तिष्ठति । [5]ततस्तमुपकारकं नकुलं निरीक्ष्य, भावितचेताः स ब्राह्मणः परं विषादमगमत् । अतोऽहं ब्रवीमि—'योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय'—इत्यादि ।।❀।।

अपरञ्च—

'कामः, क्रोधस्तथा[6] मोहो, लोभो, मानो, मदस्तथा ।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिंस्त्यक्ते सुखी [7]नृपः' ।। १०२ ।।

तूष्णीम्=मौनम्, अनायासेन । रक्तविलिप्तमुखपादः=रुधिरारुणमुखचरणः । तथाविधं=रक्तलिप्तमुखम् । अवधार्य=निश्चित्य । उपसृत्य=निकटे गत्वा । सुस्थः=सुखी । भावितचेताः=खिन्नमानसः ।

षड्वर्गं=रिपुषड्वर्गम् । उत्सृजेत्=त्यजेत् । अस्मिन्=रिपुषड्वर्गे ।।१०२।।

मुख और पैरों में खून से सना हुआ, वह नेवला झट उस ब्राह्मण को आता देखकर, उसके पैरों में लोटने लगा । अनन्तर उस ब्राह्मण ने उसे इस प्रकार रक्त से रञ्जित देख कर 'इसने मेरे बालक को खा लिया है' ऐसा जानकर, उस नेवले को मार डाला । इसके पीछे जब समीप जाकर ब्राह्मण ने उस बालक को देखा, तब उस बालक को राजी खुशी सूते हुए देखा और साँप को वहीं पर मरा हुआ देखा । बाद में उस उपकारी नेवले को याद करके वह ब्राह्मण बड़ा खिन्न हुआ । इसलिये मैं कहता हूँ कि—'अर्थ के सार (तत्त्व) को बिना जाने ही [जो] क्रोध करता है, वह अन्त में दुःखी होता है' इत्यादि ।

और भी—राजा को चाहिए कि—काम, क्रोध, मोह, लोभ, अभिमान और मद, इन छै को छोड़ दे । इनको छोड़ने से ही राजा सुखी होता है ।।१०२।।

---

१ 'ततोऽसौ ब्राह्मणस्तं तथाविधं दृष्ट्वा' । २ 'मम पुत्रोऽनेन भक्षितः' । ३ 'तं व्यापादितवान्' । ४ 'दुपसृत्य पश्यति' । ५ 'ततोऽसौ ब्राह्मणः परं विषादमुपगतः' । ६ 'लोभो हर्षो मानो' । ७ 'सुखी भवेत्' ।

राजाऽऽह—'मन्त्रिन्! एष ते निश्चयः ? ।' मन्त्री ब्रूते—'एवमेव'। यतः—

"[1]स्मृतिस्तत्परताऽर्थेषु, वितर्को, ज्ञाननिश्चयः।
दृढता, मन्त्रगुप्तिश्च, मन्त्रिणः परमो गुणः" ॥ १०३ ॥

तथा च—

'सहसा विदधीत न क्रिया—
मविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः' ॥ १०४ ॥

एष ते निश्चयः = किमयमेव (सन्धिरत्र कार्य इति) ते सुदृढो निश्चयः ? ! एवमेव = आम्। (हाँ)। अर्थेषु = आवश्यकेषु कर्त्तव्येषु विषयेषु। परमा = उत्कृष्टा। वितर्कः = ऊहापोहः। ज्ञाननिश्चयः = निश्चयज्ञानम्। मन्त्रगुप्तिः = मन्त्ररक्षा। परमः = उत्कृष्टः ॥ १०३ ॥

सहसा = अविचार्य। क्रियाम् = कर्म। न विदधीत = न कुर्यात्। अविवेकः = अज्ञानम्। साहसिकता। परं = नितराम्। पदं = स्थानम्। हि = यतः। विमृश्य कारिणं = विचार्य कार्यशीलम्। सम्पदः = श्रियः। गुणलुब्धाः = गुणाऽऽकृष्टाः सत्यः। स्वयमेव वृणुते = स्वयं भजन्ते ॥ १०४ ॥

तब राजा बोला कि—हे मन्त्रिन्! इस राजा से हमें सन्धिकर लेना चाहिए' आपका क्या यही निश्चय है' ? । मन्त्री बोला कि—हाँ, मेरा मत तो ऐसा ही है।

क्योंकि—उत्कृष्ट कोटि की स्मरणशक्ति, कार्यतत्परता, विचारशक्ति, ऊहापोहशक्ति, ज्ञान का निश्चय, दृढ़ता और मन्त्र (राजकीय भेद, गुप्त सलाह) की रक्षा करना ये मंत्रियों के परम गुण हैं ॥ १०३ ॥

कहा भी है—शीघ्रता से कोई काम न करे, क्योंकि बिना विचारे कार्य करना बड़ी भारी विपत्ति का कारण होता है। और विचार करके कार्य करनेवाले के पास उसके गुणों से लुब्ध हुई संपत्तियाँ स्वयमेव आती है ॥ १०४ ॥

१. 'स्मृतिश्च परमाऽर्थेषु' पा०।

तदेव ! यदीदानीमस्मद्वचनं क्रियते, तदा सन्धाय गम्यताम्'। यतः—

'यद्यप्युपायाश्चत्वारो निर्दिष्टाः साध्यसाधने ।
संख्यामात्रं फलं तेषां, सिद्धिः साम्नि व्यवस्थिता' ॥१०५॥

राजाऽऽह—'कथमेवं[1] सत्वरं सम्भाव्यते' ?। मन्त्री ब्रूते—'देव ! सत्वरं भविष्यति'। यतः—

'मृद्घटवत् सुखभेद्यो, दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति ।
सुजनस्तु कनकघटवद् दुर्भेद्यश्चाऽऽशु सन्धेयः' ॥ १०६ ॥

साध्यसाधनं = कर्त्तव्यसाधनं । चत्वारः = सामदानदण्डभेदाख्याः । सङ्ख्यामात्रं=सङ्ख्यापूर्त्तिरेव । सिद्धिः=कार्यसिद्धिस्तु । साम्नि=सामाख्ये प्रथमे उपाये एव । व्यवस्थिता=स्थिता । न दण्डादौ ॥ १०५ ॥ एवं=सन्धिः । सुखभेद्यः= अनायासेन भेदनीयः । दुःसन्धानः—कृच्छ्रात्सन्धेयः । कनकघटवत्=स्वर्णकलशवत् । दुर्भेद्यः=दुःखेन भेदनीयः । आशु सन्धेयः = झटिति सन्धेयश्च । (जल्दी ही

अतः हे देव ! यदि आप मेरा कहना मानते हों तो यहाँ से सन्धि करके ही चलिए । क्योंकि—

यद्यपि कार्य की सिद्धि के लिए साम, दान, दण्ड (युद्ध) भेद—ये चार उपाय शास्त्रों में कहे हैं, परन्तु उनका फल केवल गिनतीमात्र दिखाना ही है, सिद्धि तो केवल 'साम' ही से होती है ॥ १०५ ॥

तब राजा बोला कि—यह (सन्धि) इतनी जल्दी कैसे होगी ?। मंत्री बोला कि—हे देव ! शीघ्र ही सन्धि हो जायगी ।

क्योंकि—दुर्जन लोग मट्टी के घड़े की तरह ही होते हैं, जो अनायास ही बिगड़ जाते हैं, पर जुड़ते कठिनता से हैं । और सज्जन लोग सुवर्णघट की तरह होते हैं, जो कठिनता से टूटते है, और जल्दी ही जोड़े जा सकते हैं । भावार्थ- सुवर्ण आदि धातुओं के पात्र जल्दी टूटते नहीं हैं और टूटने फूटने पर उनकी मरम्मत भी अनायास ही हो जाती है । और मट्टी के पात्र जल्दी ही टूटते हैं, पर

---

१. 'कथमेवं सम्भवति' ।

'अज्ञः सुखमाराध्यः, सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि तं नरं न रञ्जयति' ॥ १०७ ॥

'विशेषतश्चाऽयं[1] धर्मज्ञो राजा, सर्वज्ञो मन्त्री च । ज्ञातमेतन्मया पूर्वं मेघवर्णवचनात्तत्कृतकार्यसन्दर्शनाच्च' । यतः—

'कर्माऽनुमेयाः सर्वत्र परोक्ष-गुण-वृत्तयः ।
तस्मात्परोक्षवृत्तीनां फलैः [2]कर्माऽनुभाव्यते' ॥ १०८ ॥

जोड़ा सा सकता है) ॥ १०६ ॥

अज्ञः=मूढः । सुखम्=अनायासेन । आराध्यः=अनुकूलयितुं शक्यः । विशेषज्ञः=विशेषवित् । विद्वान् । सुखतरं=झटित्येव । ज्ञानलवदुर्विदग्धं=स्वल्पज्ञानोन्मत्तन्तु । विद्यालवगर्वोद्धुरन्तु । न रञ्जयति=नानुकूलयितुं शक्नोति ॥१०७॥ तत्कृतकार्यसन्दर्शनाच्च=राज-सचिव-कृतकार्यदर्शनाच्चानयोर्योग्यता मया ज्ञातेत्यन्वयः ॥

सर्वत्र = सर्वेषु लोकेषु । परोक्षगुणवृत्तयः=राजनीतिज्ञानां विदुषाम्—अप्रत्यक्षाः पाण्डित्यदयादाक्षिण्यादिगुणाश्रितवृत्तयश्च तेषाम्, (व्यापाराश्च तेषाम्) । राजनीतिज्ञा अपि 'परोक्षगुणवृत्ति' पदेन ग्राह्याः । तत्पुरुषो, बहुव्रीहिश्च समासो यथा-

---

बनते फिर कठिनता से हैं ॥ १०६ ॥

और अज्ञानी (मूर्ख) को भी अनायास ही समझाया जा सकता है, ज्ञानी भी विना यत्न के (बड़ी सरलता से) ही अनुकूल और वश में किया जा सकता है । अर्थात् पण्डित को समझना बहुत ही आसान होता है । परन्तु थोड़ा ज्ञान और थोड़ी विद्या रखनेवाले पण्डितंमन्य को (लण्ठाधिराज, घमण्डी, थोड़े पढ़े हुए को) तो ब्रह्माजी भी प्रसन्न नहीं कर सकते हैं ॥ १०७ ॥

और विशेष करके यह राजा बड़ा ही धर्मज्ञ है और इसका मन्त्री सर्वज्ञ भी बड़ा ही योग्य एवं सज्जन है । यह मैंने मेघवर्ण के वचनों से और उसके किये हुए कार्यों के देखने से प्रथम ही जान लिया था ।

क्योंकि—गुणों (आत्मगुण, सज्जनता आदि) की वृत्तियाँ (व्यापार) तो प्रत्यक्ष होती नहीं हैं, वे तो सर्वत्र मनुष्यों के कार्यों से ही अनुमान द्वारा जानी

---

१. 'श्चाऽसौ' । २ 'कर्म विभावयेत्' ।

राजाऽऽह-'अलमुत्तरोत्तरेण, यथाभिप्रेतमनुष्ठीयताम्'। एतन्मन्त्रयित्वा गृध्रो महामन्त्री-'तत्र यथाऽर्हं कर्त्तव्यम्' इत्युक्त्वा, दुर्गाऽभ्यन्तरं चलितः। ततः प्रणिधिबकेनाऽऽगत्य राज्ञो हिरण्यगर्भस्य निवेदितं-'देव! सन्धिं कर्त्तुं महामन्त्री गृध्रोऽस्मत्समीपमागच्छति'। राजहंसो ब्रूते-'मन्त्रिन्! पुनरभिसन्धिना केनचिदत्राऽऽगमनम्[1] ?'। सर्वज्ञो विहस्याऽऽह—'देव! न शङ्काऽऽस्पदमेतत्। यतोऽसौ महाशयो[2], दूरदर्शी। अथवा स्थितिरियं मन्दमतीनाम्, कदाचिच्छङ्कैव न क्रियते, कदाचित्सर्वत्र शङ्का!।

यथमत्र बोध्यः। कर्मानुमेयाः=कर्मणैवानुमातव्याः। फलैः=परिणामैः। कर्म=कार्यं। विभावयेत्=उन्नयेत् ॥ १०८ ॥ उत्तरोत्तरेण=उत्तरप्रत्युत्तराभ्याम्। अलं=न प्रयोजनं। यथाभिप्रेतं=यथा भवते रोचते तथैव। यथेष्टम्। तत्र=सन्धाने। यथाऽर्हं=यथायोग्यं मया करणीयम्। अभिसन्धिना=कपटेन। छलेन। शङ्कास्पदं=शङ्कायोग्यः। महाशयः=उदारचरितः। मन्दमतीनां=मूर्खाणाम्। कदाचिदिति,—वाक्यमावसरस्मरणार्थम्।

जाती हैं। इसलिए परोक्षवृत्ति वालों (राजनीतिज्ञों) के कार्य तो फल देखकर ही अनुमान किए जाते हैं ॥ १०८ ॥

राजा बोला—अच्छा, अधिक उत्तर प्रत्युत्तर से क्या लाभ है। जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा ही करिए। यह सलाह करके महामन्त्री गृध्र 'इसमे जैसा योग्य होगा, वैसा ही किया जायगा'—यह कह कर राजहंस के पास सन्धि करने के लिए किले के अन्दर चला। तदनन्तर गुप्तदूत बगुले ने आकर राजा हिरण्यगर्भ से निवेदन किया कि—'देव! गीध महामन्त्री सन्धि करने के लिए हमारे पास आ रहा है।' यह सुनकर राजहंस बोला कि—'मन्त्रिन्! यह गृध्र भी उस कौवे की तरह ही किसी दुष्ट अभिप्राय से (छल करने के वास्ते) ही यहाँ आता होगा'?। तब वह महामन्त्री सर्वज्ञ हँसकर बोला कि—देव! यहाँ शङ्का करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह दूरदर्शी बड़ा ही श्रेष्ठ व्यक्ति है। और मन्दबुद्धियों की तो यही स्थिति होती है कि कभी तो वे शङ्का करते ही नहीं हैं, और कभी सभी जगह शङ्का करने लगते हैं।

---

१. 'दत्रागन्तव्यम्'। २ 'यतो महाशयोऽसौ'।

तथा हि—

'सरसि बहुशस्ताराच्छायेक्षणात्परिवञ्चितः,
कुमुदविटपान्वेषी हंसो निशास्वविचक्षणः।
न दशति पुनस्ताराशङ्की दिवाऽपि सितोत्पलं,
कुहकचकितो लोकः सत्येऽप्यपायमपेक्षते' ॥१०६॥
'दुर्जनदूषितमनसः सुजनेष्वपि नाऽस्ति विश्वासः।
बालः पायसदग्धो दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति' ॥११०॥

तद् देव ! यथाशक्ति तत्पूजाऽर्थं रत्नोपहारादिसामग्री सुसज्जीक्रिय-

---

सरसीति। सरसि=सरोवरे। निशासु—ताराच्छायेक्षणात्=पयसि तारा-प्रतिबिम्बानि कुमुदतुल्यानि दृष्ट्वा, कुमुदविटपान्वेषी=कुमुदविटपान्वेषणपरोऽविचक्षणो मुग्धो हंसो, बहुशः=बहुवारं, वञ्चितः सन्, दिवापि—सितोत्पलं=श्वेतकमलप्रसूनं, ताराशङ्की=ताराशङ्कया, न दशति=नाऽऽदत्ते। न भुङ्क्ते। कुहकचकितः=कपट-परिवञ्चितः। लोकः=जनः। सत्येऽपि=सत्येऽपि विषये। अपायम्=अनिष्टं, विनाशम्, कपटञ्च। अपेक्षते=शङ्कते ॥ १०६ ॥

दुर्जनदूषितमनसः=खलवञ्चितस्य। विश्वासः=प्रत्ययः। पायसदग्धः=परमान्न-दग्धः। (पायस=खीर)। दुग्धदग्धश्च। फूत्कृत्य=सफूत्कारं। (फूँक देकर) ॥११०॥

ऐसा कहा भी है कि—रात में कुमुदिनी को ढूँढनेवाला मूर्ख हंस सरोवर में बहुत से ताराओं की छाया को देखकर और उन्हें कुमुद समझकर खाने को जाता है, पर चोंच लगाते ही क्षणमात्र में ठगा जाता है! तब वह फिर दिन में भी ताराओं की शङ्का से सच्चे श्वेत कमलों को भी नहीं खाता है। ऐसे ही कपट से ठगे गये लोग भी सत्य बात में भी कपट ही देखते हैं ॥ १०६ ॥

और जिनका मन दुर्जन एवं दुष्ट लोगों से दूषित हो गया है, वे लोग सज्जनों में भी (सन्देह करके) विश्वास नहीं करते हैं। देखो जैसे एक बार गर्म दूध से जला हुआ बालक दही को भी फूँककर ही पीता है ॥ ११० ॥

अतः हे देव! अपनी शक्ति के अनुसार इसकी पूजा (सत्कार) के लिये

ताम्। तथाऽनुष्ठिते सति स गृध्रो मन्त्री दुर्ग[illegible], सत्कृत्याऽऽनीय, राजदर्शनं कारितो, दत्ताऽऽसने चोपविष्टः[1]। चक्रवाक उवाच—मन्त्रिन्! युष्मदायत्तं सर्वं, स्वेच्छयोपभुज्यतामिदं राज्यम्'। राजहंसो ब्रूते—'एवमेव'। दूरदर्शी कथयति—'एवमेवैतत्, किन्त्विदानीं बहुप्रपञ्चवचनं निष्प्रयोजनम्'। यतः—

'लुब्धमर्थेन गृह्णीयात्, स्तब्धमञ्जलिकर्मणा।
मूर्खं छन्दानुरोधेन, याथातथ्येन पण्डितम्' ॥१११॥

तत्पूजार्थं = मन्त्रिपूजार्थम्। उपगम्य = अभ्यर्थ्य, मिलित्वा। युष्मदायत्तं = भवदधीनम्। उपभुज्यताम् = सेव्यताम्। बहुप्रपञ्चवचनं = विस्तरेण प्रशंसा-वाक्यविन्यासः।

लुब्धं = धनलुब्धम्। अर्थेन = धनेन। गृह्णीयात् = अनुरञ्जयेत्। स्तब्धं = जडम्। अञ्जलिकर्मणा = अञ्जलिबन्धेन। विनत्या। छन्दानुरोधः = अनुकूला-चरणम्। यथातथ्येन = सत्यभाषणेन ॥ १११ ॥

रत्न आदि भेंट देने की सामग्री तैयार कराइये। यह सुनकर वैसी व्यवस्था करने पर चकवे ने गृध्र मन्त्री के पास जाकर, उसे भेंट आदि देकर अच्छी तरह से उसका सत्कार करके, उसे किले के द्वार पर से अन्दर ले जाकर, राजा का दर्शन कराया। और वह भी दिये हुए आसन पर आकर बैठ गया। फिर मन्त्री चकवे ने उससे कहा कि—'यह कर्पूर द्वीप का राज्य अब सब आपके अधीन है, अतः आप अपनी इच्छा से अब इस राज्य को भोगिये। राजहंस ने भी कहा कि—'ठीक है।' यह सुनकर वह दूरदर्शी कहने लगा कि यह ठीक ही है, परन्तु इस समय बहुत प्रपञ्च की बातें (राजनीति की लम्बी चौड़ी व्याख्या, तथा परस्पर प्रशंसात्मक बातें) बोलना तो निरर्थक ही है। क्योंकि—

लोभी मनुष्य को धन देकर अनुकूल करना चाहिए। और अभिमानी को हाथ जोड़कर, मूर्ख को उनकी इच्छा के अनुसार कार्य करके, अर्थात् उसके वचन मानकर, और पण्डित को सच्ची-सच्ची बात कहकर ही अनुकूल (वश में) करना चाहिए ॥ १११ ॥

---

१. 'चोपवेशितः'।

अन्यच्च—

'सद्भावेन हरेन्मित्रं, सम्भ्रमेण तु बान्धवान् ।
स्त्री-भृत्यौ [1]दान-मानाभ्यां, दाक्षिण्येनेतराञ्जनान्' ॥११२॥

तदिदानीं सन्धातुं गम्यताम् । [2]महाप्रतापश्चित्रवर्णो राजा ।'

चक्रवाको ब्रूते—'यथा सन्धानं कार्यं, तदप्युच्यताम्' । राजहंसो ब्रूते—'कति प्रकाराः सन्धीनां सम्भवन्ति' ? । गृध्रो ब्रूते—कथयामि । श्रूयताम्'—

'बलीयसाऽभियुक्तस्तु नृपो नाऽन्यप्रतिक्रियः ।
आपन्नः, सन्धिमन्विच्छेत्कुर्वाणः कालयापनम्' ॥ ११३ ॥

सद्भावेन=साधुव्यवहारेण, सौहार्देन च । हरेत् = अनुरञ्जयेत् । सम्भ्रमेण= सत्कारातिशयदर्शनेन । दाक्षिण्येन = सरलतया, आनुकूल्येन वा । इतरान्= साधारणान् ॥ ११२ ॥

सन्धातुं=सन्धिं कर्तुं । गम्यताम् = चित्रवर्णस्य निकटे भवता सम्प्रति गम्यताम् । महाप्रतापः = दयालुर्महाबलश्च । यथा=येन प्रकारेण । (किस प्रकार की सन्धि आप कराना चाहते हैं, कहिए) ।

बलीयसा = बलाधिकेन । अभियुक्तः = आक्रान्तः । नान्यप्रतिक्रियः = उपाया-

और भी—सच्चे स्नेह से मित्रों को, आदरातिशयद्योतनार्थ किए गए शीघ्रतापूर्वक (हड़बड़ाहट दिखाते हुए) आदर सत्कार से बन्धुओं को, और दान और मान से स्त्रियों को और सेवकों को, तथा चतुराई से अन्य मनुष्यों को प्रसन्न करना चाहिये ॥ ११२ ॥

इसलिए अब आप मेरे साथ सन्धि करने को राजा चित्रवर्ण के पास चलिए। क्योंकि राजा चित्रवर्ण बड़ा प्रतापी और सहृदय है । मन्त्री चकवे ने कहा—' हमें किस प्रकार से सन्धि करनी चाहिये वह भी आप कहिए ।' राजा हंस ने भी पूछा कि—'सन्धि कितने प्रकार की होती है ? गृद्ध बोला—मैं आप से सन्धि के भेद कहता हूँ, सुनिये—

जब कोई बलवान् शत्रु अपने ऊपर चढ़ाई कर दे और दूसरा कोई भी

१. 'दान-मानैश्च' । २ 'महाप्रभावः' पा० ।

'कपाल, उपहारश्च, सन्तानः, सङ्गतस्तथा ।
उपन्यासः, प्रतीकारः, संयोगः, पुरुषाऽन्तरः ॥ ११४ ॥
अदृष्टनर, आदिष्ट, आत्माऽऽदिष्ट, उपग्रहः ।
परिक्रयस्तथोच्छिन्नस्तथा च परभूषणः ॥ ११५ ॥
स्कन्धोपनेयः सन्धिश्च, षोडशैते प्रकीर्तिताः ।
इति षोडशकं प्राहुः सन्धिं सन्धिविचक्षणाः' ॥ ११६ ॥

(१) 'कपालसन्धिर्विज्ञेयः केवलं समसन्धितः[1] ।
(२) सम्प्रदानाद्भवति य उपहारः स उच्यते' ॥ ११७ ॥

न्तराऽभावे । प्रतीकारान्तररहितः सन् । आपन्नः=पराजयभयादिविपत्तिमुपगतः । पराजितः । कालयापनं=समययापनं, कुर्वाणः=चिकीर्षुः । सन्धिमन्विच्छेत् ॥ ११३ ॥ सन्धिविचक्षणाः=तद्विदः । इति=इत्थं । षोडशकं=षोडशविधं, सन्धिमाहुः ॥ ११६ ॥ समानयोः सन्धिः—कपालसन्धिः । धनादिसम्प्रदानात्—

उपाय उससे बचने का नहीं हो, तब आपत्ति में पड़ा हुआ राजा, समय बिताने के लिये, शत्रु से सन्धि करने की इच्छा करे ॥ ११३ ॥

और ये सन्धि १६ प्रकार की होती हैं, जैसे—१ कपाल, २ उपहार, ३ सन्तान, ४ सङ्गत, ५ उपन्यास, ६ प्रतीकार, ७ संयोग, ८ पुरुषान्तर, ९ अदृष्टनर, १० आदिष्ट, ११ आत्मादिष्ट, १२ उपग्रह, १३ परिक्रय, १४ उच्छिन्न, १५ परभूषण, १६ स्कन्धोपनेय । इस प्रकार सन्धि जाननेवाले विद्वानों ने सोलह १६ प्रकार की सन्धि कही हैं ॥ ११४–११६ ॥

अब उन सन्धियों के लक्षण भी मैं क्रम से कहता हूँ—बराबर बलवालों की परस्परमें की गई सन्धि को 'कपालसन्धि' कहते हैं । कर, उपहार आदि दे करके जो सन्धि (मिलाप) किया जाता है, उसे 'उपहारसन्धि' कहते हैं ॥ ११७ ॥

---

१. 'समसन्धितः' ।

(३) सन्तानसन्धिर्विज्ञेयो दारिकादानपूर्वकः ।
(४) सद्भिस्तु सङ्गतः सन्धिर्मैत्रीपूर्व उदाहृतः ॥ ११८ ॥
यावदायुःप्रमाणस्तु समानाऽऽर्थप्रयोजनः ।
सम्पत्तौ वा, विपत्तौ वा, कारणैर्यो न भिद्यते' ॥ ११९ ॥
सङ्गतः सन्धिरेवाऽयं प्रकृष्टत्वात्सुवर्णवत् ।
तथाऽन्यैः सन्धिकुशलैः 'काञ्चनः' 'समुदाहृतः ॥ १२० ॥
(५) [2]आत्मकार्यस्य सिद्धिं तु समुद्दिश्य क्रियेत यः ।
स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृतः ॥ १२१ ॥

उपहारसंधिः ॥ ११७ ॥ दारिकादानपूर्वकः = पुत्रीप्रदानात्—सन्तानसन्धिः ।
मैत्रीपूर्व-सन्धिः—सङ्गतसन्धिः । यावदायुः प्रमाणं—समानरूपः, समानहितः, समानप्रयोजकश्च सङ्गतसन्धिरयं—सम्पत्तौ च, विपत्तौ चाऽभेद्यः—काञ्चनवन्निर्मलत्वात्—'काञ्चन' इत्युच्यते ॥१२०॥ द्रव्यसिद्धिमात्मनः=स्वस्य, कार्यसिद्धिञ्चोद्दिश्य उपन्यासकुशलैः = सन्धिकुशलैः, कृतः सन्धिः—उपन्यास इत्युच्यते ॥ १२१ ॥

और शत्रु को अपनी कन्या देकर (कन्या का उसके साथ विवाह करके) जो सन्धि की जाती है, वह सन्तानसन्धि कहलाती है । सज्जनों की परस्पर में मित्रता से (प्रेम करके) जो सन्धि की जाती है, उसको 'सङ्गतसन्धि' कहते हैं ॥११८॥

इस सङ्गत सन्धि से जन्म भरके लिए दोनों के कार्य और हित तथा प्रयोजन समान हो जाने के कारण, सर्वदा के लिए, सम्पत्ति या विपत्ति के समय भी, किसी कारण से भी, यह सन्धि नष्ट नहीं होती है ॥ ११९ ॥

यह सङ्गतसन्धि अति उत्तम होने के कारण सुवर्ण के समान है । इसी सङ्गतसन्धि को सन्धि जाननेवालों में कुशल राजनीतिज्ञ अनेक विद्वान् 'काञ्चन-सन्धि' भी कहा करते हैं ॥ १२० ॥

स्वकार्य-सिद्धिमें कुशल राजनीतिज्ञों द्वारा अपने २ कार्य की सिद्धियों के लिये जो सन्धि (मिलाप) की जाती है, उसे 'उपन्याससन्धि' कहते हैं ॥१२१॥

१. स उदाहृतः' । २ 'द्रव्यात्मकार्यसिद्धिन्तु'

(६) 'मयाऽस्योपकृतं पूर्वं, ममाप्येष करिष्यति' ।
इति यः क्रियते सन्धिः प्रतीकारः स उच्यते' ॥ १२२ ॥
'उपकारं करोम्यस्य, ममाप्येष करिष्यति' ।
अयं चाऽपि प्रतीकारो राम-सुग्रीवयोरिव ॥ १२३ ॥
(७) 'एकार्थां सम्यगुद्दिश्य क्रियां यत्र हि गच्छति ।
सुसंहितप्रयाणस्तु[1] स च संयोग उच्यते' ॥ १२४ ॥
(८) 'आवयोर्योधमुख्यैस्तु मदर्थः साध्यता'मिति-।
-यस्मिन्पणस्तु क्रियते, स सन्धिः पुरुषाऽन्तरः' ॥ १२५ ॥

इति=इत्यभिप्रायेण ॥ १२२ ॥ अयम्=अयं सन्धिः,-रामसुग्रीवयोर्यथा—'प्रतीकार'-इत्युच्यते ॥ १२३ ॥

एकेति । एकप्रयोजनां यात्रामुद्दिश्य यत्र गच्छतः । सुसंहतयोः=स्वस्वकार्यविशेषेण मिलितयोः, प्रयाणं यत्रासौ तादृशः—सुसंहितप्रयाणः—सन्धिः संयोगाख्यः ॥ १२४ ॥

योधमुख्यैः=सुभटैः । मदर्थः=मत्कार्यम् । पणः=पणबन्धः (शर्त्त) ॥१२५॥

और मैंने पहले इसके ऊपर उपकार किए हैं, इसलिए मेरे कार्य के अवसर पर यह भी मेरा उसी प्रकार उपकार करेगा,-इस अभिप्राय से जो सन्धि की जाती है, उसे 'प्रतीकारसन्धि' कहते हैं ॥ १२२ ॥

और मैं इस समय इसका उपकार करता हूँ, अतः यह भी आगे-समय पड़ने पर-कभी मेरा भी उपकार करेगा—इस आशय (विचार) से राम और सुग्रीव के समान परस्पर में की हुई सन्धि को भी कोई लोग 'प्रतीकारसन्धि' कहते है ॥१२३॥

और समान प्रयोजन साधन करनेवाली क्रिया (यात्रा, चढ़ाई) को लक्ष्य में रखकरके, जहाँ अच्छे प्रमाण से सेना लेकर, चढ़ाई करने के लिए, मेल किया जाता है 'वह संयोगसन्धि' कहलाती है ॥ १२४ ॥

और तुम्हारे और हमारे दोनों के श्रेष्ठ सैनिक परस्पर में मिलकर हम लोगों

१. 'सुसंहितप्रमाणस्तु' पा० ।

(९) 'त्वयैकेन मदीयोऽर्थः सम्प्रसाध्यस्त्वसा'विति–।
–यत्र शत्रुः पणं कुर्यात्सोऽदृष्टपुरुषः स्मृतः' ॥ १२६ ॥
(१०) 'यत्र भूम्येकदेशेन पणेन रिपुरूर्जितः।
सन्धीयते सन्धिविद्भिः, 'स चाऽऽदिष्ट उदाहृतः' ।
(११) स्वसैन्येन तु सन्धानमात्माऽऽदिष्ट उदाहृतः ।
(१२) क्रियते प्राणरक्षार्थं सर्वदानादुपग्रहः' ॥ १२८ ॥
(१३) [2]कोशांऽशेनार्धकोशेन, सर्वकोशेन वा पुनः ।
शिष्टस्य प्रतिरक्षार्थं, परिक्रय उदाहृतः' ॥ १२९ ॥

असौ अर्थः=प्रयोजनम् । पणं=पणबन्धम् ॥ १२६ ॥ ऊर्जितः=बलवान् । भूमीति । राज्यैकदेशदानेनेत्यर्थः ॥१२७॥ स्वसैन्यं दत्वा सन्धानम्—आत्मादिष्टः । स्वप्राणरक्षार्थं राज्यादिसर्वस्वदानात्सन्धिः–उपग्रहः ॥१२८॥ स्वकोशं, स्वर्णादिकञ्च

को आवश्यकता पड़ने पर मदद दें, ऐसा जिसमें निश्चय किया जाता है,–वह 'पुरुषान्तरसन्धि' कहलाती है ॥ १२५ ॥

और 'यह मेरा कार्य अकेले आपको ही करना होगा, ऐसा जहाँ शत्रु पण करता है, उसे 'अदृष्टपुरुष' (अदृष्टनर) सन्धि कहते हैं ॥ १२६ ॥

और जिसमें पृथ्वी (राज्य) का एक उत्तम भाग देकर बलवान् शत्रु से सन्धि की जाती है, उसे सन्धि जाननेवाले पुरुष 'आदिष्टसन्धि' कहते हैं ॥ १२७ ॥

अपनी सेना देकर जो मेल किया जाय वह 'आत्मादिष्टसन्धि' है। और अपने प्राणों की रक्षा के लिए सर्वस्व (सब कुछ) देकर भी जो सन्धि की जाए, वह 'उपग्रहसन्धि' है ॥ १२८ ॥

और 'शत्रु के हाथ में जाने से बचे हुए राज्य की रक्षा के लिए थोड़ा, आधा, या सारा खजाना देकर जो सन्धि की जाती है, उसको 'परिक्रयसन्धि' कहते हैं ॥१२९॥

---

१. 'सन्धिविद्भिरादिष्टः स' । २ 'कोषा' ।

(१४) 'भुवां सारवतीनां तु दानादुच्छिन्न उच्यते ।
(१५) भूम्युत्थफलदानेन सर्वेण परभूषणः' ॥ १३० ॥
(१६) 'परिच्छिन्नं फलं यत्र प्रतिस्कन्धेन दीयते ।
स्कन्धोपनेयं तं प्राहुः सन्धिं सन्धिविचक्षणाः' ॥ १३१ ॥
(१-४) 'परस्परोपकारस्तु, मैत्री, सम्बन्धकस्तथा ।
उपहारश्च विज्ञेयाश्चत्वारश्चैव सन्धयः' ॥ १३२ ॥

सर्वं दत्वा केवलं राज्यरक्षणं–परिक्रयः ॥१२६॥ सारवतीनां=गुणवतीनां, भुवां= पृथ्वीनां, दानात्सन्धिः–उच्छिन्नः । भूम्युत्पन्नसमस्तफलदानात्–परभूषणः ॥१३०॥

परिच्छिन्नं=परिमितं । नियतम् । फलं–धनधान्यादिकम् । प्रतिस्कन्धेन= खण्डशः कृत्वा ('किस्तबन्दी से' 'खन्धी से') । 'दीयते' इत्यत्र 'नीयते' इत्यपि पाठः ॥ १३१ ॥

सन्धेः षोडशभेदानुक्त्वा, संक्षेपेण सन्धेश्चातुर्विध्यं च दर्शयति–परस्परेति । परस्परमुपकारः, मैत्री=मित्रता, सम्बन्धः=विवाहादिसम्बन्धः, उपहारः=धनादिकम् । इत्येतत्फलचतुष्टयफलकाश्च चतुर्विधा एव सन्धय इत्यर्थः ॥ १३२ ॥

और सारवती (अर्थात् रत्न, सुवर्ण, अन्न आदि से परिपूर्ण) पृथ्वी के देने से जो सन्धि हो, उसको 'उच्छिन्नसन्धि' कहते हैं। और भूमि से उत्पन्न फल (लगान, द्रव्य, रत्न-सुवर्ण-अन्न-इत्यादि) के देने से जो सन्धि हो उसे 'परभूषण-सन्धि' कहते हैं ॥ १३० ॥

और परिच्छिन्न अर्थात् निश्चितपरिमाणवाला फल (धन आदि) जहाँ किस्तों से नियत समय पर दिया जाता है, उसे सन्धियों को जानने में कुशल लोग 'स्कन्धोपनेय सन्धि' कहते हैं ॥१३१॥

और संक्षेप में वास्तव में तो–आपुस में एक दूसरे का उपकार, मित्रता, सम्बन्ध और उपहार—ये चार ही प्रकार की सन्धियाँ होती हैं ॥ १३२ ॥

(१) 'एक एवोपहारस्तु [1]सन्धिरेव मतो मम ।
उपहारविभेदास्तु[2] स [illegible] वर्जिताः ॥ १३३ ॥
'अभियोक्ता बलीयस्त्वादलब्ध्वा न निवर्तते ।
उपहारादृते तस्मात्सन्धिरन्यो न विद्यते' ॥ १३४ ॥

राजाऽऽह—'भवन्तो [3]महान्तः, पण्डिताश्च । तदत्राऽस्माकं यथाकार्यमुपदिश्यताम्' । दूरदर्शी[4] ब्रूते—'आः ! किमेवमुच्यते ?—

'आधि-व्याधि-परीतापादद्य[5] श्वो वा विनाशिने ।
को हि नाम शरीराय धर्माऽपेतं समाचरेत्' ? ॥ १३५ ॥

अत्र कामन्दकाचार्यः स्वमतमाह—एक एवेति । उपहारप्रधानत्वात्—उपहार एव एकः सन्धिरिति मम मतम् । यतो हि मैत्रसन्धिभिन्नाः सर्वे सन्धय उपहार-सन्ध्यन्तर्गता एवेत्याशयः ॥ १३३ ॥ यतः—अभियोक्ता = आक्रमणकारी । विजिगीषुः । अलब्ध्वा = उपहारमलब्ध्वा । अतः—उपहारेणैव सन्धिर्नाऽन्यथेति कामन्दकाचार्यमतम् ॥ १३४ ॥ यथाकार्यं = कार्यमनुसृत्य । आधिः = मानसी व्यथा ।

और हमारे (कामन्दकाचार्य) मत से तो एक उपहार सन्धि ही है, क्योंकि, बाकी के जितने भी सन्धियों के भेद हैं, वे सब, एक मित्रता सन्धि को छोड़कर, इस उपहारसन्धि के ही भेद हैं ॥ १३३ ॥

क्योंकि युद्धार्थ चढ़ाई करके आया हुआ शत्रु महाबली होने के कारण से कुछ न कुछ लिये बिना तो पीछे लौटता नहीं है । उसे तो कुछ न कुछ देना ही पड़ता है । और देने से वह उपहार सन्धि ही कहलाएगा । इसलिए मैं तो जानता हूँ कि उपहार देने के सिवाय दूसरी कोई सन्धि है ही नहीं ॥ १३४ ॥

राजा बोला कि आप लोग बड़े हैं और पण्डित हैं । अतः इस समय हम लोगों को क्या करना चाहिये, वह कहिये ।' तब मन्त्री बोला कि—अहो ! आप यह क्या कहते हैं ? ।

मन के और शरीर के नानाविध दुःखों और सन्तापों से आज या कल में

१. 'उपहारश्च सन्धिरेष' । २ 'विभिन्नास्तु' । ३. 'महापण्डिताः' ४ 'मन्त्री ब्रूते' । ५ 'परीतापै' ।

'जलान्तश्चन्द्रचपलं जीवितं खलु देहिनाम् ।
तथाविधमिति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणमाचरेत्' ॥ १३६ ॥

'वाताऽभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्य-
मापातमात्रमधुरो विषयोपभोगः ।
प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमानलोला,
धर्मः सखा परमहो ! परलोकयाने' ॥

परीतापः = सन्तापः । अद्यश्वः = अचिरादेव । (आजकल में ही) । शरीराय = शरीरार्थम् । धर्मापेतं = धर्मविरुद्धम् ॥ १३५ ॥ जलान्तश्चन्द्रचपलं = जलप्रतिबिम्बितचन्द्रवच्चञ्चलम् । जीवितं = जीवनम् । कल्याणं = शुभकर्म । शश्वत् = निरन्तरम् ॥ १३६ ॥ वाताभ्रविभ्रमं = वाततावितघनवत्क्षणविध्वंसि । वसुधाधिपत्यं = भूमिपतित्वम् । आपातमात्रमधुरः = अविचारितरमणीयः । परिणामविरसः । (देखने मात्र को सुन्दर) । विषयोपभोगः = विषयास्वादः, कामोपभोगः । तृणाग्रस्थितजलबिन्दुवच्चञ्चलाः प्राणाः । धर्म एव शाश्वतः = परलोकयात्रायां सहायभूतः ॥ १३७ ॥

(कुछ ही काल में) अवश्य नाश होने वाले इस शरीर के लिये, अर्थात् तुच्छ भोगों के लिये, कौन सज्जन पुरुष धर्म के विरुद्ध आचरण करेगा, अर्थात् कोई भी नहीं करेगा । अतः सबको धर्म का ही आचरण करना चाहिये ॥ १३५ ॥

और भी—जल के भीतर चलायमान चन्द्र के प्रतिबिम्ब की तरह ही शरीरधारियों का यह जीवन चञ्चल है । इसलिये जीवन को क्षणिक जानकर सदा कल्याण का ही आचरण करना चाहिये ॥ १३६ ॥

और भी–वायु के थपेड़ों से मारे हुये मेघों के समान ही यह राज्य क्षणभङ्गुर है । विषयों का उपभोग भी देखनेमात्र में ही अच्छा लगने वाला है, परिणाम में तो वह भी दुःखप्रद ही है । और प्राण भी—तृणाग्रस्थित जलबिन्दु के समान चञ्चल हैं । अहो ! परलोक गमन में तो केवल एक धर्म ही सहाय है ॥१३७॥

'मृगतृष्णासमं वीक्ष्य संसारं क्षणभङ्गुरम् ।
सज्जनैः सङ्गतं कुर्याद्धर्माय च, सुखाय च' ॥ १३८ ॥

तन्मम संमतेन तदेव क्रियताम्' । यतः—

'अश्वमेधसहस्राणि, सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेवाऽतिरिच्यते' ॥ १३९ ॥

अतः सत्याऽभिधानदिव्यपुरःसरमनयोर्भूपालयोः[1] काञ्चनाभिधानः सन्धिर्विधीयताम्' । सर्वज्ञो ब्रूते–'एवमस्तु' । ततो राजहंसेन राज्ञा

मृगतृष्णासमं=मृगमरीचिकातुल्यम् । मिथ्या । क्षणभङ्गुरं=क्षणविनश्वरं च संसारं दृष्ट्वा, सतां–सङ्गतं=मैत्रीम् । सङ्गतनामकं सन्धिं कुर्यात् । धर्माय= धर्मार्जनाय । सुखाय=सुखार्थञ्च ॥ १३८ ॥

तदेव=सङ्गताख्यं काञ्चनापरनामकं सङ्गतमेव । मैत्रीमेव ॥

अश्वमेधसहस्रमेकत्र,सत्यञ्चैकत्र तुलायां धृतं, तत्र सत्यमेव अधिकं जातम् । अतिरिच्यते=गुरुत्वं याति । वर्द्धते ॥ १३९ ॥

सत्याभिधानदिव्यपुरस्सरं=सत्याख्यशपथपूर्वकम् । अग्निसाक्षिकम् । सत्यं-धर्म-मध्ये कृत्वा, तत्साक्षिपूर्वकमित्यर्थः । काञ्चनाभिधान इति । यावज्जीवं सम्पत्तौ, विपत्तौ च अविचालनीयः, परस्परसाहाय्यफलकः, सङ्गताऽपरनामा, काञ्चनसन्धि-

---

और मृगतृष्णा के समान मिथ्या और निःसार इस संसार को देखकर मनुष्यको उचित है कि धर्म और सुख के लिये श्रेष्ठ पुरुषों के साथ 'सङ्गति' करे ॥ १३८॥

अतः मेरी संमति से तो आप भी ऐसी ही 'सङ्गति' नामक सन्धि ही–करिये ।

क्योंकि—हजारों अश्वमेध यज्ञ (जिसमें श्यामकर्ण घोड़ों की बलि दी जाती है) और एक सत्य, इन दोनों को एक तराजू में रखकर दोनों को तौलने पर तो हजार अश्वमेध यज्ञों से भी सत्य ही बड़ा (भारी) ठहरता है ॥ १३९ ॥

इसलिये सत्य की शपथ लेकर इन दोनों राजाओं में 'काञ्चनसन्धि' (मैत्री सन्धि) ही करानी चाहिये । तब सर्वज्ञ बोला कि–ठीक है, ऐसा ही होना चाहिये । फिर

---

१. 'द्वयोरप्येतयोर्भूपालयोः' ।

वस्त्रालङ्कारोपहारैः स मन्त्री दूरदर्शी पूजितः प्रहृष्टमनाश्चक्रवाकं गृहीत्वा, [1]राज्ञो मयूरस्य संनिधानं गतः।

[2]तत्र चित्रवर्णेन राज्ञा सर्वज्ञो गृध्रवचनाद्बहुमानदानपुरःसरं ...तस्तथाविधं सन्धिं स्वीकृत्य, राजहंससमीपं प्रस्थापितः।

दूरदर्शी ब्रूते—'देव! सिद्धं नः समीहितम्। इदानीं स्वस्थानमेव विन्ध्याचलं व्यावृत्य प्रतिगम्यताम्'।

अथ सर्वे स्वस्थानं प्राप्य, [3]मनोभिलषितं फलं प्राप्नुवन्निति।

विष्णुशर्मणोक्तम्—अपरं किं कथयामि, [4]तदुच्यताम्।'

राजपुत्रा ऊचुः—[5]आर्य! 'तव [6]प्रसादात्सकलराज्यव्यवहाराङ्गं

रित्यर्थः। सम्भाषितः=सम्भाषणेन परितोषितः। 'सम्भावित' इति पाठे सत्कृत-इत्यर्थः। समीहितम् = इष्टम्। विजयकीर्तिमित्रलाभादिरूपमभिलषितम्।

सकलराज्यव्यवहाराङ्गं = राजोचितसन्धिविग्रहादिसकलव्यवहारोपदेशकमर्थनीतिशास्त्रम्। यद्वा—राजव्यवहाराङ्गभूतं सन्धिविग्रहादिकमित्यर्थः। (अपर=और भी)।

राजहंस ने वस्त्र और गहने-रत्न आदि की भेंट देकर उस दूरदर्शी मन्त्री का सत्कार किया। और इस प्रकार वह दूरदर्शी मन्त्री प्रसन्नमन हो, चकवे को साथ लेकर, उस मयूर राजा के पास गया। उसी समय राजा चित्रवर्ण ने भी महामन्त्री गीध के कहने से काञ्चन नामक मैत्री संधि को मानकर, सर्वज्ञ का रत्न आदि दानपूर्वक बहुत संमान करके उसे वापिस राजहंस के पास भेज दिया। तब दूरदर्शी बोला कि—हे देव! हमारी इच्छा पूर्ण हो गई। अब अपने स्थान विन्ध्याचल को लौट चलिये। इसके अनन्तर वे सब अपने २ स्थान को पहुँच कर अपने मनोरथों के अनुसार ही यथेच्छ फलों (कीर्त्ति आदि) को प्राप्त करते हुये।

तब विष्णुशर्मा राजपुत्रों से बोले कि—हे राजपुत्रों! कहो, अब मैं आपलोगों को और क्या सुनाऊँ?। तब राजपुत्र बोले कि—'आपकी कृपा से राज्य के

१ 'मयूरस्य राज्ञः समीपं'। २. 'ततः'। ३ 'मनोवाञ्छितफलमनुभवन्ति'। 'अन्वभवन् इति' पा०। ४ 'कथ्यताम्'। ५ आर्येति क्वाचित्कम्। ६ 'प्रसादाद्राज्य'।

ज्ञातम्। ततः सुखिनो भूता वयम्।'

विष्णुशर्मोवाच—'यद्यप्येव तथाप्यपरमपीदमस्तु—

'सन्धिः सर्वमहीभुजां विजयिनामस्तु, प्रमोदः सदा,
सन्तः सन्तु निरापदः, सुकृतिनां कीर्तिश्चिरं वर्द्धताम्
नीतिर्वारविलासिनीव सततं वक्षःस्थले संस्थिता
वक्त्रं चुम्बतु मन्त्रिणामहरहर्भूयान्महानुत्सवः'॥१४०॥

अन्यथाऽस्तु—

'[1]'प्रालेयाद्रेः सुतायाः प्रणयनिवसतिश्चन्द्रमौलिः स याव-
द्यावल्लक्ष्मीर्मुरारेर्जलद इव तडिन्मानसे विस्फुरन्ती।
यावत्स्वर्णाचलोऽयं दवदहनसमो यस्य सूर्यः स्फुलिङ्ग-
स्तावन्नारायणेन प्रचरतु रचितः संग्रहोऽयं कथानाम्' ॥१४१॥'.

सन्धिरिति। विजयिनां राज्ञां-विजितैः राजभिः सह प्रमोदावहः = सुखप्रदः—सन्धिर्भूयात्। सज्जना निरापदः = सुखिनः सन्तु। सुकृतिनां = विदुषां कीर्त्तिश्चिरं लोके प्रसृता भवतु। नीतिः = राजनीतिः। वारविलासिनीव = वेश्येव सर्वसुखदा। वक्त्रं = मुखं। तेषां मुखे सर्वदा नीतिवाक्यानामेव प्रसरो भवत्विति यावत्। उत्सवः = हर्षः॥ १४०॥

और व्यवहार के सब अङ्ग हम लोगों ने जान लिये. इससे हम बहुत ही प्रसन्न और सुखी हुये।' विष्णुशर्मा बोले कि–'यद्यपि ऐसा है, तथापि यह भी हो कि'–

विजयी राजाओं की पराजित राजाओं से सदा सन्धि हो जाए। और वे आनन्द और प्रसन्नता से रहें। सन्तजनों की आपत्तियाँ सदा दूर हों। पुण्यात्माओं का चिरकाल तक यश बढ़ता रहे। और वेश्या के समान ही नीति भी वक्षःस्थल पर रहकर प्रतिदिन मन्त्रियों का मुख चूमती रहे। अर्थात् मन्त्रियों के मन में सदा रहनेवाली राजनीति उनके वचनों में भी निवास करे। और सदा सब के यहाँ महोत्सव (बड़ा उत्सव) होता रहे॥ १४०॥

और भी—जब तक पार्वतीजी के प्रीतिपात्र भगवान् चन्द्रशेखर महादेवजी

१. काश्चित्कः श्लोकोऽयम्

किञ्च—

'उर्वीमुद्दामसस्यां जनयतु विसृजन् वासवो वृष्टिमिष्टा-
　मिष्टैस्त्रैविष्टपानां विदधतु विधिवत्प्रीणनं विप्रमुख्याः ।
आकल्पान्तञ्च भूयात्समुपचितसुखः सङ्गमः सज्जनानां,
　निश्शेषं यान्तु शान्तिं पिशुनजनगिरो दुर्जया वज्रलेपाः' ॥१४२॥

[[1]'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः ॥
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्' ॥] ॥

उर्वीमिति । इष्टां वृष्टिं कुर्वन् इन्द्रः पृथिवीं सस्यहरितां करोतु । विप्रमुख्याः—तैः = धान्यादिभिः, कृतैः इष्टैः = यज्ञैः, विष्टपानां = देवानाम्, प्रीणनं = तृप्तिं, विदधतु = कुर्वन्तु । सज्जनसङ्गमः कल्पान्तं यावत् प्रवृद्धः सुखान्वितो भूयात् । दुर्जया वज्रलेपायमाना दुष्टगिरः—निश्शेषं = समूलं, शान्तिं = प्रशमं, विनाशं, यान्तु = गच्छन्तु ॥ १४२ ॥

विराजमान हैं, और जब तक मेघों में बिजली के समान ही श्रीविष्णु भगवान् के हृदय में लक्ष्मी निवास करती हैं, और जिसकी चिनगारी के समान यह सूर्य है, ऐसा दावानल के समान मेरुपर्वत जब तक स्थित है, तब तक नारायण पण्डित का बनाया हुआ यह हितोपदेशनामक कथाओं का संग्रह पृथ्वी पर प्रचलित रहे और विद्वानों से आदृत होता रहे ॥ १४१ ॥

और भी—भगवान् वासव (इन्द्र) यथेष्ट वर्षा द्वारा पृथिवीको सस्यश्यामला (हरी-भरी, धन धान्य से परिपूर्ण) करें । और वेदवित् विद्वान् ब्राह्मणगण उस अन्न से यज्ञ, अग्निहोत्र आदि द्वारा स्वर्गवासी देवताओं की विधिवत् तृप्ति का सम्पादन करें । और सज्जनों की सङ्गति भी कल्प के अन्त तक सम्पत्ति और समृद्धि की देनेवाली हो, एवं वज्र की तरह कठिन दुर्जनों की दुर्जय वाणी भी सर्वदा शान्ति को प्राप्त हो ॥ १४२ ॥

१ अयं श्लोकः [illegible] ।

अपरञ्च—

श्रीमान्धवलचन्द्रोऽसौ जीयान्माण्डलिको रिपून् ।
येनाऽयं संग्रहो यत्नाल्लेखयित्वा प्रचारितः ॥ १४३ ॥

इति हितोपदेशे सन्धिर्नाम चतुर्थः कथासंग्रहः ।

समाप्तश्चाऽयं हितोपदेशः ।

माण्डलिकः = मण्डलाधीशः । प्रादेशिको भूपतिः । धवलचन्द्रः = गा...
प्रदेशस्थो माण्डलिक—राजविशेषः । जीयात् = विजयताम् ॥ १४३ ॥

इतिश्रीपण्डितराज-प्रचण्ड-मरुमण्डल-मार्त्तण्ड-शारदावतार-
श्रीस्नेहिरामशास्त्रिणां पौत्रेण, पण्डितवरप्रतिवादिभयङ्कर-
न्यायशास्त्राऽऽचार्य-श्रीशिवनारायणशास्त्रिणां पुत्रेण,
सतीसार्वभौम-श्री'राजलक्ष्मी'-गर्भसम्भूतेन,
न्याय-व्याकरण-दर्शनाचार्य-श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिणा
विरचितायां हितोपदेशाऽभिनवराज-
लक्ष्म्यां सन्धिप्रकरणम् ।
समाप्तश्चाऽयं हितोपदेशः ।

और—यह मण्डलाधिपति (छोटे प्रदेश के राजा) श्रीमान् राजा धवलचन्द्र शत्रुओं को जीते, जिन्होंने यह संग्रह यत्न से लिखवाकर पृथ्वी में प्रचारित किया ॥ १४३ ॥

हितोपदेश का सन्धिनाम का चतुर्थ कथा संग्रह और हितोपदेश समाप्त हुआ।

इति श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिणा, श्रीसीतारामशास्त्रिणा च यथाकथञ्चित्क्वचित् मध्ये-मध्ये च परिवर्द्धितायां, पण्डितान्तरकृतहितोपदेशभाषाटीकायां सन्धिनाम कथाप्रकरणम् । समाप्तश्च हितोपदेशः

(कार्त्तिकशुक्ला ८ गोपाष्टमी सं० २०१०)

—:❀—:—❀:—

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.
11-1-96	2215		